पाण्डुलिपि विज्ञान

लेखक

डॉ॰ सत्येन्द्र

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

श्रीमती विद्याधरी को

कृतज्ञता-ज्ञापन

मैं उन सबके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होने मुझे इस पुस्तक के लेखन मे और प्रस्तुतीकरण मे किसी न किसी रूप मे सहायता दी है, या जिनकी कृतियो का उपयोग इस पुस्तक मे किया गया है।

मैं राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय और शब्दावली आयोग के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ का लेखन मुझे सौंपा और प्रकाशन की व्यवस्था की। जिनका सर्वाधिक आभार मुझे इस ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन के सम्बन्ध मे मानना चाहिये वे हैं श्री यशदेव शल्य। उनके स्नेह और तत्पर सहयोग के साथ उनके उचित परामर्शों से ही इसका यह रूप बन सका है। वे मेरे इतने अपने हैं कि उनके प्रति शब्दों मे कृतज्ञता ज्ञापित नहीं की जा सकती।

मैं इस पुस्तक के मुद्रक के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, उन्होंने तत्परतापूर्वक इसकी छपाई की, इससे मुझे प्रसन्नता हुई।

सत्येन्द्र

भूमिका

लीजिये यह है पाडुलिपि विज्ञान की पुस्तक। आपने "पाडुलिपि" तो देखी होगी, उसका भी विज्ञान हो सकता है या होना है यह बात भी जानने योग्य है।

इस पुस्तक में कुछ यही बताने का प्रयत्न किया गया है कि पाडुलिपि विज्ञान क्या है और उसमे किन बातो और विषयो पर विचार किया जाता है? वस्तुत पाडुलिपि के जितने भी अवयव हैं प्राय सभी का अलग अलग एक विज्ञान है और उनमे से कइयो पर अलग-अलग विद्वानो द्वारा लिखा भी गया है, किन्तु पाडुलिपि-विज्ञान उन सबसे जुडा होकर भी अपने आप मे एक पूर्ण विज्ञान है, मैंने इसी दृष्टि को आधार बनाकर यह पुस्तक लिखी है। कही कही पाडुलिपि के अवयवो म आलकारिकता और चित्र सज्जा का उल्लेख पाडुलिपि निर्माण के उपयोगी कला-तत्वो के रूप मे भी हुआ है।

पर, यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि पाडुलिपि मूलत कलात्मक भावना से व्याप्त रहती है। पहले तो उपयोगी कलात्मकता का स्पर्श उसमे रहता है। लिप्यासन सुन्दर हो, जिस पर साफ साफ लिखा जा सके। लेखनी अच्छी हो, स्याही भी मन को भाने वाली हो और लिखावट ऐसी हो कि आसानी से पढी जा सके। यह भी दृष्टि रहती है कि लिखावट को देखकर उसे पढने का मन करने लगे। कई रगो की स्याहियो का उपयोग पहले तो अभिप्राय या प्रयोजन भेद के आधार पर किया जाता है, जैसे, पुष्पिका, छद नाम अतरग शीर्षक, आदि मूल पाठ से भिन्न बताने के लिए लाल स्याही से लिखे जाते हैं। किन्तु यह उपयोगी सहज सुन्दरता तो पुस्तक या पाडुलिपि को सामान्यत उसकी ग्राहकता बढाने के लिए ही होती है।

पर, पाडुलिपि पूरी उत्कृष्ट कला की कृति हो सकती है, और यह भी हो सकता है कि उसमे विविध अवयवो मे ही कलात्मकता हो।

सम्पूर्ण कृति की कलात्मकता म उत्कृष्टता के लिए लिप्यासन भी उत्कृष्ट होना चाहिये, यथा बहुत सुन्दर बना हुआ साचीपात हो सकता है। हाथीदात हो सकता है।[1] उस पर कितने ही रगो से बना हुआ आकर्षक हाशिया हो सकता है, उस पर बढ़िया पक्की स्याही या स्याहियो मे, कई पाटों मे मोहक लिखावट की गयी हो, प्रत्येक अक्षर सुडौल हो। पुष्पिकाएँ भिन्न रग की स्याही म लिखी गयी हो। मागलिक चिह्न या शब्द भी मोहक हो। ऐसी कृति सर्वांग सुन्दर होती है, ऐसी पुस्तक तैयार करने म बहुत समय और परिश्रम करना पडता है।

कृतिकार या लिपिकार की कला का प्रथम उत्कृष्ट प्रयोग हमे लिखावट म मिलता है।

1 अलवर के सग्रहालय में 'हफ्त बन्दे काशी' श्री ए० एम० उस्मानी साहब ने बताया है कि "यह किताब भी नादरात का अजीब नमूना है। हाथीदात में वरक तैयार करके उन पर निहायत रोशन काली सियाही से उम्दा नसतालिक मे लिखा गया है। हुरूफ की नोक पलक बहुत उमदा हैं।—— इस पर सोने का काम सोने मे सोहागा है। बहुत बारीक और काबिले दीद गुलकारी है।" ('द रिमबर' पृ० 37)।

लिखावट को तरह तरह से सुन्दर बनाने से लिपि के विकास मे अन्य कारणो के साथ एक कारण उसे सुन्दर बनाने के प्रयत्न से भी सम्बन्धित है। किन्तु लिपि लेखन अपने आप मे एक कला का रूप ले लेता है। फारस मे इस कला का विशेष विकास हुआ है। वहाँ से भारत मे भी इसका प्रभाव आया और फारसी लिपि मे तो इस कला का चरमोत्कर्ष हुआ। भारत मे अक्षरो के आलंकारिक रूप मे लिखने का चलन कम नहीं रहा। हमने कितने ही अक्षरो के आलंकारिक रूप, आगे पुस्तक में दिये हैं।

लेखन/लिखावट मे सुन्दरता या कलात्मकता के समावेश से ग्रन्थ का मूल्य बढ़ जाता है। लिपि के कलात्मक हो जाने पर समस्त ग्रन्थ ही कलाकृति का रूप ले लेता है। 'एनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड ऐथिक्स' का यह उद्धरण हमारे कथन की पुष्टि करता है "Not only so, but Skilled Scribes have devoted infinite time to Copying in luxurious Style the Compositions of famous persian poets and their manuscripts are in themselves works of art"

अनन्त समय लगाकर धैर्य और लेखन कौशल से लिपि मे सौन्दर्य निरूपित करके समस्त कृति/ग्रन्थ को ही एक कलाकृति बना देते हैं।

लिपि मे विविध प्रकार की कलात्मकता और आलंकारिकता लाकर ग्रन्थ की सुन्दरता के साथ मूल्य मे भी वृद्धि की जाती है। सोने-चांदी की स्याही से भी ग्रन्थ की सुन्दरता मे चार-चाँद लग जाते हैं।

इन कलात्मकता लाने वाले लिप्यासन, लिपि और स्याही-आदि जैसे उपकरणो के बाद ग्रन्थ के मूल्यवर्द्धन म सर्वाधिक महत्त्व चित्रकला के योगदान का होता है।

ग्रन्थो मे चित्रांकन का एक प्रकार तो केवल सजावट का होता है। विविध ज्यामितिक आकृतियाँ, विविध प्रकार की लता-पताएँ, विविध प्रकार के फल फूल और पशु पक्षी, आदि से पुस्तक को लिपिकार और चित्रकार सजाते हैं।

ग्रन्थ चित्रांकन का दूसरा प्रकार होता है। वस्तु को, विशेषत कथा-वस्तु को हृदयगम कराने के लिए रेखाओ से बनाये हुए चित्र या रेखा चित्र।

यह रेखा-चित्र आगे अधिकाधिक कलात्मक होते जाते हैं। इसकी प्रति हमे वहाँ मिलती है जहाँ ग्रन्थ चित्राधार बन जाता है और उसका काव्य मात्र आधार बन कर रह जाता है। उत्कृष्ट कलाकार की उत्कृष्ट कलाकृति बन जाता है, यह ग्रन्थ और कवि पीछे छूट जाता है। ऐसी कृतियो का मूल्य क्या हो सकता है। जयपुर के महाराजा के निजी पोथी-खाने मे एक 'गीतगोविन्द' की सचित्र प्रति थी। बताया जाता है कि इसके पृष्ठ 10 इच लम्बे और 8 इच चौडे थे। कुल 210 चित्र युक्त पृष्ठ थे यह भी बताया जाता है कि एक अमरीकी महिला इसे 6 करोड़ रुपय मे खरीदने को तैयार थी। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर चित्र थे। ये चित्र विविध रगो म अत्यन्त कलात्मक थे। इन्हीं के कारण 'गीतगोविन्द' की इस प्रति का मूल्य इतना बढ गया था।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पांडुलिपि प्रथमत कलाकृति होती है। कलात्मक काव्य के साथ सुन्दर लिप्यासन, कलात्मक लिपि लेखन कलात्मक पृष्ठ सज्जा और कलात्मक चित्र-विधान से इनके अपने मूल्य के साथ पांडुलिपि का भी मूल्य घटता-बढ़ता है।

इस कलात्मकता के साथ भी पांडुलिपि का विज्ञान हमने इस पुस्तक मे निरूपित किया है।

पर मुझे लगता है कि यह पुस्तक पाडुलिपि-विज्ञान की भूमिका ही हो सकती है, इसके द्वारा पाडुलिपि-विज्ञान की नीव रखी जा रही है।

पाडुलिपि का रूप बदलता रहा है और बदलता रहेगा। पाडुलिपि-विज्ञान को समस्त सम्भावनाओ को दृष्टि मे रख कर अपनी भूमि प्रस्तुत करनी होगी। पांडुलिपि सावयव इकाई है और प्रत्येक अवयव घनिष्ठ रूप से परस्पर सम्बद्ध है किन्तु विकास-क्रम मे इनमे से प्रत्येक मे परिवर्तन की सम्भावनाएँ हैं। विकास-यात्रा मे इकाई के किसी भी अवयव मे परिवर्तन आने पर पाडुलिपि के रूप मे भी परिवर्तन आयेगा तद्नुकूल ही उसकी वैज्ञानिक समीक्षा मे भी और विज्ञान के द्वारा उन्हे ग्रहण करने मे भी।

पाडुलिपि के प्रत्येक अवयव से सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञान और अनुसधान का अपना-अपना इतिहास है। प्रत्येक के विकास के अपने सिद्धान्त हैं। इन अवयवो की अलग सत्ता भी है पर ये पाडुलिपि-निर्माण मे जब सयुक्त होते हैं तो बाहर से भी प्रभावित होते हैं और सयुक्त समुच्चय की स्थिति मे पाडुलिपि से भी प्रभावित होते हैं, उनसे पाडुलिपि भी प्रभावित होती है। यह सब-कुछ प्रकृत नियमों से ही होता है। हाँ, उसमे मानव-प्रतिभा का योगदान भी कम नही होता। पाडुलिपि-विज्ञान मे इन सभी क्रिया-प्रतिक्रियाओ को भी देखना होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि पाडुलिपि-विज्ञान का क्षेत्र बहुत विशद है, बहुत विविधतापूर्ण है और विभिन्न ज्ञान-विज्ञानो पर आश्रित है। भला मुझ जैसा अल्प-ज्ञान वाला व्यक्ति ऐसे विषय के प्रति क्या न्याय कर सकता है।

पर पाडुलिपियो की खोज मे मुझे कुछ रुचि रही है जो इस बात से विदित होती है कि मेरा प्रथम लेख जो कृष्णकवि के "विदुरप्रजागर" पर था और "माधुरी" मे सम्भवत 1924 ई० के किसी अक मे प्रकाशित हुआ था, एक पाडुलिपि के आधार पर लिखा गया था। फिर श्री महेन्द्र जी (अब स्वर्गीय) ने मुझे सन् 1926 के लगभग से नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का अधिकारी नियुक्त कर दिया। इससे पांडुलिपियो और अनुसधान मे रुचि बढनी ही चाहिये थी। इसी सभा के पाडुलिपि-विभाग का प्रबन्धक भी मुझे रहना पडा। मथुरा के प० गोपाल प्रसाद व्यास (आज के लब्धप्रतिष्ठित हास्यरस के महाकवि, दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री तथा पद्मश्री से विभूषित एव हिन्दी हिन्दुस्तान के सम्पादकीय विभाग के यशस्वी सदस्य) हस्तलेखो की खोज के खोजकर्त्ता नियुक्त किये गये। वही मथुरा मे श्री त्रिवेदी (अब स्वर्गीय) काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज करने आये। मुझसे उन्हे स्नेह था, वे मेरे पास ही ठहरे। इस प्रकार कुछ समय तक प्राय प्रतिदिन हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज पर बातें होती। इन सभी बातो से यह स्वाभाविक ही था कि हस्तलिखित ग्रन्थो और उनकी खोज मे मेरी रुचि बढ़ती। उधर ब्रज-साहित्य-मण्डल की मथुरा मे स्थापना हुई। उसके लिए भी हस्तलेखो में रुचि लेनी पडी। जब मैं क० मु० हिन्दी विद्यापीठ मे था तो वहाँ भी हस्तलेखों का सग्रहालय स्थापित किया गया। यहाँ अनुसधान पर होने वाली सगोष्ठो मे हस्तलेखो के अनुसधान पर वैज्ञानिक चर्चाएँ करनी और करानी पडी। प० उदयशकर शास्त्री ने विद्यापीठ का हस्त-

लिखावट को तरह-तरह से सुन्दर बनाने से लिपि के विकास मे अन्य कारणों के साथ एक कारण उसे सुन्दर बनाने के प्रयत्न से भी सम्बन्धित है। किन्तु लिपि-लेखन अपने आप मे एक कला का रूप ले लेता है। फारस में इस कला का विशेष विकास हुआ है। वहाँ से भारत मे भी इसका प्रभाव आया और फारसी लिपि मे तो इस कला का चरमोत्कर्ष हुआ। भारत मे अक्षरो के आलकारिक रूप में लिखने का चलन कम नही रहा। हमने कितने ही अक्षरो के आलकारिक रूप, आगे पुस्तक मे दिये हैं।

लेखन/लिखावट मे सुन्दरता या कलात्मकता के समावेश से ग्रन्थ का मूल्य बढ जाता है। लिपि के कलात्मक हो जाने पर समस्त ग्रन्थ ही कलाकृति का रूप ले लेता है। 'एनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड ऐथिक्स' का यह उद्धरण हमारे कथन की पुष्टि करता है "Not only so, but Skilled Scribes have devoted infinite time to Copying in luxurious Style the Compositions of famous persian poets and their manuscripts are in themselves works of art"

अनन्त समय लगाकर धैर्य और लेखन कौशल से लिपि मे सौन्दर्य निरूपित करके समस्त कृति/ग्रन्थ को ही एक कलाकृति बना देते हैं।

लिपि मे विविध प्रकार की कलात्मकता और आलकारिकता लाकर ग्रन्थ की सुन्दरता के साथ मूल्य मे भी वृद्धि की जाती है। सोने-चांदी की स्याही से भी ग्रन्थ की सुन्दरता मे चार-चाँद लग जाते है।

इन कलात्मकता लाने वाले लिप्यासन, लिपि और स्याही–आदि जैसे उपकरणो के बाद ग्रन्थ के मूल्यवर्द्धन मे सर्वाधिक महत्त्व चित्रकला के योगदान का होता है।

ग्रन्थो मे चित्राकन का एक प्रकार तो केवल सजावट का होता है। विविध ज्यामितिक आकृतियाँ, विविध प्रकार की लता-पताएँ, विविध प्रकार के फल फूल और पशु पक्षी, आदि से पुस्तक को लिपिकार और चित्रकार सजाते है।

ग्रन्थ चित्राकन का दूसरा प्रकार होता है। वस्तु को, विशेषत कथा-वस्तु को हृदयगम कराने के लिए रेखाओ से बनाये हुए चित्र या रेखा-चित्र।

यह रेखा-चित्र आगे अधिकाधिक कलात्मक होते जाते हैं। इसकी अति हमे वहाँ मिलती है जहाँ ग्रन्थ चित्राधार बन जाता है और उसका काव्य मात्र आधार बन कर रह जाता है। उत्कृष्ट कलाकार की उत्कृष्ट कलाकृति बन जाता है, यह ग्रन्थ और कवि पीछे छूट जाता है। ऐसी कृतियो का मूल्य क्या हो सकता है। जयपुर के महाराजा के निजी पोथी-खाने मे एक 'गीतगोविन्द' की सचित्र प्रति थी। बताया जाता है कि इसके पृष्ठ 10 इच लम्बे और 8 इच चौडे थे। कुल 210 चित्र युक्त पृष्ठ थे यह भी बताया जाता है कि एक अमरीकी महिला इसे 6 करोड रुपये मे खरीदने को तैयार थी। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर चित्र थे। ये चित्र विविध रगो मे अत्यन्त कलात्मक थे। इन्ही के कारण 'गीतगोविन्द' की इस प्रति का मूल्य इतना बढ गया था।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पाडुलिपि प्रथमत कलाकृति होती है। कलात्मक काव्य के साथ सुन्दर लिप्यासन, कलात्मक लिपि लेखन कलात्मक पृष्ठ सज्जा और कलात्मक चित्र-विधान से इनके अपने मूल्य के साथ पांडुलिपि का भी मूल्य बढता-बढता है।

इस कलात्मकता के साथ भी पाडुलिपि का विज्ञान हमने इस पुस्तक मे निरूपित किया है।

पर मुझे लगता है कि यह पुस्तक पाडुलिपि-विज्ञान की भूमिका ही हो सकती है, इसके द्वारा पाडुलिपि-विज्ञान की नीव रखी जा रही है।

पाडुलिपि का रूप बदलता रहा है और बदलता रहेगा। पाडुलिपि-विज्ञान को समस्त सम्भावनाओ को दृष्टि मे रख कर अपनी भूमि प्रस्तुत करनी होगी। पाडुलिपि सावयव इकाई है और प्रत्येक अवयव घनिष्ठ रूप से परस्पर सम्बद्ध है किन्तु विकास-क्रम मे इनमे से प्रत्येक मे परिवर्तन की सम्भावनाएँ हैं। विकास-यात्रा मे इकाई के किसी भी अवयव मे परिवर्तन आने पर पाडुलिपि के रूप मे भी परिवर्तन आयेगा तदनुकूल ही उसकी वैज्ञानिक समीक्षा में भी और विज्ञान के द्वारा उन्हे ग्रहण करने म भी।

पाडुलिपि के प्रत्येक अवयव से सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञान और अनुसधान का अपना-अपना इतिहास है। प्रत्येक के विकास के अपने सिद्धान्त हैं। इन अवयवों की अलग सत्ता भी है पर ये पाडुलिपि-निर्माण मे जब सयुक्त होते हैं तो बाहर से भी प्रभावित होते हैं और सयुक्त समुच्चय की स्थिति मे पाडुलिपि से भी प्रभावित होते हैं, उनसे पाडुलिपि भी प्रभावित होती है। यह सब-कुछ प्रकृत नियमो से ही होता है। हाँ, उसमे मानव-प्रतिभा का योगदान भी कम नही होता। पाडुलिपि-विज्ञान मे इन सभी क्रिया-प्रतिक्रियाओ को भी देखना होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि पाडुलिपि-विज्ञान का क्षेत्र बहुत विशद है, बहुत विविधतापूर्ण है और विभिन्न ज्ञान-विज्ञानो पर आश्रित है। भला मुझ जैसा अल्प-ज्ञान वाला व्यक्ति ऐसे विषय के प्रति क्या न्याय कर सकता है!

पर पाडुलिपियो की खोज मे मुझे कुछ रुचि रही है जो इस बात से विदित होती है कि मेरा प्रथम लेख जो कृष्णकवि के "विदुरप्रजागर" पर था और "माधुरी" मे सम्भवत 1924 ई० के किसी अक मे प्रकाशित हुआ था, एक पाडुलिपि के आधार पर लिखा गया था। फिर श्री महेन्द्र जी (अब स्वर्गीय) ने मुझे सन् 1926 के लगभग से नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज का अधिकारी नियुक्त कर दिया। इससे पाडुलिपियों और अनुसंधान मे रुचि बढ़नी ही चाहिये थी। इसी सभा के पांडुलिपि-विभाग का प्रबन्धक भी मुझे रहना पडा। मथुरा के पं० गोपाल प्रसाद व्यास (आज के लब्धप्रतिष्ठित हास्यरस के महाकवि, दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री तथा पद्मश्री से विभूषित एव हिन्दी हिन्दुस्तान के सम्पादकीय विभाग के यशस्वी सदस्य) हस्तलेखो की खोज के खोजकर्त्ता नियुक्त किये गये। वहीं मथुरा मे श्री त्रिवेदी (अब स्वर्गीय) काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज करने आये। मुझसे उन्हे स्नेह था, वे मेरे पास ही ठहरे। इस प्रकार कुछ समय तक प्राय प्रतिदिन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज पर बातें होतीं। इन सभी बातो से यह स्वाभाविक ही था कि हस्तलिखित ग्रन्थो और उनकी खोज में मेरी रुचि बढ़ती। उधर ब्रज-साहित्य-मण्डल की मथुरा में स्थापना हुई। उसके लिए भी हस्तलेखो में रुचि लेनी पड़ी। जब मैं क० मु० हिन्दी विद्यापीठ मे था तो वहाँ भी हस्तलेखों का सग्रहालय स्थापित किया गया। यहाँ अनुसधान पर होने वाली सगोष्ठी मे हस्तलेखो के अनुसधान पर वैज्ञानिक चर्चाएँ करनी और करानी पडी। पं० उदयशंकर शास्त्री ने विद्यापीठ का हस्त-

लेखागार सम्भाला। वे भी इस विषय मे निष्णात् थे। उनसे भी सहायता मैंने ली है। सूरसागर के संपादन और पाठालोचन के लिए एक वृहद् सेमीनार का आयोजन भी मुझे ब्रज-साहित्य-मण्डल के लिए करना पड़ा था। इन सभी के परिणामस्वरूप मेरी रुचि पाडुलिपियो म बढी और पाडुलिपियों की खोज की दिशा म भी कुछ कार्य किया।

पर इनसे मेरी पाडुलिपि-विज्ञान की पुस्तक लिखने की योग्यता सिद्ध नहीं होती। अत यह मेरी अनधिकार चेष्टा ही मानी जायगी। हाँ, मुझे इस कार्य म प्रवृत्त होने का साहस इसी भावना से हुआ कि इससे एक अभाव की पूर्ति तो हो ही सकती है। इससे इस बात की सम्भावना भी बढ सकेगी कि आगे कोई यथार्थ अधिकारी इस पर और अधिक परिपक्व और प्रामाणिक ग्रन्थ प्रस्तुत कर सकेगा।

जो भी हो, आज तो यह पुस्तक आपको समर्पित है और इस मान्यता के साथ समर्पित है कि यह पाडुलिपि-विज्ञान की पुस्तक है। डॉ० हीरालाल माहेश्वरी एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० ने मेरे आग्रह पर अपने अनुभव और अध्ययन के आधार पर कुछ उपयोगी टिप्पणियाँ हस्तलेखो पर तैयार करके दीं। इन्होने शतश हस्तलेखो का उपयोग अपने अनुसधान म किया है। कठिन यात्राएँ करके कठिन व्यक्तियो से पाडुलिपियो को प्राप्त किया है और उनका अध्ययन किया है। इसी प्रकार श्री गोपाल नारायण बहुरा जी ने भी कुछ टिप्पणियाँ हमे दी। ये बहुत वर्षों तक राजस्थान प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान मे सम्बन्धित रहे, वहाँ से सेवा निवृत्त होने पर जयपुर के सिटी-पैलेस के 'पोथीखाने' और सग्रहालय मे हस्तलिखित ग्रन्थो के विभाग से सम्बन्धित हो गये, इस समय भी वही हैं। इनको हस्तलेखो का दीर्घकालीन अनुभव है। और सोने मे सुगध की बात यह है कि प्राच्य विद्या-प्रतिष्ठान मे इन्हे विद्वद्वर मुनि जिन विजय जी (अब स्वर्गीय) के साथ भी काम करने का अच्छा अवसर मिला। हमारे आग्रह पर इन्होने भी हमे इस विषय पर कुछ टिप्पणियाँ लिखकर दी। इनकी इस सामग्री का यथासम्भव हमने पूरा उपयोग किया है और उसे इन विद्वानो के नाम से यथास्थान इस पुस्तक मे समायोजित किया है। इनके इस सहयोग के लिए मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। जहाँ तक मुझे ज्ञात है वहाँ तक मैं समझता हूँ कि 'पाडुलिपि-विज्ञान' पर यह पहली ही पुस्तक है। गुजराती की मुनि पुण्यविजय की लिखी पुस्तक 'भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लखन कला" मे पाडुलिपि-विषयक कुछ विषयों पर अच्छी ज्ञातव्य सामग्री बहुत ही श्रम, अध्यवसाय और सूझ-बूझ के साथ सजोयी गयी है पर इसमे दृष्टि सास्कृतिक चित्र उपस्थित करने की रही है। उनकी इस पुस्तक को जैन लेखन-कला और सस्कृति विषय का लघु विश्वकोष माना जा सकता है। इससे भी हमे बहुत-सी उपयोगी ज्ञान-सामग्री मिली है। मुनि पुण्यविजय जी भी प्रसिद्ध पाडुलिपि शोध कर्ता हैं और इस विषय के प्रामाणिक विद्वान हैं। उनके चरणो मे मैं अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ।

किन्तु इस क्षेत्र मे सबसे पहले जिस महामनीषी का नाम लिया जाना चाहिये वह हैं "भारतीय प्राचीन लिपि माला" के यशस्वी लेखक महा-महोपाध्याय गौरीशकर हीराचद ओझा जी हिन्दी के अनन्य सेवक और हिन्दी व्रती थे। "भारतीय प्राचीन लिपि माला" जैसी अद्वितीय कृति उन्होंने दबावो और आग्रहों की चिन्ता न करके अपने व्रत के अनुसार हिन्दी मे ही लिखी, और भारतीय विद्वानो के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया। उनका यह ग्रन्थ तो पांडुलिपि-विज्ञान का मूलत. आधार ग्रन्थ ही है। मैंने ब्राह्मी लिपि का पहला

पाठ उनकी इसी पुस्तक से सीखा था। मैं तो उनके दिव्य चरणों में श्रद्धा से पूर्णत समर्पित हूँ। वे और उनके ग्रन्थ तो अब भी प्रेरणा के अखंड स्रोत हैं। उनसे भी बहुत-कुछ इस ग्रन्थ में लिया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसे ही अन्य अनेक हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं के विद्वानों के ग्रन्थों से लाभ उठाया गया है और यथा-स्थान उनका नामोल्लेख भी किया गया है। इन सबके समक्ष मैं श्रद्धापूर्वक विनत हूँ। इन सभी विद्वानों के चरणों में मैं एक विद्यार्थी की भाँति नमन करता हूँ और उनके आशीर्वाद की याचना करता हूँ। उनके ग्रन्थों की सहायता के बिना यह पुस्तक नहीं लिखी जा सकती थी और पाण्डुलिपि-विज्ञान का बीज वपन नहीं हो सकता था।

इस पुस्तक की तैयारी में सबसे अधिक सहायता मुझे राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अनुसंधान अधिकारी प्रवक्ता, डॉ० रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ से मिली है। उनकी सहायता के बिना यह ग्रन्थ लिखा जा सकता था, इसमें मुझे सदेह है। इसका एक-एक पृष्ठ उनका ऋणी है।

इस पुस्तक का एक छोटा-सा इतिहास है। जब केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय और शब्दावली-आयोग ने साहित्य और भाषा विषय की विषय-नामिकाएँ बनाईं तो उनमें मुझे भी एक सदस्य नामांकित किया गया। इन्हीं विषय-नामिकाओं में जब यह निर्धारित किया गया कि किन किन ग्रन्थों का मौलिक लेखन कराया जाय, तब "पाण्डुलिपि-विज्ञान" को भी उसी सूची में सम्मिलित किया गया। इसका लेखन कार्य मुझे सौंपा गया।

जब मैं राजस्थान विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष होकर आ गया और कुछ वर्ष बाद राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना हुई तो इस अकादमी के 'साहित्या-लोचन' और 'भाषा' की विषय नामिका का एक सदस्य केन्द्र की ओर से मुझे भी बनाया गया। साथ ही उक्त ग्रन्थ भी लिखवाने और प्रकाशन के लिए राजस्थान-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी को दे दिया गया। दिसम्बर, 73 तक इस विषय पर विशेष कार्य नहीं हुआ। 74 के आरम्भ से कुछ कार्य आरम्भ हुआ। 5 मार्च, 74 को ग्रन्थ अकादमी के निदेशक पद से निवृत्त होकर मैं इस ग्रन्थ के लिखने में पूरी तरह प्रवृत्त हो गया। इसी का परिणाम यह ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ की रचना में राजस्थान विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है। राजस्थान-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी के पुस्तकालय का भी उपयोग किया गया है।

पं० कृपाशंकर तिवारी जी के एक लेख को अपनी तरह से इसमें मैंने सम्मिलित कर लिया है। पं० उदयशंकर शास्त्री जी के एक चार्ट को भी ले लिया गया है। इन सबका यथास्थान उल्लेख है।

जिन विषयों की चर्चा की गयी है उनके विशेषज्ञों के ग्रन्थों से तद्विषयक वैज्ञानिक प्रक्रिया बताने या विश्लेषण पद्धति समझाने के लिए आवश्यक सामग्री उद्धृत की गयी है और यथास्थान उनका विश्लेषण भी किया गया है। इस प्रकार प्रत्येक चरण को प्रामाणिक बनाने का यत्न किया गया है। इन सभी विद्वानों के प्रति मैं नतमस्तक हूँ। यदि ग्रन्थ में कुछ प्रामाणिकता है तो वह उन्हीं के कारण है।

इन प्रयत्नों के किये जाने पर भी हो सकता है कि यह भानुमती का कुनबा

होकर रह गया हो, पर मुझे लगता है कि इसमे पाडुलिपि-विज्ञान का सूत्र भी अवश्य है।

पाडुलिपि-विज्ञान का अध्ययन विश्वविद्यालय के स्तर के विद्यार्थियों और शोधार्थियों के लिए उपयोगी होता है। प्रत्येक शोध-सगोष्ठी म पाडुलिपि विषयक चर्चा किसी न किसी रूप मे अवश्य होती है, पर सम्यक वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव में सतही ही रह जाती है। इतिहास, साहित्य, समाज-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, आदि कितने ही ऐसे विषय हैं जिनमे किसी न किसी दृष्टि से पाडुलिपियों का उपयोग करना पड जाता है। साहित्य के अनुसधानकर्त्ता का काम तो पाडुलिपियों के बिना चल ही नही सकता। विश्वविद्यालयों म अब पी एच० डी० स पूर्व एम० फिल० के अध्ययन-अध्यापन का और विधान किया गया है। इसम पी-एच० डी० के लिए परिपक्व अनुसधान की योग्यता प्रदान कराने की व्यवस्था है। इस उपाधि के लिए पाडुलिपि-विज्ञान का अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए, ऐसा मैं मानता हूँ अन्यथा एम० फिल० की उपाधि से वह लाभ नही मिल सकेगा जो अभीष्ट है। अनुसधान की प्रक्रिया का ऐसे अध्ययन मे अपना महत्व है पर अनुसधान-प्रक्रिया के अन्तर्गत विविध विज्ञानों की सहायता अपेक्षित होती है और यह पाडुलिपि-विज्ञान ऐसा ही एक विज्ञान है। अत इस पुस्तक की आवश्यकता स्वयसिद्ध है।

यों भी यह विषय अपने आप मे रोचक है, अत. मैं आशा करता हूँ कि इसका हिन्दी जगत मे स्वागत किया जायगा।

सत्येन्द्र

विषय-सूची

चित्र-सूची

अध्याय **1**

पाण्डुलिपि-विज्ञान और उसकी सीमाएँ

नाम की समस्या

इस विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य द्वारा लिपिबद्ध की गई सामग्री से है। मनुष्य ने कितनी ही सहस्राब्दियों पूर्व लेखन-कला का आविष्कार किया था। तब से अब तक लिपिबद्ध सामग्री अनेक रूपों में मिलती है। अतः यहाँ लेखन से भी कई अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। आधुनिक युग में जिस तरह से हाथ से, लेखनी के द्वारा कागज पर लिखा जाता है उसी प्रकार मनुष्य की सभ्यता के आरम्भ और विकास की अवस्थाओं में यह लेखनक्रिया ईंटों पर, पत्थरों पर, शिलालेखों के रूप में या टंकण द्वारा की जाती रही। मोम-पाटी पर या चमड़े पर भी लिखा गया। ताड़पत्र पर नुकीली लेखनी से गोदन द्वारा यह कार्य किया गया और कपड़ों पर छापों द्वारा, भोजपत्र पर लेखनी के द्वारा, ताम्रपत्र तथा अन्य धातु पत्रों पर टंकण द्वारा या ढालकर या छापों द्वारा अपने विचारों को अंकित किया गया है। अतः इस विज्ञान को इन सभी प्रकार के लेखों का अपनी सामग्री के रूप में उपयोग करना होगा। इन सभी को हम लेख तो आसानी से कह सकते हैं क्योंकि विविध रूपों में लिपिबद्ध होने पर भी लिखने का भाव इनके साथ बना हुआ है। मुहावरों में भी टंकण द्वारा लेखन, गोदन द्वारा लेखन, आदि प्रयोग आते हैं। इतिहासकारों ने भी अपने अनुसंधानों में इनको अभिलेख, शिलालेख, ताम्रपत्र लेख आदि का नाम दिया है। इन्हें जो लेख भी मिले हैं उन्हें, वासुदेव उपाध्याय ने धार्मिक लेख, 'प्रशस्तिमय अभिलेख, स्मारक-लेख, आज्ञापत्र एवं दान-पत्र के रूपों में प्रस्तुत किया गया बताया है। मुद्राओं पर भी अभिलेख अंकित माने जाते हैं। इन अभिलेखों में आगे पुस्तक-लेखन आता है तो इसका एक अलग वर्ग बन जाता है। वस्तुतः यही वर्ग संकुचित अर्थ में इस पाण्डुलिपि विज्ञान का यथार्थ क्षेत्र है। अंग्रेजी में इन्हें 'मैन्युस्क्रिप्ट्स' कहते हैं। 'मैन्युस्क्रिप्ट' शब्द को हस्तलेख नाम भी दिया जाता है और पाण्डुलिपि भी। रूढ़ अर्थ में पाण्डुलिपि का उपयोग हाथ की लिखी पुस्तक के उस रूप को दिया जाने लगा है जो प्रेस में मुद्रित होने के लिए देने की दृष्टि से अन्तिम रूप से तैयार हो।[1] फिर भी, इसका निश्चित अर्थ वही है जो हस्तलेख का हो सकता है। हस्तलेख का अर्थ पाण्डुलिपि से अधिक विस्तृत माना जा सकता है क्योंकि उसमें शिलालेख तथा ताम्रपत्र आदि का भी समावेश माना जाता है किन्तु पाण्डुलिपि का संबंध ग्रन्थ से ही होता है। आज मैन्युस्क्रिप्ट के पर्याय के रूप में 'हस्तलेख' और 'पाण्डुलिपि'

1. पं० उदयशंकर शास्त्री ने पाण्डुलिपि के सम्बन्ध में यह लिखा है कि आजकल हस्तलिखित ग्रन्थों को पाण्डुलिपियाँ कहा जाने लगा है। किन्तु प्राचीन काल में पाण्डुलिपि उस हस्तलेख को कहा जाता था जिसके प्रारूप (मसविदा) को पहले लकड़ी के पट्टे या जमीन पर खड़िया (पाण्डु) (चाक) से लिखा जाता था फिर उसे शुद्ध करके अन्यत्र उतार लिया जाता था और उसी को पक्का कर दिया जाता था। हिन्दी में यह अर्थ विपर्यय अंग्रेजी के कारण हुआ है। अंग्रेजी में किसी भी प्रकार के हस्तलेख को 'मैनुस्क्रिप्ट' कहते हैं।
—[भारतीय साहित्य, जनवरी, १९५९, पृ० १२०]

दोनो ही प्रयुक्त होते हैं। हस्तलेख से हस्तरेखाओं का भ्रम हो सकता है। इस दृष्टि से 'मैन्युस्क्रिप्ट' के लिए पाण्डुलिपि शब्द कुछ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है इसलिए हमने इसी शब्द को मान्यता दी है।

अंग्रेजी के विश्वकोषो मे 'मैन्युस्क्रिप्ट' का क्षेत्र काफी विशद माना गया है।[1] फलत: आज 'मैन्युस्क्रिप्ट' या 'पाडुलिपि' का यही विस्तृत अर्थ लिया जाता है। यही अर्थ इस ग्रन्थ मे भी ग्रहण किया गया है।

पांडुलिपि विज्ञान क्या है ?

मनुष्य अपनी आदिम अवस्था के वन्य-स्वरूप को पार करके इतिहास और संस्कृति का निर्माण करता हुआ, लाखो वर्षों की जीवन-यात्रा सम्पन्न कर चुका है। वह अपनी इस यात्रा मे चरण-चिह्न छोडता आया है। इन चिह्नो मे से कुछ आदिम अवस्था मे गुफाओ मे निवास के स्मारक गुहा-चित्र हैं जो 30,00,00 वर्ष ई पू से मिलते है। इन चिह्नो मे इनके अतिरिक्त भवनों के खडहर हैं, विशाल समाधियाँ हैं, देवस्थान है; अन्य उपकरण जैसे बर्तन, मृद्भाड, मुद्राए, एव मृण्मूर्तियाँ हैं, ईंटें है, तथा अस्त्र-शस्त्र हैं। इनके साथ ही साथ शिलालेख हैं, ताम्रपट्ट हैं, भित्तिचित्र है। इन सबके द्वारा और सब मे

1. न्यू यूनीवर्सल ऐनसाइक्लोपीडिया भाग 10 मे बताया गया है कि मैन्युस्क्रिप्ट लैटिन के [Manu Scriptus] मनु+स्क्रिप्टस से उत्पन्न है। इसका अर्थ होता है हाथ की लिखावट। विशद अर्थ में कोई भी ऐसा लेख जो छपा हुआ नही है इसके अन्तर्गत आयेगा। संकुचित अर्थ मे छपाई का प्रयत्न होने से पूर्व जो सामग्री पेपीरस, पार्चमेण्ट अथवा कागज पर लिखी गई वही 'मैन्युस्क्रिप्ट' कही गई। ऐनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना के अनुसार छापेखाने की छपाई आरम्भ होने से पूर्व का समस्त साहित्य 'मैन्युस्क्रिप्ट' के रूप मे ही था। इसके अनुसार वह समस्त सामग्री 'मैन्युस्क्रिप्ट' कही जायेगी जो किसी भी रूप में लिखी गई हो, चाहे वह कागज पर लिखी हो अथवा किसी अन्य *वस्तु पर, जैसे धातु, पत्थर, लकडी, मिट्टी, कपडे, वृक्ष की छाल, वृक्ष के पत्ते, अथवा चमडे पर।*

   In Archaeology a manuscript is any early writing on stone, metal, wood, clay, linen, bark and leaves of trees and prepared skins of animals such as goats *sheep and calves* —*The American People's Encyclopaedia*, (p 175)

   विद्वानों का यह अभिमत है कि खोज में जो सामग्री अब तक मिली है उसके आधार पर यह माना जा सकता है कि पहले लेखन-कार्य आदिम मानवों की चित्रकला की भाँति गुफाओ की भित्तियो पर *या शिलाश्रयो की भित्तियो पर हुआ होगा। तब पत्थरों या ढोकों का उपयोग किया गया होगा।* तदनन्तर मिट्टी (Clay) की ईंटों पर। ईंटों के बाद पेपीरस का आविष्कार हुआ होगा। पेपीरस के खरडो [Rolls] पर ग्रन्थ रहता था। इसी के साथ साथ लिखने, मिटाने और फिर लिखने की सुविधा की दृष्टि से लकडी की पाटी या पट्टी काम में ली जाने लगी। *पश्चिम मे मोम की पाटी का* उपयोग मिलता है। आगे के विकास में यह मोमपाटी आवरण पन्ने का रूप लेने लगी। 'पेपीरस' के रोल्स या खरीते बलपिनाए या कुण्डलियाँ बहुत लम्बे होने थे। ये असुविधाजनक लगे तो इन्हें दुहरा तिहरा कर पृष्ठ या पन्ने का रूप दिया गया और मोमपाटी के आवरण पटल इन पृष्ठो के रक्षक बन गये। ये ऊपर और नीचे के दोनों पटल एक ओर तार से गूँथे जाते थे। बाद में लिप्यासन के लिए पेपीरस के स्थान पर पार्चमेण्ट [चर्मपत्र] काम मे आने लगा तो पार्चमेण्ट या चर्म-पत्र ग्रन्थ के पृष्ठों की भाँति और मोमपाटी या लकडी की पट्टिया आवरण पटल की भाँति उपयोग में आने लगे। इनको कोडैक्स [Codex] कहा जाता है। आधुनिक जिल्द-बन्द ग्रन्थों के पूर्वज ये 'कोडैक्स' ही हैं। ऐसा माना जाता है कि पार्चमेण्ट [चर्मपत्र] का उपयोग लिप्यासन के लिए प्रथम ई॰ शती से होने लगा था। इनका कोडैक्सी रूप में प्रचार ईसा की चौथी शताब्दी से विशेष रूप से हुआ। ये सभी पाडुलिपि के भेद हैं, जिन्हें विकास-क्रम से यहाँ बताया गया है।

से उस प्रागैतिहासिक मनुष्य का रूप ऐतिहासिक काल की भूमिका मे उभरता है, जो प्रगति पथ की ओर चलता ही जा रहा है। उसके सघर्ष के अवशेष इतिहास के काल क्रम मे दबे मिल जाते हैं। उनसे मनुष्य की सघर्ष कथा का बाह्य साक्ष्य मिलता है। इन बाह्य साक्षियो के प्रमाण से हम उसके अतरग तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक ऐसे आदिम उपादानों के साथ सहस्राब्दियो का मानवीय इतिहास जुड़ा हुआ है। इन अवशेषो के माध्यम से इतिहासकार उन प्राचीन सहस्राब्दियो का साक्षात्तकार कल्पना के सहारे करता है। उन्ही के आधार पर वह प्राचीन मानव के मन एव मस्तिष्क, विचारो और आस्थाओ के सूत्र तैयार करता है।

उदाहरणार्थ—अल्टामीरा[1] की गुफाओ मे दूर भीतर अँधेरे मे कुछ चित्र बने मिले। मनुष्य ने अभी भवन या झोंपडी बनाना नही सीखा, अत वह प्राकृतिक पहाडियो या गुफाओ मे शरण लेता था। गुफाओ मे भीतर की ओर उसने एक अँधेरा स्थान चुना यानी उसने निभृत स्थान, एकान्त स्थान चुना क्योकि वह चाहता था कि वहाँ वह जो कुछ करना चाहे, वह सबकी दृष्टि मे न आवे। उसका वह स्थान ऐसा है, कि जहाँ उसके अन्य साथी भी यो ही नही आ सकते। स्पष्ट है कि वह यहाँ पर कोई गुह्य कृत्य करना चाहता था।

चित्र—यहाँ उसने चित्र बनाये। अवश्य ही वह इस समय तक कृत्रिम प्रकाश उत्पन्न करना जान गया था, उसी प्रकाश में वह चित्र बना सका, अन्यथा वह चित्र न बना पाता। साथ ही, उस गुह्य स्थान पर जो चित्र उसने बनाये वे चित्र सोद्देश्य हैं। इसका उद्देश्य टोना हो सकता है। वह टोने मे अवश्य विश्वास करता था। उसी टोने के लिए तथा तद्विषयक अनुष्ठानो के लिए एकान्त अन्धकार पूर्ण गुह्य अश उस गुफा मे उसने चुना, और वहाँ वे चित्र बनाये।[2] इन चित्रो के माध्यम से टोने के द्वारा वह अपना अभीष्ट प्राप्त करना चाहता था। प्रागैतिहासिक काल के लोग टोने मे विश्वास करते थे। उनके लिए टोना धर्म का ही एक रूप था ऐसा कुछ हम गुहा और उनके चित्रो को देखकर कह सकते हैं। किन्तु यथार्थ यह है कि यह जो कुछ कहा गया है उससे भी और अधिक कहा जा सकता था—पर यह सब कुछ बाह्य साक्ष्य से मानस के अतरग तक पहुँचने के उपक्रम मे कल्पना के उपयोग से सम्भव होता। उदाहरणार्थ—सामने चित्र है। पुरातत्त्वविद् उसे देख रहा है। चित्र, उसकी भूमि, उसका स्थान स्थान का स्वरूप और स्थिति, वहाँ उपलब्ध कुछ उपादान, गुफाओ का काल—ये सब पुरातत्त्वविद् की कल्पना दृष्टि के लिए एक

1 Much research in this field has been done in recent years, and we now have a fairly definite knowledge of the Art of some of the most primitive of men known to the anthropologist (from 30 000 to 10 000 B C) but the famous cave drawings of animals at Altamura in Spain are the most important

—The Meaning of Art, p 53

2 There is evidence to show that paintings have been often repainted, and that the places where they are found were in some way regarded as sacred by the Bushmen,

—The Meaning of Art, p 54

'By the symbolical representation of an event, primitive man thinks he can secure the actual occurence of that event The desire for progeny, for the death of an enemy, for servival after death, or for the exorcism or propitiation of adequate symbol (यही टोना है।)

—Read Herbert The Meaning of Art, p 57

भाषा हैं जिनसे वह आदिम युग के मनुष्य के मानस को पढ़कर निरूपित कर पाता है।

सभ्यता और संस्कृति के विकास मे यह आदिम मनुष्य ऐसे मोड पर पहुँचता है कि वह एक ओर तो चित्र से लिपि की दिशा मे बढता है, दूसरी ओर 'भाषा' का विकास कर लेता है। तब वह अपने विचारो को इस प्रकार लिख सकता है कि पढने वाला जैसे स्वय लिखने वाले के समक्ष खडा होकर लिपि की लकीरो से लेखक के मानस का साक्षात्कार कर रहा हो। अब सामान्यत अपनी कल्पना से उसे लेखक के मानस का निर्माण नही करना, जैसे गुफा निवासी के मानस का किया गया, वह मानस तो लेख से लेखक ने ही खडा कर दिया है। इस लेखन के अनेक रूप हो सकते हैं, अनेक लिपियाँ हो सकती हैं, अनेक भाषाएँ हो सकती हैं। पर सबमे मनुष्य का मानस व्यापार, उसके भाव विचार, उसन जो देखा समझा उसका विवरण होता है। वस्तुत लेख मे ही मनुष्य का साक्षात् मानस प्रतिबिंबित मिलता है। ये सभी चित्र से लेकर लिपि लेखन तक, पाडुलिपि के अन्तर्गत माने जा सकते हैं।

'लेखन' एक जटिल व्यापार है। इसमे एक तत्त्व तो लेखक है, जिसके अन्तर्गत उसका व्यक्तित्व उसका मनोविज्ञान और अभिव्यक्ति के लिए उसका उत्साह, अभिप्राय और प्रयत्न—शरीर, हृदय और मस्तिष्क—इन सबसे बनी एक इकाई—सभी सम्मिलित हैं, उसके अन्य तत्त्व लेखनी लिखने के लिए पट या कागज, स्याही आदि हैं। इनमे से प्रत्येक का अपना इतिहास है, सबके निर्माण की कला है, और सबको समझने का एक विज्ञान भी है। लिपिक अपना अलग महत्त्व रखता है। लेखक जब ग्रन्थ-रचना करता है, तब वह अपना लिपिक भी होता है क्योकि वह स्वय लिखकर ग्रन्थ प्रस्तुत करता है। लेखक के अपने हाथ से लिखे ग्रन्थ का अपने आप मे ऐतिहासिक महत्त्व है। ग्रन्थ-रचयिता कितना ही विद्वान और पडित हो जब ग्रन्थ रचना करता है, अपने विचारो और विषयो को लिपिबद्ध करता है तो कितनी ही समस्याओ को जन्म देता है। ये प्राय वे ही समस्याए होती है जो सामान्य लिपिकार पैदा करता जाता है। और ऐसी अनेक प्रकार की समस्याओ के लिए पाडुलिपि-विज्ञान की अपेक्षा है।

हमने यह देखा कि पाडुलिपि से सम्बन्धित कई पक्ष हमारे सामने आते हैं। एक पक्ष ग्रन्थ के लेखन और रचना विषयक हो सकता है। यह ग्रन्थ लेखन की कला का विषय बन सकता है। दूसरा पक्ष, उसकी लिपि से सम्बन्धित हो सकता है, यह 'लिपि विज्ञान' का विषय है। लिपिकार' सम्बन्धी पक्ष भी कम महत्त्व का नही। तीसरा पक्ष, भाषा विषयक है जो भाषा विज्ञान और व्याकरण के क्षेत्र की वस्तु है। चौथा पक्ष, उस ग्रन्थ मे की गई चर्चा के सम्बन्ध मे हो सकता है उसमे ज्ञान-विज्ञान की चर्चा हो सकती है, वह काव्य ग्रन्थ भी हो सकता है। ये सभी पक्ष साहित्यालोचन या विविध ज्ञान विज्ञान और काव्य शास्त्र से सम्बन्धित हैं। यह पक्ष शब्द अर्थ' का ही एक पक्ष है। ये ग्रन्थ चित्रयुक्त भी हो सकते हैं। चित्र का विषय चित्रकला के क्षेत्र मे जायेगा। ग्रन्थ जिस पर लिखा गया है उस वस्तु (चमडा ईंट छाल पत्ता, कपडा, आदि) का एक अलग पक्ष है, फिर उसे किस प्रकार पुस्तकाकार बनाया जाता है यह अलग विज्ञान है। स्याही एव लेखनी का निर्माण एक पृथक् अध्ययन का विषय है। ग्रन्थ इन सभी से मिलकर तैयार होता है और ये सभी पक्ष इससे बँध जाते है। इसके बाद ग्रन्थो की प्रतिलिपि का पक्ष आता है। किसी प्राचीन ग्रन्थ की अनेकानेक प्रतियाँ लम्बे ऐतिहासिक काल मे बिखरी हुई और विस्तृत

भू भाग मे फैली हुई मिलती हैं। प्रतिलिपि की अपनी कला है। इस पक्ष का अपना महत्त्व है। इन प्राचीन प्रतियो का लेकर उनके आधार पर ग्रन्थ का सम्पादन करना तथा एक आदर्श पाठ प्रस्तुत करना एक अलग पक्ष है। इसका एक अलग ही पाठालोचन-विज्ञान अस्तित्व मे आ चुका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक पाडुलिपि मे कितनी ही बातें होती हैं और उनमे से अनेक का एक अलग विज्ञान है पर उनम से कोई भी अलग अलग पाडुलिपि नही है, न लिपि मात्र पाडुलिपि है और न उसमे लिखी भाषा और अक, न चित्र, न स्याही और न कागज, न शब्दार्थ, न उसमे लिखा हुआ ज्ञान विज्ञान का विषय,—पाडुलिपि इन सबसे मिलकर बनती है, साथ ही इन सबसे भिन्न है। लेकिन इन सबके ज्ञान विज्ञान से पाडुलिपि के विज्ञान को भी हृदयगम करने म सहायता मिल सकती है। उसके ज्ञान के लिए ये विज्ञान सहायक हो सकते हैं। पाडुलिपि विज्ञान की दृष्टि से जिस पर सबसे पहले दृष्टि जाती है वह तो इन सबके पारस्परिक नियोजन की बात है। इन सबका नियोजनकर्त्ता एक व्यक्ति अवश्य होता है। वह स्वय उस पाडुलिपि का कर्ता हो सकता है अतएव विद्वान और पण्डित। किन्तु वह मात्र एक लिपिक भी हो सकता है जो उसकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करे। मूल पाडुलिपि भी पाडुलिपि है और उसकी प्रतिलिपि भी पाडुलिपि है। इस प्रकार एक व्यक्ति द्वारा पाडुलिपि के विभिन्न तत्त्वो के नियोजन मात्र से ही वह व्यक्ति पाडुलिपि को पूर्णता प्रदान करने म समर्थ नही है। क्योकि उसके जो उपादान हैं उन पर लेखक तथा लिपिकर्त्ता का वश नही होता। उसे कागज दूसरे से तैयार किया हुआ लेना होता है, वह कागज स्वय नही बनाता। यदि अनेक प्रकार के कागज हो तो वह चयन कर सकता है। इसी प्रकार लेखनी तथा काम पर भी उसका अधिकार नही। वह प्राकृतिक उपादानो से लेखनी तैयार करता है और जैसी भी लेखनी उसे मिलती है उसका वह अपनी दृष्टि से निकृष्ट या उत्कृष्ट उपयोग कर सकता है। स्याही भी वह बनी बनाई लेता है और यदि बनाता भी है तो जिन पदार्थों से स्याही बनायी जाती है, वे सभी प्रकृतिदत्त पदार्थ होते हैं जिनका वह स्वय उत्पादन नही करता। फिर जब वह लिखना प्रारम्भ करता है तो वर्ण, शब्द और भाषा उसे सस्कार, शिक्षा तथा अभ्यास से मिलते हैं। लिपि के अक्षरो के निर्माण मे उसका कोई हाथ नही होता किंतु प्रत्येक अक्षर के निर्धारित रूप को लिखने मे वह अपने अभ्यास का और रुचि का भी फल प्रस्तुत करता है इससे वर्णों के रूप विन्यास में कुछ अन्तर आ सकता है। किन्तु इन सभी वस्तुओ का नियोजन वह एक विधि से ही करता है और इस विधि की परीक्षा ही पाडुलिपि विज्ञान का मुख्य लक्ष्य है। पाडुलिपि का विषय क्या है, यह पाडुलिपि विज्ञान के अध्येता की दृष्टि से विशेष महत्त्व की बात नही है। इसका उसे इतना ही परिचित होने की आवश्यकता है जितने से वह पाडुलिपि के विषय की कोटि निर्धारित कर सके।

किन्तु यह उसके लिए अवश्य आवश्यक है कि पाडुलिपि के सम्बन्ध मे जो प्रश्न उठें उनका वह प्रामाणिक समाधान प्रस्तुत कर सके। अत जिन विषयो पर पाडुलिपिवेत्ता से प्रश्न किये जा सकते हैं वे सम्भवत इस प्रकार के हो सकते हैं —

(1) पाडुलिपि की खोज और प्रक्रिया। पाडुलिपि का क्षेत्रीय अनुसधान भी इसी के अन्तर्गत आयेगा।

(2) भौगोलिक और ऐतिहासिक प्रणाली से पाडुलिपियो के प्राप्त होने के स्थानो का निर्देश।

(3) पाडुलिपियो के मिलने के स्थान के समस्त परिवेश से प्राप्त पाडुलिपि का सम्बन्ध निरूपण ।
(4) पाडुलिपियो के विविध पाठो के सकलन के क्षेत्रों का अनुमानित निर्देश ।
(5) पाडुलिपि के काल-निर्णय की विविध पद्धतियाँ ।
(6) पाडुलिपि के कागज, स्याही, लेखनी आदि का पाडुलिपि के माध्यम से ज्ञान और प्रत्येक काल-ज्ञान के अनुसधान की पद्धति ।
(7) पाडुलिपि की लिपि का विज्ञान तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ।
(8) पाडुलिपि के विषय की दृष्टि से उसकी निरूपण शैली का स्वरूप ।
(9) पाडुलिपि के विविध प्रकारो का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य तथा उन प्रकारो का भौगोलिक सीमा निर्देश ।
(10) पाडुलिपि की प्रतिलिपिया के प्रसार का मार्ग तथा क्षेत्र ।
(11) पाडुलिपियो के माध्यम से लिपि के विकास का इतिहास ।
(12) लिपिकारो के निजी व्यक्तित्व का परिणाम ।
(13) लिपिया मे वैशिष्ट्य और उन वैशिष्ट्यो की भौगोलिक तथा ऐतिहासिक व्याख्या ।
(14) पाडुलिपियो की प्रामाणिकता की परीक्षा ।
(15) पाठालाचन–प्रणाली ।
(16) पाठ–पुनर्निर्माण–प्रणाली ।
(17) शब्द रूप और अर्थ तथा पाठ ।
(18) पाडुलिपियो की सुरक्षा की वैज्ञानिक पद्धतियाँ ।
(19) पाडुलिपियो के सग्रहालय और उनके निर्माण का प्रकार ।
(20) पाडुलिपिया के उपयोग का विज्ञान ।
(21) पाडुलिपि और उसके अलकरण ।
(22) पाडुलिपि मे चित्र ।
(23) पाडुलिपि की भाषा का निर्णय ।
(24) पाडुलिपि लेखक प्रतिलिपिकार, चित्रकार और सज्जाकार ।
(25) पाडुलिपि, प्रतिलिपि लेखन के स्थान, तथा प्राप्त सुविधाए, प्रतिलिपिकार की योग्यताए ।
(26) ग्रन्थ-लयन तथा प्रतिलिपि लेखन के शुभ अशुभ मुहूर्त ।
(27) पाडुलिपि के लिप्यकन मे हरताल प्रयोग, काग्य प्रयोग, सशोधन परिवर्द्धन की पद्धतियाँ ।

पाडुलिपि विज्ञान इसलिए भी विज्ञान है कि वह पाडुलिपि का अध्ययन किसी एक विशिष्ट पाडुलिपि को दृष्टि मे रखकर नही करता वरन् पाडुलिपि के सामान्य रूप को ही लेता है । पाडुलिपि शब्द से कोई विशेष पुस्तक सामने नही आती । प्रत्येक प्रकार की पाडुलिपियो मे कुछ सामान्य लक्षण ऐसे होते हैं कि उनसे युक्त सभी ग्रन्थ पाडुलिपि कहे जाते हैं । पाडुलिपि शब्द के अन्तर्गत समग्र पाडुलिपियाँ सामान्यरूप मे अभिहित होती है जो लिखी गई हैं, लिखी जा रही हैं, या लिखी जाएँगी । यह विज्ञान उन सभी को दृष्टि मे रख-कर विचार करता है । इसी दृष्टि से पाडुलिपि-गत सामान्य विषयो का पाडुलिपि-विज्ञान विश्लेषण करता है और विश्लेषित प्रत्येक अग पर वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य-कारण परम्परा

मे बाँधकर सैद्धान्तिक विचार करता है । इनके आधार पर वह ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत करता है जिनसे तत्सम्बन्धी विविध प्रश्नो और समस्याओं का समाधान किया जा सकता है । पाडुलिपि-विज्ञान पाडुलिपि से सम्बन्धित तीनो पक्षो से सम्बन्धित होता है, ये पक्ष हैं : लेखन पक्ष, पाडुलिपि का प्रस्तुतीकरण पक्ष, जिसमे सभी प्रकार की पाडुलिपियाँ परिगणनीय है और तीसरा सम्प्रेषण पक्ष, जिसमे पाठक वर्ग सम्मिलित होता है, पाडुलिपि लेखक और पाठक इन दोनो पक्षो के लिए सेतु या माध्यम है । अतएव पाडुलिपि के अपने पक्ष के साथ पाडुलिपि-विज्ञान इन दोनो पक्षो का पाडुलिपि के माध्यम से उस अश का जिस अश के कारण पाडुलिपि हस्तलेख मे आती है वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करता है । यह विज्ञान पाडुलिपि के समग्र रूप के निर्माण मे इन दानो पक्षो के योगदान का भी मूल्याकन करता है ।

ग्रन्थ रचना की प्रक्रिया मे मूल अभिप्राय है लेखक का यह प्रयत्न कि वह पाठक तक पहुँच सके और आज के पाठक तक ही नही दीर्घाति-दीर्घकालीन भविष्य के पाठको तक पहुँच सके । 'लेखन' क्रिया का जन्म ही अपनी अभिव्यक्ति को भावी युगो तक सुरक्षित रखने के लिए हुआ है ।

फलत. लेखन के परिणामस्वरूप प्राप्त ग्रन्थ या पाडुलिपि लेखक के विचारो को सुरक्षित रख कर उसे पाठक तक पहुँचाते हैं । इस प्रकार पाडुलिपि एक सेतु या उपादान है जो काल की सीमाओ को लाँघ कर भी लेखक को पाठक से जोड़ता है । पाठक भी इन्ही के माध्यम से लेखक के पास पहुँच सकता है । इसे यो समझा जा सकता है :
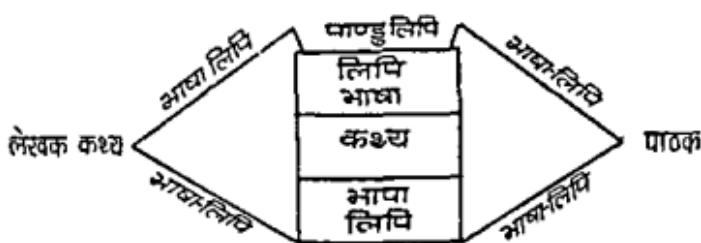
लेखक का कथ्य भाषा मे रूपान्तरित होकर लिपिबद्ध होकर लेखनी से लिप्यासन पर अकित होकर पाडुलिपि का रूप ग्रहण कर पाठक के पास पहुँचता है । अब पाठक ग्रन्थ के लिप्यासन या लिपिबद्ध भाषा के माध्यम से लेखक के कथ्य तक पहुँचता है । लेखक और पाठक मे काल गत और देशगत अन्तर है, और यह अन्तर ग्रन्थ के द्वारा शून्य हो जाता है, तभी तो आज हजारो वर्ष पूर्व के काल को लाँघकर देश काल के अन्तराल को मिटाकर हम लेखक से मिल सकते हैं । फिर भी, लेखक से पाठक तक या पाठक से लेखक तक की इस यात्रा मे समस्याएँ खडी होती है । उनके समाधान का महत्त्वपूर्ण साधन पाडुलिपि है । इसी महत्त्वपूर्ण साधन तक पहुँचने की दृष्टि से पाडुलिपि-विज्ञान की उपादेयता सिद्ध होती है ।

पाण्डुलिपि विषयक विज्ञान की आवश्यकता

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में उठता है और उठाया भी जा सकता है कि पांडुलिपियों का अस्तित्व इतना पुराना है जितना कि लिपि या लेखन का आविष्कार, किन्तु आज तक पांडुलिपि विज्ञान की आवश्यकता का अनुभव क्यों नहीं किया गया ? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है इसमें संदेह नहीं। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार आविष्कार की जननी आवश्यकता है उसी प्रकार विज्ञान की जननी भी किसी प्रकार की आवश्यकता ही है। इस विज्ञान की आवश्यकता तब ही अनुभव की गई जबकि वैज्ञानिक दृष्टि की प्रमुखता हो गई। जिस युग में वैज्ञानिक दृष्टि प्रमुख होने लगती है उस युग में प्रत्येक बात को वैज्ञानिक पद्धति से समझने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रयत्न के फल स्वरूप नये नये विज्ञानों का जन्म होता है। यह वैज्ञानिक दृष्टि उस विषय पर पहले पड़ती है जो कि विविध परिस्थितियों के फलस्वरूप अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो सकता है। जैसे भाषा को लोग सहस्राब्दियों से उपयोग में लाते रहे और उसे एक व्यवस्थित प्रणाली से समझने के स्थूल प्रयत्न भी प्रारम्भ से होते रहे किन्तु विज्ञान का रूप उसने उस समय ग्रहण किया जबकि एक ओर तो औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप नये निर्माणों और नये अनुसंधानों की प्रवृत्ति ने विज्ञान को प्रमुख आकर्षण बना दिया। दूसरे उपनिवेशवाद और वाणिज्य विस्तार के कारण देश विदेशों की विविध प्रकार की भाषाएँ सामने आयीं उनका तुलनात्मक अध्ययन करना भी आवश्यक हो गया और इसको तब और भी प्रोत्साहन मिला जबकि संस्कृत भाषा और साहित्य पाश्चात्य विद्वानों के सम्मुख आया। इन सबने मिलकर तुलनात्मक रूप से भाषाओं को समझने के साथ साथ भाषाओं के वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने की आवश्यकता प्रस्तुत कर दी। तब से भाषा का विज्ञान निरंतर प्रगति करता हुआ आज भाषिकी या लिंग्विस्टिक्स (Linguistics) के नये रूप में एक प्रकार से पूर्ण विज्ञान बन चुका है। इसी प्रकार पाठालोचन की जब आवश्यकता प्रतीत हुई और विविध ग्रन्थों का पाठालोचन प्रस्तुत करना पड़ा तो उसके भी विज्ञान की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलतः आज पाठालोचन का भी एक विज्ञान बन गया है। यह पहले साहित्य के क्षेत्र में कविता के शुद्ध रूप तक पहुँचने के साधन के रूप में आया फिर यह भाषा विज्ञान की एक प्रशाखा के रूप में पल्लवित हुआ। अब यह एक स्वतन्त्र विज्ञान है। यही स्थिति पांडुलिपि विज्ञान की है। आज भारत में अनेक प्राचीन हस्तलेख एवं पांडुलिपियाँ उपलब्ध हो रही हैं। शतशः हस्तलेख भण्डार, निजी भी और संस्थानों के भी इधर कुछ वर्षों में *उद्घाटित हुए हैं। अतः पांडुलिपियाँ भी यह अपेक्षा करने लगी है कि उनकी समस्याओं का* भी समग्रत अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया जाय। इस आवश्यकता को अनुभव करते हुए अभी कुछ वर्ष पूर्व भारतवर्ष में संस्कृत साहित्य सम्मेलन ने पांडुलिपि विज्ञान की आवश्यकता अनुभव की और एक प्रस्ताव पारित किया कि विश्वविद्यालयों में *पांडुलिपिविज्ञान भी अध्ययन का एक विषय होना चाहिए। अतः आज पांडुलिपि विज्ञान* की उपादेयता सिद्ध हो चुकी है। इसका महत्त्व भी कम नहीं है क्योंकि शायद ही कोई विश्वविद्यालय ऐसा हो कि जिसमें पांडुलिपियों का संग्रह न हो। नई परिभाषा से सरकारी कार्यालयों और संस्थाओं एवं संस्थानों के कागज पत्र भी पांडुलिपि हैं। इनके भण्डार दिन दिन महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है कि देश भर में पुराने और नये शतशः हस्तलेख और पांडुलिपियों के भण्डार फैले हुए हैं और बहुत से नये नये

पाडुलिपि भण्डार प्रकाश मे आते जा रहे है। इस कारण भी पाडुलिपि-विज्ञान आज महत्त्वपूर्ण हो उठा है।

एक बात और है, कुछ ऐसे विज्ञान पहले से विद्यमान है जिनका सीधा सम्बन्ध हमारे पाडुलिपि-विज्ञान से है—यथा-पेलियोग्राफी एक विज्ञान है। यह वह विज्ञान है जो पेपीरस, पार्चमेंट, मोमीपाटी (Postherds), लकडी या कागज पर के पुरातन लेखन को पढने का प्रयत्न करता है तिथियो का उद्घाटन करता है और उसका विश्लेषण करता है[1] इसके प्रमुख ध्येय दो माने गये हैं पहला ध्येय है पुरातन हस्तलेखो को पढना। यह बताना आवश्यक नही कि पुरातन हस्तलेखो का पढना कोई आसान कार्य नही है। वस्तुत. प्राचीन मध्ययुग एव आधुनिक युग की हाथ की लिखावट का ठीक ठीक पढने के लिए लिपिविज्ञान (पलियोग्राफी) का प्रशिक्षण आवश्यक है। इस विज्ञान के अध्ययन का दूसरा ध्येय है इन हस्तलिपियो का काल-निर्धारण एव स्थान-निर्धारण। इसके लिए अन्त साक्ष्य और बहि साक्ष्य का सहारा लेना होता है, लिखावट एव उसकी शैली आदि की भी सहायता लेनी होती है। ग्रन्थ का रूप कैसा है ? वह वलयिता है, पट्टग्रथित पुस्तक (कोडैक्स) है, या पत्रारूप है ? उसका कागज या लिप्यासन, उसकी स्याही, लेखनी का प्रकार, उसकी जिल्दबन्दी तथा साज-सज्जा, सभी की परीक्षा करनी होती है, और उनके आधार पर निष्कर्ष निकालने होते हैं। सचित्र पाडुलिपियो के काल एव स्थल के निर्धारण मे चित्र बहुत सहायक होते है क्योकि उनमे स्थान और काल के भेद के आधार बहुत स्पष्ट रहते हैं।

एक विज्ञान है एपीग्राफी। यह विज्ञान प्रस्तर-शिलाओ या धातुओ पर अकित लेखा या अभिलेखो को पढता है उनका काल निर्धारित करता है, और उनका विश्लेषण करता है।

इसी प्रकार अन्य विज्ञान भी है। ये सभी पाडुलिपि के निर्मायक विविध तत्त्वो से सम्बन्धित हैं। पर इन सबसे मिलकर जो वस्तु बनती है और जिसे हम 'पाडुलिपि' कहते हैं, उस समग्र इकाई का भी विज्ञान आज अपेक्षित है। अन्य विविध विज्ञान इस विज्ञान के तत्त्व निर्धारण मे सहायक हो सकते है। पर, समस्त अवयवो से मिलकर जब एक रूप खडा होता है, तब उसका स्वयमेव एक अलग वैज्ञानिक अस्तित्व होता है। उसको एक अलग विज्ञान के रूप म हमे जानना है। अत पाडुलिपि-विज्ञान वह विज्ञान है जो अध्येता को पाडुलिपि को पाडुलिपि के रूप म समझने एव तद्विषयक समस्याओ के वैज्ञानिक निराकरण मे सहायक सिद्ध होता है।

पाडुलिपि-विज्ञान एव अन्य सहायक विज्ञान

पाडुलिपि विज्ञान से सम्बन्धित कई विज्ञान हैं। ये इस प्रकार है 1. डिप्लोमैटिक्स 2. पेलियोग्राफी, 3 भाषाविज्ञान, 4 ज्योतिष, 5 पुरातत्त्व, 6 साहित्य शास्त्र, 7. पुस्तकालय विज्ञान, 8 इतिहास, 9 खोज, शोध प्रक्रिया विज्ञान (Research Methodology) और 10 पाठालोचन-विज्ञान (Textual Criticism).

1 Palaeography, Science of Reading, dating and analyzing ancient writing on papyrus, parchment, waxed tablets, postherds, wood or paper

—The Encyclopaedia Americana, Vol. 2, p 163

सबसे पहले शोध-प्रक्रिया विज्ञान (Research Methodology) को ले सकते हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों अथवा पाडुलिपियों को प्राप्त करने के लिए इस खोज-विज्ञान का बहुत महत्त्व है। बिना खोज के हस्तलेख प्राप्त नहीं हो सकते। यह खोज-विज्ञान हमें हस्तलेख खोज करने के सिद्धान्तों से ही अवगत नहीं करता, वह हमें क्षेत्र में काम करने के व्यावहारिक पक्ष को भी बताता है। पाडुलिपि विज्ञान के लिए इसकी सर्वप्रथम आवश्यकता है। इसी से ग्रन्थ सकलन हो सकता है। यही सकलन हमारे लिए आधार-भूमि है। यों तो भारत मे और विदेशों मे भी प्राचीन काल से पुस्तकालय रहे हैं।[1] प्राचीन काल मे सपूर्ण साहित्य हस्तलेखों के रूप मे ही होता था, अत प्राचीन पुस्तकालयों मे अधिकांश हस्तलेख और पाडुलिपियाँ ही है। उन्ही की परम्परा मे कितने ही धर्म-मन्दिरो मे आज तक हस्तलेखों के भण्डार रखने की प्रथा चली आ रही है।[2] इसी प्रकार राजा-महाराजा भी अपने पोथीखानो मे विशाल हस्तलेखों के भण्डार रखते थे।[3] किन्तु इन पुस्तकालयों के अतिरिक्त भी बहुत सी ऐसी हस्तलिखित सामग्री है जो जहाँ-तहाँ बिखरी पडी है। उस सामग्री को प्राप्त करना, उसका विवरण रखना या अन्य प्रकार से उसे प्रकाश मे लाना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। पाडुलिपि-विज्ञानविद् का इस क्षेत्र मे योगदान अत्यन्त आवश्यक है।

सामग्री प्राप्त करने की दिशा मे दो प्रकार से कार्य हो सकता है :— 1. व्यक्तिगत प्रयत्न एव 2 सस्थागत प्रयत्न।

(1) व्यक्तिगत प्रयत्नों में कर्नल टॉड, टैसिस्तेरी, डॉ रघुवीर एव राहुल साकृत्यायन प्रभृति कितने ही विद्वानो के नाम आते है। टॉड ने राजस्थान से विशेष रूप से कितनी ही सामग्री एकत्र की थी शिलालेख, सिक्के ताम्रपत्र, ग्रन्थ आदि का निजी विशाल भण्डार उन्होंने बना लिया था। वे साधन-सम्पन्न थे, और साम्राज्य-तन्त्र के अधिकार सम्पन्न अग थे। इटेलियन विद्वान टैसिस्तेरी ने राजस्थानी साहित्य की खोज के लिए अपने को समर्पित कर दिया था। राहुल जी एव डॉ० रघुवीर के प्रयत्न बडे प्रेरणाप्रद है। ये विद्वान् कितनी ही अभूतपूर्व सामग्री किन-किन कठिनाइयों मे, अकिंचन होते हुए भी तिब्बत, मचूरिया आदि से लाये जो अविस्मरणीय है।

(2) सस्थागत प्रयत्नो मे हिन्दी क्षेत्र मे नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, अग्रगण्य है। सन् 1900 से पूर्व से ही हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज सभा ने आरम्भ कराई। 1900 से खोज-विवरण प्रकाशित कराये। यह परम्परा आज तक चल रही है। इन खोज विवरणो से विदित होता है कि गाँवो और शहरो मे यत्र-तत्र कितनी विशाल सामग्री अब भी है। बहुत सी सामग्री नष्ट हो गयी है। इन खोज विवरणो मे जो कुछ प्रकाशित हुआ है, उससे हिन्दी साहित्य के इतिहास-निर्माण मे ठोस सहायता मिली है तथा शतशः साहित्यिक अनुसधानो मे भी ये विवरण सहायक सिद्ध हुए है। अत ग्रन्थ सग्रह तो महत्त्वपूर्ण हैं ही,

1. मिस्र में अलक्जेण्ड्रिया का, यूनान मे एथेंस का, एशिया-माइनर में पोम्पिआई का, भारत में नालन्दा को, तक्षशिला का पुस्तकालय। कितने ही विश्वविद्यालयों का इतिहास मे उल्लेख मिलता है। जिनके प्राचीन पुस्तकालय हस्तलेखों से भरे पडे थे।
2. भारत मे जैनों के मन्दिरों, बौद्ध सघारामों आदि मे आज तक भी हस्तलेखों के विशाल सग्रह हैं। जैसलमेर के सग्रहालय का कुछ विवरण टॉड ने दिया है।
3 राजस्थान के प्रत्येक राज्य में ऐसे ही पोथीखाने थे।

उनका विवरण भी कम महत्त्वपूर्ण नही है ।

इस समस्त कार्य को आज वैज्ञानिक प्रणाली से करने के लिए 'क्षेत्रीय प्रक्रिया' की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है। वस्तुत पाडुलिपि विज्ञान के लिए यह विज्ञान पहली आधार शिला है ।

पेलियोग्राफी लिपि विज्ञान होता है । पाडुलिपि विज्ञान की दृष्टि से लिपि विज्ञान बहुत महत्त्वपूर्ण विज्ञान है । इसका सैद्धान्तिक पक्ष तो लिपि के जन्म की बात भी करेगा । उसका विकास भी बतायेगा । व्यावहारिक पक्ष मे यह विज्ञान उन कठिनाइयो पर विजय के उपायो की ओर भी सकेत करता है, जो किसी अज्ञात लिपि को पढने मे सामने आती है ।' मिस्र की चित्रलिपि पढ़ने का इतिहास कितना रोचक है, उसमे कम रोचक इतिहास भारत की प्राचीन लिपियो के उद्घाटन और पठन का नही है ।[1] इसी विज्ञान के माध्यम से हम विश्व की समस्त लिपियों के स्वरूप से भी परिचित होते है ।[2] इसी विज्ञान की सहायता से पाडुलिपि विज्ञान विविध प्रकार की पाडुलिपियों की लिपियो की प्रकृति से परिचित होकर, उन्हे अपने उपयोग के योग्य बनाने की क्षमता पा सकता है। पाडुलिपियो मे लिपि का महत्व बहुत है । लिपि के पढ़ने-समझने के सिद्धान्तो, स्थितियो और समस्याओ को हृदयगम करना पाडुलिपि-विज्ञान का एक आवश्यक पक्ष है ।

लिपि विज्ञान के व्यावहारिक दृष्टि से दो भेद किये जाते है इनको अग्रेजी मे ऐपीग्राफी (Epigraphy) अर्थात् अभिलेख लिपि विज्ञान तथा पेलियोग्राफी (Palaeography) अर्थात् लिपि विज्ञान कहते हैं ।

डेविड डिरिंजर का कहना है कि अभिलेख लिपि-विज्ञान यूनानी अभिलेख विज्ञान, लातोनी अभिलेख विज्ञान, हिब्रू अभिलेख विज्ञान जैसे विशेष क्षेत्रो मे विभाजित हो जाता है। यह विज्ञान मुख्यत उन प्राचीन अभिलेखो के अध्ययन मे प्रवृत्त रहता है जो शिलाओ, धातुओ और मिट्टी जैसी सामग्री पर काट कर, खोद कर, या ढालकर प्रस्तुत किये गये हैं । इस अध्ययन मे अज्ञात लिपियो का उद्घाटन (decipherment) तथा उनकी व्याख्या सम्मिलित रहती है ।

पेलियोग्राफी (Palaeography) भी एपीग्राफी की तरह क्षेत्रीय विभागो मे बाँट दी गई है । इसका उद्देश्य मुख्यत उस लेखन का अध्ययन है जो कोमल पदार्थों पर यथा कागज, चर्मपत्र, पेपीरस लिनेन (linen) और मोमपट्ट पर या तो चित्रित किया गया है या उतारा (Traced) या चिह्नित किया गया हैं । यह क्रिया शलाका (स्टाइलस), कूँची, सेंटा या कलम से की जा सकती है । इस विज्ञान का भी अनिवार्य अतरग विषय लिपि उद्घाटन (decipherment) एव व्याख्या भी है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनो विज्ञानो मे मूल भेद 'लिप्यासन' के कठोर या कोमल होने के कारण है । कुछ विद्वान् 'डिप्लोमैटिक्स' को भी पेलियोग्राफी की ही एक शाखा मानते हैं, इसमे शासकीय पट्टो-परवानो की लिपि को पढने का प्रयत्न सम्मिलित रहता है । यह विषय भी हमारे विज्ञान का अतरग विषय ही है ।

'भाषा-विज्ञान' भाषा का विज्ञान है । पाडुलिपि मे लिपि के बाद भाषा ही महत्त्वपूर्ण होती है । भाषा-विज्ञान लिपि के उद्घाटन मे सहायक होता है । यह हम आगे देखेंगे कि

1. देखिये अध्याय—'लिपि समस्या ।
2 डिरिंजर, डेविड — राइटिंग पृष्ठ 20

सबसे पहले शोध प्रक्रिया विज्ञान (Research Methodology) को ले सकते हैं। हस्तलिखित ग्रन्थो अथवा पाडुलिपियो की प्राप्त करन के लिए इस खोज-विज्ञान का बहुत महत्त्व है। बिना खोज के हस्तलेख प्राप्त नही हो सकते। यह खोज-विज्ञान हमे हस्तलेख खोज करने के सिद्धान्तो से ही अवगत नही करता, वह हमे क्षेत्र मे काम करने के व्यावहारिक पक्ष को भी बताता है। पाडुलिपि विज्ञान के लिए इसकी सर्वप्रथम आवश्यकता है। इसी से ग्रन्थ सकलन हो सकता है। यही सकलन हमारे लिए आधार-भूमि है। यो तो भारत मे और विदेशो मे भी प्राचीन काल से पुस्तकालय रहे हैं।[1] प्राचीन काल मे सपूर्ण साहित्य हस्तलेखो के रूप मे ही होता था, अत प्राचीन पुस्तकालयो मे अधिकाश हस्तलेख और पाडुलिपियाँ ही हैं। उन्ही की परम्परा मे कितने ही धर्म-मन्दिरो मे आज तक हस्तलेखो के भण्डार रखने की प्रथा चली आ रही है।[2] इसी प्रकार राजा-महाराजा भी अपने पोथीखानो मे विशाल हस्तलेखो के भण्डार रखते थे।[3] किन्तु इन पुस्तकालयो के अतिरिक्त भी बहुत सी ऐसी हस्तलिखित सामग्री है जो जहाँ-तहाँ बिखरी पडी है। उस सामग्री को प्राप्त करना, उसका विवरण रखना या अन्य प्रकार से उसे प्रकाश मे लाना भी अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। पाडुलिपि-विज्ञानविद् का इस क्षेत्र मे योगदान अत्यन्त आवश्यक है।

सामग्री प्राप्त करने की दिशा मे दो प्रकार से कार्य हो सकता है :– 1. व्यक्तिगत प्रयत्न एव 2 सस्थागत प्रयत्न।

(1) व्यक्तिगत प्रयत्नों मे कर्नल टॉड, टैसिस्टेरी, डॉ रघुवीर एव राहुल साकृत्यायन प्रभृति कितने ही विद्वानो के नाम आते है। टॉड ने राजस्थान से विशेष रूप से कितनी ही सामग्री एकत्र की थी शिलालेख, सिक्के ताम्रपत्र, ग्रन्थ आदि का निजी विशाल भण्डार उन्होने बना लिया था। वे साधन-सम्पन्न थे, और साम्राज्य-तन्त्र के अधिकार सम्पन्न अग थे। इटेलियन विद्वान टैसिस्टेरी ने राजस्थानी साहित्य की खोज के लिए अपने को समर्पित कर दिया था। राहुल जी एव डॉ॰ रघुवीर के प्रयत्न बडे प्रेरणाप्रद हैं। ये विद्वान् कितनी ही अभूतपूर्व सामग्री किन-किन कठिनाइयो मे, अकिंचन होते हुए भी तिब्बत, मचूरिया आदि से लाये जो अविस्मरणीय है।

(2) सस्थागत प्रयत्नो मे हिन्दी क्षेत्र मे नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, अग्रगण्य है। सन् 1900 से पूर्व से ही हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज सभा ने आरम्भ कराई। 1900 से खोज विवरण प्रकाशित कराये। यह परम्परा आज तक चल रही है। इन खोज विवरणो से विदित होता है कि गाँवो और शहरो मे यत्र-तत्र कितनी विशाल सामग्री अब भी है। बहुत सी सामग्री नष्ट हो गयी है। इन खोज विवरणो मे जो कुछ प्रकाशित हुआ है, उससे हिन्दी साहित्य के इतिहास निर्माण मे ठोस सहायता मिली है तथा शतशः साहित्यिक अनुसधानो मे भी ये विवरण सहायक सिद्ध हुए हैं। अत ग्रन्थ सग्रह तो महत्त्वपूर्ण हैं ही,

1 मिस्र में अलक्जेण्ड्रिया का, यूनान मे एथेंस का, एशिया माइनर मे पोम्पिआई का, भारत में नालदा को, तक्षशिला का पुस्तकालय। कितने ही विश्वविद्यालयों का इतिहास मे उल्लेख मिलता है। जिनके प्राचीन पुस्तकालय हस्तलेखों स भरे पडे थे।

2. भारत मे जैनो के मन्दिरो, बौद्ध सघारामों आदि मे आज तक भी हस्तलेखो के विशाल सग्रह हैं। जैसलमेर के सग्रहालय का कुछ विवरण टॉड ने दिया है।

3 राजस्थान के प्रत्येक राज्य में ऐसे ही पोथीखाने थे।

उनका विवरण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

इस समस्त कार्य को आज वैज्ञानिक प्रणाली से करने के लिए 'क्षेत्रीय प्रक्रिया' की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है । वस्तुत पाडुलिपि विज्ञान के लिए यह विज्ञान पहली आधार शिला है ।

पलियोग्राफी लिपि-विज्ञान होता है । पाडुलिपि विज्ञान की दृष्टि से लिपि विज्ञान बहुत महत्त्वपूर्ण विज्ञान है । इसका सैद्धान्तिक पक्ष तो लिपि के जन्म की बात भी करेगा । उसका विकास भी बतायेगा । व्यावहारिक पक्ष मे यह विज्ञान उन कठिनाइयो पर विजय के उपायो की ओर भी सकेत करता है, जो किसी अज्ञात लिपि को पढने मे सामने आती है ।' मिस्र की चित्रलिपि पढने का इतिहास कितना रोचक है उसमे कम रोचक इतिहास भारत की प्राचीन लिपियो के उद्घाटन और पठन का नही है ।[1] इसी विज्ञान के माध्यम से हम विश्व की समस्त लिपिया के स्वरूप से भी परिचित होते है ।[2] इसी विज्ञान की सहायता से पाडुलिपि विज्ञान विविध प्रकार की पाडुलिपियो की लिपियो की प्रकृति से परिचित होकर उन्हे अपने उपयोग के योग्य बनाने की क्षमता पा सकता है । पाडुलिपियो मे लिपि का महत्त्व बहुत है । लिपि के पढ़ने-समझने के सिद्धान्तो, स्थितिया और समस्याओ को हृदयगम करना पाडुलिपि-विज्ञान का एक आवश्यक पक्ष है ।

लिपि विज्ञान के व्यावहारिक दृष्टि से दो भेद किये जाते है इनको अग्रेजी मे ऐपीग्राफी (Epigraphy) अर्थात् अभिलेख लिपि विज्ञान तथा पेलियोग्राफी (Palaeography) अर्थात् लिपि विज्ञान कहते हैं ।

डेविड डिरिंजर का कहना है कि अभिलेख लिपि-विज्ञान यूनानी अभिलेख विज्ञान, लातीनी अभिलेख विज्ञान, हिब्रू अभिलेख विज्ञान जैसे विशेष क्षेत्रो मे विभाजित हो जाता है । यह विज्ञान मुख्यत उन प्राचीन अभिलेखो के अध्ययन मे प्रवृत्त रहता है जो शिलाओ, धातुओ और मिट्टी जैसी सामग्री पर काट कर, खोद कर, या ढालकर प्रस्तुत किये गये है । इस अध्ययन मे अज्ञात लिपिया का उद्घाटन (decipherment) तथा उनकी व्याख्या सम्मिलित रहती है ।

पेलियोग्राफी (Palaeography) भी एपीग्राफी की तरह क्षेत्रीय विभागो म बाँट दी गई है । इसका उद्देश्य मुख्यत उस लेखन का अध्ययन है जो कोमल पदार्थों पर यथा कागज, चर्मपत्र, पेपीरस, लिनेन (linen) और मोमपट्ट पर या तो चित्रित किया गया है या उतारा (Traced) या चिह्नित किया गया हैं । यह क्रिया शलाका (स्टाइलस), कूँची, सेंटा या कलम से की जा सकती है । इस विज्ञान का भी अनिवार्य अतरग विषय लिपि उद्घाटन (decipherment) एव व्याख्या भी है । स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनो विज्ञानो मे मूल भेद 'लिप्यासन' के कठोर या कोमल होने के कारण है । कुछ विद्वान 'डिप्लोमैटिक्स' को भी पेलियोग्राफी की ही एक शाखा मानते हैं, इसमे शासकीय पट्टो-परवानो की लिपि को पढने का प्रयत्न सम्मिलित रहता है । यह विषय भी हमारे विज्ञान का अतरग विषय ही है ।

'भाषा विज्ञान' भाषा का विज्ञान है । पाडुलिपि मे लिपि के बाद भाषा ही महत्त्वपूर्ण होती है । भाषा-विज्ञान लिपि के उद्घाटन मे सहायक होता है । यह हम आगे देखेंगे कि

1. देखिये अध्याय—'लिपि समस्या' ।
2 डिरिंजर, डेविड — राइटिंग पृष्ठ 20

किस प्रकार एक अभिलेख को एक अन्य भाषा म लिया परिकल्पित कर लेने के कारण ठीक नहीं पढा जा सका। भाषा लिपि-ज्ञान म बहुत सहायक होती है। फिर पांडुलिपि विज्ञान मे पाडुलिपि के कई आयाम भाषा पर ही निर्भर करते हैं। पाडुलिपि की वस्तु का परिचय भाषा के बिना असम्भव है। भाषा विज्ञान से ही वह तकनीक भी निकाली जा सकती है जिसमे बिल्कुल ही अज्ञात लिपि और उसकी अज्ञात भाषा का कुछ अनुमान लगाया जा सके। ऐसी लिपि जिसकी लेखन प्रणाली और भाषा का पता नही, उद्घाटित नहीं की जा सकती है। एक प्रकार स यह कार्य असम्भव ही माना गया है। विश्व के इतिहास मे अभी तक ऐसे उद्घाटन का केवल एक ही उदाहरण मिलता है। माइकेल वेंट्रिस ने क्रीट की लाइनियर बी (Linear B) का उद्घाटन किया। यह क्रीट की एक भाषा थी। किन्तु इसके उद्घाटन स पूव न तो इसकी लेखन प्रणाली का ज्ञान था, न यह ज्ञान था कि यह कौनसी भाषा ह। वस्तुत यह सफलता वेंट्रिस महोदय को मुख्यत भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण की एक सगत तकनीक के उपयोग से ही मिली। अत भाषा-विज्ञान ऐसे कठिन मामला म सहायक हो सकता है।

किसी भी हस्तलेख के भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन से ही यह ज्ञान हो सकता है कि वह किस भाषा म लिखा गया है। इसी से उस ग्रन्थ की भाषा के व्याकरण, शब्द-रूपो एव वाक्य विन्यास तथा शैली का ज्ञान भी होता है। किस काल की और कहाँ की भाषा है, यह जानने मे भी यह विज्ञान सहायक होता है। इस प्रकार भाषा ज्ञान से हम पाडुलिपि के क्षेत्र का परिचय पा सकते हैं। दूसरी ओर पाडुलिपि की भाषा स्वय भाषा-विज्ञान की किसी समस्या पर प्रकाश डालने वाली सिद्ध हो सकती है। किसी विशेष-काल-गत भाषा की प्रवृत्तियो का ज्ञान पाडुलिपियो से हो सकता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान और पाडुलिपियाँ एक दूसरे के लिए सहायक हैं।

पुरातत्त्व (Archaelogy) के विशद अनुसधान क्षेत्र म शिलालेख, मुद्रा-लेख ताम्रपत्र आदि अनक प्रकार की ऐसी सामग्री आती है जिसका उपयोग हस्तलेख-विज्ञान भी करता है। वस्तुत पुरातत्त्व के क्षेत्र मे जब ऐसे प्राचीन लेखो का अध्ययन होता है तब वह हस्तलेख विज्ञान के क्षेत्र म भी सम्मिलित होता है। अत उसके लिए इस विज्ञान की शरण अनिवार्य ही है, और हमारे विज्ञान के लिए भी पुरातत्त्व सहायक है, क्योकि बहुत से प्राचीन महत्वपूर्ण हस्तलेख पुरातत्त्व ने ही प्रदान किये हैं। मिस्र के पेपीरस सुमेरियन सभ्यता के ईंट लेख, भारत के तथा अन्य देशो के शिलालेख तथा अन्य लेख आदि पुरातत्त्व ने ही उद्घाटित किये हैं। और उनका उपयोग पाडुलिपि विज्ञान विशारदो ने किया है। यह भी तथ्य है कि पाडुलिपि-विज्ञान को पाडुलिपि के विषय मे पुरातन कालीन जिस परिवेश और पृष्ठभूमि के ज्ञान की आवश्यकता होती है, वह पुरातत्त्व से प्राप्त हो सकता है।

इतिहास का क्षेत्र भी बहुत विशद है। इसकी आवश्यकता प्राय प्रत्येक ज्ञान विज्ञान को पडती है। इसी दृष्टि से हमारे विज्ञान के लिए भी इतिहास की शरण आवश्यक होती है। इस विज्ञान को सही परिप्रेक्ष्य मे समझने के लिए इतिहास की सहायता लेनी पडती है। हस्तलेखो की पृष्ठभूमि का ज्ञान भी इतिहास से ही मिलता है।

पाडुलिपियो मे लेखको के नाम और वश रहते हैं, आश्रय-दाताओ के नाम रहते हैं, देश एव काल से सम्बन्धित कितनी ही बातो का भी उल्लेख रहता है, आश्रय दाताओ की भी वश परम्परा दी जाती है। ऐसी प्रभूत सामग्री पाडुलिपियो की पुष्पिकाओ मे भी दी

जाती हैं। लिपि का स्वरूप भी देश-काल से जुड़ा रहता है, इसी प्रकार कागज या लिप्यासन के प्रकार का सम्बन्ध भी देशकाल से होता है। किसी ग्रन्थ की विषय-वस्तु मे विद्यमान तथ्यो की ओर न भी जाए तो भी उक्त बातो के लिए भी इतिहास का ज्ञान या इतिहास-ज्ञान की प्रक्रिया जाने बिना काम नही चल सकता।

इसी प्रकार इतिहास को बहुत सी सामग्री प्राचीन ग्रन्थो से, हस्तलेखो से मिलती है। उसके लिए भी पाडुलिपि विज्ञान की सहायता अपेक्षित है।

ज्योतिष--ज्योतिष का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। उसमे एक शाखा काल-निदान की भी है। इसके अन्तर्गत दिन, तिथि, सवत्सर (सवत्-सन्) मुहूर्त, पक्ष, नक्षत्र, ग्रह, करण आदि का निदान और निर्णय आता है। यह ज्ञान इतिहास के लिए भी उपयोगी है, और हस्तलेख-विज्ञान के लिए भी। प्रत्येक हस्तलेख या पाडुलिपि का काल-निर्धारण ज्योतिष के 'पचाग' आदि की सहायता से किया जाता है। काल-निर्धारण की कितनी ही जटिल समस्याएँ ज्योतिष की सहायता के बिना हल नही हो सकती। अत हमारे इस विज्ञान को काल-निर्णय मे 'ज्योतिष' की सहायता लेनी ही पडती है। यह कहा जा सकता है कि हजारो वर्ष पुराने 'पचाग' या जन्त्रियाँ' मिलती है, उनकी सहायता से, तथा ऐसे ही क्लैण्डरो से काल निर्णय किया जा सकता है। यह भी ठीक है, पर आखिर ये पचाग-क्लैण्डर आदि हैं तो ज्योतिष के ही अग। अत 'ज्योतिष' अत्यन्त उपयोगी और सहायक विद्या है, जिस पर हमारे विज्ञान के निष्कर्ष आधारित होते हैं।

साहित्य शास्त्र--सहित्य-शास्त्र के चार बडे अग माने जा सकते है · प्रथम-शब्दार्थ भाषा विज्ञान के अतिरिक्त शब्द से अर्थ तक पहुँचने के लिए शब्द-शक्तियों का विशेष महत्त्व साहित्य-शास्त्र मे है। इसी का एक पहलू साहित्य शास्त्र मे 'ध्वनि' है। दूसरा अग है-'रस'। जिसके लिए साहित्य शास्त्रियो ने काव्य मे 'नवरस' की प्रतिष्ठा की है। तीसरा अग है-छद'। एक और अग है-'अलकार'। हमारे विज्ञान के लिए 'शब्दार्थ' वाले विभाग की अपेक्षा तो पद-पद पर रहती है। 'रस' का ज्ञान साहित्यिक पाडुलेख के लिए तो सर्वोपरि है। अन्य ज्ञान विज्ञानो के ग्रन्थो के लिए इसकी उतनी आवश्यकता नही। हालाकि, प्राचीन काल मे विविध ज्ञान विज्ञान को रूपक प्रणाली से भी प्रस्तुत करने की परिपाटी रही हैं।[1] प्रतीक प्रणाली का उपयोग भी ज्ञान-विज्ञान के लिए किया गया है। इन दोनो परिपाटियो मे काव्यगत रस के शास्त्र का उपयोग सहायक होता है। अब 'छन्द' को लें। प्राचीन काल मे *गद्य को ग्रन्थ लेखन' की भाषा ही नहीं माना जाता था।* पद्य ही सर्व प्रचलित तथा लोकप्रिय माध्यम रहा हैं क्योकि पद्य का रचना विधान छद निर्भर होता है तथा उसे स्मरण रखना गद्य की अपेक्षा सुगम होता है। इस दृष्टि से छद-ज्ञान प्राचीन हस्तलेखो के लिए सामान्यत आवश्यक माना जा सकता है। यदि ग्रन्थ गद्य म लिखा गया है तो 'छद' उतना उपयोगी नही होता। 'अलकार' भी साहित्यशास्त्र का महत्वपूर्ण अग है, और हस्तलेखो तथा पाडुलिपियो मे इनका जहाँ-तहाँ उपयोग मिल सकता है। ऐसे स्थलो को समझने की दृष्टि से अलकार ज्ञान का महत्व हो सकता है। लेकिन प्रत्येक की सीमा रेखा है- पाडुलिपि विज्ञान को इनकी वहीं तक आवश्यकता है, जहाँ तक ये पाडुलिपि की विषय-वस्तु को समझाने मे सहायक हैं।

1 यथा-प्रवीण सागर।

पुस्तकालय विज्ञान पुस्तकालय विज्ञान का भी उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। हस्तलेखो या पाण्डुलिपियो का भण्डार जहाँ भी होगा वहाँ छोटा-मोटा पुस्तकालय स्वत ही बन जायगा। प्राचीन काल मे समस्त पुस्तकालय हस्तलेखो और पाण्डुलिपियो के ही होते थे। अलेक्जेण्ड्रिया, नालंदा तथा अन्य ऐसे ही प्राचीन पुस्तकालयो मे सभी पुस्तकें हस्तलेखो के रूप मे ही थी। मुद्रण-यन्त्र के प्रचलन के बाद भी मुद्रित पुस्तको के साथ हस्तलेख रहे हैं। आधुनिक काल मे मुद्रित पुस्तको के पुस्तकालय प्रधान हैं—हस्तलेखों के पुस्तकालय बहुत कम रह गये हैं। अब पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे 'आधुनिक हस्तलेखागारो' (Modern Manuscript Library) का एक नया आन्दोलन चला है। इन पुस्तकालयो म राज्यों, सरकारो एव बडे-बडे उद्योगो के महत्त्वपूर्ण लेख, महान् व्यक्तियो के किसी भी प्रकार के हस्तलेख, पत्र, मसविदे, प्रतिवेदन, विवरण, डायरी, नत्थियाँ आदि-आदि सुरक्षित रखें जाते हैं, साथ ही इन्हे अनुसधान कर्त्ताओ को पुस्तकालय द्वारा उपलब्ध भी कराया जाता है। रूथ बी बोर्डिन एव राबट एम. वार्मर ने अपनी पुस्तक 'द माडर्न मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' मे बताया है कि —

"मैन्युस्क्रिप्ट या पाडुलिपि पुस्तकालय का अस्तित्व ही अनुसधाता और विद्यार्थी की सेवा करने के लिये होता है।"[1]

अतः पाडुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से इस सेवा को प्रस्तुत करने के लिए भी पुस्तकालय-विज्ञान का सहारा अपेक्षित होता है। हस्तलेखो और पाडुलिपियो को किस प्रकार व्यवस्थित किया जाय, कैसे उनकी पजिकाएँ रखी जायें, कैसे उनकी सामान्य सुरक्षा का ध्यान रखा जाय, कैसे उन्हे पढने के लिए दिया जाय, आदि बातें वैज्ञानिक विधि से पुस्तकालय विज्ञान ही बताता है। सग्रहालयो (Museum) और अभिलेखागारो के लिए इस विज्ञान का महत्त्व स्वय सिद्ध हैं।

डिप्लोमैटिक्स

डिप्लोमेटिक्स वस्तुत 'पट्टा-परवाना विज्ञान' है। डिप्लोमेटिक्स यूनानी शब्द 'डिप्लोमा' से व्युत्पन्न है। इसका यूनानी मे अर्थ था 'मुडा हुआ कागज'। ऐसा कागज प्राय राजकीय पत्रों, चार्टरो आदि मे काम आता था। फलत इसका अर्थ विशेषतया ऐसे पत्रो से जुड़ गया जो पट्टे, परवाने, लाइसेंस या डिगरी के कागज थे।

आगे चल कर डिप्लोमेटिक्स ने विज्ञान का रूप ग्रहण कर लिया। आज इस विज्ञान का काम है प्राचीन शासकीय पट्टो-परवानो (documents), प्रमाण-पत्रो (diplomas), चारटरा एव बुलो के लेख को उद्घाटित (decipherment) करना। ये परवाने शाहशाह, पोप, राजा तथा अन्य शासको की चारटियो से जारी किये गये हैं। इस प्रकार यह विज्ञान पेलियोग्राफी की ही एक शाखा है।

स्पष्ट है कि 'डिप्लोमेटिक्स' विज्ञान इतिहास के उन स्रोतो का आलोचनात्मक अध्ययन करता है, जिनका सम्बन्ध अभिलेखो (records या archive documents) से होता है। इन अभिलेखो मे चारटर, मैनडेट डीड (सभी प्रकार के) जजमेण्ट (न्यायालयादेश) आदि सम्मिलित हैं। इन पट्टो परवानो के लेख को समझना, उनकी प्रामाणिकता पर विचार करना, उनके जारी किये जाने की तिथियो का अन्वेषण और निर्धारण करना, साथ ही

1. Bordin, R. B, & Warner, R M—The Modern Manuscript Library, P 14

उनके निर्माण की प्रविधि को समझना तथा यह निर्धारित करना कि वे इन रूपो मे किस उद्देश्य के लिए उपयोग मे लाये जाते थे—इन सभी बातो को आज इस विज्ञान के क्षेत्र मे माना जाता है। पहले इसमे मुहरबद (sealing) करने की पद्धतियो का अध्ययन भी एक विषय था। अब यह विषय अलग विज्ञान बन गया है।

अत यह विषय भी किसी सीमा तक पाण्डुलिपि विज्ञान का ही अग है।

पांडुलिपि-पुस्तकालय

पुस्तके ज्ञान विज्ञान का माध्यम हैं। ये पुस्तकें प्राचीन काल म पाडुलिपियो के रूप मे ही होती थी। अत सभी प्राचीन पुस्तकालय पाडुलिपि पुस्तकालय ही थे।

इन प्राचीन पुस्तकालयो के इतिहास से हमे विदित होता है कि सबसे पहले पुस्तकालय मिस्र म आरम्भ हुए होगे। मिस्र मे पेपीरस पर ग्रथ लिखे जाते थे। ये खरीते[1] (Srolls) के रूप म होते थे। इन ग्रथो मे से एक पेपीरस ग्रन्थ ब्रिटिश सग्रहालय म है वह 133 फुट लम्बा है। ये खरीते गोलाकार लपेट कर रखे जाते थे। पेपीरस बहुत जल्दी नष्ट हो जाता है, अत यह सम्भावना है कि बहुत से खरीते (स्क्रॉल) और ऐसे पुस्तकालय जिनमे वे रखे गये थे, ऐसे मिट गये हैं कि उनका हमे पता तक नही। फिर भी, जो कुछ ज्ञात हो सका है, उसके आधार पर विदित होता है कि पेपीरस स्क्रॉलो के ग्रन्थ ई० पू० 2500 मे मिस्र मे विद्यमान थे।

पेपीरस के साथ साथ या कुछ पहले से बेबीलोन (असीरिया) मे मिट्टी की ईंटो (Clay tablets) पर लिखा जाता था। आधुनिक युग की ऐतिहासिक खुदाई से निन्हेवेह मे 10,000 लेख ईंटें मिली, इससे निन्हेवेह मे उनके पुस्तकालय का अस्तित्व सिद्ध होता है। मोहेनजोदडो मे भी मिट्टी की पकाई हुई मुहरें प्राप्त हुई हैं जिन पर लेख लिखे गये हैं।

ईंटा और पेपीरस के बाद पार्चमेण्ट (चर्मपत्र) का उपयोग हुआ, उसके बाद कागज का उपयोग हुआ।

भारत मे मोहेनजोदडो की लिपि का विकास 3000 ई० पू० म हो चुका होगा। यहाँ भी लेखयुक्त मुहरें या तावीज मिले हैं। बाद मे ग्रथो के लिए वृक्षो के पत्र और छाल का उपयोग पहले हुआ। ताडपत्र और भोजपत्र से ग्रथ रचना के लिए लिप्यासन का काम लिया जाने लगा। धातुपत्रो का भी उपयोग किया गया। भारतेतर क्षेत्रो मे प्राचीन पुस्तकालयो की जो सूचना आज उपलब्ध है वह नीचे की तालिका से जानी जा सकती है —

वर्ष (लगभग) 1	स्थान 2	ग्रथ 3	स्थापनकर्त्ता 4	लिप्यासन 5
1 ई पू 2500	गिजेह (Gizeh)	—	—	पेपीरस
2 ई पू 1400	अमर्ना	—	एमेह्लोटौप तृतीय (Amenho top III)	पेपीरस
3 ई पू 1250	थीबीज	—	रेमेज (Remese)	पेपीरस

1. इन्हें वलयिताएँ, कुंडलियाँ अथवा 'खरडा' भी कहते हैं।

1	2	3	4	5
4 ई पू 600	निन्हेवेह (असीरिया)	10 000 ईंटें	असुरबेनीपाल	ईंट (clay tablets)
5 ?	उर	—	—	ईंट
6 ?	निप्पर (Nippur)	—	—	ईंट
7 ?	किसी	—	—	ईंट
8 ?	तेल्लो	—	—	ईंट
9 ई पू. 500	एथेन्स (यूनान)	—	पिजिस्ट्रेटस	पेपीरस
10 ?	अलेक्जेण्डिया	500,000 खरीते (Scrolls)	(1) अलेक्जेंडर (2) टालमी प्रथम	पेपीरस
11 ई पू 237	इदफिर (प्राचीन इदफुल (Idful)) होरेस के मदिर मे	—	—	पेपीरस
12 ई पू 41[1] से पूव। (दूसरी शती ई पू के आरम्भिक चरण के लगभग)	पर्गेमम	200 000 खरीतों से भी कही अधिक	सिकदर के बाद के उत्तराधिकारी	पेपीरस एव पार्चमैंट[2] (चमपत्र)
13 500 ईसवी	सेंट कैथराइन की मोनस्ट्री सिनाई पर्वत पर	—	—	वाल्वेम पार्चमैंट
14 600 ईसवी	सेंट गेले (स्विटजर लैंड मे)	—	—	,
15 800 ई	(?) एथोस पर्वत पर (यूनान मे)	—	—	"

1 मार्क एण्टनी ने 41 ई० पू० में पर्गेमम पुस्तकालय के 200 000 खरीते (Scrolls) प्रथ किलोपेट्रा को दे दिये थे कि उन्हे अलेक्जेंड्रियन पुस्तकालय में रखवा दिया जाय।

2 पर्गेमम के पुस्तकालय का बहुत सवर्द्धन हुआ। इससे सिकदरिया के लोगो को यह आशका हो गयी कि कहीं सिकदरिया के पुस्तकालय का महत्त्व कम न हो जाय। अत उन्होने पर्गेमम को पेपीरस देना बन्द कर दिया। तब पर्गेमम में चमडे के चम-पत्र का आविष्कार किया गया जिसे पर्गेमेण्टम कहा गया यही पार्चमेन्ट हो गया। पार्चमेण्ट के खरीते नही बन सकते थे, अत उनके पृष्ठ बने या पन्ने बने। इन पन्नों की सिलाई की गयी। यह सिले हुए पन्नों का रूप कोडैक्स (Codex) कहलाया। यही आधुनिक जिल्दबद पुस्तक का जनक है।

1	2	3	4	5
16. 1200 ई० के बाद	लौरेंजो डे मेडिसी का पुस्तकालय, फ्लोरेंस, इटली	—	—	कोडेक्स पार्चमेण्ट
17. 1367 ई	बिब्लियोथीक नेशनल (नेशनल लाइब्रेरी), पेरिस, फ्रांस	—	—	,,
18. 1447 ई.	वेटिकन पुस्तकालय, वेटिकन सिटी मे			

(भारत तथा कुछ अन्य देशों के प्रमुख ऐतिहासिक पुस्तकालयो का विवरण परिशिष्ट मे दिया गया है।)

आधुनिक पांडुलिपि आगार

'द माडर्न मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी' के लेखक ने तीन प्रकार के संग्रहालयो मे अन्तर किया है .

1. रक्षागार (Archives)
2. म्यूजियम-अजायबघर या अद्भुतालय
3. हस्तलेखागार या पाडुलिप्यागार

'रक्षागार' के सम्बन्ध मे इनका कथन है कि : One of the most important types of Manuscript repository is the official archive which preserves the records of federal, state, or local government bodies [1]

'रक्षागार' सरकारी कागज-पत्रो का भण्डार होता है। भारत मे 'राष्ट्रीय लेखा रक्षागार' (National Archives) ऐसा ही सग्रहालय है। बीकानेर मे 'राजस्थान' ने समस्त राज्यो के कागज पत्र एक सग्रहालय मे सुरक्षित हैं। अजायबघर (Museum) मे ऐसी वस्तुओ और हस्तलेखो का सग्रह रहता है जिनका महत्व दर्शनीयता के कारण होता है। कलात्मक वैचित्र्य या वैशिष्ट्य इनमे रहता है। इनका उपयोग हस्तलेखागारो या पांडुलिप्यागारों से भिन्न रूप मे होता है।

उपर्युक्त ग्रथकार के अनुसार हस्तलेखागार का प्रधान उद्देश्य है अध्येताओ तथा अनुसधान-कर्त्ताओ के लिए उपयोगी सिद्ध होना। वह लिखते हैं कि, 'A manuscript library exists to serve the scholar and the student'

किन्तु 'हस्तलेखागार' का जो स्वरूप और विशेषता इस लेखक ने प्रस्तुत की है, वह ऐसे देशो के लिए है जहाँ सभ्यता, सस्कृति और लेखन का सूत्र 300–400 वर्ष पूर्व

1 Bordin, R. B & Warner, R M —The Modern Manuscript Library, P 9 इसी लेखक ने यह भी लिखा है, "Archives are the permanent records of a body, usually, but not necessarily, or going, of either a public or private character. (P 6)

से प्रारम्भ होता है और जहाँ 'ग्रंथ लेखन' मुद्रणालयों के आ जाने के कारण स्वतन्त्र महत्त्व नहीं प्राप्त कर सका।

भारत जैसे प्राचीन देश मे तथा ऐसे ही अन्य प्राचीन देशो मे हस्तलेखागारों में ज्ञान विज्ञान के हस्तलेख या पाडुलिपियाँ बडी सख्या मे मिलते हैं।

इसका एक आभास हस्तलेखागारो की उस सूची से हो जाता है जो हम पहले दे चुके हैं। मुद्रण-यन्त्र के प्रचलन से बहुत पूर्व से पाडुलिपियाँ प्रस्तुत की जाती रही है। अत ऐसे पाडुलिपि भाण्डागारो का उद्देश्य अनुसधान से जुडा होकर भी विस्तृत है। इतिहास के विविध युगो मे ज्ञान विज्ञान की स्थिति ही नही ज्ञान विज्ञान के सूत्रो को जानने के साधन भी ग्रथागारो मे उपलब्ध होते हैं।

महत्त्व

फलत पाडुलिपि विज्ञान का महत्त्व स्वय सिद्ध है। पाडुलिपि विज्ञान के विधिवत ज्ञान से इस महान् सम्पत्ति को समझन समझान का द्वार खुलता है, और हम रस्किन के शब्दो मे 'राजसी सम्पत्कोष' (Kings Treasuries) मे प्रवेश पाकर अभूतपूर्व रत्नों की परख करने मे समर्थ हो सकते हैं। यह बहुत बडी उपलब्धि मानी जा सकती हैं।

□ □ □

अध्याय 2

पांडुलिपि-ग्रन्थ-रचना-प्रक्रिया

लेखन और उसके उपरान्त ग्रन्थ-रचना का जन्म भी हमे आदिम आनुष्ठानिक पर्यावरण मे हुआ प्रतीत होता है। रेखाकन से लिपिविकास तक के मूल मे भी यही है और उसके आगे ग्रन्थ-रचना मे भी। प्राचीनतम ग्रन्थो मे भारत के वेद और मिस्र की 'मृतकों की पुस्तक' आती हैं। वेद बहुत समय तक मौखिक रहे। उन्हे लिपिबद्ध करने का निषेध भी रहा। पर मिस्र के पेपीरस के खरीतो (scrolls) मे लिखे ये ग्रन्थ समाधियो मे दफ्नाये हुए मिले हैं। इन दोनों ही प्राचीन रचनाओं का सम्बन्ध धर्म और उनके अनुष्ठानो से रहा है। इन दोनो देशो मे ही नही अन्य देशो मे भी लेखन ऐसे ही आनुष्ठानिक पर्यावरण से युक्त रहा है। प्राय सभी आरम्भिक ग्रन्थो मे आनुष्ठानिक जादुई धर्म की भावना मिलती है। इसीलिए पद-पद पर शुभाशुभ की धारणा विद्यमान प्रतीत होती है। यही बात ग्रन्थ-रचना से सम्बन्धित प्रत्येक माध्यम तथा साधन के सम्बन्ध मे है।

ग्रन्थ-रचना मे पहला पक्ष है—'लेखक'। आरम्भ मे लेखक का धर्म प्रचलित परम्पराओ, धारणाओ और वाक् विलासो को लिपिबद्ध करना था। यह समस्त लोकवार्त्ता 'अपौरुषेय' मानी जाती रही है और वाक् विलास 'मन्त्र'। इसमे लेखक को अधिक से अधिक 'व्यासजी' की तरह सम्पादक माना जा सकता है। बाद मे 'लेखक' शब्द से मौलिक कृति का लेखन करने वाला भी अभिहित होन लगा। मौलिक कृति मे कृतिकार को या ग्रन्थकार को किन बातो का ध्यान रखना होता था, इसका ज्ञान हमे पाणिनि के आधार पर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'India As Known to Panini' (पाणिनि कालीन भारत) मे कराया है। उन्होंने बताया है कि पहले ग्रन्थ का संगत रूप-विधान होना चाहिए। इसका पारिभाषिक नाम है—तन्त्र-युक्ति। तन्त्र-युक्ति मे ये बातें ध्यान मे रखनी होती हैं १—अधिकार या सगति अर्थात् आतरिक समीचीन व्यवस्था या विधान। २—मगल—मगल कामना से आरम्भ। ३—हेत्वर्थ—वर्ण्य का आधार। ४—उपदेश—कृतिकार के निजी निर्देश। ५—अपदेश—खडनार्थ दूसरे के मत को उद्धृत करना।

इसी पहले पक्ष में लेखक के साथ पाठवक्ता या पाठवाचक भी रखना होगा। यह व्यक्ति मूल ग्रन्थ और लिपिकार के बीच मे स्थान रखता है।

दूसरा पक्ष है भौतिक सामग्री।

'राजप्रश्नीयोपाग सूत्र' (विक्रम की छठी शती) में इनका वर्णन यों किया गया है :

"तस्सज पोत्थरयणस्स, इमेयारुवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा-रयणामयाइं पत्तगाइ, रिट्ठामईयो कवियाओं, तवणिज्जयए दोरे, नाजामणिमए गठी, वेरुलियमणिमए लिप्पासणे, रिट्ठामए छदणे, तवणिज्जमई सकला, रिट्ठामई मसी वइरामई लेहणी, रिट्ठामयाइ अकखराइ, धम्मिए सत्थे। (पृ० 96)"[1]

1 मुनि श्री पुण्यविजय जी—भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला पृ० 18 पर उद्धृत।

भौतिक सामग्री मे निम्नलिखित वस्तुएँ आती हैं :—

1 लिप्यासन--वह वस्तु जिस पर लिखा जाना है, यथा–ईंट, पत्थर, कागज, पत्र (ताड पत्र), धातु, चमडा, छाल (भूर्जपत्र), पेपीरस, कपडा आदि। इसकी विस्तृत चर्चा 'प्रकार' शीर्षक अध्याय मे की गई है क्योकि लिप्यासन भेद से भी ग्रन्थ-भेद माने जाते हैं।

2 मसि—स्याही

3. लेखनी--कूची, टाँकी, कलम आदि

4 डोरा

5. काष्ट--पट्टिकाएँ (काम्बिका)

6. वेष्ठन—छदजु (आच्छादन)

7. ग्रन्थि--ताडपत्र आदि के ग्रन्थों मे बीच मे छेद करके डोरी पिरोयी जाती है। ग्रन्थ के दोनो ओर इस डोरी के दोनों छोरो पर लकडी, हाथी-दांत, सीप, नारियल आदि की गोल टिकुली मे से इस डोरी को निकाल कर गाठ दी जाती है। इन टिकुलियों को भी ग्रन्थि या गाँठ कहते हैं।

8 हडताल या हरताल--गलत लिख जाने पर उसे मिटाने का साधन है 'हडताल'।

तीसरा पक्ष है–लिपि और लिपिकार—

लिपिकार और लेखक तब ही पर्यायवाची होते है, जब लेखक ही लिपिकार का भी काम करता है। दोनो के लिए लिपि ज्ञान और उसका अभ्यास अवश्य अनिवार्य है। जो बूह्लर ने हमे बताया है कि प्राचीन काल में इन लेखको या लिपिकारो के लिये निर्देश ग्रन्थ लिखे गये थे। दो ऐसे ग्रन्थो का उन्होने उल्लेख भी किया है : 1. लेख पचाशिका। इसमे निजी पत्रो की रचना का वर्णन ही नही है वरन् पट्टो, परवानो तथा राजाओ की सधियो को लिखने का रूप भी बताया गया है। दूसरी पुस्तक है क्षेमेन्द्र व्यासदास रचित 'लोक प्रकाश' जिसके एक भाग मे हुडी, अनुबध आदि तैयार करने के रूप बताये गये हैं। वत्सराज सुत हरिदास की 'लेखक मुक्ता मणि' का भी यही विषय है। एक ऐसी ही कृति महाकवि 'विद्यापति' की 'लिखनावली' भी है। इसका रचना काल सन् 1418 ई० है।

लेखक ग्रन्थ रचना मे यह सबसे प्रधान पक्ष है।

'लेखक' शब्द लेखन क्रिया के कर्त्ता के लिये प्राचीनतम शब्द माना जा सकता है। रामायण एव महाभारत मे इसका उपयोग हुआ है। इससे विदित होता है कि महाकाव्य-युग मे 'लेखक' होना एक व्यवसाय भी था और लेखन-कला की प्रतिष्ठा भी हो चुकी थी। पालि मे 'विनय-पिटक' के लेखन को एक महत्त्वपूर्ण और श्लाध्य कला माना गया है और भिक्खुणियों को लेखन-कला की शिक्षा देने का विधान है ताकि वे पवित्र धर्मग्रन्थो का लेखन कर सकें। इस काल मे पिता की इच्छा यही मिलती है कि उसका पुत्र लेखक का व्यवसाय ग्रहण करे, ताकि वह सुखी रह सके। महावग्ग और जातको मे भी ऐसे उल्लेख

है जिनसे उस काल मे लेखन-व्यवसाय विशेषज्ञ का पता चलता है। पोथक (पाडुलिपि) लेखक का दो बार उल्लेख मिलता है और यह लेखक व्यावसायिक विशेषज्ञ लेखक ही हो सकता है।

शिला-लेखो के अनुसधान से विदित होता है कि साची स्तूप के एक शिलालेख मे 'लेखक' का प्राचीनतम उल्लेख है। यहाँ 'लेखक' लेखन-व्यवसाय प्रवृत्त व्यक्ति ही है, बूह्लर ने इस शिला-लेख का अनुवाद करते हुए लेखक का अर्थ 'कापीइस्ट ऑव मैन्युस्क्रिप्टस्' (Copyist of Mss) या राइटर, क्लर्क ही दिया है। बाद के कितने ही शिलालेखो से सिद्ध होता है कि 'लेखक' शब्द से व्यवसायी लेखन कला विज्ञ का ही अभिप्राय है और इस समय तक 'लेखक वर्ग' एक व्यवसायवाची शब्द हो गया था। ये लेखक शिलालेखो पर उत्कीर्ण किये जाने वाले प्रारूप तैयार किया करते थे। बाद मे लेखक को पाडुलिपि-कर्त्ता का कार्य सौपा जाने लगा—ये लेखक बहुधा ब्राह्मण होते थे, या दरिद्र और थके-मादे वृद्ध कायस्थ। मन्दिरो और पुस्तकालयो मे इन लेखको की नियुक्ति ग्रन्थ-लेखन के लिये की जाती थी।

लेखक के पर्यायवाची जो शब्द भारतीय परम्परा मे मिलते है वे है[1] लिपिकार या लिबिकार या दिपिकार। इस शब्द का प्रयोग चतुर्थ शती ई० पू० म हुआ मिलता है। अशोक के अभिलेखों मे यह शब्द कई बार आया है। इनमे यह दो अर्थों मे आया है। एक तो लेखक दूसरे शिलाओ पर लेख उत्कीर्ण करने वाला व्यक्ति। सस्कृत कोषो म इसे लेखक का ही पर्यायवाची माना गया है, जैसे-अमरकोश में—' लिपिकारोऽक्षरचणोऽक्षर चुचुश्च लेखकें"। डॉ० राजबली पाडेय ने बताया है कि, A persual of Sanskrit literature and epigraphical documents will show that the 'lekhaka'. .and it was employed more in the sense of 'a copyist' and 'an engraver' than in the sense of 'a writer '—

यो 'लिपि' और 'लिपिकार' शब्द का प्रयोग पाणिनि की अष्टाध्यायी मे भी हुआ है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का निष्कर्ष है कि पाणिनि के समय मे 'लिपि' का अर्थ होता था लेखन तथा लेख।[2]

1 Pandey, R. B —Indian Palaeography P 90

2. India As Known to Panini (अध्याय ५, खण्ड २, पृ० ३११) मे बताया है कि गोल्डस्टूकर के मतानुसार 'लेखन-कला पाणिनि से बहुत पूर्व से प्रचलित थी। पाणिनि की वैदिक साहित्य ग्रन्थ रूप (MSS) में भी उपलब्ध था। डॉ अग्रवाल का कथन है कि पाणिनि ने 'ग्रन्थ, लिपिकार', 'यवनानी लिपि' आदि शब्दो का उपयोग किया है। अत इसमें सन्देह नही रह जाता कि पाणिनि के समय लेखन कला विकसित हो चुकी थी। डॉ अग्रवाल ने आगे लिखा है कि—

'(1) Lipikar (III 2 21) as well as its variant form 'libikara', denoted a writer The term lipi with its variant was a standing term for writing in the Maurya period and earlier Dhammalipi, with its alternative form dharmalipi, stands for the Edicts of Asoka engraved on rocks in the third century B C An engraver is there referred to as lipikara (M R E II) Kautilya also knows the term 'A king shall learn the lipi (alphabet) and sankhyana (numbers, Arth I 5) He also refers to samjna-lipi 'Code Writing' (Arth I 12) used at the espionage Institute In the Behistum inscription we find lipi for engraved writing Thus it is certain that lipi in the time of Panini meant writing and script'.

'मत्स्य-पुराण' मे लेखक के निम्नांकित गुण बताये गये हैं

सर्वं देशाक्षराभिज्ञ सर्वशास्त्रविशारदः ।
लेखक कथितो राज्ञ सर्वाधिकरणेषु वै ।।
शीर्षोपेतान सुसपूर्णन् शुभ श्रेणिगतान् समान् ।
अक्षरान् वै लिखेद्यस्तु लेखक स वर स्मृत ।।
उपाय वाक्य कुशल सर्वशास्त्रविशारद ।
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखक स्यान्नृपोत्तम ।।
वाजाभिप्राय तत्त्वज्ञ देशकालविभागवित् ।
अनाहार्यो नृप भक्तो लेखकः स्यान्नृपोत्तम ।।

(अध्याय, 189)

'गरुड पुराण' मे लेखक के ये गुण बताये गये हैं—

मेधावी वाक्पटु प्राज्ञ. सत्यवादी जितेन्द्रिय ।
सर्वशास्त्र समालोकी ह्येष साधु स लेखक ।।[1]

1 लखक शब्द पर कुछ और रोचक सूचना हमें डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल के लख 'Notes from the Brahat Kathakosha से मिलती है। उनका यह लेख 'The Journal of the United Provinces Historical Society, (Vol XIX, पार्ट I-II, जुलाई दिसम्बर, १९४६) म प्रकाशित है। इसमें पृ ८० ८२ में अनुभाग ३३ में 'लेखक' शीर्षक से यह बताया है कि मौर्यों के समय से लेखक प्रशासकीय तन्त्र का एक सदस्य रहा। कौटिल्य ने सख्याक (Accountant) और लेखक (Clerk) का वेतन ५०० कार्षापण वार्षिक बताया है। जैसे जैसे समय बीता लेखक के दायित्व में भी वैसे वैसे ही वृद्धि हुई। फलीट के अनुसार हस्तिन् के एक अभिलेख म 'लिखितञ्च' या पाँचवी शताब्दी में अभिप्राय कोई अभिलेख प्रस्तुत करता था शिल्पकार (Engraver) के लिए उत्कीर्ण करने के लिए एक प्लेट पर मसौदा तैयार कर देता था।

सातवी शताब्दी के एक आदेश लेख (निर्माण्ड ताम्रपत्र अभिलेख) में 'लेखक' के उल्लेख से विदित होता है कि राजा के निजी सचिवो में वह सम्मिलित था और उसका अधिकार और कर्त्तव्य बढ़ गए थ। हरिषेण के कथाकोश में एक लखक महारानी और मन्त्रियो के साथ राजभवन म उपस्थित हैं। उसकी उपस्थिति में महाराजा के पत्र आते हैं जिन्हें पढ़कर लेखक उसका अभिप्राय बताता है। राजा ने किसी उपाध्याय के सम्बन्ध में लिखा था कि उसे सुगन्धित उबले चावल घी तथा मषी भोजनार्थ दिया जाय। लेखक ने 'मषी का अर्थ बताया 'कृष्णांगार मषी' अर्थात् कोयल की काली स्याही घी में घोल कर चावल के साथ खाने को दी जाय। स्पष्ट है कि लेखक ने माष या मषी का यथार्थ अर्थ दाल न बताकर काली स्याही बताया। पत्र महारानी के नाम था। उसे पढ़ने का और उसकी व्याख्या का दायित्व लेखक पर था। जब राजा को विदित हुआ तो उसने कूढ़मगज को निकलवा दिया। यह २४वी कहानी में है। इसी प्रकार की दो अन्य कहानियाँ हैं दोनो में पत्र महारानी के नाम हैं। पढ़ना और व्याख्या करना या अर्थ बताना लेखक का काम है। एक में लखक ने स्तम्भ (खम्भा) के स्थान पर 'स्तभ पढ़कर अर्थ किया बकरी। अत राजाज्ञा मानकर एक हजार खम्भों के स्थान पर एक हजार बकरिया खरीदी गयीं। एक ऐसे ही पत्र में लेखक ने अध्यापय को 'अन्धापय पढ़ा और राजकुमार को अन्धा कर दिया। मन्त्रीगण और महारानी को उस अर्थ की समीचीनता आदि से कोई लेना-देना नही। स्पष्ट है कि लेखक का दायित्व बहुत बढ़ गया था। उसकी व्याख्या ही प्रमाण-थी।

यही बातें 'शाङ्गधर पद्धति' मे भी बताई गई हैं। 'पत्र कौमुदी' मे तो राजलेखक के गुणो की लम्बी सूची दी गई है, इसके अनुसार लेखक को ब्राह्मण होना चाहिये ।[1] जो मन्त्रणाभिज्ञ हो, राजनीति-विशारद हो, नाना लिपियो का ज्ञाता हो, मेधावी हो, नाना भाषाओ का ज्ञाता हो, नीतिशास्त्र-कोविद हो, सन्धि-विग्रह के भेद को जानता हो, राजकार्य मे विलक्षण हो, राजा के हितान्वेषण मे प्रवृत्त रहने वाला हो, कार्य और अकार्य का विचार कर सकता हो, सत्यवादी हो, जितेन्द्रिय हो धर्मज्ञ हो और राजधर्म-विद् हो, वही लेखक हो सकता था । स्पष्ट है कि लेखक का आदर्श बहुत ऊचा रखा गया है । उस काल मे लेखक को पाडुलिपि लेखक ही मानना होगा, क्योकि तब मुद्रण यन्त्र नही थे, अत लेखक जो रचना प्रस्तुत करता था वह पाडुलिपि (मैन्युस्क्रिप्ट) ही होती थी । उस मूल पाडुलिपि से अन्य लिपिकार प्रतियाँ प्रस्तुत करते थे और जिन्हे आवश्यकता होती थी उन्हे देते थे । ब्राह्मणो को, मठो और विहारो को ऐसा ग्रन्थ-प्रदान करने का बहुत माहात्म्य माना गया है ।

ऊपर के श्लोको मे लेखक के जिन गुणो का उल्लेख किया गया है, उनमे सबसे महत्त्वपूर्ण है 'सर्व देशाक्षराभिज्ञ — समस्त देशो के अक्षरो का ज्ञान लेखक को अवश्य होना चाहिये । साथ ही 'सर्वशास्त्र समालोकी'—समस्त शास्त्रो मे समान गति लेखक की होनी चाहिये । एक पाडुलिपिविद् मे आज भी ये दो गुण किसी न किसी मात्रा मे होने ही चाहिये । यो पाडुलिपि विज्ञान विद् विविध लिपिमालाओ से और ज्ञान-विज्ञान कोशो से भी आज अपना काम चला सकता है, फिर भी उसके ज्ञान की परिधि विस्तृत अवश्य होनी चाहिए और उसके लिए सन्दर्भ-ग्रन्थो का ज्ञान तो अनिवार्य ही माना जा सकता है ।

ऊपर उद्धृत पौराणिक श्लोको मे जिस लेखक की गुणावली प्रस्तुत की गई है, वह वस्तुत राज-लेखक है और उसका स्थान और महत्त्व लिखिया या लिपिकार के जैसा माना जा सकता है । हिन्दी मे लेखक मूल रचनाकार को भी कहते हैं और लिखिया या लिपिकार को भी विशेषार्थक रूप मे कहते है ।

लिपिकार का महत्त्व विश्व मे भी कम नही रहा । रोमन साम्राज्य के बिखर जाने पर साम्राज्य की ग्रन्थ सम्पत्ति कुछ तो विद्वानो ने अपने अधिकार मे कर ली, और कुछ पादरियो (मोक्स) ने । इस युग मे प्रत्येक धर्म-विहार (मोनस्ट्री) मे एक अलग कक्ष पाडुलिपि-कक्ष 'स्क्रिप्टोरियम' (Scriptorium) ही होता था । इस कक्ष में पादरी प्राचीन ग्रन्थो की हस्तप्रतियाँ या पाडुलिपियाँ स्वय अपने हाथों से बडी सावधानी से तैयार किया करते थे । पाडुलिपि-लेखन को उन्होंने उच्चकोटि की कला से युक्त कर दिया था ।

1. इस सम्बन्ध में डॉ० राजबली पाण्डेय ने यह मत व्यक्त किया है · "There is no doubt that the invention of alphabet required some knowledge of linguistics and phonetics and as such it could be under taken only by experts educated and cultured That is why, for a very long time, the art of writing remained a special preserve of literary and priestly experts, mainly belonging to the Brahman class", —Pandey, R B Indian Palaeography, p 83.

Alphabet या अक्षरावली या वर्णमाला जब बनी तब ब्राह्मण वर्ण का अस्तित्व था भी, यह अनुसन्धान का विषय है, पर ब्राह्मण धर्म विधाता थे और वर्णमाला देव-भाषा की थी—अतः उनका उस पर अधिकार हो अवश्य गया।

वे विविध प्रकार की चित्र-सज्जा से इन ग्रन्थो को विभूषित करते थे।[1] जैन मन्दिरो और बौद्ध बिहारो मे भी ऐसा ही प्रबन्ध था।

किन्तु यह बताया जाता है कि इससे पहले प्राचीन पाडुलिपियो के लिपिकार वे गुलाम होते थे, जिन्हे मुक्त कर दिया जाता था। रोम मे कुछ व्यावसायिक लिपिकार स्त्रियाँ थी। सन् 231 ई० मे जब ओरिगेन ने 'ओल्ड टैस्टामेन्ट' के सम्पादन-सशोधन का कार्य आरम्भ किया तो सन्त अम्ब्रोज ने लिपि सुलेखन (कैलीग्राफी) मे विज्ञ कुछ कुशल अधिकारी (Deacon) एव कुमारियाँ भेजी थी। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ का सुलेखन एक व्यवसाय हो चुका था, जिसमे कुमारियाँ विशेष दक्ष थी।' बाद म, वह लेखन पादरियो का कर्त्तव्य बन गया। इन धर्म-बिहारो मे जहाँ ग्रन्थ-लेखन-कक्ष रहता था, लिपिकारो की सहायता के लिए पाठ-वक्ता (Dictator) भी रहते थे, जो ग्रन्थ का पाठ बोल-बोल कर लिखाते थे, इसके बाद वह ग्रन्थ एक सशोधक के पास भेजा जाता था, जो आवश्यक संशोधन करके उसे चित्रकार (मिनिएटर) को दे देता था जो उसे चित्र-सज्जा से सुन्दर बना देता था।[2]

भारत मे भी धर्म-बिहारो, मन्दिरो, सरस्वती तथा ज्ञान भण्डारो मे लेखक-शालाओ का उल्लेख मिलता है। 'कुमारपाल प्रबन्ध' मे यह उल्लेख इस प्रकार आया है "एकदा प्रातर्गुरून सर्वसाधूश्च वन्दित्वा लेखकशाला विलोकनाय गता। लेखका कागदपत्राणि लिखन्ता दृष्टा।[3] जैन धर्म म पुस्तक लेखन को महत्त्वपूर्ण और पवित्र कार्य माना है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'योग-दृष्टि-समुच्चय' मे 'लेखना पूजना दान मे श्रावक के नित्यकृत्यो मे पुस्तक लेखन का भी विधान किया है। जैन-ग्रन्थो से यह भी विदित होता है कि ग्रन्थ-रचना के लिए विद्वान् लेखक को विद्वान् शिष्य और श्रमण विविध सूचनाएँ देने मे सहायता किया करते थे।[4] ऐसी भी प्रथा थी कि ग्रन्थ-रचनाकार अपने विषय के मान्य शास्त्रवेत्ता और आचार्य के पास अपनी रचना सशोधनार्थ भेजा करते थे। उनसे पुष्टि पाने के बाद ही इन रचनाओ की प्रतियाँ कराई जाती थी। भारत मे ग्रन्थ-लेखन या लेखक का कार्य पहले ब्राह्मणो के हाथ मे रहा, बाद मे 'कायस्थो' के हाथ मे चला गया। कायस्थ लेखको का व्यवसायी वर्ग था। विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति (1,336) की टीका मे मूल पाठ मे आये 'कायस्थ' शब्द का अर्थ लेखक ही किया है, 'कायस्थगणका लेखकाश्च'। इसमे सन्देह नही कि कायस्थ वर्ग व्यावसायिक लेखको का वर्ग ही था-यही आगे चल कर जाति के रूप मे परिणत हो गया। कायस्थो का लेखन बहुत सुन्दर होता था। 'कायस्थ' शब्द के कई अर्थ किये गये है। किन्तु यथार्थ अर्थ यही प्रतीत होता है कि कायस्थ वह है जो काय मे स्थित रहे-'काय' मौर्य काल मे सेक्रेटेरियट (Secretariate) को कहा जाता था, और इसमे स्थित व्यक्ति था कायस्थ।

लेखक, लिपिकार, दिपिकार या दिविर के साथ अन्य पर्यायवाची भी भारत मे प्रचलित थे-ये हैं करण, कर्णिन्, शासनिन् तथा धर्मलेखिन्। डॉ वासुदेव उपाध्याय[5]

1. The World Book Encyclopedia (Vol. 11), p. 224.
2. Encyclopedia Americana, (Vol. 18), p 241
3. भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ० 25।
4. वही, पृ० 107।
5. उपाध्याय, वासुदेव—प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन, पृ० 256-257।

ने बताया है कि—

'कायस्थ शब्द के अतिरिक्त लेखक के लिए करण, करणिक, करनिन् आदि शब्द प्रयुक्त होते रहे। चेदिलेख म (करणिक धीर सुतेन) तथा चन्देलो की खजुराहो प्रशस्ति म करणिक शब्द का प्रयोग मिलता है जो सुन्दर अक्षर लिखते थ कीलहार्न ने करण को भी कानूनी पत्रो के लेखक के अर्थ म माना है।' "उन्हे संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान रहता था।

शिल्पी, रूपकार, सूत्रधार तथा शिलाकूट का काम भी लेख उत्कीर्ण करना ही था।

पाडुलिपि विज्ञान की दृष्टि स 'लिपिकार' का महत्त्व बहुत अधिक है। उसक प्रयत्न के फलस्वरूप ही हमें हस्तलेख प्राप्त हुए है। उसकी कला स ग्रन्थ सुन्दर या असुन्दर होता है, उसका व्यक्तित्व ग्रन्थ म दाप भी पैदा कर सकता है। लिपिकार क सम्ब ध म डॉ० हीरालाल माहेश्वरी न बताया है कि किसी हस्तलेख की प्रामाणिकता पर भी लिपिकार क व्यक्तित्व का प्रभाव पडता है। उन्होने दस प्रकार के लिपिकार बताये है —

(1) जैन/श्रावक या मुनि।

(2) साधु/सम्प्रदाय विशेष का या आत्मानदी।

(3) गृहस्थ।

(4) पढ़ाने वाला (चाहे कोई हो)

(5) कामदार (राजघरान के लिपिक)

(6) दफ्तरी।

5 वें और छठे म भेद है। कामदार तो लिपिक के रूप म ही रखे जाते हैं, दफ्तरी अन्य कार्यों के साथ आज्ञा होने पर प्रतिलिपि भी करता था।

(7) व्यक्ति विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

(8) अवसर विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

(9) सग्रह के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

(10) धर्म विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

लिपिकार द्वारा प्रतिलिपि मे विकृतियाँ

उद्देश्य

लिपिकार से ही लिपिगत विकृतियाँ जुडी हुई हैं।

किसी प्रति का महत्त्व उसमें लिखी रचना अथवा पाठ के कारण ही है। अत पाडुलिपि विज्ञान एव पाडुलिपि सम्पादन के सदर्भ मे जितनी भी भूले सभव हो सकती हैं, उनको जानना भी आवश्यक है। सपादन मे तो उनका निराकरण भी करना होता है। निराकरण प्रधानतया प्रति के 'उद्देश्य से किया जा सकता है। पाठालोचन के विज्ञान मे अभी तक इस ओर दृष्टि भी नही किया गया है। मुख्यत: पाठ सम्बन्धी भूलें/समस्याएँ ये होती हैं —

वे विविध प्रकार की चित्र-सज्जा से इन ग्रन्थो को विभूषित करते थे।[1] जैन मन्दिरो और बौद्ध बिहारो मे भी ऐसा ही प्रबन्ध था।

किन्तु यह बताया जाता है कि इससे पहले प्राचीन पाडुलिपियो के लिपिकार वे गुलाम होते थे, जिन्हे मुक्त कर दिया जाता था। रोम मे कुछ व्यावसायिक लिपिकार स्त्रियाँ थी। सन् 231 ई० मे जब ओरिगेन ने 'ओल्ड टैस्टामेन्ट' के सम्पादन-सशोधन का कार्य आरम्भ किया तो सन्त अम्ब्रोज ने लिपि सुलेखन (कैलीग्राफी) मे विज्ञ कुछ कुशल अधिकारी (Deacon) एव कुमारियाँ भेजी थी। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ का सुलेखन एक व्यवसाय हो चुका था, जिसमे कुमारियाँ विशेष दक्ष थी।' बाद मे, वह लेखन पादरियो का कर्त्तव्य बन गया। इन धर्म-बिहारो मे जहाँ ग्रन्थ-लेखन-कक्ष रहता था, लिपिकारो की सहायता के लिए पाठ-वक्ता (Dictator) भी रहते थे, जो ग्रन्थ का पाठ बोल-बोल कर लिखाते थे, इसके बाद वह ग्रन्थ एक सशोधक के पास भेजा जाता था, जो आवश्यक संशोधन करके उसे चित्रकार (मिनिएटर) को दे देता था जो उसे चित्र-सज्जा से सुन्दर बना देता था।[2]

भारत मे भी धर्म-बिहारो, मन्दिरा, सरस्वती तथा ज्ञान भण्डारो मे लेखक-शालाओ का उल्लेख मिलता है। 'कुमारपाल प्रबन्ध' मे यह उल्लेख इस प्रकार आया है "एकदा प्रातर्गुरून सर्वसाधू श्च वन्दित्वा लेखकशाला विलोकनाय गता। लेखका कागदपत्राणि लिखन्तो दृष्टा.।[3] जैन धर्म म पुस्तक लेखन को महत्त्वपूर्ण और पवित्र कार्य माना है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'योग-दृष्टि समुच्चय' मे 'लेखना पूजना दान मे श्रावक के नित्यकृत्यो म पुस्तक लेखन का भी विधान किया है। जैन-ग्रन्थो से यह भी विदित होता है कि ग्रन्थ-रचना के लिए विद्वान् लेखक को विद्वान् शिष्य और श्रमण विविध सूचनाएँ देने मे सहायता किया करते थे।[4] ऐसी भी प्रथा थी कि ग्रन्थ-रचनाकार अपने विषय के मान्य शास्त्रवेत्ता और आचार्य के पास अपनी रचना सशोधनार्थ भेजा करते थे। उनसे पुष्टि पाने के बाद ही इन रचनाओ की प्रतियाँ कराई जाती थी। भारत मे ग्रन्थ-लेखन या लेखक का कार्य पहले ब्राह्मणो के हाथ मे रहा, बाद म 'कायस्थो' के हाथ मे चला गया। कायस्थ लेखको का व्यवसायी वर्ग था। विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति (1,336) की टीका मे मूल पाठ मे आये 'कायस्थ' शब्द का अर्थ लेखक ही किया है, 'कायस्थगणका लेखकाश्च'। इसमे सन्देह नही कि कायस्थ वर्ग व्यावसायिक लेखको का वर्ग ही था-यही आगे चल कर जाति के रूप मे परिणत हो गया। कायस्थो का लेखन बहुत सुन्दर होता था। 'कायस्थ' शब्द के कई अर्थ किये गये है। किन्तु यथार्थ अर्थ यही प्रतीत होता है कि कायस्थ वह है जो काय मे स्थित रहे-'काय' मौर्य काल मे सेक्रेटेरियट (Secretariate) को कहा जाता था, और इसमे स्थित व्यक्ति था कायस्थ।

लेखक, लिपिकार, दिपिकार या दिविर के साथ अन्य पर्यायवाची भी भारत मे प्रचलित थे-ये हैं . करण, कर्णिन्, शासनिन् तथा धर्मलेखिन्। डॉ वासुदेव उपाध्याय[5]

1. The World Book Encyclopedia (Vol. 11), p. 224.
2. Encyclopedia Americana, (Vol 18), p 241
3. भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ० 25।
4. वही, पृ० 107।
5. उपाध्याय, वासुदेव—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० 256-257।

ने बताया है कि—

"कायस्थ शब्द के अतिरिक्त लेखक के लिए करण, करणिक, करनिन् आदि शब्द प्रयुक्त होते रहे। चेदिलेख मे (करणिक धीर सुतेन) तथा चन्देलो की खजुराहो प्रशस्ति मे करणिक शब्द का प्रयोग मिलता है जो सुन्दर अक्षर लिखते थे" ··कीलहार्न ने करण को भी कानूनी पत्रो के लेखक के अर्थ म माना है।"· ·"उन्हे संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान रहता था।

शिल्पी, रूपकार, सूत्रधार तथा शिलाकूट का काम भी लख उत्कीर्ण करना ही था।

पाडुलिपि विज्ञान की दृष्टि से 'लिपिकार' का महत्त्व बहुत अधिक है। उसके प्रयत्न के फलस्वरूप ही हमे हस्तलेख प्राप्त हुए है। उसकी कला से ग्रन्थ सुन्दर या असुन्दर होता है, उसका व्यक्तित्व ग्रन्थ म दोष भी पैदा कर सकता है। लिपिकार क सम्बन्ध मे डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने बताया है कि किसी हस्तलेख की प्रामाणिकता पर भी लिपिकार के व्यक्तित्व का प्रभाव पडता है। उन्होंने दस प्रकार के लिपिकार बताये है :—

(1) जैन/श्रावक या मुनि।

(2) साधु/सम्प्रदाय-विशेष का या आत्मानदी।

(3) गृहस्थ।

(4) पढ़ाने वाला (चाहे कोई हो)

(5) कामदार (राजघरान के लिपिक)

(6) दफ्तरी।

5 वें और छठे म भेद है। कामदार तो लिपिक के रूप मे ही रखे जाते है, दफ्तरी अन्य कार्यों के साथ आज्ञा होने पर प्रतिलिपि भी करता था।

(7) व्यक्ति विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

(8) अवसर विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

(9) सग्रह के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

(10) धर्म विशेष के लिए लिखी गई प्रति का लिपिक कोई भी हो सकता है।

लिपिकार द्वारा प्रतिलिपि में विकृतियाँ

उद्देश्य

लिपिकार से ही लिपिगत विकृतियाँ जुडी हुई हैं।

किसी प्रति का महत्त्व उसमे लिखी रचना अथवा पाठ के कारण ही है। अतः पाडुलिपि विज्ञान एव पाडुलिपि सम्पादन के सदर्भ मे जितनी भी भूलें सभव हो सकती हैं, उनको जानना भी आवश्यक है। सपादन मे तो उनका निराकरण भी करना होता है। निराकरण प्रधानतया प्रति के 'उद्देश्य' से किया जा सकता है। पाठालोचन के विज्ञान मे अभी तक इस ओर इंगित भी नही किया गया है। मुख्यतः पाठ सम्बन्धी भूलें/समस्याएँ ये होती है :—

विकृतियाँ

(अ) सचेष्ट (जानबूझ कर की गयी)
(ब) निश्चेष्ट (अनजाने हो जाने वाली) तथा
(स) उभयात्मक (सचेष्ट निश्चेष्ट)

ये कई प्रकार से होती हैं या लाई जाती हैं :—

(क) मूल पाठ मे वृद्धि के लिए।
(ख) मूल पाठ मे से कुछ कमी के लिए।
(ग) मूल पाठ के स्थान पर अन्य पाठ बैठाने के लिए।
(घ) मूल पाठ के क्रम मे परिवर्तन के लिए,
(ङ) मूल पाठ म मिश्र पाठ की प्रति का अश ग्रहण करने के लिए, स्वेच्छा से।
(च) मिश्र पाठ की प्रति का किसी एक परम्परा की प्रति से मिलान करते समय स्वेच्छा से।

अन्तिम दोनो का (ङ और च)एक प्रकार से आरम्भिक चारो मे से किसी न किसी म अन्तर्भाव हो जाता है।

ऐसा इसलिए होता है कि इनमे से कोई न कोई भूल हो जाती है —

(क) लिपिभ्रम, लिपि-साम्य।
(ख) वर्ण-साम्य (दूँटना या दुबारा लिखना)।
(ग) शब्द साम्य (दूँटना या दुबारा लिखना)।
(घ) लिपिकार द्वारा लिखे गये सकेत चिह्नों को न समझना।
(ङ) शब्द का ठीक अन्वय न कर सकना।
(च) पुनरावृत्ति (पक्ति, शब्द और अर्द्ध पक्ति की)।
(छ) स्मृति के सहारे लिखना।
(ज) बोले हुए को सुनकर लिखना। समान ध्वनियो वाली गलतियाँ इसी कारण होती हैं। यहाँ पाठ-वक्ता या पाठ-वाचक के तत्व को स्थान देते हैं। क्योंकि लिपिकार अक्षर देख नहीं रहा, सुन रहा है।
(झ) हाशिये मे दिये गये पाठ को प्रतिलिपि करते समय सम्मिलित कर लेना। इसके तीन रूप हो सकते हैं—

1. हाशिये मे क्रमश आई पक्ति का एक सीध वाली मूल पाठ की पक्ति मे मिश्रण कर लेना।
2. हाशिये की सम्पूर्ण पक्तियो या पूरे पाठ का बराबर वाले पूर्ण विराम चिन्ह के पश्चात् वाले मूल पाठ के बाद लिखना।
3. अपवाद (Exception) के तौर पर कभी-कभी सम्पूर्ण हाशिये का पाठ प्रतिलिपि मे आदि/अन्त और प्रसग-विशेष की समाप्ति पर भी ले लिया जाता है। (डॉ माहेश्वरी को मेहोजी कृत रामायण के विभिन्न हस्तलेखो का पाठ मिलान करने पर ऐसे उदाहरण मिले हैं। पर ऐसा कम ही पाया जाता है।)

इस सम्बन्ध मे ऊपर के क्रम स० (ज) 'बोले हुए को सुनकर लिखना' के तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट करना है। कारण यह है कि अभी तक पाठ-सशोधन-कर्त्ताओ ने इस ओर जरा सा भी ध्यान नही दिया है। इससे भी बडा अनर्थ हुआ है। प्राय इससे भाषा शास्त्रीय अध्येता गलत परिणाम पर पहुँच सकता है और लोग पहुँचे भी है।

उदाहरणार्थ—इकारान्त ण ध्वनि 'ण्य' करके इसी 'बोले हुए को सुनकर लिखने के कारण लिखी गयी मिलती है। नवाणि>नवण्य। इसके सैकडो उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस बात का न समझने के कारण नामदेव की हिन्दी कविता' के सम्पादको (पूना विश्वविद्यालय) ने इस एक प्रवृत्ति माना है, जो भूल है। वस्तुत यह रूप उच्चारण सम्बन्धी इसी विशेषता के कारण है और यह णकार प्रधान राजस्थानी भाषा की प्रवृत्ति है। ऐसी प्रतियो को 'राजस्थानी' जानकर उनमे आई भूला का निराकरण इसी दृष्टिकोण (angle)से करना चाहिये, अन्यथा गलत परिणाम पर पहुँचने की आशका रहेगी।

ओर>वोर

ओवड छेवड>वोवड छेवड

दूसरा ऐसा ही एक और उदाहरण द्रष्टव्य है।—बीकानेर, नागौर तथा नागौर से दक्षिण (देवदर तक) के चारो ओर के इलाके (जिसके अन्तर्गत मिलता हुआ जैसलमेर, बीकानेर और जोधपुर राज्यो की सीमा वाला प्रदेश है) की एक विशिष्ट ध्वनि है आ को ओ (आ>ओ) बोलना। यह 'ओ' 'ओ' न होकर 'ॅ' जैसी ध्वनि है। डाक्टर>डॉक्टर। इस इलाके मे व्यापक रूप से यह ध्वनि प्रचलित है। यदि लिपिकार या बोलनेवाला इस इलाके का हुआ और इनमें से कोई भी दूसरा किसी और इलाके का, तो लेखन मे अन्तर होगा।

उदाहरणार्थ—कादा>कोदा। काड>कोड
(ब्याज) (कितनी देर) (काल) (गोद)

इस स्थिति को न समझने के कारण भी बडी भूलें सम्भव है।

तीसरा उदाहरण — यह दूसरे के समान व्यापक नही है, किन्तु उसे भी ध्यान मे रखना चाहिये। फलौदी और पोकरण के बाद पश्चिमोत्तर और पश्चिम की ओर जैसलमेर और पुराने बहावलपुर (अब पाकिस्तान मे) तक भविष्यवाचक क्रियारूप 'स्यै' का प्रयोग है। यह एकवचन मे 'स्यै' और बहुवचन मे 'स्यैं' है। जायस्यै=जाएगा, जायस्यैं=जाएँगे। जरा भी असावधानी से यदि बिन्दी न लिखी या सुनी गई, तो समूचे अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है। समूह वाचक सज्ञाओ मे तो विशेष तौर से। उदाहरणार्थ–

राज जायस्यैं=आप जाएँगे(आदर सूचक प्रयोग)।

राज जायस्यै=राज(नामक व्यक्ति)जाएगा।

चौथा और अन्तिम उदाहरण—मेवाड मे लिखित प्रतियो के सन्दर्भ मे है। गुजराती बागडी-भीली के प्रभाव से अनेक सज्ञा शब्दो पर '˙' लगाने की और लगाकर बोलने की प्रथा है। जैसे, नदी>नदी। टका>टका। नदी का तात्पर्य 'नही दी' से भी है। नदी अर्थात् नदी। टका अर्थात् समय का एक अश, साथ ही उक्त स सबधित मनुष्य भी। जैसे—चार टका=चार बार खाने वाला मनुष्य अथवा समय का चौथाई 'भाग'। किन्तु टका अर्थात् 2 पैसे।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन प्रवृत्तियो का जानना जरूरी है, जो कि आदि, मध्य या पुष्पिका मे लिखी रहती हैं।

उपर्युक्त समस्त भूलो का निराकरण प्रधानत तो प्रति के 'उद्देश्य' मे हो सकता है। उद्देश्य का पता प्रति मे हमे इस प्रकार लग सकता है —

(अ) प्रति के प्रथम पत्र के प्रथम पृष्ठ पर लिखा हुआ मिलता है।

(ब) प्रति के अन्त मे (पुष्पिका के भी अन्त मे) अन्तिम पत्र पर लिखा हुआ मिलता है। ये दोनो पत्राकार तथा शेष प्रकार की प्रतियो मे पाये जाते हैं।

(स) पुष्पिका के पश्चात् (सवत् आदि का उल्लेख करने के बाद) मिलता है।

(द) यदि गुटको पोथी, या पोथिया आदि म कुछ रचनाएँ एक हस्तलेख मे हो, और कुछ भिन्न मे, तो प्राय एक प्रकार के हस्तलेख मे अन्त मे मिलते हैं।

कारण—य सग्रह ग्रन्थ भी हो सकत है, जिनमे ध्येय यही रहता है कि अधिक से अधिक रचनाए सुविधापूर्वक एक साथ ही सुरक्षित रह सकें। इस कारण विभिन्न प्रकार की प्रतिग्रो को (जो एक आकार के पन्नो पर हो) एकत्र कर जिल्द बधवा ली जाती है। अत अध्येता को ध्यानपूर्वक मध्य का अश (जहाँ एक हस्तलेख समाप्त होता है और दूसरा आरम्भ होता है) देखना चाहिये।

(न) कभी-कभी हाशिये मे भी लिखा रहता है। ऐसे उदाहरण भी मिले हैं कि उद्देश्य अन्तिम पत्र के हाशिय मे स्थान की कमी से नही लिखा जा सका, अत लिपिकार न उस पत्र के ठीक पूर्व के पत्र के दाए हाशिये पर शेषाश लिखा हो। इस पूर्व के पत्र पर लिखित अश को हाशिए का शेषाश नही समझना चाहिये। एकाध प्रतियों म एसा भी लिखा मिला है कि उद्देश्य लिखा तो आरम्भ के पन्ने पर है, किन्तु समाप्ति पुष्पिका के पश्चात् की गई है। इसका उद्देश्य प्रति की एकान्विति को द्योतित करना होता है तथा एक लिपिकार द्वारा लिखित है यह निर्दिष्ट करना होता है।

'उद्देश्य' मे क्या लिखा रहता है ?

निम्नलिखित वाक्यावली से उद्देश्य का पता लगाया जा सकता है। सीधे रूप मे तो उद्देश्य कही भी लिखा रहता है, यह ध्यान मे रखने की बात है। जहाँ ऐसा है भी, वहाँ यह निश्चित समझना चाहिये कि उसमे सचेष्ट विकृतियो के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

1 लिपिकार अमुक का शिष्य है।

2. लिपिकार ने अमुक गाँव मे/अमुक गाँव मे अमुक के घर मे/अमुक गाँव के अमुक निवास स्थान पर प्रति लिखी।

3. लिपिकार ने अमुक 'डेरे' पर/अमुक सायरी मे/अमुक देश (बीकाण, जोधाण, जैसाण, मेवाडो, ढूँढाडो आदि) मे प्रति लिखी।

4 लिपिकार ने अमुक समय मे/यात्रा (जातरा) मे/मन्दिर मे/अमुक की सत्सगति मे/अमुक अवसर पर (आखातीज, गणेश चौथ, धूज, पून्यू आदि) प्रति लिखी।

5. लिपिकार ने अमुक के कहने पर/आदेश पर/प्रति लिखी।

6. लिपिकार ने ग्रमुक के लिए/ग्रमुक की भेंट के लिए/ग्रमुक के पाठ के लिए/ग्रमुक के पढ़ने के लिए/ग्रमुक के सग्रह के लिए/ग्रमुक को सुनाने के लिए लिखी ।
7. लिपिकार ने स्व-पठनार्थ/पाठ के लिए/सग्रह के लिए लिखी ।
8 लिपिकार ने ग्रमुक प्रति के बदले लिखी ।
(मूल प्रति नष्ट प्राय हो रही थी, उसके पाठ को सुरक्षित रखने के लिए)
"ग्रमुक 'रै बदलै मां लिखी,' या
"ग्रमुक 'रै बदलायत लिखी," लिखा मिलता है ।
9 ऐसे भी ग्रनेक लिपिकार रहे हैं जिन्होने प्रचारार्थ/बिक्री के लिए/धर्म भावना से/परिवार ग्रौर मित्रो मे भेंट देने के लिए प्रतियाँ लिखी हैं । दो के नाम ये हैं—साहबरामजी तथा प्राणसुख (नगीने वाला) ।
10 कई ऐसे भी लिपिकार हैं, जो एक समय एक के शिष्य हैं, बाद की लिखी प्रति मे दूसरे के ग्रौर तीसरी मे तीसरे के शिष्य । ध्यानदास, साहबराम परमानन्द के नाम लिये जा सकते हैं । इस सम्बन्ध मे ज्ञातव्य है कि —

1 (ग्र) इससे यह न समझना चाहिये कि लिपिकार गुरु बदलता रहा है । ग्रधिकांशत वह नही ही बदलता है । गुरु से यह तात्पर्य है—

(क) पिता (जो गृहस्थ त्याग कर सन्यासी हो गये)

(ख) विद्या पढ़ाने वाला गुरु

(ग) दीक्षा देने वाला गुरु

(घ) ग्रध्यात्म-पथ-निर्देशक गुरु एवं

(ङ) सम्प्रदाय विशेष के प्रवर्त्तक गुरु ।

चार चार [प्रथम चार (क) से (घ) तक] गुरुग्रो के नाम ग्रनेक प्रतियो मे (एक ही प्रति मे भी) मिलते हैं । धम के क्षेत्र में गुरु भी बदल जाते हैं किन्तु बहुत कम ।

(ब) राजस्थान म एक ग्रौर विचित्र बात गुरु के सम्बन्ध है । स्वर्गस्थ गुरु के 'खोले' (गोद) भी किसी वर्तमान गुरु का शिष्य चला जाता है । खोले वह तब जाता है जबकि स्वर्गस्थ गुरु का ग्रारम्भ किया हुग्रा काय उनकी मृत्यु के कारण ग्रधूरा रह गया हो, ग्रथवा वर्तमान गुरु के निर्देश से मृतक गुरु की ग्राकाक्षा विशेष की पूर्ति के निमित्त भी चला जाता है । ऐसी स्थिति मे एक ही प्रति मे रचना विशेष की समाप्ति पर एक जगह एक गुरु का नाम ग्रौर दूसरी जगह स्वर्गस्थ गुरु का नाम लिखा मिलता है ।

किसी भी प्रति के पाठ को ग्रहण करते समय ग्रथवा पाठ सम्पादन के लिए चुनने के समय उल्लिखित प्रकार से उद्देश्य जानना ग्रावश्यक है । तभी उसकी तुलनात्मक विश्वसनीयता का पता लग सकेगा ।

इससे (उद्देश्य से) यह कैसे पता चलता है कि पाठ सम्बन्धी कैसी ग्रौर कौन-कौनसी भूलें सम्भव हैं —

नोट 'सम्भावना' की जा सकती है । निश्चित रूप से तो पाठ-सम्पादन के समय ग्राई विकृतियो ग्रादि के ग्राधार पर ही कहा जा सकता है । सतर्कता के लिए कुछ ग्रावश्यक बिन्दु प्रस्तुत किए जा रहे हैं

1 गुरु की कृतियो मे, साम्प्रदायिक भावना के अनुसार कुछ समावेश/जोड तोड ।

2 गाँव किसका है ? ज्यादा कौन लोग हैं ? घर किसका है ? बास किसका है ? किस पर निर्भर है ? जैसे—यदि राजपूतो का गाँव है, तो सम्भव है कि सम्बन्धित प्रति म वह ऐसा नाम बैठा दे जैसा प्राय राजपूतो के होते हैं क्योकि पात्र प्रतीक हैं, अथवा (*युद्ध से सम्बन्धित*) *घटना मे मिश्रण कर दें उनकी प्रसन्नता हेतु ।*

यदि घर 'थापना' का है, तो नाम-साम्य के कारण प्रसिद्ध कवि को भी थापन बना दे, लिपिकार यदि जाति विशेष का है, तो कवि विशेष को भी उस जाति का बना दे ।

उदाहरण सुरजनदासजी पूनिया जाति के थे । पूनिया थापन नहीं होते । थापन लिपिकार ने/थापन के घर म रहकर लिखने वाले ने/थापन के कहने से लिखने वाले ने इनको थापन लिख दिया ।

3 डेरा किसका है ? साथरी की शिष्य परम्परा क्या है ? 'देश' का नाम क्या है ? *प्रथम से गद्दीधारी महन्त का, उसके गुरु का, उसके सम्प्रदाय की मान्यताओं का* निदर्शन यत्र-तत्र किया गया मिलेगा । साथरी वाली स्थिति मे प्रथम गुरु और उसके किसी शिष्य का नाम-उल्लेख किया गया मिलेगा । 'देश' का नाम लिखने वाला उससे इतर प्रान्त का होगा ।

4 समय क्या था ? कौनसी 'जातरा' थी ? मन्दिर किसका था ? प्रधान उपदेशक कौन था, (उसका सम्प्रदाय और गुरु कौन था) अवसर क्या था ? निश्चित है कि यत्र-तत्र इनसे सम्बन्धित पंक्तियाँ (मूल पाठ को तोड मरोड कर) यदि भावुक हुआ तो भावावेश म लिपिक लिख देगा ।

5 किसके कहने/आदेश पर लिखी, उसकी पूर्वज-परम्परा और मान्यता का समावेश हो सकता है ।

6 इसम सचेष्ट विकृति के उदाहरण पदे-पदे मिलेंगे । तात्पर्य यह है कि मूल रचना को (यदि वह किसी भी प्रकार से अस्पष्ट, दुरूह और कठिन हो तो भी) सरल करके रखना होता है ।

7 इसमे भी उपर्युक्त (6) बात हो सकती हैं । अन्तर यह है कि इसम एक विशेष सुरुचि, सफाई और एकान्विति तथा एकरूपता का ध्यान रखा जाता है ।

8 यह मक्षिका स्थाने मक्षिका पात का उदाहरण है । इस प्रकार की प्रति अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय होगी ।

9 इसम भी (6 व 7) स्थिति आएगी ।

10 ऐसे लिपिकार भी तुलना की दृष्टि से अधिक विश्वसनीय हैं । उनका ध्येय रचना विशेष को आगे लाना ही प्राय पाया गया है ।

महत्त्वपूर्ण बात :

इस सम्बन्ध में अन्तिम एक बात और है । जहाँ लिपिकार स्वय कवि हो, स्वय के

पास प्रभूत रचना-सामग्री हो और सम्प्रदाय विशेष का हो, ऐसी स्थिति मे यदि वह ईमानदार है, तब तो ठीक है अन्यथा बडी भारी सतर्कता बरतनी पडेगी। यह पता लगाना बडा कठिन होगा कि कौनसा अंश किस रूप मे उसका स्वय का है, और कौनसा नही। यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है, जब हम इस बात को ध्यान मे रखते हैं कि मध्ययुग में पूरक-कृतित्व की भी सुदीर्घ परम्परा रही है। इससे भी अधिक क्षेपकों की। तब प्रश्न यह है—

(1) क्या सम्बन्धित समस्या पूरक-कृतित्व या क्षेपक के स्वरूप से उपस्थित हुई है?

(2) क्या यह ऐसे लिपिकार की स्वय की रचना है?

(3) क्या यत्र-तत्र से कुनबा जोड़ने का प्रयास है?

यदि प्रति एक ही मिली है तो और भी जटिलता बढ़ती है, क्योंकि तब पाठालोचन की दृष्टि से आँकने का साधन नही रहता।

डा माहेश्वरी के इस विवेचन से लिपिकार के एक ऐसे पक्ष पर प्रकाश पडता है, जिसे हमें पाठालोचन मे भी ध्यान मे रखना होगा।

लेखन

डेविड डिरिंजर ने लिखा है कि "प्राचीन मिस्रवासियों ने लेखन का जन्मदाता या तो थोथ (Thoth) को माना है, जिसने प्राय सभी सास्कृतिक तत्त्वो का आविष्कार किया था, या यह श्रेय आइसिस को दिया है, बेबीलोनवासी माईक पुत्र नेबो (Nebo) नामक देवता को लेखन का आविष्कारक मानते हैं। यह देवता मनुष्य के भाग्य का देवता भी है। एक प्राचीन यहूदी परम्परा में मूसा को लिपि (Script) का निर्माता माना गया है। यूनानी पुराणगाथा (मिथ) मे या तो हर्मीज नामक देवता को लेखन का श्रेय दिया गया है, या किसी अन्य देवता को। प्राचीन चीनी, भारतीय तथा अन्य कई जातियाँ भी लेखन का मूल दैवी ही मानते हैं। लेखन का अतिशय महत्त्व ज्ञानार्जन के लिए सदा ही मान्य रहा है, उधर लेखन का अपढ़ लोगो पर जादुई शक्ति के जैसा प्रभाव पडता है।"[1]

यह बताया जा चुका है कि लेखन का आरम्भ आदिम आनुष्ठानिक आचरण और टोने के परिवेश में हुआ। यही कारण है कि सभी भाषाएँ और उनकी लिपियाँ दैवी उत्पत्ति वाली मानी गई हैं और उनकी आरम्भिक रचनाएँ और ग्रन्थ भी दैवी कृति हैं। भारत के वेद अपौरुषेय हैं ही। प्राचीन मिस्र-वासियो ने अपनी प्राचीन भाषा को 'देवताओं की वाणी' या 'मद्वन्त्र' नाम दिया था। मद्वन्त्र (Mdw-ntr) संस्कृत मन्त्र का ही रूपान्तरण प्रतीत होता है। इस दृष्टि से यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि आज भी या आज से कुछ पूर्व भी लेखन-कार्य को धार्मिक महत्त्व दिया गया और लेखक को सब प्रकार की शुचिता से युक्त होकर ही लेखन मे प्रवृत्त होने की परम्परा बनी। लेखन-मात्र को इतना पवित्र माना गया कि लिप्यासन—कागज, पत्र आदि भी पवित्र मान लिये गए। भारत मे कैसा ही कागज क्यो न हो अब से 20–25 वर्ष पूर्व अत्यन्त पावन माना जाता था। कागज का टुकड़ा भी यदि पैर से छू जाता था तो उसे धार्मिक अवमानना मान

1. Diringer, David—The Alphabet, p 17.

कर सिर से लगाते थे और मन से क्षमा-याचना करते थे। जैनियों में 'आशातना' की भावना लेखन की इसी शुचिता के सिद्धान्त पर खड़ी हुई है। पुस्तक पर थूक आदि अपवित्र वस्तु न लगे, पैर की ठोकर न लगे, इन बातों का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक माना गया। यह विधान भौतिक दृष्टि से तो पुस्तक की रक्षा के लिए ही था, जिसे धार्मिक परिवेश में रखा गया। वस्तुतः समस्त 'लेखन' व्यापार के साथ मूल आनुष्ठानिक टोने का परिवेश-भाव भी जुड़ा हुआ है तभी उसके प्रति धार्मिक पावनता का व्यवहार विद्यमान है और धर्म में उसे स्थान मिल सका है।

सम्भवतः इसीलिए बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थों के अन्त में निम्नलिखित संस्कृत श्लोकों में से एक लिखा हुआ मिलता है :

'जलाद् रक्षेत स्थलाद् रक्षेत्, रक्षेद् शिथिल बन्धनात्,
मूर्ख हस्ते न दातव्या, एवं वदति पुस्तिका।"
"अग्ने रक्षेद् जलाद् रक्षेत्, मूषकेभ्यो विशेषतः।
कष्टेन लिखित शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत्"
"उदकानिल चौरेभ्यो, मूषकेभ्यो हुताशनात्
कष्टेन लिखित शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत्"

इन श्लोकों में हस्तलेखों को नष्ट करने वाली वस्तुओं के प्रति सावधान रहने का संकेत है।

जल से ग्रन्थ की रक्षा करनी चाहिये। जल कागज-पत्र को गला देता है, स्याही को फैला देता है या धो देता है और ग्रन्थ को धब्बेदार बना देता है, जल से धातु पर मोर्चा लग जाता है। स्थल से भी रक्षा करनी होती है। कागज पत्र पर धूल पड़ जाती है तो वह जीर्ण होने लगता है, तड़कने लगता है। स्थल में से दीमक आदि निकल कर ग्रन्थ को चट कर जाते हैं, धूल और लू दोनों ही ग्रन्थ को हानि पहुँचाते हैं। अग्नि से ग्रन्थ की रक्षा की जानी चाहिये, इसमें दो मत नहीं हो सकते। चूहों से ग्रन्थ की रक्षा का विशेष प्रयत्न होना चाहिये। ग्रन्थ की रक्षा चोरों से भी करनी चाहिये। ग्रन्थों की चोरी पहले होती थी, और आज भी होती है। हस्तलिखित ग्रन्थ आज अत्यन्त मूल्यवान सामग्री मानी जाती है, अतः हस्तलिखित ग्रन्थ की चोरी आज उससे बड़ी धन राशि पाने की आशा से की जाती है। इन हस्तलेखों का बाजार आज विदेशों में भी बन गया है, अतः चोरी का भय विशेष बढ़ गया है।

श्लोक में इस बात की ओर ध्यान दिलाया गया है कि शास्त्र ग्रन्थ कष्टपूर्वक लिखा जाता है, अतः यत्नपूर्वक इनकी रक्षा की जानी चाहिये।

अन्य परम्पराएँ

भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों में लेखकों द्वारा कुछ परम्पराओं का अनुसरण किया है—जो इस प्रकार हैं :

सामान्य 1. लेखन-दिशा,
2. पंक्ति बद्धता, लिपि की माप,
3. मिश्रित शब्दावली,

4, विराम चिह्न,
5 पृष्ठ सख्या,
6 सशोधन,
7 छूटे श्रश,
8 सकेताक्षर,
9 श्रक-मुहर (Seal) ये पाडुलिपियो मे नही लगाई जाती थीं, प्रामाणिक वनाने के लिए दानपत्रो श्रादि श्रौर वैसे ही शिलालेखो मे लगाई जाती थी ।
10 लेखन द्वारा श्रक प्रयोग (शब्द मे भी)

विशेष

विशिष्ट परम्पराश्रो का सम्वन्ध लेखको मे प्रचलित धारणाश्रो या मान्यताश्रों से विदित होता है ये निम्न प्रकार की मानी जा सकती हैं .

1 मगल प्रतीक या मगलाचरण
2 श्रलकरण (Illumination)
3 नमोकार (Invocation)
4 स्वस्तिमुख (Initiation)
5 श्राशीर्वचन (Benediction)
6 प्रशस्ति (Laudation)
7 पुष्पिका, उपसहार (Colophone, Conclusion)
8 वर्जना (Imprecation)
9 लिपिकार प्रतिज्ञा
10 लेखनसमाप्ति शुभ

शुभाशुभ

कुछ बातें लेखन मे शुभ कुछ श्रशुभ मानी गई हैं, ये भी परम्परा से प्राप्त हुई हैं : यथा

1 शुभाशुभ श्राकार
2 शुभाशुभ लेखनी
3, लेखन का गुण-दोष
4 लेखन विराम मे शुभाशुभ

इनमे से प्रत्येक पर कुछ विचार श्रावश्यक है—

सामान्य परम्पराएँ—ये वे हैं जो लेखन के सामान्य गुणा से सम्वन्धित हैं । यथा :

(1) लेखन-दिशा—लेखन की दिशाएँ कई हो सकती हैं । 1—ऊपर से नीचे की श्रोर,[1] 2—दाहिनी से बाई श्रोर[2] 3—वायी मे दाहिनी श्रोर,[3] 4—वायी मे दाहिनी श्रोर पुन

1 चीनी लिपि ।
2 खरोष्ठी लिपि, फारसी लिपि ।
3 नागरी (ब्राह्मी) ।

कर सिर से लगाते थे और मन से क्षमा-याचना करते थे। जैनियों मे 'आशातना' की भावना लेखन की इसी शुचिता के सिद्धान्त पर खडी हुई है। पुस्तक पर थूक आदि अपवित्र वस्तु न लगे, पैर की ठोकर न लगे, इन बातो का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक माना गया। यह विधान भौतिक दृष्टि से तो पुस्तक की रक्षा के लिए ही था, जिसे धार्मिक परिवेश मे रखा गया। वस्तुत समस्त 'लेखन' व्यापार के साथ मूल आनुष्ठानिक टोने का परिवेश-भाव भी जुडा हुआ है तभी उसके प्रति धार्मिक पावनता का व्यवहार विद्यमान है और धर्म मे उसे स्थान मिल सका है।

सम्भवत इसीलिए बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थो के अन्त में निम्नलिखित सस्कृत श्लोकों मे से एक लिखा हुआ मिलता है

'जलाद् रक्षेत स्थलाद् रक्षेत्, रक्षेत् शिथिल बन्धनात्,
मूर्ख हस्ते न दातव्या, एव वदति पुस्तिका।"
"अग्ने रक्षेद् जलाद् रक्षेत्, मूषकेभ्यो विशेषत ।
कष्टेन लिखित शास्त्र, यत्नेन परिपालयेत्"
"उदकानिल चौरेभ्यो, मूषकेभ्यो हुताशनात्
कष्टेन लिखित शास्त्र, यत्नेन परिपालयेत्"

इन श्लोको मे हस्तलेखो को नष्ट करने वाली वस्तुओ के प्रति सावधान रहने का सकेत है।

जल मे ग्रन्थ की रक्षा करनी चाहिये। जल कागज-पत्र को गला देता है, स्याही को फैला देता है या धो देता है और ग्रन्थ को धब्बेदार बना देता है, जल से धातु पर मोर्चा लग जाता है। स्थल से भी रक्षा करनी होती है। कागज पत्र पर धूल पड जाती है तो वह जीर्ण होने लगता है, तडकने लगता है। स्थल म मे दीमक आदि निकल कर ग्रन्थ को चट कर जाते हैं, धूल और लू दोनो ही ग्रन्थ को हानि पहुँचाते हैं। अग्नि से ग्रन्थ की रक्षा की जानी चाहिये, इसमे दो मत नहीं हो सकते। चूहों से ग्रन्थ की रक्षा का विशेष प्रयत्न होना चाहिये। ग्रन्थ की रक्षा चोरो से भी करनी चाहिये। ग्रन्थो की चोरी पहले होती थी, और आज भी होती है। हस्तलिखित ग्रन्थ आज अत्यन्त मूल्यवान सामग्री मानी जाती है, अत हस्तलिखित ग्रन्थ की चोरी आज उससे बडी धन राशि पाने की आशा से की जाती है। इन हस्तलेखो का बाजार आज विदेशो मे भी बन गया है, अत चोरी का भय विशेष बढ़ गया है।

श्लोक में इस बात की ओर ध्यान दिलाया गया है कि शास्त्र ग्रन्थ कष्टपूर्वक लिखा जाता है, अत यत्नपूर्वक इनकी रक्षा की जानी चाहिये।

अन्य परम्पराएँ

भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों मे लेखकों द्वारा कुछ परम्पराओ का अनुसरण किया है- जो इस प्रकार हैं

सामान्य 1. लेखन-दिशा,
2 पक्ति बद्धता, लिपि की माप,
3. मिलित शब्दावली,

4, विराम चिह्न,
5 पृष्ठ सख्या,
6. सशोधन,
7 छूटे ग्रश,
8. सकेताक्षर,
9 ग्रक-मुहर (Seal) ये पाडुलिपियो मे नही लगाई जाती थी, प्रामाणिक बनाने के लिए दानपत्रो ग्रादि ग्रौर वैसे ही शिला-लेखो मे लगाई जाती थी।
10 लेखन द्वारा ग्रक प्रयोग (शब्द मे भी)

विशेष

विशिष्ट परम्पराग्रो का सम्बन्ध लेखको मे प्रचलित धारणाग्रो या मान्यताग्रों से विदित होता है ये निम्न प्रकार की मानी जा सकती हैं :

1 मगल-प्रतीक या मगलाचरण
2 ग्रलकरण (Illumination)
3 नमोकार (Invocation)
4 स्वस्तिमुख (Initiation)
5 ग्राशीर्वचन (Benediction)
6 प्रशस्ति (Laudation)
7. पुष्पिका, उपसहार (Colophone, Conclusion)
8 वर्जना (Imprecation)
9 लिपिकार प्रतिज्ञा
10 लेखनसमाप्ति शुभ

शुभाशुभ

कुछ बातें लेखन मे शुभ कुछ ग्रशुभ मानी गई हैं, ये भी परम्परा से प्राप्त हुई हैं : यथा

1 शुभाशुभ ग्राकार
2 शुभाशुभ लेखनी
3, लेखन का गुण-दोष
4 लेखन-विराम मे शुभाशुभ

इनमे से प्रत्येक पर कुछ विचार ग्रावश्यक है—

सामान्य परम्पराएँ—ये वे हैं जो लेखन के सामान्य गुणा से सम्बन्धित हैं। यथा :

(1) लेखन-दिशा-लेखन की दिशाएँ कई हो सकती हैं। 1–ऊपर से नीचे की ग्रोर,[1] 2–दाहिनी मे बाई ग्रार[2] 3–बायी से दाहिनी ग्रोर,[3] 4–बायीं से दाहिनी ग्रोर ...

1. चीनी लिपि।
2 खरोष्ठी लिपि, फारसी लिपि।
3 नागरी (ब्राह्मी)।

दाहिनी से बायी ओर।[1] 5–नीचे से ऊपर की ओर। भारतीय लिपियो मे ब्राह्मी और उससे जनित लिपियाँ बायी ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती हैं, हिन्दी भी इसी परम्परा में देवनागरी या नागरी रूप मे बायें से दायें लिखी जाती है। खरोष्ठी दायें से बायें लिखी जाती है, जैसे कि फारसी लिपि, जिसमे उर्दू लिखी जाती है।

साथ ही लेखन मे वाक्य पंक्तियाँ ऊपर से नीचे की ओर चलती हैं। यही बात ब्राह्मी, नागरी आदि लिपियो पर लागू होती है, खरोष्ठी, फारसी आदि पर भी। पर स्वात के एक लेख मे खरोष्ठी नीचे से ऊपर की ओर लिखी गई मिलती है।

(2) पंक्ति बद्धता—लिपि के अक्षरो की माप पहले भारतीय लिपियो मे अक्षरो पर शिरो-रेखाएँ नहीं होती थी। फिर भी, वे लेख पंक्ति मे बाँध कर अवश्य लिखे जाते थे। यह बात मौर्य-कालीन शिलालेखो मे भी प्रकट होती है। सभी अक्षर बाए से दाए सीधी पडी रेखाओ मे लिखे गये हैं, मात्राएँ मूलाक्षरो से ऊपर लगाई गई हैं। कुछ व्यतिक्रम अवश्य हैं, पर वे प्रवृत्ति को तो स्पष्ट करते ही हैं। आगे तो रेखाओ के चिह्न बनाकर या अन्य विधि से सीधी पंक्ति मे लिखने के सुन्दर प्रयास मिलते है। रेखापाटी या कबिका (रूल या पटरी) का उपयोग इसी निमित्त ग्रन्थो मे किया जाता था। लिपि के अक्षरो की माप भी एक लेख मे बँधी हुई मिलती है, क्योकि प्राय प्रत्येक अक्षर लम्बाई चौडाई में समान मिलता है।

(3) मिलित शब्दावली — आज हम जिस प्रकार शब्द-प्रतिशब्द बद्ध लेखन करते हैं, जिसमे एक शब्द अपने शब्द रूप मे दूसरे से अलग बीच मे कुछ अवकाश दे कर लिखा जाता है, उस प्रकार प्राचीन काल मे नही होता था, सभी शब्द एक दूसरे से मिला कर लिखे जाते थे। हम जानते हैं कि यूनानी प्राचीन पाडुलिपियो मे भी मिलित शब्दावली का उपयोग हुआ है।[2] यही हमे विदित होता है कि 11वी शताब्दी के आसपास ही अमिलित अलग अलग सही शब्दो मे लिखने की प्रणाली यथार्थत प्रचलित हुई।

भारत मे शिलालेखो और ग्रन्थो मे ही यह मिलित शब्दावली मिलती है। इसे भी हम परम्परा का ही परिणाम मान सकते हैं। डॉ० राजबली पाडेय ने बताया है कि भारत मे पृथक् पृथक् शब्दो मे लेखन की ओर ध्यान इसलिए नही गया क्योकि यहाँ भाषा का व्याकरण ऐसा पूर्ण था कि शब्दो को पहचानने और उनके वाक्यान्तर्गत सम्बन्धो मे भ्रम नही रह सकता था। किन्तु क्या 11वी शताब्दी तथा यूनानी ग्रन्थो मे मिलित शब्दावली का भी यही कारण हो सकता है ? हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थो मे भी मिलित शब्दावली की परम्परा मिलती है।

(4) विराम चिह्न — मिलित शब्दावली की परम्परा मे विराम चिह्नो (Punctuation) पर भी ध्यान नहीं जाता। प्राचीन कोडेक्स ग्रन्थो की यूनानी पाडुलिपियो मे सातवी–आठवी शताब्दी ई० मे विराम चिह्नो का उपयोग होने लगा था। भारत मे पाँचवी शताब्दी ई० पू० से ईसवी सन् तक केवल एक विराम चिह्न उद्भावित हुआ था। दड, एक आडी लकीर। इसे कभी-कभी कुछ वक्र [⊃] करके भी लिख दिया

1 भारत मे कहीं-कहीं ही ब्राह्मी लेखो में प्रयोगात्मक।

2 The text of Greek MSS was, with occasional exceptions, written continuously without seperation of words even when the words were written seperately, the dimensions were often incorrectly made "

—The Encyclopaedia Americana'(Vol 21), p. 166

जाता था। मदसौर प्रशस्ति, (473–74 ई०) मे विराम चिह्न का नियमित उपयोग हुआ। इसमे पद्य की अर्द्धाली के बाद एक दड (।) और चरण समाप्ति पर दो दड (॥) रखे गये हैं। आगे इनका प्रयोग और सख्या भी बढी। भारत मे मिलने वाले विराम चिह्न ये हैं

।, ॥, T (यह उत्तर मे नही मिलता). [illegible]

इन चिह्नो के साथ अक तथा मगल चिह्न भी विराम चिह्न की भाँति प्रयोग मे लाये जाते रहे हैं।

(5) पृष्ठ सख्या—हस्तलिखित ग्रन्थ में यह परम्परा प्राप्त होती है कि पृष्ठ के अक या सख्या नही दी जाती, केवल पत्रे के अक दिये जाते हैं। ताम्र पत्रो पर भी ऐसे ही अक दिये जाते थे। यह सख्या पत्रे (पत्र) की पीठ वाले पृष्ठ पर डाली जाती थी, इसलिए उसे साक पृष्ठ कहा जाता था, यो कुछ ऐसी पुस्तकें भी हैं जिनमे पन्ने के पहले पृष्ठ पर ही अक डाल दिये गए हैं।

किन्तु प्रश्न यह है कि यह पृष्ठ सख्या किस रूप मे डाली जाती थी ? इस सम्बन्ध में मुनिजी ने बताया है[4] कि 'ताडपत्रीय जैन पुस्तको मे दाहिनी ओर ऊपर हाशिये मे अक्षरात्मक अक और बायी ओर अकात्मक अक दिये जाते थे। जैन छेद आगमो और उनकी चूर्णियो मे पाठ, प्रायश्चित, भग, आदि का निर्देश अक्षरात्मक अकों मे करने की परिपाटी थी। 'जिन कला सूत्र' के आचार्य श्री जिन भद्रिमणि क्षमा श्रमण कृत भाष्य मे मूलसूत्र का गाथाक अक्षरात्मक अकों मे दिया गया है।"

मुनि पुण्य विजय जी ने अक्षराको के लिए जो सूची[5] दी है वह पृष्ठ 36 पर है। पृष्ठ 37 पर ओझाजी की सूची है।

इन अको को दान-पत्रो और शिलालेखो मे और पाडुलिपियो मे किस प्रकार लिखा जाता था, यह ओझा जी ने बताया है, जो यो है "प्राचीन शिला-लेखो और दान-पत्रो मे सब अक एक पक्ति म लिखे जाते थे परन्तु हस्तलिखित पुस्तको के पत्राको मे चीनी अक्षरो की नाई एक दूसरे के नीचे लिखे मिलते हैं। ई० स० की छठी शताब्दी के आस-पास मि० बावर के प्राप्त किये हुए ग्रन्थो मे भी पत्राक इसी तरह एक-दूसरे के नीचे लिखे मिलते हैं। पिछली पुस्तको म एक ही पन्ने पर प्राचीन और नवीन दोनो शैलियो से भी अक लिखे मिलते हैं। पन्ने के दूसरी तरफ के दाहिनी ओर के ऊपर की तरफ के हाशिये पर तो अक्षर सकेत से, जिनको अक्षर-पल्ली कहते थे, और दाहिनी तरफ के नीचे के हाशिये पर नवीन शैली के अको से, जिनको अक-पल्ली कहते थे।"[6]

1 ई० पू० दूसरी शताब्दी से ई० सातवी तक यह '`' चिह्न (दण्ड) के स्थान पर प्रयुक्त होना रहा है।
2 ईसवी सन् की प्रथम से आठवीं शताब्दी तक दो दण्डों के स्थान पर।
3 कुषाण-काल म और बाद में ⌢ के स्थान पर।
4 मुनि श्री पुण्य विजयजी —भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ० 62।
5 वही पृ० ६३।
6 भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ० 108।

महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी की सूची भी 'भारतीय प्राचीन लिपि माला' से यहाँ दी जाती है—[1]

१-ए. ख और ॐ
२-द्वि. स्ति और न
३-त्रि. श्री और म
४-ङ्क, र्क्क, ङ्का, राक, र्ग्क, प्क. र्प्क, प्क, (प्के). र्क्क. र्क्क. र्फ्क और पु
५-तृ, र्तृ, र्त्रा, तृ, ह और नृ
६-फ्र, र्फ्र, र्फु, घ्र, भ्र, पुं, व्या और फ्ल
७=ग्र, ग्रा, र्ग्रा, र्ग्भ्री, र्ग्गा, और भ्र
८=ह्र, र्ह्र, र्ह्रा, और द्र
९=ओं, र्उं, उं, उं, ॐ, अ और र्नुं
१०=लृ, र्लृ, ळ, राट, ळा, अ और र्प्ता
२०=थ, था, र्थ, र्था, घ, र्घ, प्व और प
३०=ल, ला, र्ल और र्ला
४०=स, र्प्त, प्ता, र्प्ता और प्त
५०=ε, ϛ, ϐ, ε, ο और ण
६०=चु, वु, घु, थु, र्थु, थ, र्थ, र्घु, र्घु और घु
७०=चु, चू, थू, र्थू, र्घू और र्म्त
८०=ϱ, ω, ο, ο, ο और पु
९०=ϐ, ε, ϗ, ϗ और ∞
१००=सु, सू, लु और अ
२००=सु, सू, र्सू, आ, लू और र्घू
३००=स्ता, स्ना, स्रुा, सा, सु, सुं और सू
४००=सू, स्तो, और स्ता

1. भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ० 107।

नेपाल, गुजरात, राजपूताना आदि मे यह अक्षर-क्रम ई० स० की 16वी शताब्दी तक कही-कही मिल जाता है। जैसे कि,

३३= ल्त्र, १००=सु, १०२=सु, १३१=सु, १५०=सु, २०६=सु,

आदि।

(6) **संशोधन** —सशोधन का एक पक्ष तो उन प्रमादो से सावधान करता हे जो लिपिकार से हो जाते है, और जिनके कारण पाठ भेद की समस्या खडी हो जाती है। यह पाठालोचन के क्षेत्र की बात है और यही इसकी विस्तृत चर्चा की गयी है।

दूसरा पक्ष है हस्तलिखित ग्रन्थो मे लेखन की त्रुटि का सशोधन जो स्वय लिपिकार ने किया हो। मुनि पुण्य विजय जी ने ऐसी 16 प्रकार की त्रुटियाँ बतायी हैं, और इन्हे ठीक करने या इनका सशोधन करने के लिए लिपिकारो द्वारा एक चिह्न-प्रणाली अपनायी जाती है, उसका विवरण भी उन्होने दिया है।

ऐसी त्रुटियो के सोलह प्रकार और उनके चिह्न नीचे दिये जाते हैं.

त्रुटिनाम 1	चिह्ननाम 2	चिह्न 3
1. पतित पाठ (कही किसी अक्षर या शब्द का छूट जाना 'पतित पाठ' है]	पतित पाठ दर्शक चिह्न को 'हस पभ' या 'मोर पग' कहा गया है। हिन्दी मे 'काक पद' कहते हैं।	^, V, V, X, X
2. पतित पाठ विभाग	पतित पाठ विभाग दर्शक चिह्न	X
3. 'काना' [मात्रा की भूल]	काना दर्शक चिह्न	'रेफ' के समान होने से भ्रान्ति के कारण यह भी पाठ-भ्रान्ति मे सहायक होता ही है।
4. अन्याक्षर [किन्ही प्राय समान सी ध्वनि वाले अक्षरो मे से अनुपयुक्त अक्षर लिख दिया गया।]	अन्याक्षर वाचन दर्शक चिह्न	W जिस अक्षर पर यह चिह्न लगा होगा, उसका शुद्ध अक्षर उस स्थान पर मानना होगा। यथा W सत्रु। यहाँ स पर यह चिह्न है W अत. इसे 'श' पढ़ना होगा, खत्रिय पढा जायगा 'क्षत्रिय'।
5. उलटी-सुलटी लिखाई	पाठपरावृत्ति दर्शक चिह्न	२, १ लिखना था 'वनचर' लिख गये

1	2	3
		'वचनर' तो इसे ठीक करने के लिये व च[2] न[1] र लिखा जायगा। च[2] न[1] का अर्थ होगा कि 'न' पहले 'च' दूजे पढा जायगा। अधिक उलट सुलट हो तो क्रम से ३, ४ और अन्य अंकों का प्रयोग भी हो सकता है।
6 स्वर-संधि की भूल	स्वर सध्यशदर्शक चिह्न	अ= S, आ= ऽ, SS, इ= C'e ∽ ∽ ई = ई' ऽ, उ= 6'ऽ. ऊ= ऊ, ऋ= ऋ ए= ए, ऐ= ऐ ओ= ओ, औ= अ अ अं= 6
7 पाठ भेद*	पाठ भेद दर्शक चिह्न	प्र० पा०, प्रत्य० पाठा०, प्रत्यन्तरें पाठांतरम्
8. पाठ भेद	पाठानुसंधान दर्शक चिह्न	उ॰ गं॰, उ३. पं नु नुं॰ नी॰ पं॰ नी
9 मिलित पदो में भ्रान्ति	पदच्छेद दर्शक चिह्न या वाक्यार्थ समाप्ति दर्शक चिह्न या पाद विभाग दर्शक चिह्न	'ı' यह मिलित पदो के ऊपर लगाया जाता है।
10 विभाग भ्रांति*	विभाग दर्शक चिह्न	। । —
11 पदच्छेद भ्रांति*	एकपद दर्शक चिह्न	— 'ıı' — ऐसे दो चिह्नों के बीच में प्रस्तुत पद में पदच्छेद निषेध सूचित होता है।
12 विभक्ति वचन* भ्रांति	विभक्ति वचन दर्शक चिह्न	11, 12, 13, 23, 32, 41, 53, 62, 73, 82

1	2	3
	ये चिह्न विभक्ति और वचन मे भ्रांति न हो इसलिए लगाये जाते हैं।	ये जोडे से अक आते है, जिनमे से पहला अक विभक्ति-द्योतक (1=प्रथमा 6 षष्ठी आदि) तथा दूसरा वचन-द्योतक होता है। (1=एक वचन, 2=द्विवचन, 3=बहुवचन) जैसे 11 का अर्थ है प्रथमा एक वचन।
13. पदो के अन्वय मे भ्राति*	अन्वयदर्शक चिह्न	शिरोभाग पर अन्वय क्रम द्योतक अक–यथा न(3) ततोऽर्थान्तर(1) स्वसवेदन(4) प्रत्यक्षम्(2) यहाँ 1 सख्या वाला पद पहले; 2 का उसके बाद, 3 उसके बाद तथा उसके बाद 4 अक वाला–इस क्रम से अन्वय होता है। ठीक अन्वय हुआ ततोऽर्थान्तर प्रत्यक्ष न स्वसवेदनम्।
14 विशेषण-भ्रम विशेष्य-भ्रम*	विशेषण विशेष्य सम्बन्ध दर्शक चिह्न	U, ℒ कभी-कभी वाक्यो मे, प्राय लम्बे वाक्यो मे विशेषण कही और विशेष्य कही पड जाता है तब शिरोपरि लगाये गये उक्त चिह्नो से विशेषण-विशेष्य बताये जाते हैं, इससे भ्राति नही हो पाती।

कुछ अन्य सुविधाओ के लिए कुछ अन्य चिह्न भी मिलते हैं जिनसे 'टिप्पणी' का पता चलता है, अथवा किसी शब्द का किसी दूसरे पद से विशिष्ट सम्बन्ध विदित हो जाता है।

ऊपर के विवरण से यह भी स्पष्ट होगा कि ये चिह्न दो अभिप्राय सिद्ध करते है: एक तो इनसे लिपिकार की त्रुटियो का सशोधन हो जाता है, तथा दूसरे, पाठक को पाठ ग्रहण करने मे सुविधा हो जाती है। हमने जिन पर पुष्प (*) लगाए हैं, वे त्रुटि मार्जन के लिए नहीं, पाठक की सुविधा के लिए हैं।

(7) छूटे अंश की पूर्ति के चिह्न

भूल से कभी कोई शब्द, शब्दाश, या वाक्याश लिखने से छूट जाते है तो उसकी पूर्ति के कई उपाय शिलालेखो या पाडुलिपियो में किये गये मिलते हैं।

पहले जैसा अशोक के शिलालेखो मे मिलता है, जहाँ छूट हुई वहाँ उस वाक्य के ऊपर या नीचे छूटा हुआ अश लिख दिया जाता था। कोई चिह्न विशेष नही रहता था।

फिर ऊपर सशोधक चिह्नो मे 'पतित पाठ दर्शक चिह्न' बताया गया हैं। इसे हस-पग, मोर पग या काक पद कहते हैं। इसे छूट के स्थान पर लगा कर छूटा पद पक्ति के ऊपर या हाशिये मे लिख दिया जाता है। पतित पाठ का अर्थ ही छूटा हुआ पद है। काक पद V ∧ $\overset{\vee}{\wedge}$ ∠ ये भी है और × + ये भी हैं।

किन्तु कभी-कभी इस कट्टम (× +) के स्थान पर स्वस्तिव 卐 का प्रयोग भी मिलता है। यह भी छूट का द्योतक है और काक पद का ही काम करता है।

कुछ अन्य चिह्न

卐 स्वस्तिक का उपयोग कही कही एक और वात के लिए भी होता आया है जहाँ कही प्रतिलिपिकार को अर्थ अस्पष्ट रहता है, वह समझ नही पाता है तो वह वहाँ यह स्वस्तिक लगा देता है या फिर 'कुडल' (○) लगा देता है। कुडल से वह उस अश को घेर देता है, जो उसे अस्पष्ट लगा या समझ मे नही आया।

(8) सकेताक्षर या 'सक्षिप्ति चिह्न'[1] (Abbreviations)

भारत म शिलालेखा तथा पाडुलिपियो मे सक्षिप्तीकरण पूर्वक सकेताक्षरो की परिपाटी आन्ध्रा और कुषाणो के समय से विशेष परिलक्षित होती है। विद्वानो ने ऐसे सकेताक्षरो की सूची अपने ग्रन्थो मे दी है। वह यो है

1. सम्वत्सर के लिए सम्व, सव, स या स०
2. ग्रीष्म[2] – ग्रो० (गृ०) गै० गि० या गिगृहन
3. हेमन्त – हे०
4. दिवस – दि०
5. शुक्ल पक्ष दिन—सु० सुदि० या सुति०। शुक्ल पक्ष को शुद्ध भी कहा जाता है।
6. बहुल पक्ष दिन—ब०, ब०दि०, या बति०
7. द्वितीय – द्वि०
8. सिद्धम् – ग्रो० श्री० सि०
9. राउत – रा०
10. दूतक—दू० (सदेश वाहक या प्रतिनिधि)
11. गाथा – गा०
12. श्लोक – श्लो०
13. पाद – पा०
14. ठक्कुर – ठ०

1 यह पर्याय प्रो० वासुदेव उपाध्याय द्वारा दिया गया है, प्राचीन भारतीय अभिलेखा का अध्ययन, पृ० 206।

2. उपाध्याय जी न ग्रुष्म रूप दिया है। वही, पृ० 260।

15. एद० ।। या एदं० ।। —'ओकार' का चिह्न
कुछ लोगो का विचार रहा है कि यह चिह्न स० 980 है। जैन-शास्त्र-लेखन इसी सवत् से आरम्भ हुआ पर मुनि पुण्यविजय जी इसे 'ओ०' का चिह्न मानते है।

16. ॥ ठ ॥ ये चिह्न कभी-कभी ग्रन्थ की समाप्ति पर लगे मिलते हैं।
॥ ठ ॥ ये 'पूर्ण कुम्भ' के द्योतक चिह्न हैं। जो 'मगल वस्तु' है।

17 -ε̃3-के०,ॐ

किन्ही-किन्ही पुस्तको के अन्त मे ये चिह्न मिलते है। मुनि पुण्यविजयजी का विचार है कि पाडुलिपियो मे अध्ययन, उद्देश्य, श्रुतस्कध, सर्ग, उच्छ्वास, परिच्छेद, लभक, काड आदि की समाप्ति को एकदम ध्यान मे बैठाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की चित्राकृतियाँ बनाने की परिपाटी थी, ये चिह्न भी उसी निमित्त लिखे गये हैं।

(10) लेखक द्वारा अक लेखन

ऊपर हम अक्षरो से अक लेखन की बात बता चुके हैं, पर ग्रन्थो मे तो शब्दों से अक द्योतन की परिपाटी बहुत लोकप्रिय विदित होती है। पाडुलिपियो की पुष्पिकाओ मे जहाँ रचना काल आदि दिया गया है वहाँ कितने ही रचयिताओ ने शब्दो से अक का काम लिया है।[1]

सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श, हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओ के ग्रन्थो मे शब्दो से अक सूचित करने की परिपुष्ट प्रणाली मिलती है। भा० जैन श्रम० स० तथा भा० प्रा० लि० मा० मे 'अको' के लिये उपयोग मे आने वाले शब्दो की सूची दी गई है। ओझा जी का यह प्रयत्न प्राचीनतम है, भा० जैन श्र० स० बाद की कृति है। दोनो के आधार पर यह सूची यहाँ प्रस्तुत की जाती है। यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि पहले इकाई की सख्या वाचक फिर दहाई एव सैंकड़े व हजार की सख्या के बोधक शब्दो का प्रयोग होता है जैसे-कि पाद टिप्पणी का भाग (अ) सवत् 1623 को बता रहा है।

1. कुछ ग्रन्थों में से उदाहरण इस प्रकार है

3 2 6 1
(अ) गुणनयनरसेन्दु मिते वर्षे सार प्रकरणवि चूरि.

7 8 4 1
(ब) मुनि वसु सागर सितकर मित वर्षे सम्यक्त्व कौमुदी।

1 1 8 1
(स) संवत ससिकृतवसु ससी आस्वनि मिति तिथि नाग,
दिन मगल मगल करन हरन सकल दुख दाग।

4 1 8 1
(द) वेद इदु गज भू गनित सवत्सर कविवार,
श्रावन शुक्ल त्रयोदशी रच्यौ ग्रन्थ सुविचारि।

6 7 7 1
(य) रस सागर रवितुरग विधु सवत मधुर बसत,
विकस्यो 'रसिक रसाल' लखि हुलसत सुहृद ब सन्त'।

0– शून्य, ख, गगन, आकाश, अम्बर, अभ्र, वियत्, व्योम, अन्तरिक्ष, नभ, पूर्ण, रन्ध्र आदि। + बिन्दु, छिद्र।

1– आदि, शशि, इन्दु, विधु, चन्द्र, शीतांशु, शीतरश्मि, सोम, शशांक, सुधांशु, अब्ज, भू, भूमि, क्षिति, धरा, उर्वरा, गो, वसुंधरा, पृथ्वी, क्षमा, धरणी, वसुधा, इला, कु, मही, रूप, पितामह, नायक, तनु, आदि। + कलि, सितरुच, निशेश, निशाकर, औषधीश, क्षपाकर, दाक्षायणी-प्राणेश, जैवातृक।

2– यम, यमल, अश्विन, नासत्य, दस्र, लोचन, नेत्र, अक्षि, दृष्टि, चक्षु, नयन, ईक्षण, पक्ष, बाहु, कर, कर्ण, कुच, ओष्ठ, गुल्फ, जानु जंघा, द्वय, द्वन्द्व, युगल, युग्म, अयन, कुटुम्ब, रविचन्द्रौ, आदि। + श्रुति, श्रोत्र।

3– राम, गुण, त्रिगुण, लोक, त्रिजगत्, भुवन, काल, त्रिकाल, त्रिगत, त्रिनेत्र, सहोदरा, अग्नि, वह्नि, पावक, वैश्वानर, दहन, तपन, हुताशन, ज्वलन, शिखिन, कृशानु, होतृ आदि। + त्रिपदी, अनल, तत्व, त्रैत, शक्ति, पुष्कर, संध्या, ब्रह्म, वर्ण, स्वर, पुरुष, अर्थ, गुप्ति।

4– वेद, श्रुति, समुद्र, सागर, अब्धि, जलधि, उदधि, जलनिधि, अम्बुधि, केन्द्र, वर्ण, आश्रम युग, तुर्य, कृत, अय, आय, दिश, दिशा, बन्धु, कोष्ठ, वर्ण आदि। + वार्द्धि, नीरधि, नीरनिधि, वारिधि, वारिनिधि, अंबुनिधि, अंभोधि, अर्णव, ध्यान, गति, संज्ञा, कषाय।

5– बाण, शर, सायक, इषु, भूत, पर्व, प्राण, पाण्डव, अर्थ, विषय, महाभूत, तत्त्व, इन्द्रिय, रत्न आदि। + अक्ष, वर्ष्म, व्रत, समिति, कामगुण, शरीर, अनुत्तर, महाव्रत, शिवमुख।

6– रस, अंग, काम, ऋतु, मासार्थ, दर्शन, राग, अरि, शास्त्र, तर्क कारक, आदि। + समास, लेश्या, क्षमाखंड, गुण, गुहक, गुहवक्त्र।

7– नग, अग, भूभृत, पर्वत, शैल, अद्रि, गिरि, ऋषि, मुनि, अत्रि, वार, स्वर, धातु, अश्व, तुरग, वाजि, छन्द, धी, कलत्र आदि। + हय, भय, सागर, जलधि, लोक।

8– वसु, अहि, नाग, गज, दति, दिग्गज, हस्तिन्, मातंग, कुंजर, द्वीप, सर्प, तक्ष, सिद्धि, भूति, अनुष्टुभ, मंगल, आदि। + नागेन्द्र, करि, मद, प्रभावक, कर्मन, धी गुण बुद्धि गुण, सिद्ध गुण।

9– अंक, नन्द, निधि, ग्रह, रन्ध्र, छिद्र, द्वार, गो, पवन आदि। + खग, हरि, नारद रत्न, तत्त्व, ब्रह्म गुप्ति, ब्रह्मवृति, ग्रैवेयक।

10– दिश, दिशा, आशा, अंगुलि, पंक्ति, ककुभ, रावणशिर, अवतार, कर्मन आदि। + यतिधर्म, श्रमणधर्म, प्राण।

11– रुद्र, ईश्वर, हर, ईश, भव, भर्ग, शूलिन, महादेव, अक्षौहिणी आदि। + शूलिन्।

12– रवि, सूर्य, अर्क, मार्तण्ड, द्युमणि, भानु, आदित्य, दिवाकर, मास, राशि, व्यय आदि। + दिनकर, उष्णांशु, चक्रिन, भावना, भिक्षु प्रतिमा, यति प्रतिमा।

13– विश्वदेवा, काम, अतिजगती, अघोष आदि। + विश्व, क्रिया स्थान, यक्षः।

14– मनु, विद्या, इन्द्र, शक्र, लोक आदि। + वासव, भुवन, विश्व, रत्न, गुणस्थान पूर्व, भूतग्राम, रज्जु।

15– तिथि, घर, दिन, अह्न, पक्ष आदि । + परमार्थिक ।
16– नृप, भूप, भूपति, अष्टि, कला, आदि । + इन्दुकला, शशिकला ।
17– अत्यष्टि ।
18– धृति, + अब्रह्म, पापस्थानक ।
19– अतिधृति ।
20– नख, कृति ।
21– उत्कृति, प्रकृति, स्वर्ग ।
22– कृति, जाति, + परीषह ।
23– विकृति ।
24– गायत्री, जिन, अर्हत्, सिद्ध ।
25– तत्त्व ।
27– नक्षत्र, उडु, भ, इत्यादि ।
32– दन्त, रद + रदन ।
33– देव, अमर, त्रिदश, सुर ।
40– नरक ।
48– जगती ।
49– तान, पवन ।
+64–स्त्री कला ।
+72–पुरुष कला ।

यह बात यहाँ ध्यान मे रखना आवश्यक है कि एक ही शब्द कई अकों के पर्याय के रूप मे आया है । उदाहरणार्थ—तत्त्व 3, 5, 9, 25 के लिए आ सकता है । उपयोग कर्त्ता और अर्थ कर्त्ता को उसका ठीक अर्थ अन्य सन्दर्भों से लगाना होगा ।

साहित्य मे भी कवि-समय या काव्य रूढ़ि के रूप मे सख्या को शब्दो द्वारा बताया जाता है । साहित्य-शास्त्र के एक ग्रन्थ से यहाँ शब्द और सख्या विषयक तालिका उद्धृत की जाती है जो 'काव्य कल्पलता वृत्ति' मे दी गयी है ।

संख्या — पदार्थ

एक– आदित्य, मेरु, चन्द्र, प्रासाद, दीपदण्ड, कलश, खग, हर नेत्र, शेष, स्वर्दण्ड, अगुष्ठ, हस्तिकर, नासा, वश, विनायक-दन्त, पताका, मन, शक्राश्व, अद्वैतवाद ।

दो– भुज, दृष्टि, कर्ण, पाद, स्तन, सध्या, राम-लक्ष्मण, शृग, गजदन्त, प्रीति-रति, गगा-गौरी, विनायक-स्कन्द पक्ष, नदीतट, रथधुरी, खग-धारा, भरत-शत्रुघ्न, राम-सुत, रवि-चन्द्र ।

तीन– भुवन, वलि, वह्नि, विद्या, सध्या, गज-जाति, शम्भुनेत्र, त्रिशिरा, मौलि, दशा, क्षेत्रपाल-फण, काल, मुनि, दण्ड, त्रिफला, त्रिशूल, पुरुष, पलाश-दल, कालिदास-काव्य, वेद, अवस्था, कम्बु-ग्रीवारेखा, त्रिकूट-कूट, त्रिपुर, त्रियामा, यामा, यज्ञोपवीत सूत्र, प्रदक्षिणा, गुप्ति, शल्य, मुद्रा, प्रणाम, शिव, भवमार्ग, शुभेतर ।

चार– ब्रह्मा के मुख, वेद, वर्ण, हरिभुज, सूर-गज-रद, चतुरिका स्तम्भ, सघ, समुद्र, आश्रम, गो-स्तन, आश्रम कषाय, दिशाएँ, गज जाति, याम, सेना के अग, दण्ड, हस्त,
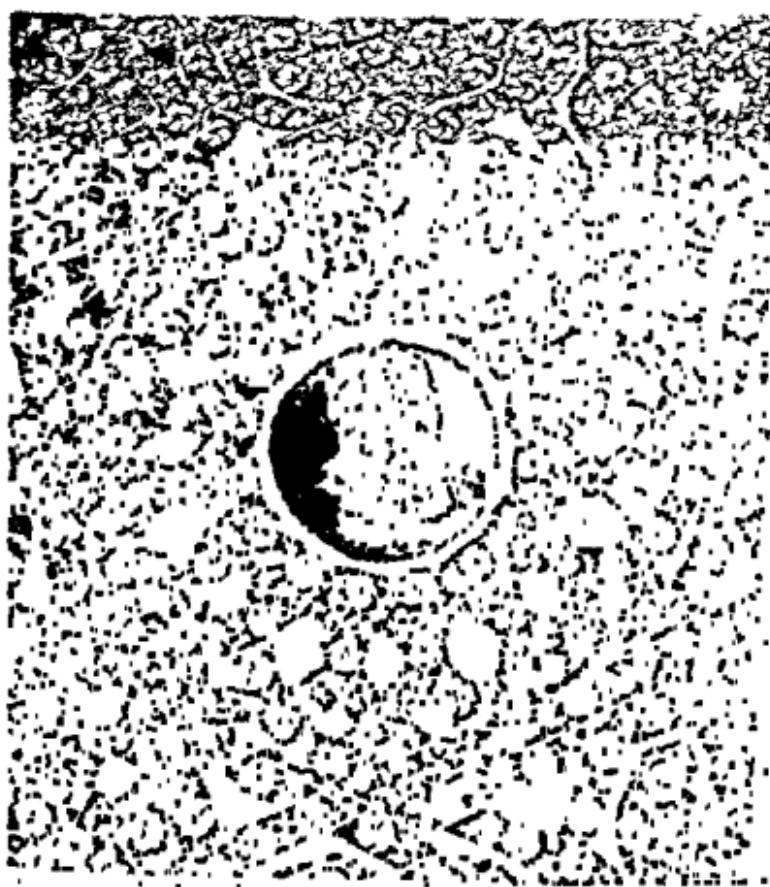
दशरथ-पुत्र, उपाध्याय, ध्यान, कथा, अभिनय, रीति, गोचरण, माल्य, संज्ञा, असुर भेद, योजनक्रोश, लोकपाल।

पाच– स्मर, बाण, पाण्डव, इन्द्रिय, करागुलि, शम्भुमुख, महायज्ञ, विषय, व्याकरणाग, व्रत-वह्नि, पार्श्व, फणि फण, परमेष्ठि, महाकाव्य, स्थानक, तनु वात, मृगशिर, पचकुल, महाभूत, प्रणाम, पचोत्तर, विमान, महाव्रत, मरुत्, शस्त्र, श्रम, तारा।

छ – रस, राग, व्रज कोण, त्रिशिरा के नेत्र, गुण, तर्क, दर्शन, गुहमुख।

सात– विवाह, पाताल, शक्रवाह-मुख, दुर्गति, समुद्र, भय, सप्तपर्ण पर्ण।

आठ– दिशा, देश, कुम्भिपाल, कुल, पर्वत, शम्भु-मूर्ति, वसु, योगाग, व्याकरण, ब्रह्म, श्रुति अहिकुल।

नौ– सुधा-कुण्ड, जैन पद्म, रस, व्याघ्री स्तन, गुप्ति, अधिग्रह।

दश– रावण-मुख, अगुली, यति धर्म, शम्भु, कर्ण, दिशाएँ, अगद्वार, अवस्था-दश।

ग्यारह– रुद्र, अस्त्र, नेत्र, जिनमतोक्त अग, उपाग, ध्रुव, जिनोपासक, प्रतिमा।

बारह– गुह के नेत्र, राशियाँ, मास, सक्रान्तियाँ, आदित्य, चक्र, राजा, चक्रि, सभासद्।

तेरह– प्रथम जिन, विश्वेदेव।

चौदह– विद्या-स्थान, स्वर, भुवन, रत्न, पुरुष, स्वप्न, जीवाजीवोपकरण, गुण, मार्ग, रज्जु, सूत्र, कुल, कर, पिण्ड, प्रकृति, स्रोतस्विनी।

पन्द्रह– परम धार्मिक तिथियाँ, चन्द्रकलाएँ।

सोलह– शशिकला, विद्या देवियाँ।

सत्रह– सयम

अट्ठारह–विद्याएँ, पुराण, द्वीप, स्मृतियाँ।

उन्नीस– ज्ञाताध्ययन

बीस– करशाखा, सकल जन-नख और अँगुलियाँ, रावण के नेत्र और भुजाएँ।

शत– कमल दल, रावणांगुलि, शतमुख, जलधि-योजन, शतपत्र-पत्र, आदिम जिन-सुत, धृतराष्ट्र के पुत्र, जयमाला, मणि हार, स्रज, कीचक।

सहस्र– अहिपति मुख, गगामुख, पकज-दल, रविकर, इन्द्रनेत्र, विश्वामित्राश्रम वर्ष, अर्जुन-भुज, सामवेद की शाखाएँ, पुण्य-नर-दृष्ट-चन्द्र।[1]

यहाँ तक हमने सामान्य परम्पराओं का उल्लेख किया है।

विशेष मे ऐसी परम्पराएँ आती हैं जिनके साथ विशिष्ट भाव और धारणाएँ सयुक्त रहती है, इनमे कुछ आनुष्ठानिक भाव, टोना या धार्मिक सन्दर्भ रहता है। साथ ही ग्रन्थेतर कोई अन्य अभिप्राय भी सलग्न रहता है। इस अर्थ म हमने 10 बातें ली हैं:

(1) मगल प्रतीक मगल प्रतीक या मगलाचरण शिलालेख, लेख या ग्रन्थ लिखने से पूर्व मगल चिह्न या प्रतीक जैसे स्वस्तिक 卐 या शब्द बद्ध मगल आदि अकित करने की प्रथा प्रथम शताब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण से और ई० प्रथम के आरम्भ से मिलने लगती है। इससे पूर्व के लेख बिना मगल-चिह्न, प्रतीक या शब्द के सीधे आरम्भ कर दिये जाते थे। मगलारभ के लिए सबसे पहले 'सिद्धम्', शब्द का प्रयोग हुआ, फिर इसके लिए

1. हमने यह तालिका प्रो० रमेशचन्द्र दुबे के 'भारतीय साहित्य' (अप्रैल, 1957) में प्रकाशित (पृ० ११४–११६) लेख से ली है।

एक चिह्न परिकल्पित हुआ ꣳ। पहले यह चिह्न और 'सिद्ध' दोनो साथ-साथ आये

फिर अलग-अलग भी इनका प्रयोग हुआ। वस्तुत यह चिह्न 'ओ०' ꣳ का स्थानापन्न है। आगे चलकर 'इष्ट सिद्धम्' का उपयोग हुआ भी मिलता है, पर 'सिद्धम्' बहुत लोकप्रिय रहा।

पाँचवी शताब्दी ईसवी मे एक और प्रतीक मगल के लिए काम मे आने लगा यह था 'स्वस्ति'। इसके साथ 'ओम' भी लगाया जाता था, 'स्वस्ति' या 'ओम स्वस्ति', कभी-कभी 'ओम' के लिए '१' का प्रयोग भी कर दिया जाता था।

'ओम्', 'ओम् स्वस्ति' या 'स्वस्ति' मात्र के साथ 'स्वस्ति श्रीमान्' भी इसी भाव से लिखा मिलता है। फिर कितने ही मगल प्रतीक मिलते हैं, जैसे—स्वस्ति जयत्याविष्कृतम्, ओम् स्वामी महासेन ओम् स्वस्ति अमर सकाश, स्वस्ति जयत्यमल, ओम् श्री स्वामी महासेन, ओम् स्वस्ति जयत्याविष्कृतम्, ओम् स्वस्ति जयश्चाभ्युदयश्च। ओम् नम शिवाय अथवा नमशिवाय, श्री ओम् नम शिवाय, श्री ओम् नम शिवाभ्याम्, ओम् ओम् नमो विनायकाय, ओम् नमो वराहाय, ओम् श्री आदि-वाराहाय नम, ओम् नमो देवराज-देवाय, ओम् नम सर्वज्ञाय। ये शिलालेखो आदि से प्राप्त मगल-प्रतीक हैं। पर हस्तलेखो-पाडुलिपियो मे हमे 'जिन' स्मरण मिलता है या अपने सप्रदाय के सस्थापक का 'ओम् निम्बार्काय या 'वाग्देवी' का स्मरण 'ओम्' सरस्वत्य नम' और सामान्यत "श्री गणेशाय नम" मिलता है। राम-सीता, कृष्ण राधा का स्मरण भी मिलता है। इस प्रकार की अनेक विधियो से पाडुलिपियो मे मगल शब्द मिलते हैं जिनका काल क्रम निर्धारण नहीं किया गया है, जैसा कि शिलालेखों के मगल वाचको का हुआ है।

(2) नमस्कार (Invocation)—ऊपर के विवरण मे हम मगल या स्वस्ति के साथ 'नमस्कार' को भी मिला गये हैं। 'नमोकार' या 'नमस्कार' एक अन्य भावाश्रित तत्त्व है। इसको अग्रेजी मे डॉ. पाडेय ने INVOCATION (इनवोकेशन) का नाम दिया है। वस्तुत जिस मांगलिक शब्द प्रतीक मे 'नमो'-कार लगा हो वह इंवोकेशन या नमोकार ही है। सबसे प्राचीन नमोकार खारवेल के हाथी गुम्फा वाले अभिलेख म आता है। सीधे सादे रूप मे 'नमो अर्हतानान्' एव 'नमो सर्व सिद्धानाम्' आता है।[1] शिलालेखो मे जिनको नमस्कार किया गया है वे हैं–धर्म, इन्द्र, सकर्षण, वासुदेव, चन्द्र, सूर्य, महिमावतानाम, लोकपाल, यम, वरुण, कुबेर,

1. इस सम्बन्ध में मुनि पुण्यविजय जी का यह कथन है कि "भारतीय आर्य सस्कृति ना अनुयाइयों कोई पण कार्यनी शुरूआत काई ने काई नानु के मोटु मगल करीने जेज करे छे अ शाश्वत नियमानुसार ग्रन्थ लेखनना आरम्भ मां हरेक लेखकों उँ नम ऐं नम, जयत्यनेकातकण्ठी रव, नमो जिनाय, नम श्री गुरुभ्य, नमो वीतरागाय. ॐ नम सरस्वत्यै ॐ नम सर्वज्ञाय, नम श्री सिद्धार्थसुताय इत्यादि अनेक प्रकारना देव गुरु धर्म इष्टदेवता आदि ने लगता सामान्य के विशेष मगलसूचक नमस्कार — — [illegible]ा, ..." —भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ० 57–58।

वासव, ग्रर्हत, वर्द्धमान, बुद्ध, भागवत-बुद्ध, संबुद्ध, भास्कर, विष्णु, गरुड, केतु (विष्णु) शिव, पिनाकी, शूलपाणि, ब्रह्मा, आर्या वसुधारा (बौद्धदेवी) । हिन्दी पाडुलिपियो मे यह नमोकार विविध देवी-देवताओं मे सम्बन्धित तो होता ही है, सम्प्रदाय प्रवर्त्तक गुरुओं के लिए भी होता है ।

(3) आशीर्वाचन या मगल कामना (Benediction) -- यो तो 'मगल-कामना' के बीज रूप अशोक के शिलालेखो मे भी मिल जाते है किन्तु ईसवी सन् की आरम्भिक शताब्दियो मे मगलकामना का रूप निखरा और यह विशेष लोकप्रिय होने लगी । वस्तुत: गुप्त काल मे इसका विकास हुआ और भारतीय इतिहास के मध्ययुग मे यह परिपाटी अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई ।

(4) प्रशस्ति (Laudation) -- किये गये कार्य की प्रशसा और उसके शुभ फल का उल्लेख प्रशस्ति मे होता है, इसमे शुभ कार्य के कर्त्ता की प्रशस्ति भी गर्भित रहती है । इसका बीज तो अशोक के अभिलेखो मे भी मिल जाता है । इनमे नैतिक और धार्मिक कृत्यो, फलत उनके कर्त्ताओ की सन्तुलित प्रशस्ति या प्रशसा मिलती है ।

गुप्त एव वाकाटक काल मे प्रशस्ति-लेखन एक नियमित कार्य बन गया और इसमे विस्तार भी आ गया, इनमे दानदाताओ की प्रशसा के साथ उन्हे अमुक दिव्य फल की प्राप्ति होगी, यह भी उल्लेख किया गया है । आगे चल कर धर्म शास्त्रो एव स्मृतियो के अश भी पावन कार्य की प्रशसा मे उद्धृत किये गय मिलते हैं यथा

बहुभिर्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरादिभि ·
यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ।।
षष्टि वर्ष सहस्राणि स्वर्गे मोदेत भूमिद ।
(दामोदरपुर ताम्रपत्रानुवास्तवे)[1]

विद्यापति की कीर्तिलता मे यह प्रशस्ति अश इस प्रकार आया है :

गेहे गेहे कलौ काव्य, श्रोतातस्य पुरे पुरे ।।1।।
देशे देशे रसज्ञाता, दाता जगति दुर्लभ ।।2।।[2]

बाद मे यह परम्परा लकीर-पीटने की भांति रह गई ।

(5) वर्जना-निन्दा-शाप (Imprecation)--इसका अर्थ होता है किसी दुष्कृत्य की अवमानना या भर्त्सना, जिसे शाप के रूप मे अभिव्यक्त किया जाता है । इसे किसी शिलालेख, अनुशासन, या ग्रन्थ म लिखने का अभिप्राय यही होता था कि कोई उक्त दुष्कृत्य न करे जिससे वह शाप का भागी बन जाये । ऐसी निन्दा के बीज हमे अशोकाभिलेखो मे भी मिलते हैं - यथा, यह परिस्रव है जो अपुण्य है (एसतु परिस्रवे य अपुञ्ञ) । निन्दा या शाप-वाक्यो का नियमित प्रयोग चौथी शताब्दी ईसवी से होने लगा था । छठी से तेरहवी ईसवी शताब्दी के बीच यह निन्दा-परम्परा लकीर पीटने का रूप ग्रहण कर लेती है । बाद मे कुछ शिलालेखो मे इसके स्थान पर केवल 'गद्धे गलस'

1. Pandey, R B --Indian Palaeography, p 163
2. अग्रवाल, वासुदेवशरण (स)--कीर्तिलता, पृ॰ 4.

अर्थात् 'गदहा शाप' गवारू गाली के रूप में लिखा गया है और एक में तो गदहे का ही रेखांकन कर दिया गया है। भारतीय मध्य-युगीन भाषाओं की काव्य-परंपरा में खल-निंदा का भी यही स्थान है। इसके द्वारा अशोभनीय कार्य न करने की वर्जना अभिप्रेत होती है।

(6) उपसहार पुष्पिका—उपसहार या समाप्ति की पुष्पिका में इन बातो का समावेश रहता था—

(1) रचनाकार – (कवि आदि) का नाम, लेखादि को अनुष्ठित कराने वाले या अनुष्ठाता का नाम, उत्कीर्ण कर्त्ता का नाम, दूतक का नाम।

(2) काल – रचना काल, तिथि आदि, लेखन काल, प्रतिलिपि काल।

(3) स्वस्तिवचन—यथा एष सगर-साहस प्रमथन प्रारब्ध लब्धोदया ।258।
पुष्णाति श्रियमाशशवचरणी श्री कीर्तिसिंहोनृप ।259।

(4) निमित्त—

(5) समर्पण, यथा—माधुर्य-प्रभवस्थली गुरु यशो-विस्तार शिक्षा सखी
यावद्विश्वमिदञ्च खेलतु कवेर्विद्याप्रतेभारती ।[1]

(6) स्तुति—

(7) निन्दा—

(8) राजाज्ञा —[जिसमे यह कृति को प्रस्तुत की गई]

यथा–सवत् 747 वैशाख शुक्ल तृतीया तिथौ । श्री श्री जय जग
ज्ज्योतिर्म्मल्ल-देव-भूपानामाज्ञया दैवज्ञ-नारायण-सिंहेन
लिखितमिद पुस्तक सम्पूर्णमिति शिवम्

शुभाशुभ

भारतीय परम्परा में प्रत्येक बात के साथ शुभाशुभ किसी न किसी रूप में जुड़ा ही हुआ है। ग्रन्थ-रचना की प्रक्रिया में भी इसका योग है।

पुस्तक का परिमाण क्या हो, इस सम्बन्ध में 'योगिनी तन्त्र' में यह उल्लेख है :

मान वक्ष्ये पुस्तकस्य शृणु देवि समासत ।
मानेनापि फल विद्यादमाने श्रीहंता भवेत् ।
हस्तमान पुष्टिमान मा बाहु द्वादशां गुलम् ।
दशागुल तथाष्टौ चततो हीन न कारयेत् ।

इसमे विधान है कि परिमाण मे पुस्तक हाथ भर, मुट्ठी भर, बारह उंगली भर, दस उँगली भर और आठ उँगली भर तक की हो सकती है। इससे कम होने से 'श्री हीनता' का फल मिलता है। श्री हीन होना अशुभ है।

कैसे पत्र पर लिखा जाय ? 'योगिनी तन्त्र' में बताया है कि भूर्जपत्र, तेजपत्र, ताड़पत्र, स्वर्णपत्र, ताम्रपत्र, केतकी पत्र, मार्तण्ड पत्र, रौप्यपत्र, बट पत्र पर पुस्तक लिखी जा सकती है, अन्य किसी पत्र पर लिखने से दुर्गति होती है। जिन पत्रो का ऊपर उल्लेख हुआ है उन पर लिखना शुभ है, अन्य पर लिखना अशुभ हैं।

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण (सं.)—कीर्तिलता, पृ० ३१४।

इसी प्रकार 'वेद' को पुस्तक रूप मे लिखना निषिद्ध बताया गया है । जो व्यक्ति लिख कर वेदो का पाठ करता है उसे ब्रह्महत्या लगती है, और घर मे लिखा हुआ वेद रखा हुआ हो तो उस पर वज्रपात होता है ।

लेखक विराम मे शुभाशुभ

भा० जै० श्र० स० म शुभाशुभ की एक और परम्परा का उल्लेख हुआ है । यदि लेखक या प्रतिलिपिकार लिखते-लिखते बीच मे किसी कार्य मे लेखन-विराम करना चाहता है तो उसे शुभाशुभ का ध्यान रखना चाहिये ।

उसे क, ख, ग, च, छ, ज, ठ, ढ, ण, थ, द, ध, न, फ, भ, म, य, र, ष, स, ह, क्ष, ज्ञ पर नही रुकना चाहिये । इन पर रुकना अशुभ माना गया है । शेष मे से किसी भी अक्षर पर रुकना शुभ है ।

अशुभ अक्षरो के सम्बन्ध मे अलग-अलग अक्षर की फल श्रुति भी उन्होंने दी है ।

'क' कट जावे, 'ख' खा जावे, 'ग' गरम होवे, 'च' चल जावे, 'छ' छटक जावे, 'ज' जोखिम लावे, 'ठ' ठाम न बैठे, 'ढ' ढह जाये, 'ण' हानि करे, 'थ' थिरता या स्थिरता करे. 'द' दाम न दे, 'ध' धन छुडावे, 'न' नाश या नाठि करे, 'फ' फटकारे, 'भ' भमावे, 'म' मट्ठा या मन्द है, 'य' पुन न लिखे, 'र' रोवे, 'ष' खिचावे, 'स' सन्देह धरे, 'ह' हीन हो, 'क्ष' क्षय करे, 'ज्ञ' ज्ञान न हो ।

जिन्हे शुभ माना गया है उनकी फल-श्रुति इस प्रकार है :

'घ' घरुडी लावे, 'झ' झट करे, 'ट' टकावी (?) राखे, 'ड' डिगे नही, 'त' तुरन्त लावे, 'प' परमेश्वर का है, 'ब' बनिया है, 'ल' लावे, 'व' वावे (?), 'श' शान्ति करे ।

इसमे मारवाड की एक और परम्परा का भी उल्लेख किया गया है कि वहाँ 'ब' अक्षर आने पर ही लेखन-विराम किया जाता है और बहुत जल्दी उठना आवश्यक हुआ तो एक अन्य कागज पर 'ब' लिख कर उठते हैं ।

शुभाशुभ सम्बन्धी सभी बातें अन्ध विश्वास मानी जायेंगी पर ग्रन्थ-रचना या ग्रन्थ लेखन या प्रतिलिपिकरण मे ये परम्पराएँ मिलती हैं, अत पांडुलिपि विज्ञान के ज्ञानार्थी के लिए यहाँ देदी गई हैं ।

भारतीय भावधारा के अनुसार लेखन प्रक्रिया मे आने वाली सभी वस्तुओ के साथ गुण-दोष या शुभ-अशुभ की मान्यता से एक टोने या अनुष्ठान की भावना गुथी रहती है । इसी प्रकार 'लेखन' के लिए जो अनिवार्य उपकरण है उस लेखनी के साथ भी यह धार्मिक भावना हमे ग्रन्थो मे वर्णित मिलती है

लेखनी शुभाशुभ

लेखनी के सम्बन्ध म ये प्रचलित श्लोक 'भारतीय जैन श्रमण सस्कृति और लेखन कला' मे दिये गये हैं

ब्राह्मणी श्वेतवर्णाच, रक्तवर्णाच क्षत्रिणी,
वैश्यवी पीतवर्णाच, श्रासुरी श्यामलेखिनी ।।1।।
श्वेते सुख विजानीयात्, रक्ते दरिद्रता भवेत् ।
पीते च पुष्कला लक्ष्मी , श्रासुरी क्षयकारिणी ।।2।।
चिताग्रे हरते पुत्रमाधोमुखी हरते धनम् ।
वामे च हरते विद्या दक्षिणा लेखिनी लिखेत् ।।3।।
अग्र ग्रन्थिर्हरेदायुर्मध्य ग्रन्थिर्हरेद्धनम् ।
पृष्ठग्रन्थिर्हरेत सर्वं निर्ग्रन्थि लेखिनी लिखेत् ।।4।।
नवांगुलमिता श्रेष्ठा, अष्टौ वा यदि वाऽधिका,
लेखिनी लेखयेन्नित्य धन-धान्य समागम ।5।
इति लेखिनी विचार: ।।[1]

अष्टाङ्गुलप्रमाणेन, लेखिनी सुखदायिनी,
हीनायाः हीन कर्मस्यादधिकस्याधिक फलम् ।।1।।
आद्य ग्रन्थीर्हरेदायुर्मध्य ग्रन्थी हरेद्धनम् ।
अन्त्य ग्रन्थीर्हरेत्सौख्य, निर्ग्रन्थी लेखिनी शुभा ।2।
माथे ग्रन्थी मत (मति) हरे,
बीच ग्रन्थि धन खाय,
चार तसुनी लेखणे
लखनारो कट जाय ।1।[3]

इन श्लोको से विदित होता है कि लेखनी के रग, उससे लिखने के ढग, लेखनी मे गाँठें, लेखनी की लम्बाई आदि सभी पर शुभाशुभ फल बताये गये हैं, रग का सम्बन्ध वर्ण से जोड कर लेखनी को भी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का माना गया है .

सफेद वर्ण की लेखनी ब्राह्मणी —इसका फल है सुख
लाल वर्ण की क्षत्राणी —इसका फल है दरिद्रता
पीले वर्ण की वैश्यवी —इसका फल है पुष्कल धन,
श्याम वर्ण की आसुरी होती है एव इसका फल होता है धन-नाश ।

किन्तु इस समस्त शुभ-अशुभ के अन्तरग मे यथार्थ अर्थ यही है कि निर्दोष लेखनी ही सर्वोत्तम होती है, उसी से लेखक को लेखन करना उचित है ।

वैसे लेखनी' एक सामान्य शब्द है, जिसका प्रयोग तूलिका, शलाका, वर्णवर्तिका,[4] वर्णिका[5] और वर्णक[6] सभी के लिए होता था । पत्थर और धातु पर अक्षर

1 भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ० 34 ।
2 यह श्लोक स्व० चिमनलाल द० दलाल द्वारा सम्पादित 'लेख पद्धति' में भी आया है ।
3. भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ० 34 ।
4. दशकुमार चरित में ।
5 कोषों में ।
6. ललित-विस्तर में ।

उत्कीर्ण करने वाली शलाका भी लेखनी है। चित्रांकन करने वाली कूँची तूलिका भी लेखनी है, अतः लेखनी का अर्थ बहुत व्यापक है। लेखन के अन्य उपकरणों के नाम ऊपर दिये जा चुके हैं। बूह्लर ने बताया है कि 'The general name of 'an instrument for writing' is lekhani, which of course includes the stilus, pencils, brushes, reed and wooden pens and is found already in the epics'[1]

नरसल या नेजे की लेखनी का प्रयोग विशेष रहा। इसे 'कलम' कहा जाता है।[2] इसके लिए भारतीय नाम है इषीका या ईषिका जिसका शब्दार्थ है नरसल (reed)।

डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में कलम शीर्षक से यह सूचना दी है कि

'विद्यार्थी लोग प्राचीन काल से ही लकड़ी के पाटों पर लकड़ी की गोल तीखे मुख की कलम (वर्णक) से लिखते चले आते हैं। स्याही से पुस्तकें लिखने के लिए नड (बरू) या बाँस की कलमें (लेखनी) काम में आती हैं। अजंता की गुफाओं में जो रंगों से लेख लिखे गये हैं वे महीन बालों की कलमों (वर्तिका) से लिखे गये होंगे। दक्षिणी शैली के ताड़पत्रों के अक्षर कुचरने के लिए लोहे की तीखे गोल मुख की कलम (शलाका) अब तक काम में आती है। कोई-कोई ज्योतिषी जन्मपत्र और वर्षफल के खरड़ों के लम्बे हाशिये तथा आड़ी लकीरें बनाने में लोहे की कलम को अब तक काम में लाते हैं, जिसका ऊपर का भाग गोल और नीचे का स्याही के परकार जैसा होता है।[3]

पाश्चात्य जगत् में एक ओर तो पत्थरों और शिलाओं में उत्कीर्ण करने के लिए छैनी (Chisel) को आवश्यक माना गया है, वहाँ लेखनी के लिए पंख (पर या पक्ष), नरसल या धातु शलाका का भी उल्लेख मिलता है। पाश्चात्य जगत् में पंख की लेखनी का प्राचीनतम उल्लेख 7 वीं शती ई० में मिलता है।[4]

कोडेक्स आधुनिक पुस्तक का पूर्वज है। यह एक प्रकार से दो या अधिक काष्ठ पाटियों से बनती थी। ये काष्ठ पाटियाँ एक छोर पर छेदों में से लौह-छल्लों से जुड़ी रहती थीं। इन पर मोम बिछा रहता था। इस पर एक धातु शलाका से खुरच कर या कुरेद (उकेर) कर अक्षर लिखे जाते थे।

One wrote or scratched (which is the original meaning of the word) with a sharply pointed instrument, the stylus which had at the other end a flat little spatula for erasing like the eraser at the end of the modern pencil'[5]

यह स्टाइलस ओझा जी की बताई शलाका जैसी ही विदित होती है। इसी से मोमपाटी पर अक्षर उत्कीर्ण किये जाते थे।

1 Buhler G — Indian Palaeography p 147
2 वही 147।
3 भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० 157।
4 Encyclopaedia Americana (Vol 18) p 241
5 Op cit (Vol 4) p 275

स्याही

श्री गोपाल नारायण वहुरा के शब्दो मे 'स्याही' विषयक चर्चा की भूमिका यो दी जा सकती है—

यो तो ग्रन्थ लिखने के लिए कई प्रकार की स्याहियो का प्रयोग दृष्टिगत होता है परन्तु सामान्य रूप से लेखन के लिए काली स्याही ही सार्वत्रिक रूप मे काम म लाई गई है। काली स्याही को प्राचीनतम सस्कृत मे 'मषी' या 'मसि' शब्द से व्यक्त किया गया है। इसका प्रयोग बहुत पहले से ही शुरू हो गया था ।

जैनो की मान्यता है कि कश्यप ऋषि के वशज राजा इक्ष्वाकु के कुल मे नाभि नामक राजा हुआ। उसकी रानी मरुदेवी से ऋषभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह ऋषभ ही नाभेय ऋषभदेव नाम से जैनो मे आदि तीर्थङ्कर माने जाते हैं। कहते है कि आदिनाथ ऋषभदेव से पूर्व पृथ्वी पर वर्षा नही होती थी, अग्नि की भी उत्पत्ति नही हुई थी, कोई कँटीला वृक्ष नही था और ससार मे विद्या तथा चतुराईयुक्त व्यवसायो का नाम भी नहीं था। ऋषभ ने मनुष्यों को तीन प्रकार के कर्म सिखाये–1 असिकर्म अर्थात् युद्ध विद्या, 2 मसिकर्म अर्थात् स्याही का प्रयोग करके लिखने पढने की विद्या, और 3. कृषि कर्म अर्थात् खेती बाडी का काम। इसे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का ही रूप माना जा सकता है। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का निर्वाण विक्रम सवत् से 470 वर्ष पूर्व और ईसा से 526 वर्ष पूर्व माना गया है। कहते हैं कि इससे 3 वर्ष आठ मास और दो सप्ताह बाद पाँचवें आरे का आरम्भ हुआ है जो 21 हजार वर्ष तक चलेगा। इससे मषी कर्म के आरम्भ का अनुमान लगाया जा सकता है ।

" मसि, मशि या मषी का अर्थ कज्जल है। 'मसी कज्जलम्', 'मेला ममी पत्राजन च स्यान्मसिर्द्वयोरिमि त्रिकाण्डशेष'। काली स्याही के निर्माण मे भी कज्जल ही प्रमुख वस्तु है। इसीलिये स्याही के लिए भी मषी शब्द प्रयुक्त हुआ है। काली स्याही बनाने के कई नुस्खे मिलते हैं। उनमे कज्जल का प्रयोग सर्वत्र दिखाई देता है। एक बात और भी ध्यान म रखनी चाहिये कि ताड-पत्र और कागज पर लिखने की काली स्याहियाँ बनाने के प्रकारो मे भी अन्तर है। ताडपत्र वास्तव म काष्ठ जाति का होता है और कागज की बनावट इससे भिन्न होती है। इसीलिए इन पर लिखने की स्याही के निर्माण मे भी यत्किचित् भिन्नता है।

स्याही बनाने मे कज्जल और जल के अतिरिक्त अन्य उपकरणो का मिश्रण करने की कल्पना बाद की होगी। प्राचीन उल्लेखो मे केवल जल और कज्जल के ही सन्दर्भ मिलते हैं। यह भी हो सकता है कि इन दोनो के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ की गौणता रही हो। पुष्पदन्त विरचित महिम्न स्तोत्र के एक श्लोक मे स्याही, कलम, दवात और पत्र का सन्दर्भ है '—

> असितगिरिसम स्यात् कज्जल सिन्धुपात्रे
> सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
> लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकाल
> तदपि तव गुणानमीश पारं न याति ॥

अर्थात् श्वेतगिरि(हिमालय)जितना बड़ा ढेर कज्जल का हो, जिसे समुद्र जितने बड़े पानी से भरे पात्र (दवात) मे घोला जाय, देव वृक्ष (कल्प वृक्ष) की शाखाओ से लेखनी बनाई जाय (जो कभी समाप्त न हो) और समस्त पृथ्वी को पत्र (कागज) बनाकर शारदा (स्वय सरस्वती) लिखने बैठे और निरन्तर लिखती रहे तो भी हे ईश ! तुम्हारे गुणो का पार नही है।

महिम्न स्तोत्र का रचनाकाल 9 वी शताब्दी से पूर्व का माना गया है किन्तु उक्त श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर कहा गया है कि मूल स्तोत्र के तो 31 ही श्लोक हैं जो अमरेश्वर के मन्दिर मे उत्कीर्ण पाय गये है। 15 श्लोक बाद मे स्तोत्र पाठको द्वारा जोड लिये गये हैं।[1]

परन्तु यह निश्चित है कि विस्तृत पत्र और स्याही आदि लेखन के आवश्यक उपकरणो के व्यापक प्रयोग के प्रमाण 8वी शताब्दी के साहित्य मे भी उपलब्ध होते हैं—सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' कथा मे भी एक ऐसा ही उद्धरण मिलता है —

'त्वत्कृते यानया वेदनानुभूता सा यदि नम पत्रायते सागरो लोलायते ब्रह्मा लिपिकरायते भुजगपतिर्वा कथक तदा किमपि कथमप्येकेकयुगसहस्रै रभि लिख्यते कथ्यते वा।[2]

अर्थात् आपके लिए इसने जिस वेदना का अनुभव किया है उसको यदि स्वय ब्रह्मा लिखने बैठे, लिपिकार बने, भुजगपति शेषनाग बोलने वाला हो (साप की जीभ जल्दी चलती है)और लिखने वाला इतनी जल्दी-जल्दी लिखे कि कलम डुबाने से सागर रूपी दवात म हलचल मच जाय तो भी कोई एक हजार युग म थोडा बहुत ही लिखा जा सकता है।

1 पाश्चात्य जगत् मे हमे प्राचीनतम स्याही काली ही विदित होती है। सातवी शती ईस्वी से काली स्याही के लेख मिल जाते हैं। यह स्याही दीपक के काजल या धुँये से तो बनती ही थी, हाथी-दाँत को जलाकर भी बनायी जाती थी। कोयला भी काम मे आता था।[3] बहुत चमचमाती लाल स्याही का उपयोग भी होता था, विशषत आरम्भिक अक्षरो के लेखन म तथा प्रथम पक्ति भी प्राय लाल स्याही से होती थी। नीली स्याही का भी नितात अभाव नही था। हरी और पीली स्याही का उपयोग जब कभी ही होता था। सोने और चाँदी से भी पुस्तकें लिखी जाती थी।

भारत मे हस्तलेखो की स्याही[4] का रग बहुत पक्का बनाया जाता था। यही कारण है कि वैसी पक्की स्याही से लिखे ग्रन्थो के लेखन मे चमक अब तक बनी हुई है। विविध प्रकार की स्याही बनान के नुस्खे विविध ग्रन्था मे दिये हुए हैं। वैसे कच्ची

1 Brown, W Normon—The Mahimnastava (Introduction), p 4 6
2 शुक्ल, जयदेव (स)—वासवदत्ता कथा, पृ 39।
3, The Encyclopaedia Americana (Vol 18), p, 241
4 भारत में स्याही का पर्यायवाची मसी या मषी था। प्राचीन काल मे इ ही का उपयोग होता था। ई० पू० के ग्रन्थ 'गृह्य सूत्र' मे यह शब्द आया है। 'मषी' का अर्थ डॉ० राजबली पांडेय ने बताया है—मसलकर बनायी हुई। ब्यूलर ने इसका अर्थ चूर्ण या पाउडर बताया है। स्याही के लिए एक दूसरा मेला' शब्द भी प्राचीन काल मे कहीं-कही प्रयोग में आता था। ब्यूलर ने 'मेला' की व्युत्पत्ति 'मैला' से मानी है। मैला = dirty black गंदा या काला। डॉ० पाडेय ने ठीक बताया है कि यह

स्याही भी बनाई जाती रही है। पक्की और कच्ची स्याही के अन्तर का एक रोचक ऐतिहासिक कथाश 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' मे डॉ ओझा ने दिया है। यह वृत्त द्वितीय राजतरगिणी के कर्त्ता जोनराज द्वारा दिया गया है और उनके अपने ही एक मुकदमे से सम्बन्धित है।

जोनराज के दादा ने एक प्रस्थ भूमि किसी को बेची। उनकी मृत्यु हो जाने पर खरीदने वाले ने जाल रचा। बैनामे मे था—'भूप्रस्थमेक विक्रीतम्'। खरीदने वाले ने उसे 'भूप्रस्थ दशक विक्रीतम्' कर दिया। जोनराज ने यह मामला राजा जैनोल्लाभदीन के समक्ष रखा। उसने उस भूर्ज-पत्र को पानी मे डाल दिया। फल यह हुआ कि नये अक्षर धुल गए और पुराने उभर आये, जोनराज जीत गए। "(जोनराज कृत राजतरगिणी श्लोक 1025–37)।"[1] प्रतीत होता है कि नये अक्षर कच्ची स्याही से लिखे गये थे, पहले अक्षर पक्की स्याही के थे। भोजपत्र को पानी मे धोने से पक्की स्याही नहीं धुलती, वरन् और अधिक चमक उठती है। कच्ची-पक्की स्याहियो के भी कई नुस्खे मिलते हैं :

'भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला' मे बताया है कि पहले ताड-पत्र पर लिखा जाता था। तीन-चार सौ वर्ष पूर्व ताड-पत्र पर लिखने की स्याही का उल्लेख मिलता है। ये स्याहियाँ कई प्रकार से बनती थी—'भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला' मे ये नुस्खे दिये हुए हैं जो इस प्रकार हैं :

प्रथम प्रकार :

सहवर-भृग त्रिफल., कासीस लोहमेव नीली च,
समकज्जल-बोलयुता, भवति मषी ताडपत्राणाम् ॥

व्याख्या—सहवरेति काटासे हरी ओ (धमासो) भृगेति भागुरओ। त्रिफला प्रसिद्धैव। कासीसमिति कसीसम्, येन काष्ठादि रज्यते। लोहमिति लोहचूर्णम्। नीलीति गलीनिष्पादको वृक्षः तॅद्रस। रस विना सर्वेषामुत्कल्य क्वाथ क्रियते, स च रसोऽपि समवर्तित कज्जल-बोलयोर्मध्ये निक्षिप्यते, ततस्ताडपत्रमषी भवतीति। यह स्याही ताम्बे की कडाही मे खूब घोटी जानी चाहिए।[2]

दूसरा प्रकार :

काजल पा (पो) इण बोल (बीजा बोल), भूमिलया था जल मोगरा (?) थोडा पारा, इन्हें ऊष्ण जल मे मिला कर तांबे की कडाई मे डाल कर सात दिन ऐसा घोटें कि सब एक हो जाय। तब इसकी बडियाँ बना कर सुखा लें। स्याही की आवश्यकता पड़ने पर इन बडियो को आवश्यकतानुसार गर्म पानी मे खूब मसल कर स्याही बनालें। इस स्याही से लिखे अक्षर रात मे भी दिन की भाँति ही पढे जा सकते हैं।

शब्द 'मैला' नही 'मेला' ही है जो मेल से बना है। स्याही मे विविध वस्तुओ का मेल होता है। स्याही—स्याहकाला से व्युत्पन्न है, पर इसका अर्थ-विस्तार हो गया है।

—ब्लूलर, पृ० 146 तथा डॉ० राजबली पाडेय, पृ० 84.

निआर्कस और क्यू० कर्टियस जैसे यूनानी लेखको की साक्षियो से यह सिद्ध है कि भारतीय कागज और कपडे पर स्याही से ही लिखते थे। यह साक्षी 4थी शती ई० पू० की है।

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 155 (पाद टिप्पणी)।
2 भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ० 38।

तीसरा प्रकार :

कोरडए वि सरावे, अंगुलिम्रा कोरडम्मि कज्जलए।
मद्दह सरावलग्गं, जावं चिय चि (क्क) गं मुग्रइ।
पिचुमंद गुंदलेसं, खायर गुंदं व बीयजलमिस्सं।
भिज्जवि तोएण दढ, मद्दह जातं जलं मुसइ।

अर्थात् नये काजल को सरवे (सकोरे) में रखकर ऊँगलियों से उसे इतना मलें या रगड़ें कि सरवे से लगकर उसका चिकनापन छूट जाय। तब नीम के गोंद या खैर के गोंद और बियाजल के मिश्रण मे उक्त काजल को मिलाकर इतना घोटें कि पानी सूख जाये फिर बड़ियाँ बनालें।

चौथा प्रकार :

निर्यासात् पिचुमंद जाद् द्विगुणितो बोलस्ततः कज्जलं,
संजातं तिलतैलतो हुतवहे तीव्रातपे मर्दितम्।
पात्रे शूल्बमये तथा शन (?) जर्लैर्लाक्ष रसैर्भावितः,
सद्भल्लातक-भृंगराजरसयुतो सम्यग् रसोऽयं मषी।[1]

अर्थात् नीम का गोंद, उससे दुगुना बीजाबोल, उससे दुगुना तिलों के तेल का काजल ले। तांबे की कढ़ाही मे तेज आंच पर इन्हें खूब घोंट और उसमे जल तथा अलता (लाक्षारस) की थोड़ा-थोड़ा करके सौ भावनाएँ दें और अच्छी स्याही बनाने के लिए इसमें शोधा हुआ भिलावा तथा भाँगरे का रस डालें।[2]

पाँचवां प्रकार :

पाँचवें प्रकार की स्याही का उपयोग ब्रह्म देश, कर्नाटक आदि देशों में ताड़-पत्र पर लिखने मे होता था।

ऊपर के सभी प्रकार ताड़-पत्र पर लिखने की स्याही के हैं।[3]

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ० 38-40.
2. श्लोक में तो यह नहीं बताया गया है कि उक्त मिश्रण को कितनी देर घोटना चाहिए परन्तु जयपुर में कुछ परिवार स्याही वाले ही कहलाते हैं। त्रिपोलिया के बाहर ही उनकी प्रसिद्ध दुकान थी। वहाँ एक कारखाने के रूप में स्याही बनाने का कार्य चलता था। महाराजा के पोथीखाने में भी 'सरबराकार' स्याही तैयार किया करते थे। इन लोगों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि स्याही की घुटाई कम से कम आठ पहर होनी चाहिए। मात्रा अधिक होने पर अधिक समय तक घोटना चाहिए।
—गोपालनारायण बहुरा
3. पहले कह चुके हैं कि ताड़पत्र पर स्याही से कलम द्वारा भी लिखते हैं और लोहे की नोंकदार कुतरन्मी से अक्षर कुरेदे भी जा सकते हैं। लिखने के लिए तो ऊपर लिखी विधियों से बनाई हुई स्याहियाँ ही काम में आती हैं परन्तु कुरेदे हुए अक्षरों पर काला चूर्ण पोत कर कपड़े से साफ करते हैं। इससे वह चूर्ण कुरेदे हुए अक्षरों में भरा रह जाता है और पत्र के समतल भाग से कज्जल या काला चूर्ण अपमारित हो जाता है। फिर अक्षर स्पष्ट पढ़ने में आ जाते हैं। समय बीतने पर यदि अक्षर फीके पड़ जावें तो यह विधि दोहरा दी जाने पर पुनः अक्षर स्पष्ट हो जाते हैं। ऐसा मषी-चूर्ण बनाने के लिए नारियल की जटा या कैंचुल तथा बादाम आदि के छिलके जलाकर पीस लिए जाते हैं।
—गोपालनारायण बहुरा

इस प्रकार कागज-कपडे पर लिखने की स्याही बनाने की भी कई विधियाँ हैं :

पहली विधि :

जितना काजल उतना बोल, ते थी दूणा गूद भकोल,
जे रस भागरानो पडे, तो अक्षरे अक्षरे दीवा जले ।

दूसरी विधि :

मष्यर्धे क्षिप सद्गुन्द गुन्दार्धे बोलमेव च,
लाक्षाबीयारसेनोच्चै मर्दयेत् ताम्रभाजने ।

तीसरी विधि ·

बीग्रा बोल अनइल करवा रस, कज्जल वज्जल (?) नइ अबारस ।
'भोजराज' मिसी नियाद, पान ग्रो फाटई मिसी नवि जाई ।

चौथी विधि

लाख टांक बीस मेल, स्वाग टाक पाच मल
नीर टाक दो सौ लेई, हाडी मे चढाइग्रे,
ज्यौं लौ आग दीजे त्यों लौ आर खार सब लीजे ।
लोदर खार बालबाल पीस के रखाइय
मीठा तेल दीय जल, काजल सो ले उतार
नीकी विधि पिछानी के ऐसे ही बनाइयै
चाइक चतुर नर लिखके अनूप ग्रन्थ
बाच बाच बाच रीभ रीभ मौज पाइये । मसी विधि ।

पाँचवीं विधि :

स्याही पक्की करण विधि —लाख चोखी अथवा चीपडी लीजे पईसा 6, सेर तीन पानी मे डालें, सुवागो (सुहागा) पैसा 2 डालें, लोध 3 पैसा भर डालें । पानी तीन पाव रह जाये तो उतार लें । बाद मे काजल 1 पैसा भर डालकर घोट-घोट कर सुखा लें । आवश्यकतानुसार इसमे से लेकर शीतल जल मे भिगो दें तो पक्की स्याही तैयार हो जाती है ।

छठी विधि :

काजल छह टक, बीजाबोल टक 12, बेर का गोद 36 टक, अफीम टक 1/2, अलता पोथी टक 3, फिटकरी कच्ची टक 1/2, नीम के घोटे से ताम्बे के पात्र मे सात दिन तक घोटे ।

स्याही के ये नुस्खे मुनि श्री पुण्यविजयजी ने यहाँ-वहाँ से लेकर दिये हैं । उनका अभिमत है कि पहली *विधि से बनी स्याही श्रेष्ठ है । अन्य स्याही पक्की तो हैं,* पर कागज-

कपडे को क्षति पहुँचाती है। लकडी की पाटी (पट्टी) पर लिखने के लिए ठीक है।[1]

राजस्थान मे उपयोग आने वाली स्याही के बनाने की विधि ओझाजी ने इस प्रकार बताई है :

'पक्की स्याही बनाने के लिए पीपल की लाख को जो अन्य वृक्षो की लाख से उत्तम समझी जाती है, पीस कर मिट्टी की हँडिया मे रखे हुए जल मे डालकर उसे आग पर चढाते हैं। फिर उसमे सुहागा और लोध पीस कर डालते हैं। उबलते-उबलते जब लाख का रस पानी मे यहाँ तक मिल जाता है कि कागज पर उससे गहरी लाल लकीर बनने लगती है तब उसे उतार कर छान लेते है। उसको अलता (अलक्तक) कहते है, फिर तिलो के तेल के दीपक के काजल को महीन कपडे की पोटली मे रखकर अलते मे उसे फिराते जाते है जब तक कि उससे सुन्दर काले अक्षर बनने न लग जावें। फिर उसको दवात (मसीभाजन) मे भर लेते है। राजपूताने के पुस्तक लेखक अब भी इसी तरह पक्की स्याही बनाते है।'[2]

ओझाजी ने कच्ची स्याही के सम्बन्ध मे लिखा है कि यह कज्जल, कत्था, बीजाबोर और गोंद को मिला कर बनाई जाती है। परन्तु पन्नो पर जल गिरने से यह स्याही फैल जाती है और चौमासे मे पन्ने चिपक जाते है।[3] अत ग्रन्थ लेखन के लिए अनुपयोगी है।

आपने भोज-पत्र पर लिखने की स्याही के सम्बन्ध मे लिखा है कि 'बादाम के छिलको के कोयलो को गोमूत्र मे उबाल कर यह स्याही बनायी जाती थी।[4] यही बात डॉ राजबली पाण्डेय ने लिखी है

In Kashmir, for writing on birch-bark, ink was manufactured out of charcoal made from almonds and boiled in cow's urine. Ink so prepared was absolutely free from damage when MSS were periodically washed in water-tubes.[5]

कुछ सावधानियाँ[6]

मूलत. कज्जल, बीजाबोल समान मात्रा मे और इनसे दो गुनी मात्रा मे गोंद को पानी मे घोल कर नीम के घोंटे से ताम्र-पात्र मे घुटाई करना ही कागज और कपडे पर

1 इसी बात को और स्पष्ट करते हुए मुनिजी ने बताया है कि 'जिस स्याही में लाख (लाक्षारस), कत्था, लोध पडा हो, वह कपडा कागज पर लिखने के काम की नहीं है। इससे कपडे एव कागज तम्बाकू के पत्ते जैसे हो जाते हैं। —भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ ४२।

मुनि पुण्यविजयजी ने काली स्याही सम्बन्धी खास सूचनाओ में ये बातें बताई हैं कज्जलमत्र तिलतैलव सजात ग्राह्यम। २. गुन्दोऽत्र निम्बसत्कः खदिरसत्को ववूलसत्को वा ग्राह्य। धवसत्कस्तु सर्वथा त्याज्य मसी विनाशको ह्ययम् (धौ का गोंद नहीं डालना चाहिए)।

2. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ॰ 155।

3 वही, पृ॰ 155।

4 ब्यूलर ने सूचना दी है (काश्मीर रिपोर्ट, 30) कि गरु पेपर्स आदि (18 F) में राजेन्द्रलाल मित्र ने टिप्पणियो मे स्याही बनाने के भारतीय नुस्खे दिये हैं। —पृ॰ 146, पाद टिप्पणी, पृ॰ 537

5. Pandey, R. B—Indian Palaeography, p 85.

6 श्री गोरख नारायण बहुरा की टिप्पणियाँ।

लिखने की स्याही बनाने की उपयोगी विधि है, अन्य रसायनो को मिलाने से वे उसको खा जाते हैं और अल्पायु बना देते हैं जैसे — भांगरा डालने से अक्षरो मे चमक तो आती है परन्तु आगे चल कर कागज काला पड जाता है। इसी तरह लाक्षारस, स्वाग या क्षार आदि भी हानिकारक है। बीआरस बीआ नामक वनस्पति की छाल का चूर्ण बना कर पानी मे औटाने से तैयार होता है। इसको इसलिए मिलाया जाता है कि स्याही गहरी काली हो जाती है। परन्तु यदि आवश्यकता से अधिक बीआरस पड जाय तो वह गोद के प्रभाव को कम कर देता है और ऐसी स्याही के लिखे अक्षर सूखने के बाद उखड जाते हैं। लाक्षारस इस कारण डाला जाता है कि इससे स्याही कागज मे फूटती नहीं है। खौलते हुए साफ पानी मे जरा-जरा सा लाख का चूर्ण इस तरह से डाल कर हिलाया जाता है कि वह उसमे अच्छी तरह घुलता जाय, उसकी लुगदी न बनने पावे। बार-बार किसी सीक या फरडे को उसमे डुबो कर कागज पर लकीर खीचते हैं। शुरू मे जब तक लाख पानी मे एकरस नही होती तब तक वह पानी कागज म फूटता है पर जब अच्छी तरह लाख के रेशे उसमे एकाकार हो जाते है तो वह रस कागज पर जम जाता है। इसकी मात्रा मे भी यदि कमीबेशी हो जाय तो स्याही अच्छी नही बनती।

स्याही : विधि निषेध

स्याही बनाने के सम्बन्ध म कुछ विधि निषेध भी हैं—*यथा*—कज्जल बनाने के लिए तिल के तेल का दिया ही जलाना चाहिए। किसी अन्य प्रकार के तेल से बनाया हुआ काजल उपयोगी नही होता। गोद भी नीम, खैर या बबूल ही का लेना चाहिए। इसमे भी नीम सर्वश्रेष्ठ है। धोक (धव) का गाद स्याही को नष्ट करने वाला होता है। स्याही मे रीगणी नामक पदार्थ, जिसे मराठी मे 'डौली' कहते हैं, डालने से उसमे चमक आ जाती है और मक्खियाँ पास नही आती। जिस स्याही मे लाख, कत्था और लोहकीट का प्रयोग किया जाता है उसे ताड-पत्र आदि पर ही लिखने के काम मे लेना चाहिए, कागज और कपडे पर इसका प्रभाव विपरीत पडता है। वह कागज आगे चल कर क्षीण हो जाता है—प्रति लाल पड जाती है और पत्र तडकने लगते हैं। बीआरस की मात्रा अधिक हो जाने से गोद की चिकनाहट नष्ट हो जाती है और ऐसी स्याही से लिखे पत्रो की रगड से अक्षर घुलमिल जाते है और प्रति काली पड जाती है।

जब किसी सग्रह के ग्रन्थो को देखते है तो विभिन्न प्रतियाँ विभिन्न दशा मे मिलती है। कोई कोई *ग्रन्थ तो कई शताब्दी पुराना होने पर भी बहुत स्वस्थ और ताजी अवस्था* म मिलता है। उसका कागज भी अच्छी हालत मे होता है और स्याही भी जैसी की तैसी चमकती हुई मिलती है, परन्तु कई ग्रन्थ बाद की शताब्दियो मे लिखे होने पर भी उनके पत्र तडकने वाले हो जाते हैं और अक्षर रगड से विकृत पाये जाते हैं। कितनी ही प्रतियाँ ऐसी मिलती है कि उनका कुछ भाग काला पडा हुआ हाता है। ऐसा इसलिए होता है कि वर्षा के बाद कभी-कभी धूप मे रखते समय जिन पत्रो को समान रूप से ऊष्मा नही पहुँचती अथवा आवश्यकता से अधिक समय तक धूप मे रह जाते है उनके कुछ हिस्सो की सफेदी उड जाती है। कुछ लेखक तो स्याही मे चिथडा डाल देते है (कभी कभी सर्पाकार) जिससे वह अधिक गाढ़ी या पतली न हो जाय। परन्तु कुछ लेखक लोहे के टुकडे या कीलें दवात मे रख देते हैं। अपर दशा मे ऐसा होता है कि उस लोहे का काट हिलाने पर स्याही मे मिल जाता

है और तत्काल उससे लिखी हुई पंक्तियाँ काली पड़ जाती हैं या पत्र का वह भाग छिक जाता है, अत. एक ही पत्र में विभिन्न पंक्तियाँ विभिन्न प्रकार की देखने में आती है। प्रतियो की यह खराबियाँ सक्रामक भी होती है। कई बार हम देखते हैं कि किसी प्रति के आद्य और अन्त्य पत्र के अतिरिक्त शेष पत्र स्वस्थ दशा मे होने हैं। इसका कारण यह होता है कि बस्ते मे जब कई प्रतियाँ बाँधी जाती हैं तो उस प्रति के ऊपर नीचे कोई रुग्ण प्रतियाँ रख दी जाती है जिनकी स्याही व कागज की विकृति बीच की प्रति के ऊपर-नीचे के पत्रो मे पहुँच जाती है। इसीलिए जहाँ तक हो सके वहाँ तक एक प्रति को दूसरी से पृथक् रखना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक प्रति को एक स्वच्छ और रूखे सफेद कागज मे लपेटना चाहिए (अखबारी कागज मे कभी नहीं) और फिर उसको कार्डबोर्ड के दो समाकृति के टुकडों के बीच में रखकर वष्टित करना चाहिए जिससे न तो कार्डबोर्ड का असर प्रति पर पड सके और न अन्य प्रति का रोग ही उसमे पहुँच सके।

रंगीन स्याही

रंगीन स्याहियो का उपयोग भी ग्रन्थ लेखन मे प्राचीन काल से ही होता रहा है। इसमे लाल स्याही का उपयोग बहुधा हुआ है। लाल स्याही के दो प्रकार थे—एक अलता की, दूसरी हिंगलू[1] की। डॉ पाण्डेय ने बताया है कि—""Red ink was mostly used in the MSS for marking the medial signs and margins on the right and the left sides of the text, sometimes the endings of the chapters, stops and the phrases like 'so and so said thus' were written with red ink "[2]

ओझाजी इनसे पूर्व यह बता चुके है कि 'हस्तलिखित वेद के पुस्तको मे स्वरो के चिन्ह, और सब पुस्तको के पन्नो पर की दाहिनी और बायी ओर की हाशिये की दो-दो खडी लकीरें अलता या हिंगली से बनी हुई होती है। कभी-कभी अध्याय की समाप्ति का अश एव 'भगवानुवाच', 'ऋषिरुवाच' आदि वाक्य तथा विरामसूचक खडी लकीरें लाल स्याही से बनाई जाती है। ज्योतिषी लोग जन्म-पत्र तथा वर्षफल के लम्बे-लम्बे खरडों मे खडे हाशिये, आडी लकीरें तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की कुण्डलियाँ लाल स्याही से ही बनाते हैं।[3] फलत काली के बाद लाल स्याही का ही स्थान आता है।[4]

पाश्चात्य जगत् मे भी लाल स्याही का कुछ ऐसा ही उपयोग होता था। चमकीली लाल स्याही का उपयोग पाश्चात्य जगत् मे पुराने ग्रन्थो मे सौन्दर्यवर्द्धन के लिए होता था। इसमे आरम्भिक अक्षर तथा प्रथम पक्तियाँ और शीर्षक लिखे जाते थे, इसी से वे 'रुबरिक्स' कहलाते थे और लेखक कहलाता था 'रुब्रीकेटर'। इसी का हिन्दोस्तानी मे अर्थ है 'सुर्खी'। जिसका अर्थ लाल भी होता है और शीर्षक भी। उधर भारत में लाल के बाद

1. हिंगली का शुद्ध करके लाल स्याही बनाने की अच्छी विधि भा जै थ. स. जैन लेखन कला में पृ॰ 45 पर दी हुई है।
2. Pandey, Rajbali—Indian Palaeography, p 85.
3. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ॰ 156।
4. '—of coloured varieties red was the most common ...,..'

—Pandey, Rajbali—Indian Palaeography, p. 85.

नीली स्याही का भी प्रचलन हुआ, हरी और पीली भी उपयोग मे लाई गई। हरी तथा पीली स्याही का भी उपयोग हुआ पर अधिकाशत जैन ग्रन्थो मे।

ओझाजी ने बताया है कि सूखे हरे रग को गोद के पानी मे घोल कर हरी जगाली और हरिताल[1] से पीली स्याही भी लेखक लोग बनाते हैं।[2]

सुनहरो एव रूपहरी स्याही

सोने और चाँदी की स्याही का उपयोग भी पाश्चात्य देशो म तथा भारत मे भी हुआ है। साहित्य मे भी प्राचीन काल के उल्लेख मिलते हैं। सोने-चाँदी मे लिखे ग्रन्थ भी मिलते है। राजे महाराजे और धनी लोग ही ऐसी कीमती स्याही की पुस्तकें लिखवा सकते थ। ये स्याहियाँ सोने और चाँदी के वरको से बनती थी। वरक को खरल मे डाल कर धव के गाद के पानी के साथ खरल म खूब घोटते थे। इससे वरक का चूर्ण तैयार हो जाता था। फिर साकर (शक्कर) का पानी डाल कर उस खूब हिलाते थे। चूर्ण के नीचे बैठ जाने पर पानी निकाल देते थ। इसी प्रकार तीन-चार बार धो देने से गोद निकल जाता था। अब जो शेष रह जाता था वह स्याही थी।[3]

सोने और चाँदी की स्याही से लिखित प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलते। ओझाजी ने अजमर के कल्याणमल ढड्ढा के कुछ ग्रन्थ देखे थे, ये अधिक प्राचीन नही थे। हा, चाँदी की स्याही म लिखा यन्त्रावचूरि ग्रन्थ 15 वी शती का उन्हे विदित हुआ था।

भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला मे अनुष्ठानादि के लिए जन्त्र-मन्त्र लिखने के लिए अष्ट गन्ध एव यक्ष कर्दम का और उल्लेख किया गया है। अष्ट गन्ध दो प्रकार से बनायी जाती है

एक 1 अगर, 2 तगर, 3 गोरोचन, 4 कस्तूरी, 5 रक्त चन्दन, 6 चन्दन, 7. सिन्दूर, और 8 केसर को मिला कर बनाते है।

दो 1 कपूर, 2 कस्तूरी, 3 गोरोचन, 4 सिंदरफ, 5 केसर, 6 चन्दन, 7 अगर, एव 8 गेहूला—इससे मिला कर बनाते है।

यक्ष कर्दम मे 11 वस्तुए मिलाई जाती हैं चन्दन, केसर, अगर, बरास, कस्तूरी, मरचककोल, गोरोचन, हिंगलो, रतजणी, सोने के वरक और अबर।

चित्र रचना और रग

'ऐनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना'[4] मे बताया गया है कि सचित्र पाडुलिपि उस हस्तलिखित पुस्तक को कहते हैं जिसके पाठ को विविध चित्राकृतियो से सजाया गया हो और सुन्दर बनाया गया हो। यह सज्जा रगो से या सुनहरी और कभी कभी रूपहली कारीगरी से प्रस्तुत भी की जाती है। इस सज्जा मे प्रथमाक्षरो को विशदतापूर्वक चित्रित करने से लेकर विषयानुरूप चित्रो तक का आयोजन भी हो सकता था, या सोने और चादी से

1 यह हरिताल, हडताल गलत लिखे शब्द या अक्षर पर फेर कर उस अक्षर को लुप्त किया जाता था। इसी से मुहावरा भी बना 'हड़ताल फेरना–नष्ट कर देना।'

2 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 44।

3 भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला पृ० 44।

4 Encyclopaedia Americana (Vol 18) p 242

खम्भात के कल्पसूत्र का एक चित्र (अपभ्रंश, १४८१ ई०)

नीली स्याही का भी प्रचलन हुआ, हरी और पीली भी उपयोग मे लाई गई। हरी तथा पीली स्याही का भी उपयोग हुआ पर अधिकाशत जैन ग्रन्थो मे।

ओझाजी ने बताया है कि सूखे हरे रग को गोद के पानी मे घोल कर हरी जगाली और हरिताल[1] से पीली स्याही भी लेखक लोग बनाते है।[2]

सुनहरी एव रूपहरी स्याही

सोने और चाँदी की स्याही का उपयोग भी पाश्चात्य देशो म तथा भारत मे भी हुआ है। साहित्य म भी प्राचीन काल के उल्लेख मिलते हैं। सोन चाँदी मे लिखे ग्रन्थ भी मिलते है। राजे महाराजे और धनी लोग ही एसी कीमती स्याही की पुस्तकें लिखवा सकते थ। ये स्याहिया साने और चाँदी के वरको स बनती थी। वरक को खरल मे डाल कर धव के गाद के पानी के साथ खरल मे खूब घोटते थे। इससे वरक का चूण तैयार हो जाता था। फिर साकर (शक्कर) का पानी डाल कर उस खूब हिलाते थे। चूर्ण के नीचे बैठ जाने पर पानी निकाल देते थ। इसी प्रकार तीन चार बार धो देने से गोद निकल जाता था। अब जो शेष रह जाता था वह स्याही थी।[3]

साने और चाँदी की स्याही से लिखित प्राचीन ग्रन्थ नही मिलते। ओझाजी ने अजमर के कल्याणमल ढड्ढा के कुछ ग्रन्थ देखे थे, ये अधिक प्राचीन नही थे। हा, चाँदी की स्याही म लिखा यन्त्रावचूरि ग्रन्थ 15 वी शती का उन्हे विदित हुआ था।

भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला म अनुष्ठानादि के लिए जन्त्र-मन्त्र लिखन के लिए अष्ट गन्ध एव यक्ष कर्दम का और उल्लेख किया गया है। अष्ट गन्ध दो प्रकार से बनायी जाती है

एक 1 अगर 2 तगर, 3 गोरोचन, 4 कस्तूरी, 5 रक्त चन्दन, 6 चन्दन, 7 सिन्दूर, और 8 केसर को मिला कर बनाते है।

दो 1 कपूर, 2 कस्तूरी, 3 गोरोचन, 4 सिदरफ, 5 केसर, 6 चन्दन, 7 अगर एव 8 गेहूला—इससे मिला कर बनाते है।

यक्ष कर्दम मे 11 वस्तुए मिलाई जाती हैं चन्दन, केसर, अगर, बरास, कस्तूरी, मरचककोल, गोरोचन, हिंगलो रतजणी, सोने के वरक और अवर।

चित्र रचना और रग

ऐनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना'[4] मे बताया गया है कि सचित्र पाडुलिपि उस हस्तलिखित पुस्तक को कहते हैं जिसके पाठ को विविध चित्राकृतियो से सजाया गया हो और सुदर बनाया गया हो। यह सज्जा रगो से या सुनहरी और कभी कभी रूपहली कारीगरी से प्रस्तुत भी की जाती है। इस सज्जा मे प्रथमाक्षरो को विशदतापूर्वक चित्रित करने से लेकर विषयानुरूप चित्रो तक का आयोजन भी हो सकता था, या सोने और चादी से

1 यह हरिनाग, हड़ताल गलत लिखे शब्द या अक्षर पर फेर कर उस अक्षर को लुप्त किया जाता था। इसी से मुहावरा भी बना 'हड़ताल फेरना-नष्ट कर देना।'

2 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 44।

3 भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला पृ० 44।

4 Encyclopaedia Americana (Vol 18) p 242

खम्भात के कल्पसूत्र का एक चित्र (अपभ्रंश, १४८१ ई०)

ताड़पत्र की पाण्डुलिपि 'निशीथचूर्णिका' पर चित्रित जिन भगवान्
जैन शैली, ११८२ वि०

ताड़पत्र को पाण्डुलिपि 'निशीथचूर्णिका' पर चित्रित सरस्वती
जैन शैली, ११८४ वि०

लोर चन्दा के चित्र (अपभ्रंश, १५४०)

चमक्ते अक्षरो से सजावट कराना। ऐसी सजावट का आरम्भ पश्चिम मे 14 वी शताब्दी
से माना जाता है। दांते ने और चॉसर ने ऐसे चित्रित हस्तलेखो का उल्लेख किया है।
भारत मे 'अपभ्रंश शैली' के चित्र जो 11 वी से 16 वी शताब्दी तक बने
मुख्यत हस्तलिखित ग्रन्थो मे मिलते है। डॉ रामनाथ ने बताया है कि "मुख्यत ये चित्र
जैन-धर्म सम्बन्धी पोथियो (पाडुलिपिया) मे बीच बीच मे छाडे हुए चोकोर स्थानो म बने
हुए मिलते हैं।"

इन चित्रो मे पीले और लाल रगो का प्रयोग अधिक हुआ है। रगो को गहरा
गहरा लगाया गया है।

"गुजरात के पाटन नगर से भगवती सूत्र की एक प्रति 1062 ई० की प्राप्त हुई
है। इसमे केवल अलकरण किया गया है। चित्र नही है सबसे पहली चित्रित कृति
ताडपत्र पर लिखित निशीयचूर्णि नामक पांडुलिपि है जो सिद्धराज जयसिह के राज्य काल
मे 1100 ई० मे लिखी गई थी और अब पाटन के जैन-भण्डार म सुरक्षित है। इसमे बेल
बूटे और कुछ पशु-आकृतियाँ हैं। 13 वी शताब्दी मे देवी देवताओ के चित्रण का बाहुल्य हो
गया। अब तक ये पोथियाँ ताडपत्र की होती थी। 14 वी शताब्दी से कागज का प्रयोग
हुआ।'[1] हम विदित है कि 14 वी शताब्दी म पश्चिम म पार्चमेंट पर पाडुलिपि लिखी
जाती थी और उन्हे चित्रित भी किया जाता था। भारत मे 3 शताब्दी पूर्व ताडपत्र पर ही
यह चित्र-कर्म होने लगा था। भारत मे 14 वी शताब्दी तक प्राय जैन धर्म ग्रन्थ सचित्र
लिखे गये, उधर 'पाल शैली'[2] की चित्राङ्कित पुस्तकें बौद्ध धर्म विषयक थी। प्राचीनतम
पाडुलिपि 980 ई० की मिलती है। डॉ० रामनाथ के ये शब्द ध्यान देने योग्य है —

' 'पाल शैली के अन्तर्गत चित्रित पोथियाँ तालपत्रो मे है। लम्बे लम्बे तालपत्र क
एक से टुकडे काट कर उनके बीच म चित्र के लिए स्थान छाड कर दोना ओर ग्रन्थ लिख
दिया जाता था। नागरीलिपि म बडे सुन्दर अक्षरो मे यह लिखाई की जाती थी। बीच क
खाली स्थानो म सुरुचिपूर्ण रगो म चित्र बनाये जाते थे। सुन्दर और सुघड आकृतियाँ
बनायी जाती थी। जिनमे बडे आकर्षक ढग मे आँखो और अन्य अग-प्रत्यगो का आलेखन
होता था।[3]

1451 म चित्रित वसन-विलास के समय स कला जैन बौद्ध एव वैष्णव धर्म का
पल्ला छोड कर लौकिक हो चली। यह एक नया मोड था। काम शास्त्र के ग्रन्थ ही नही,
प्रेम गाथाएँ जैसे चन्दायन, मृगावती आदि भी सचित्र मिलती हैं।

ये चित्र बहुधा रगीन होते थे। ये विविध रगो से चित्रित किये जाते थे। विविध
रगो की स्याही या मषी बनाई जाती थी। काली, लाल, सुनहली रुपहली आदि रगीन
स्याहियो का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। लाल रग हिंगलू से, पीला हडताल से,
धौला या सफेद सफेदे से तैयार किया जाता था। अन्य मिश्रित रग भी बनाये जाते थे
जैसे, हरताल एव हिंगलू मिला कर नारगी, हिंगलू और सफेद से गुलाबी, हरताल और
काली स्याही मिला कर नीला रग बनाया जाता था। इसी प्रकार अन्य कई विधियाँ थीं

1 रामनाथ (डॉ)—मध्यकालीन भारतीय कलाएँ और उनका विकास, पृ० 6–7।
2 वही, पृ० 6–7।
3. वही, पृ० 6–7।

जिनसे पुस्तको को चित्रित करने के लिए भाँति-भाँति के रग बनाये जाते थे। ये रग स्याही की तरह ही काम करते थे।[1]

सचित्र ग्रन्थो का महत्व

ये सचित्र ग्रन्थ कई कारणो से महत्वपूर्ण माने जाते हैं एक तो ग्रन्थ-रचना के इतिहास मे सचित्र पाडुलिपियो का महत्व है क्योंकि इन सचित्र ग्रन्थो मे विदित होता है कि मानव अपनी अनुभूतियो को किस-किस प्रकार की रगीनियो और चित्रोपमताओ से व्यक्त करता रहा है। इन अभिव्यक्तियों मे उस मानव और उसके वर्ग के सास्कृतिक बिम्ब भी समाविष्ट मिलते हैं।

दूसरे चित्रित पाडुलिपियों मे विविध प्रकार के आकारांकन और अलकरण मिलते हैं। इनमे इन अकनो के अनन्त रूप चित्रित हुए हैं जो स्वय चित्रों की अलकरण कला के इतिहास के लिए भारी सार्थकता रखते हैं।

तीसरी बात यह है कि मध्य युग मे भारत मे दसवीं शताब्दी से पांडुलिपियो में अकित चित्र[2] ही एकमात्र ऐसे साधन हैं, जिनसे मध्ययुगीन चित्रकला की प्रवृत्तियाँ एव स्वरूप समझे जा सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चित्रित पाडुलिपियों मे रग कौशल के साथ कुछ अन्य बातें भी हैं जो देखनी होती हैं।

कविता और चित्रकला दोनों ही प्रमुख ललित कलाएं मानी गई हैं। इसलिए कवि और चित्रकार का चोली-दामन का सा साथ है। जैसे ग्रन्थ को चित्रो मे सजाकर सचित्र बनाया जाता था वैसे ही चित्रों को भी कई बार सलेख बनाया जाता था, अर्थात् ग्रन्थ के विषय को समझाने के लिए जैसे चित्र-चित्रित कर दिये जाते थे उसी प्रकार किसी चित्र के विषय को स्पष्ट करने के लिए उस पर लेख या कविता की पक्ति अकित कर दी जाती थी। ऐसे चित्र-कर्म के लिए विविध रगो की स्याहियाँ तैयार की जाती थीं।

भोजदेव कृत 'समरांगण-सूत्रधार' (11 वीं० श०) मे चित्रकर्म के आठ अंगों का वर्णन है। इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरपुराण मे भी चित्रकर्म के गुणाष्टक वर्णित हैं। इन दोनो मे अन्तर अवश्य है, परन्तु लेखन अथवा लेखकर्म प्राय समान रूप से ही उल्लिखित है। ये हैं–1. वर्तिका, 2 भूमिबन्धन, 3 लेप्य अथवा लेप्य, 4 रेखाकर्माणि, 5 वर्णकर्म (कर्ण कर्म), 6 वर्त्तनाक्रम, 7 लेखन अथवा लेखकर्म और 8 द्विक कर्म-यह क्रम 'समरागणसूत्रधार' में *बताया गया है।*

1. 'वर्तिका' एक प्रकार का 'बरता' या पेंसिल होती है। इसको बनाने का प्रकार यह है कि या तो एक विशेष प्रकार की मिट्टी (जैसे पीली या काली) लेते हैं और उसका लकीरें खींचने म प्रयोग करते हैं अथवा दीपक का काजल लेकर उसको चावल के चूर्ण या आटे मे मिलाते हैं और थोडा सा गीला करके पेंसिलो जैसी यष्टिका बना कर सुखा देते हैं। चावल के आटे के स्थान पर उबला हुआ चावल भी काम मे लिया जा सकता है।

2 'भूमिबन्धन' से तात्पर्य है चित्र या लेख का आधार स्थिर करता जैसे—दीवार,

1. विस्तृत विवरण के लिए देखिये—'भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला', पृ० 119।
2 अग्रेजी में इन्हें मिनिएचर (Miniature) कहते हैं।

॥ अरस्कदायो तुमतेनहाइरै:जोतसरूपरयोन

चतुर्भुजदास की मधुमालती से चित्रित पृष्ठ

मैनासत प्रबन्ध का अन्तिम पत्र

काष्ठपट्टिका, कपडा, ताडपत्र, भूर्जपत्र या रेशमी कपडा ग्रादि। लकडी के पटरे या ताड-पत्र पर पहले सफेद रग पोतते हैं। यही सफेद रग चित्र मे भी प्रयुक्त होता है।

3 'लेख्य या लेप्य कर्म' द्वारा चित्र के लिए भूमि का लेपन या ग्रालेखन किया जाता है। जैसे जिन भागो मे ग्रमुक रग या झाई की पृष्ठभूमि तैयार करना है तो तदनुकूल रग को प्लास्टर की तरह लीपा या पोता जाता है। ग्रन्थ पर चित्र बनाने के लिए यह प्रक्रिया सदैव ग्रावश्यक नही होती, चित्र बनाते समय ही पृष्ठभूमि का रग भी भर दिया जाता है। वृहदाकार भूमि पर चित्रित होने वाले चित्रो के लिए ही इसकी ग्रावश्यकता होती है।

4 'रेखाकर्म'–फिर, कूची से रेखाएँ खीचकर चित्र का प्रारूप बनाया जाता है जिसको खाका कह सकते है।

5. इसके बाद ग्रर्थात् जब खाका पूर्णतया तैयार हो जाता है तो रग भरने का काम ग्रारम्भ होता है। इसको 'वर्णकर्म' कहते हैं। प्राचीन चित्रकार प्राय. सफेद, पीला, नीला, लाल, काला, ग्रौर हरा रग काम मे लेते थे। सफेद रग शख की राख से बनाया जाता था। पीला रग हरताल से बनता था ग्रौर इसका प्रयोग शरीरावयव सरचना तथा देवताग्रो के मुखमण्डन के लिए किया जाता था। पूर्वी भारत ग्रौर नेपाल की चित्रकारियो मे ऐसे प्रयोग खूब मिलते है। नीला रग बनाने मे नील काम मे ली जाती है। यह प्रयोग भारत में सर्वत्र ग्रौर सभी कालो म होता रहा है। लाल रग के लिए ग्रालक्तक, लाक्षारस ग्रौर गैरिक (गेरू) तथा दरद का प्रयोग होता था। काले रग की तैयारी मे कज्जल की प्रधानता थी।

हरा रग मिश्र वर्ण कहलाता है। इसको बनाने के लिए नीले ग्रौर पीले रगों को बहुत सावधानी से मिलाना होता है, फिर, छाया की मध्यमता ग्रथवा उज्ज्वलता को न्यूनाधिक करने के लिए सफेद रग भी मिलाया जाता है। प्राचीन भारतीय चित्रों म हरे रग का प्रयोग कम ही किया जाता था। मुस्लिम काल म इसका चलन ग्रधिक हुग्रा है परन्तु देखा गया है कि नील ग्रौर हरताल के मिश्रण के कारण यह रग कागज को जल्दी ही क्षति पहुचाता है। कितने ही प्राचीन चित्रो मे जहाँ हाशिये की जगह हरा रग लगाया गया है वहाँ से कागज जीर्ण होकर गल गया है ग्रौर बीच का चौखटा बच गया है।

'शिल्परत्न' ग्रौर 'मानसोल्लास' मे रगों के विषय मे विस्तार से लिखा गया है। बताया गया है कि कपित्थ ग्रौर नीम भी रग बनाने म प्रयुक्त होते थे।

6 विस्तार ग्रौर गोलाई प्रदर्शित करने के लिए रगो म जो हल्कापन ग्रौर गहरापन देकर स्पष्ट सीमाल्लेखन किया जाता है उसको 'वर्तनाक्रम' कहते हैं। इसमे वर्त्तनी ग्रर्थात् कूची के प्रयोग की सूक्ष्मता का चमत्कार प्रधान होता है। 'विष्णु धर्मोत्तरपुराण' मे 'वर्त्तनाक्रम' का विवरण द्रष्टव्य है।

7. चित्र में ग्रन्तिम निश्चयात्मक रेखाकर्म को लेखन ग्रथवा 'लेखकर्म' कहते हैं। मूल चित्र से भिन्न रग मे जो चौहद्दी बनाई जाती है वह भी इसी में सम्मिलित है।

8 कभी-कभी मूल रेखा को ग्रधिक स्पष्ट बनाने के लिए उसको दोहरा बना दिया जाता है–यह 'द्विककर्म' कहलाता है।

ग्रन्थ-रचना के काम के अन्य उपकरण रेखापाटी या समासपाटी और काबी

'रेखापाटी' का विवरण ओझाजी ने भारतीय प्राचीन लिपिमाला मे दिया है। लकडी की पट्टी पर या पट्ठे पर डोरियाँ लपेट कर और उन्हे स्थिर कर समानान्तर रेखाए बनाली जाती है। इस पर लिप्यासन या कागज रख कर दबाने से समानान्तर रेखाओ के चिह्न उभर आते हैं। इस प्रकार पाडुलिपि लिखने मे रेखाए समानान्तर रहती हैं।[1]

यही काम कावी या कविका से लिया जाता है। यह लकडी की पटरी जैसी होती है। इसकी सहायता से कागज पर रेखाए खीची जाती थी।[2] काबी का एक अन्य उपयोग होता था। पुस्तक पढते समय हाथ फेरने से पुस्तक खराब न हो इस निमित्त काबी (स॰ कबिका) का उपयोग किया जाता था। इसे पढते समय अक्षरो की रेखाओ के सहारे रखते थे, और उस पर उगली रख कर शब्दो को बताते जाते थे। यह सामान्यत बाँस की चपटी चिप्पट होती थी। यो यह हाथी दात, अकीक, चन्दन, शीशम, शाल वगैरह की भी बनाली जाती थी।[3]

डोरा डोरी

ताडपत्र के ग्रन्थो के पन्ने अस्तव्यस्त न हो जाय इसलिए एक विधि का उपयोग किया जाता था। ताडपत्रो की लम्बाई के बीचोबीच ताडपत्रो को छेद कर एक डोरा नीचे से ऊपर तक पिरो दिया जाता था। इस डोरे से सभी पत्र नत्थी होकर यथास्थान रहते थे। लेखक प्रत्येक पन्ने के बीच मे एक स्थान कोरा छोड देता था। यह स्थान डोरे के छेद के लिए ही छोडा जाता था। ताडपत्रो के इस कोरे स्थान पर की आवृत्ति हमे कागजो पर लिखे ग्रन्थो मे भी मिलती है। अब यह लकीर पीटन के समान है, अनावश्यक है। हाँ, लेखक का कुछ कौशल अवश्य लक्षित होता है कि वह इस विधि मे लिखता है वह स्थान छूटा हुआ भी सुन्दर लगता है।

ग्रन्थि

डोरी से ग्रन्थ या पुस्तक के पन्नो को सूत्र बद्ध करके इन डोरो को काष्ठ की उन पट्टिकाओ मे छेद करके निकाला जाता था, जो पुस्तक की लम्बाई-चौडाई के अनुसार काट कर ग्रन्थ के दोनों ओर लगाई जाती थी। इनके ऊपर डोरियो को कस कर ग्रन्थि लगाई जाती थी।[4] यह प्राचीन प्रणाली है। हर्ष चरित में सूत्रवेष्टनम् का उल्लेख मिलता है। इन डोरो को उक्त काष्ठपाटी मे से निकाल कर ग्रन्थि या गाँठ देने के लिए विशेष प्रणाली अपनाई गई – लकडी हाथीदाँत, नारियल के खोपडे का टुकडा लेकर उसे गोल चिपटी चकरी

1 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ॰ 157।
2 वही पृ॰ 158।
3 भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ॰ 19।
4 (93) Wooden covers, cut according to the size of the sheets were placed on the Bhurja and Palm leaves, which had been drawn on strings, and this is still the custom even with the paper MSS In Southern India the covers are mostly pierced by holes, through which the long strings are passed The latter are wound round the covers and knotted

—Buhler, G —Indian Palaeography, p 147

के रूप की बना लेते है, उसमे छेद कर उस डोर या डोरी को इस चकरी मे से निकाल कर बांधते हैं, यथार्थ मे ये चकरियाँ ही ग्रन्थि या गाँठ कही जाती हैं।[1]

हडताल

पुस्तक लेखन मे 'हडताल' फेरने का उल्लेख मिलता है। हड़ताल या हरताल का उपयोग हस्तलेखो में उन स्थलो या अशों को मिटाने के लिए किया जाता था, जो गलत लिख लिये गये थे। 'हरताल' से पीली स्याही भी बनाई जाती है। हरताल फेर देने से वह गलत लिखावट पीले रग के लेप से ढंक जाती है। कभी कभी हडताल के स्थान पर सफेदे का उपयोग किया जाता है।

परकार

ओझाजी ने बताया है कि प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको मे कभी-कभी विषय की समाप्ति आदि पर स्याही से बने कमल मिलते हैं। वे परकारो से ही बनाये हुए मिलते हैं। वे इतने छोटे होते हैं कि उनके लिए जो परकार काम मे आये होगे वे बडे सूक्ष्म मान के होने चाहिये।[2]

अध्याय 3

पाण्डुलिपि-प्राप्ति और तत्सम्बन्धित प्रयत्न : क्षेत्रीय अनुसन्धान

'पाण्डुलिपि-विज्ञान' सबसे पहले 'पाडुलिपि' को प्राप्त करने पर और इसी से सम्बन्धित अन्य आरम्भिक प्रयत्नो पर ध्यान देता है । इस विज्ञान की दृष्टि से यह समस्त प्रयत्न 'क्षेत्रीय अनुसधान' के अन्तर्गत आता है ।

क्षेत्र एव प्रकार

पाडुलिपि-प्राप्ति के सामान्यत दो क्षेत्र हैं—प्रथम पुस्तकालय, तथा द्वितीय निजी । पुस्तकालयो के तीन प्रकार मिलते हैं —एक धार्मिक, दूसरा राजकीय तथा तीसरा विद्यालयो के पुस्तकालयों का ।

1 धार्मिक पुस्तकालय—ये धार्मिक मठों, मन्दिरो, बिहारो मे होते हैं ।
2 राजकीय पुस्तकालय—राज्य के द्वारा स्थापित किये जाते हैं ।
3 विद्यालय पुस्तकालय—इनका क्षेत्र विद्यालयों मे होता है ।

पूर्वकाल मे यह विद्यालय पुस्तकालय धर्म या राज्य दोनो मे से किसी भी क्षेत्र मे या दोनो मे हो सकता था । आजकल इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है ।

निजी क्षेत्र

भारत मे घर-घर मे ग्रन्थ-रत्नो को पुराने समय से धार्मिक प्रतिष्ठाएँ मिली हुई थी । किसी के घर मे पाडुलिपियो का होना गर्व और गौरव की बात मानी जाती थी । इन पोथियो की पूजा भी की जाती थी । अतः बीसवी शती मे अनुसधान करने पर घर घर मे हस्तलिखित ग्रथो के होने का पता चला । काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने सन् 1900 ई० से जो खोज कराई उससे हमारे इस कथन की पुष्टि होती है । राजस्थान मे भी यही स्थिति है । यहां तो निजी ग्रथागार काफी अच्छे हैं । डॉ० ओझाजी ने 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' मे अजमेर के सेठ कल्याणमल ढढ्ढा के पुस्तकालय का उल्लेख किया है जिसमे मूल्यवान स्वर्ण और रजत मे लिखे ग्रथ थे । यह पुस्तकालय निजी था ।[1] बीकानेर मे श्री अगरचन्द नाहटा का निजी भण्डार काफी बडा है । यहीं बिहार के 'खुदाबख्श पुस्तकालय' का उल्लेख भी करना होगा । यह खुदाबख्श का निजी पुस्तकालय था । खुदाबख्श को अपने पिता से उत्तराधिकार मे 1900 पाडुलिपियां मिली थी । खुदाबख्श ने इस सग्रह को और समृद्ध किया । 1891 मे जब इसे सार्वजनिक पुस्तकालय का रूप दिया गया तब इसमें पाडुलिपियो की सख्या 6000 हो गई थी । सन् 1976 मे इस पुस्तकालय मे 12000

1 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 156 ।

पाडुलिपियाँ थी, 50,000 मुद्रित ग्रन्थ थे। इसी प्रकार विहार के ही भरतपुरा गाँव के श्री गोपाल नारायण सिंह का सग्रहालय भी पहले निजी ही था। सन् 1912 मे इसे सार्वजनिक पुस्तकालय बनाया गया। इस समय इसम 4000 पांडुलिपियाँ हैं, ऐसा बताया जाता है।

खोजकर्त्ता

हस्तलेखो की खोज करने वाले व्यक्ति पाडुलिपि विज्ञान के क्षेत्र के अग्रदूत माने जा सकते हैं। पर, उन्होने जिस समय से कार्य आरम्भ किया, उस समय भी दो कोटियो के व्यक्ति पाडुलिपियो के क्षेत्र मे कार्य मे सलग्न थे। एक कोटि के अन्तर्गत उच्चस्तरीय विद्वान् थे जो हस्तलिखित ग्रन्थो और ऐतिहासिक सामग्री की शोध मे प्रवृत्त थे, जैसे—कर्नल टॉड, हॉर्नले, स्टेन कोनो, वेडेल, टेसिटरी, ग्रारेल स्टाइन, डॉ० ग्रियर्सन, महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री, काशी प्रसाद जायसवाल, मुनि पुण्यविजय जी, मुनि जिनविजय जी, डॉ० राहुल साकृत्यायन, डॉ० रघुवीर, डॉ० भण्डारकर, श्री ग्रगरचन्द नाहटा, डॉ० भोगीलाल साडेसरा, डॉ० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, भास्कर रामचन्द्र भालेराव ग्रादि। दूसरी कोटि उनकी है जिन्हे एजेण्ट ग्रथवा खोजकर्त्ता कहा जा सकता है। ये किसी सस्था की ग्रोर से इस कार्य के लिए नियुक्त थे।

इनमे से प्रथम कोटि का कार्य विशिष्ट प्रकृति का होता है, उसके अन्तर्गत उनको पाडुलिपि के मर्म ग्रौर महत्त्व का तथा उसके योगदान का वैज्ञानिक प्रामाणिकता के ग्राधार पर निर्णय करना होता है।

दूसरा वर्ग सामग्री एकत्र करता है। घर घर जाता है ग्रौर जहाँ भी जो सामग्री उसे मिलती है वह उसे या तो उपलब्ध करता है या फिर उसका विवरण या टीप ले लेता है। स्वय वस्तु को या ग्रन्थ को प्राप्त करना तो बडी उपलब्धि है। पर उसका विवरण, टीप या प्रतिवेदन (रिपोर्ट) भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पुस्तक उपलब्ध हो जाने पर भी विवरण प्रस्तुत करना पहली ग्रावश्यकता है। किन्तु इससे भी पहला चरण तो ग्रन्थ तक पहुँचना ही है।

ग्रत सबसे पहला प्रश्न यही है कि पाडुलिपियो का पता कैसे लगाया जाय? इसके लिए ग्रन्थ खोजकर्त्ता मे साधारण तत्पर बुद्धि होनी ही चाहिये, उसमे समाज प्रिय या लोकप्रिय होने के गुण होने चाहिये। उसमे विविध व्यक्तियो के मनोभावो को ताडने या समझने की बुद्धि भी होनी चाहिये जो साधारण बुद्धि का ही एक पक्ष है। फिर, उसके पास कोई ऐसा गुण (हुनर) भी होना चाहिये जिससे वह दूसरो की कृतज्ञता पा सके। जहाँ ग्रन्थो की टोह लग वहाँ के लोगो का विश्वास पा सकने की क्षमता भी होना ग्रपेक्षित है। विश्वासपात्रता प्राप्त करने के लिए उस क्षेत्र मे प्रभाव रखने वाले व्यक्तियों से परिचय-पत्र ले लेने चाहिये। ऐसे क्षेत्रों मे मुखिया, पटवारी, जमीदार तथा पाठशाला के ग्रध्यापक ग्रपना-ग्रपना प्रभाव रखते हैं। इन व्यक्तियो से मिलकर हम ग्रच्छी तरह ग्रन्थो का पता भी लगा सकते हैं तथा सामग्री भी जुटा सकते हैं। ज्योतिष या हस्तरेखा विचार ग्रौर वैद्यक की कुछ जानकारी ग्रन्थ-खोजकर्त्ता को सहायक सिद्ध हुई है। इनके कारण लोग उसकी ग्रोर सहज रूप से ग्राकृष्ट हो सकते हैं। इसी प्रकार पशु चिकित्सा का कुछ ज्ञान भी तो क्षेत्रीय कार्य मे उपयोगी होगा तथा दैनिक जीवन मे काम ग्राने वाली ऐसी ग्रन्य चीजो को यदि वह जानता

है, जिनके न जानने से मनुष्य दु खी रहते हैं तो वे उनकी सहायता करने के लिए सदा प्रस्तुत रहेंगे। व्युत्पन्न मति और तत्परबुद्धि भी बडी सहायक सिद्ध हुई है।

काशी-नागरी प्रचारिणी सभा के एक ग्रन्थ खोजकर्त्ता मेरे मित्र थे। उनकी सफलता का एक बडा कारण यही था कि वे हस्तरेखा विज्ञान भी जानते थे और कुछ वैद्यक भी जानते थे। आकर्षक ढग से लच्छेदार रोचक बातें करना भी उन्हे आता था। यह भी एक बहुत बडा गुण है।

हस्तलिखित पुस्तको की खोज का ऊपर दिया गया विवरण यह बताता है कि पाडुलिपियो का सग्रह किसी सस्थान या किसी पाडुलिपि विभाग के लिए किया जा रहा है। ऊपर दी गई पद्धति से निजी सग्रहालय के लिए भी पाडुलिपियाँ प्राप्त की जा सकती हैं।

व्यवसायी माध्यम कुछ व्यक्ति व्यवसाय के लिए, अपने लिए अर्थ लाभ की दृष्टि से स्वय अनेक विधियो से जहाँ तहाँ से ग्रन्थ प्राप्त करते हैं, मुफ्त मे या बहुत कम दामो म खरीदकर वे सस्थाओ को और व्यक्तियो को अधिक दामो म बेच देते हैं। राजस्थान म राजाओं और सामन्तो की स्थिति बिगडने से उनके सग्रहो से हस्तलेख इन व्यवसायियों न प्राप्त किये थे। कभी-कभी ये ग्रन्थ ऐसे विद्वानो, कवियो और पण्डितो के घरो म भी मिलते हैं जिनकी सतान उन ग्रन्थो का मूल्य नही समझती थी या आर्थिक सकट मे पड गयी थी। व्यवसायी इनसे वे ग्रन्थ प्राप्त कर लेते हैं और सस्थाओ को बेच देते हैं। ऐसे व्यवसायियो से भी ग्रथ प्राप्त किये जा सकते हैं।

साभिप्राय खोज—खोज के सामान्य रूपो की चर्चा की जा चुकी है। इनके तीन प्रकार बताये जा चुके हैं — 1 शौकियासग्रह जो प्राय निजी सग्रहालयों का रूप ले लेते हैं। खुदाबख्श पुस्तकालय का उल्लेख हम कर चुके हैं। 2 सस्था के निमित्त वेतनभोगी एजेण्ट द्वारा, जैसे नागरी प्रचारिणी सभा ने कराया। दान की भावना से भी ग्रन्थ मिले हैं। कुछ व्यक्तियो ने अपने निजी सग्रहालय भावी सुरक्षा की भावना से किसी प्रतिष्ठित सस्थान को भेंट कर दिये है। 3 व्यवसायी के माध्यम से सग्रह।

सामान्य खोज तो होती है पर कभी कभी साभिप्राय खोज भी होती है। यह खोज किसी या किन्ही विशेष हस्तलेखो के लिए होती है। इन खोजो का इतिहास कभी कभी बहुत रोचक होता है। साभिप्राय खोज की दृष्टि से पहले यह जानना अपेक्षित होता है कि जिस ग्रन्थ को आप चाहते हैं वह कहाँ है? इसके लिए आप विविध सग्रहालयो म जाकर सूचियाँ या आगारो का अवलोकन करते हैं कुछ जानकारो से पूछते है। मुल्ला दाऊद कृत 'चन्दायन' को प्राप्त करने का इतिहास लें। आगरा विश्वविद्यालय के क० मु० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ न आरम्भ मे ही निर्णय लिया कि 'चन्दायन' का सम्पादन किया जाय।

यह सुझाव डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने दिया था। उनके सुझाव पर शिमला के राष्ट्रीय सग्रहालय को लिखा गया उसका कुछ अश वही पर था। उसकी फोटोस्टेट प्रतियाँ मगवायी गयी। विदित हुआ कि इसी ग्रन्थ के कुछ अश पाकिस्तान मे उनके लाहौर के राष्ट्रीय आगार मे हैं। उनसे भी फोटोस्टेट प्रतियाँ प्राप्त की गयो। और भी जहाँ तहाँ सपर्क किये गये। तब जितने पृष्ठ मिले उन्हें ही सम्पादित किया गया। पर, यह आवश्यकता रही कि इसकी पूरी व्यवस्थित प्रति कही से प्राप्त की जाय। हिन्दी विद्यापीठ को तो वह प्राप्त नही हो सकी परन्तु डॉ परमेश्वरी लाल गुप्त उसे प्राप्त कर सके। कैसे प्राप्त की,

इसका रोचक वृतान्त यहाँ दिया जाता है। इससे खोज के एक और मार्ग का निर्देश होता है।

डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त न एक भेंटवार्ता मे बताया कि 'चन्दायन' की उन्होने जिस प्रकार खोज की उसे 'जासूसी' कहा जा सकता है।[1]

डॉ० गुप्त को प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम मे चन्दायन के कुछ पृष्ठ मिले। उन पर भूमिका लिखने के लिए वे 'गार्सां द तासी' का 'हिंदुई साहित्य का इतिहास' के पन्ने पलट रहे थे कि उनका ध्यान उस उल्लेख की ओर आकर्षित हुआ जिसमे तासी ने बताया था कि ड्यूक ऑफ ससेक्स के पुस्तकालय म हूरक और हदा की कहानी का सचित्र ग्रन्थ था। डॉ० गुप्त समझ गये कि यह हूरक हदा 'लूरक या लोरिक' चन्दा ही हैं। यह उल्लेख तासी ने 1834 ई मे किया था।

डॉ० गुप्त जानते थे कि किसी बडे ड्यूक के मरने के बाद उसका पुस्तकालय बेचा गया होगा। उन्होने यह भी अनुमान लगा लिया कि वह पुरानी पुस्तको के विक्रेताओ ने खरीदा होगा और फुटकर बिक्री की गयी होगी।

यह अनुमान कर उन्होने इण्डिया आफिस (लदन) ब्रिटिश म्यूजियम से प्राचीन पुस्तक विक्रेताओ द्वारा प्रकाशित सूची-पत्र प्राप्त किये। उनसे पता चला कि ससेक्स का पुस्तकालय लिली नाम के विक्रेता ने खरीदा था।

आगे पता लगाया तो विदित हुआ कि लिली से अरबी-फारसी के ग्रन्थ इन भाषाओ के फ्रेंच विद्वान ग्लाड ने खरीदे।

पता लगा कि ग्लाड मर चुके हैं, पुस्तकालय बिक चुका है।

खोज आगे की। उनका सग्रह इग्लैण्ड के किसी अर्ल ने खरीदा था। अर्ल को पत्र लिखा। उत्तर देने वाले अर्ल ने बताया कि उनके पिताजी का सग्रह मेनचेस्टर विश्वविद्यालय के रिलैंड पुस्तकालय मे है।

वहाँ वह पुस्तक डॉ० गुप्त को मिल गयी।

इस विवरण से यह सिद्ध हुआ कि एक सूत्र को पकड कर अनुमान के सहारे आगे बढकर अन्य सूत्र तक पहुँचा जा सकता है, उससे अन्य सूत्र मिल सकते हैं—तब अभीष्ट ग्रथ प्राप्त हो सकता है। किन्तु इसके लिए सूत्र मिलते जाने चाहिये। भारत म ऐसे सूत्र आसानी से नही मिलते हैं।

नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज-रिपोर्टों मे प्रत्येक हस्तलेख के मालिक का नाम दिया रहता है। पूरा पता भी रहता है। आज पत्र लिखने पर न तो कोई उत्तर आयेगा, और न आगे खोज करने पर ही कुछ पता चलेगा।

किन्तु इस प्रकार की खोज मे सूत्र से सूत्र मिलाने म भी कितने ही अनुमान और उनके आधार पर कितने ही प्रकार के प्रयत्नो की अपेक्षा रहती है। बडे धैर्यपूर्वक एक के बाद दूसरे अनुमान करके उनसे सूत्र मिलान के प्रयत्न किये जाते हैं।

निश्चय ही यह भी पुस्तक खोज का एक मार्ग है।

ग्रन्थ शोधक को एक डायरी रखनी चाहिये। इसमे उसे अपने किये गये दैनदिन

1 कादम्बिनी (मासिक प्रकाशन, जून 1975), निबन्ध 'तस्करी के जाल मे कला-कृतियाँ', प्रस्तोता . श्री रमेशनाथ शाहीन पृ० 44।

उद्योगों का पूरा विवरण देना चाहिये। उसमे ये बातें रहनी चाहिये गाँव का परिचय, जिसके यहाँ ग्रन्थ मिलता है उस व्यक्ति का नाम, उसकी जाति, उसके माँ-बाप का परिचय, उसकी पीढ़ियो का संक्षिप्त इतिहास तथा यह सूचना भी कि वह ग्रंथ उनके घर में कब से है। इस प्रकार उस ग्रन्थ का उस घर मे आने और रहने का पूरा इतिहास उस डायरी में सुरक्षित हो जाएगा। कितने ग्रन्थ आपको मिले और वह किस दशा में थे, वेष्टनो में लपटे हुए रखे थे या यों ही ढेर में पड़े थे? यह उल्लेख करने की भी जरूरत है कि वे ग्रन्थपत्रो के रूप मे हैं या सिली पुस्तक के रूप में। ग्रन्थकार या रचयिता का समस्त उपलब्ध परिचय दें। जिस व्यक्ति के पास वह ग्रन्थ है उस व्यक्ति से रचयिता के सम्बन्ध का पूरा परिचय भी दें। ग्रन्थ का लेखक कौन है? यह ग्रन्थकार किस समय हुआ? ग्रंथ और उसके लेखक के संबंध मे कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित हों तो उन्हें भी डायरी में लिख लेना चाहिये।

अब पहला प्रयत्न तो यह करना चाहिए कि जिन ग्रन्थो का पता लगा है, उन्हें प्राप्त कर लिया जाय। यदि आपको ग्रन्थ भेंट में या दान में मिल जाते हैं तो बहुत अच्छा है, किन्तु यदि मूल्य से भी प्राप्य हो जाते हैं तो भी सफलता में चार चाँद लग मान जाते हैं। किसी पांडुलिपि का मूल्य निर्धारण करना कठिन कार्य है। जिन क्षेत्रों में पांडुलिपियों के महत्त्व के विषय में चेतना नहीं है वहाँ से नाममात्र का मूल्य देकर पुस्तक/पांडुलिपियाँ प्राप्त की गयी है किन्तु जिस क्षेत्र में यह चेतना आ गयी है, वहाँ तो ग्रन्थ के महत्त्व का मूल्यांकन कर ही मूल्य निर्धारित करना पड़ेगा। ग्रन्थ का महत्त्व उसके रचना-काल, उसमें वर्णित विषय की उत्कृष्टता, उसकी लेखा-प्रणाली का वैशिष्ट्य, उसमें दिये चित्र तथा सज्जा की कला आदि अनेक बातों पर निर्भर करता है।

मूल्य देकर प्राप्त या भेंट / दान में प्राप्त ग्रन्थों के सम्बन्ध में विक्रेता या दाता से प्रमाण-पत्र लेना भी अत्यन्त आवश्यक है। इसमे विक्रेता या दाता यही लिखेगा कि यह ग्रन्थ उसकी अपनी सम्पत्ति है और उसे उसके हस्तान्तरण का अधिकार है। यदि ग्रन्थ का स्वामित्व न मिल पाये तो भी ग्रन्थ का विवरण अवश्य ले लेना चाहिये।

विवरण लेना

यदि ग्रन्थ घर ले जाने के लिए न मिले तो समय निकाल कर ग्रन्थ के मालिक के घर पर ही उसकी टीप ले लें। साधारण परिचय में सबसे पहले उस ग्रन्थ के आकार प्रकार का भी परिचय दें। इसके बाद आप देखें कि वह कितने पृष्ठ का है उसकी लम्बाई-चौड़ाई और हाशिया कितना और कैसा है? हाशिया दोनों ओर कितना छूटा हुआ है और मुख्य लिखावट कितने भाग में है। यह नाप कर हम लिख देने की आवश्यकता है। उसमे कुल कितने पृष्ठ हैं और उनमे से सभी पृष्ठ हैं या कुछ खो गये हैं, पूरी पुस्तक में पृष्ठ कहाँ कहाँ कटे फटे होने से हमे सहायता नहीं पहुँचाते, छन्दों की संख्या कितनी है, किसी छन्द का क्रम भंग तो नहीं है, अध्याय के अनुसार तो छन्द नहीं बदले गये है? एक पूरे पृष्ठ मे कितनी पंक्तियाँ हैं? इस तरह हरेक पृष्ठ की पंक्तियाँ गिनना जरूरी है। यह भी देखना होगा कि उसका कागज किस प्रकार का है।

यहाँ तक ग्रन्थ का बाहरी परिचय पाने का प्रयत्न हुआ।

अब हम ग्रन्थ के अन्तरंग की ओर चलते है। इसमे तीन बातें देखनी चाहिये, पहली बात तो यह देखनी होगी कि आरम्भ में ग्रन्थकार ने क्या किसी देवता या राजा की

स्तुति की है, अपने गुरु की स्तुति की है ? फिर क्या अपना तथा अपने कुटुम्ब का परिचय दिया है और क्या रचना का रचनाकाल दिया है ? कहीं-कहीं ये बातें ग्रन्थ के अन्त मे होती हैं । यह 'पुष्पिका' कहलाती है । प्राय ग्रन्थ के अन्त मे अनुक्रमणिका भी होती है, और श्लोक सख्या दे दी जाती है । इनकी टीप लेना भी आवश्यक है ।

जो हस्तलिखित ग्रन्थ आपको उपलब्ध हुए हैं यदि उनमें से कुछ ऐसे हैं जो छप चुके है तो भी उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये । वे बहुत मूल्यवान सिद्ध हो सकते हैं । कभी-कभी उनमे भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अनोखी चीजें मिलने की सम्भावना रहती है । वे पाठालोचन मे उपयोगी हो सक्ते हैं । अब यह देखना चाहिये कि उस ग्रन्थ की भाषा किस प्रकार की है । उसम कितने प्रकार के कितने छन्द हैं और कौन-कौन से विषय ग्रन्थ मे आए हैं, उन विषयो का ग्रथ मे किस प्रकार उल्लेख किया गया है ? पांडुलिपियों मे साधारणत. तिथियाँ खास ढग से दी हुई होती हैं । बहुधा ये तिथियाँ और सवत् 'अकाना वामतो गति' के अनुसार उलटे पढे जाते हैं । फिर यह देखना चाहिये कि उस ग्रथ की शैली क्या है ? उसमे स्फुटपद हैं अथवा वह प्रबन्धकाव्य है, आदि से अन्त तक समस्त ग्रथ छद मे ही लिखा गया है या बीच-बीच मे गद्य भी सम्मिलित है, गद्य किस अभिप्राय से किस रूप मे आया है, इन बातो का भी टीप मे विवरण दिया जाना चाहिये ।

विवरण प्रस्तुत करने का स्वरूप

इस प्रकार ग्रन्थ तक पहुँच कर और उससे कुछ परिचित होकर पहली आवश्यकता होती है कि उसका व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत किया जाय । यहाँ हम कुछ विवरण उद्धृत कर रहे हैं, जिनसे उनके वैज्ञानिक या व्यवस्थित स्वरूप की स्थापना मे सहायता मिल सकती है ।

उदाहरण : कुब्जिकामतम् का

1898–99 मे महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने एशियाटिक सोसाइटी ऑव बगाल के तत्वावधान मे नेपाल राज्य के दरबार पुस्तकालय के ग्रन्थो का अवलोकन किया और उन ग्रन्थो का विवरण प्रस्तुत किया । उसमे से एक ग्रन्थ 'कुब्जिकामतम्' का विवरण यहाँ दिया जाता है ।[1]

(क) (291का) (ख) कुब्जिकामतम् (कुलालिकाम्नायान्तर्गतम्) (ग) $10 \times 1\frac{1}{2}$ inches, (घ) Folio, 152 (ङ) Lines 6 on a page (च) Extent 2,964 slokas, (छ) Character Newari, (ज) Date ; Newar Era 229. (झ) Appearence, Old (ञ) Verse.

BEGINNING ॐ नमो महाभैरवाय

सकर्ता मण्डलान्ते क्रमपदनिहितानन्दशक्ति. सुभीमा
सृष्टयाद्य चतुष्क अकुलकुलनत पचकं चान्यषट्कम् ।
चत्वार. पचकोऽन्य पुनरपि चतुरस्तत्वतो मण्डलेदं
ससृष्ट येन तस्मै नमत गुरुतर भैरवं श्रीकुजेशम् ।।१।।

1 Sastri, H. P — A Catalogue of Palm leaf and Selected Paper MSS belonging to the Durbar Library, Nepal

श्री मरिमवत: पृष्ठे त्रिकूटशिखरानुगम्
सन्तानपुटमध्य स्थमनेका काररूपिणम् ॥
.......................त्रिप्रकारन्तु त्रिशक्ति त्रिगुणोज्वलम्
चन्द्र सूर्यकृता.....................स्वाह्नि देदीप्यवर्च्चसम् ।
....
कार्यकारणाभेदेन किंचित्कालमपेक्षया ।
तिष्ठते भैरवीशान मौनमांदाय निश्चलम् (?)
तत्र देवगणा: सर्वे सकिन्नरमहोरगा :
कुर्व्वन्ति कलकलाराव समागत्य समीपत: ॥
श्रुत्वा कलकलाराव को भवान् किमिहागत.
हिमवान् तु श्रसन्नात्मा गतोह्यन्वेषणं प्रति ॥ इत्यादि ॥
नानेन रहिता सिद्धिर्मुक्तिर्नविद्यते ।
निराधारपद ह्ये तत् . तद्वेद परमपदम् ।२।

COLOPHON इति कुलालिका माये श्रीमद् कुब्जिकामते समस्तस्थानावबोधश्चर्य्या निर्देशो (२) नाम पचविंशतिम: पटल समाप्त.। संवत् २६६ फाल्गुन कृष्णा।।

विषय : इति श्री कुलालिकाम्नाये श्री कुब्जिकामते चन्द्रद्वीपावतारो नाम: । १ पटल।

प्रापय्यायै	कौमार्य्याधिकारी	नाम	।2।
मन्थानभेद	प्रचाररतिसगमो	नाम	।3।
मन्त्रनिर्णयो	गह्वर मालिन्यो	द्वारे	।4।
वृहत्समयोद्धार:	शब्दराशि मालिनीतद्ग्रह व्याप्ति	निर्णय	।5।
जय	मुद्रानिर्णय,		।6।
मंत्रोद्धारे	षडगविधाधिकारोनाम		।7।
स्वच्छन्दशिखाधिकारो		नाम	।8।
शिरवाकल्येक	देशो (?)	नाम	।9।
देव्यासमयो	(?) नाम	मन्त्रोच्चारे	।10।
षट्प्रकार	निर्णयो	नाम	।11।
षट्प्रकाराधिकारवर्णनो		नाम	।12।
दक्षिणाषट्	कपटिज्ञानो	नाम	।13।
देवीदूती	निर्णयो	नाम	।14।
षट् प्रकारे	योगिनी	निर्णय:	।15।
षट् प्रकारे	महानन्द मन्त्रको	नाम	।16।
षट्द्वय	हंस निर्णयो	नाम	।17।
चतुष्कस्य	पदभेदम्		।18।
चतुष्क	निर्णयो	नाम	।19

चन्द्र	द्वीपावतारो		नाम	।20।
द्वीपाम्नायो			नाम	।21।
समस्त	व्यस्तव्याधि	निर्णयो	नाम	।22।
नि: कालमुत्	कान्ति	सम्बन्ध		।23।
तद्ग्रह्य पूजा	विधि	पवित्रारोहणम्		।24।
समस्त स्थानावस्कपश्चर्या		निर्देशो (?)	नाम	।25।

इसमे सबसे पहले (क) ग्रन्थ की पुस्तकालय-गत सख्या विदित होती है। यह ग्रन्थ-सन्दर्भ है। (ख) पुस्तक का नाम उसकी उप व्याख्या के साथ है। उप व्याख्या कोष्ठकों मे दी गई है।

(ग) मे पुस्तक का आकार बताने के लिए पृष्ठ की लम्बाई 10 इच, चौडाई $1\frac{1}{2}$ इच बताई गई है। इसे सक्षेप मे यो 10"×1/1.2" बताया गया है। (घ) मे फोलियो या पृष्ठ सख्या बताई गई है। यह 152 है। (ङ) मे प्रत्येक पृष्ठ मे पक्ति सख्या बतायी गयी है। 6 पक्ति प्रति पृष्ठ। (च) मे ग्रन्थ परिमाण—कुल श्लोक सख्या 2964 बतायी गयी है। (छ) म लिपि प्रकार है—लिपि प्रकार 'नेवारी लिपि' बताया गया है। (ज) मे तिथि का उल्लेख है-यह है नेवारी सवत् 299 (झ) मे 'रूप' का विवरण है—रूप मे यह प्रति प्राचीन लगती है। पद्यबद्ध है, यह बात (ञ) मे बतायी गयी है।

इतनी सूचनाएँ देकर ग्रन्थ मे से पहले आरम्भ के कुछ पद्य उदाहरणार्थ दिये गये हैं। तब 'अन्त' के भी कुछ अश उदाहरणस्वरूप दिये गये हैं।

यही पुष्पिका (Colophon) उद्धृत की गई है। यहाँ तक ग्रन्थ के रूप विन्यास का आवश्यक विवरण दिया गया है। तब विषय का कुछ विशेष परिचय देने के लिए क्रमात् 'विषय सूची' दे दी गई है। प्रत्येक विषय के आगे दी गई सख्या परिच्छेदसूचक है।

उदाहरण : डॉ टेसीटरी के सर्वेक्षण से

अब एक उद्धरण डॉ॰ टेसीटरी के राजस्थानी ग्रन्थ सर्वेक्षण से दिया जाता है। एशियाटिक सोसाइटी ऑव बगाल ने इन्हे 1914 मे सुपरिटेंडेंट 'बारडिक एण्ड हिस्टोरिकल सर्वे ऑव राजपूताना' बनाया। उनके ये ग्रन्थ-सर्वेक्षण 1917—18 के बीच मे सोसाइटी द्वारा प्रकाशित किये गये। इन्ही मे से 'गद्यभाग' के अन्तर्गत 'ग्रन्थाक 6' का विवरण 'परम्परा' मे डॉ॰ नारायणसिह भाटी द्वारा किये गये अनुवाद के रूप मे नीचे दिया जा रहा है।

ग्रन्थाक—6—नागौर के मामले री बात नै कविता[1]

गुटके के रूप मे एक छोटा-सा ग्रथ, पत्र 132, आकार 5"×$5\frac{1}{8}$" पृ 21 व 26 ब, 45ब—96ब, तथा 121 ब — 132 ब खाली हैं। लिखे हुए पन्नो मे 13 से 27 अक्षरो वाली 7 से 16 तक पक्तियाँ हैं। पृ॰ 100—125 पर साधारण (नौसिखिए के बनाए हुए) चित्र पानी के रगो मे 'रसूल रा दूहा' को चित्रित करने के लिए बनाए गए हैं (देखें नीचे घ)। ग्रन्थ कोई 250 वर्ष पुराना लिपिबद्ध है। पृ॰ 7 ब पर लिपिकाल स॰ 1696 जेठ सुद 13 शनिवार और लेखक का नाम रघुनाथ दिया गया है। लिपि मारवाडी

1. 'परम्परा' (भाग 28-29), पृ॰ 25-26।

है और ड तथा ड मे भेद नही किया गया है । ग्रन्थ मे निम्न कृतियाँ हैं
(क) परिहाँ दुहा वगेरे फुटकर वाता, पृ० 1 अ 11 ब
(ख) नागौर रै मामलै री कविता, पृ० 12 अ 21 अ ।

इसमें तीन प्रशस्ति कविताएँ हैं—एक गीत एक झमाक तथा एक नीसाणी जिसका विषय करणसिंह और नागौर के अमरसिंह की प्रतिस्पर्द्धा है, जिसका उद्धरण दूसरे अनुच्छेद मे नीचे दिया गया है । इन कविताओ मे मुख्यतया बीकानेर के सेनाध्यक्ष मुहता वीरचन्द की वीरता का बखान किया गया है। गीत का रचयिता जगा है और झमाक का लेखक चारण देवराज बीकूपुरिया है । नीसाणी के लेखक का नाम नही दिया गया है ।

तीन कविताओ की प्रारम्भिक पक्तियाँ क्रमश निम्न प्रकार हैं
गीत—दलाथम रूदरु भ··············आदि
झमाल—कैरव पाँडव कलहीया ·······आदि
नीसाणी —अबरल दवी अपट सपर·········आदि
(ग) नागौर रै मामलै री बात, पृ० 27 अ—45 ब ।

जाखणिया ग्राम को लेकर बीकानेर और नागौर के बीच स० 1699–1700 के मध्य जो सघर्ष हुआ था उसका बडा बारीक और दिलचस्प वृतात इसमे है । जबसे नागौर, जोधपुर के राजा गजसिह के पुत्र राव अमरसिंह को मनसब मे प्रदान किया गया, जाखणिया गाँव बीकानेर के महाराजा के अधिकार मे ही चला आता था परन्तु स० 1699 मे नागौरी लोगो ने जाखणिया ग्राम के आस-पास खेत बो दिये इससे झगडे का सूत्रपात हुआ जिसका अन्त स० 1700 के युद्ध के बाद हुआ, जिसमे अमरसिंह की फौज को खदेड दिया गया और उसका सेनापति सिंघवी सींहमल भाग खडा हुआ । युद्ध सम्बन्धी वृर्त्तान्त ठेठ अमरसिंह की मृत्यु तक चला है । यह छोटी-सी कृति बडे महत्त्व की है क्योकि इसमे अनेक बातो पर बारीकी से प्रकाश डाला गया है जो उस समय की सामन्ती जीवन-व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डालती हैं । इसका प्रारम्भ होता है —

बीकानेर महाराजा श्री करनीसिंह जी रै राज ने नागौर राउ अमरसिंह गजसिघौत रो राज सु नागौर बीकानेर रो कॉंकड गाव (०) 1 जाषणीयो सु गाव बीकानेर रो हुतो ने नागौर रा कहे नु गाव माहरोद्वीवहीज असरचो हुतो·······आदि ।

अन्त इस प्रकार है—

इसडो काम मुहते रामचन्द नु फवीयो बडो नाव हुयो पातसाही माहे बदीतो हुवो इसडो बीकानेर काही कामदार हुयो न को हुसी । (घ) रसालू रा दूहा पृ० 99 ब 115 ब । इसमे 33 दोहे हैं । प्रारम्भ—ऊँच (?) 3 महल्ल चवदडो ॥2॥ यह दूसरे दोहे का चौथा चरण है और अन्तिम—राजा भोजु जुहारवं ॥31॥ (ड) किवलास रा दूहा पृ० 116 अ—117 ब । इसमे 30 छन्द हैं । प्रारम्भ किणही सावण सयोग—आदि ।

इस विवरण मे टेसीटरी महोदय ने सबसे पहले ग्रन्थ के आकार को हृदयगम कराने के लिए इसे गुटका बताया है । उसके आगे भी व्याख्या में 'छोटा-सा ग्रन्थ' कहा है । टेसीटरी महोदय ग्रन्थ की आकृति के साथ उसके वेष्टन आदि का भी उल्लेख कर देते हैं : यथा, ग्रथाक एक में पहली ही पक्ति है "394 पत्रो का चमडे की जिल्द मे बँधा वृहदाकार ग्रन्थ" । ग्रथाक 2 मे भी ऐसा ही उल्लेख है कि "कपडे की जिल्द में बँधा 82 पत्रो का

सामान्य ग्रंथ" । तब पत्रों की सख्या बतायी है, '132' । पत्रों का प्राकार है 5"×5।1।2" । इन 132 पत्रों मे सामग्री का ठीक अनुमान बताने के लिए यह भी उल्लेख किया गया है कि कितने और कौन-कौन से पृष्ठ खाली हैं । फिर पंक्तियों की गिनती प्रति पृष्ठ तथा प्रत्येक पंक्ति मे अक्षर का अनुमान भी बताया गया है कि इसमे 13 से 27 अक्षरो वाली 7 से 16 तक पंक्तियाँ हैं ।

पुस्तक चित्रित है । चित्र कितने हैं ? कैसे हैं ? और किस विषय के हैं, इनका विवरण भी दिया गया है—

चित्र कितने हैं ? 16
किन पृष्ठो पर हैं ? 'पृ० 100—115 तक' पर ।
कैसे हैं ? नौसिखिये के बनाये, पानी के रगो के ।
विषय क्या है ? 'रसूल रा दूहा' को चित्रित करने वाले ।
फिर लिपिकाल का अनुमान दिया गया है —
"कोई 250 वर्ष पुराना लिपिबद्ध ।"

यदि लेखक और लिपिकार का भी उल्लेख कही ग्रन्थ मे हुआ है तो उसका विवरण भी है —

कहाँ उल्लेख है ? पृ० 7 ब पर
लिपिकाल क्या है ? स० 1696, जेठ सुद 13, शनिवार
लिपिकार का नाम क्या है ? रघुनाथ

लिपि की प्रकृति भी बतायी गयी है—लिपि मारवाडी । एक वैशिष्ट्य भी बताया है कि 'ड' तथा 'ड' मे अन्तर नही किया गया । तब ग्रन्थ के विषय का परिचय दिया गया है ।

कुछ और उदाहरण ले

अन्य उदाहरण पृथ्वीराज रासो

(क) प्रति स० 5 (ख) साइज 10×11 इच (ग) 1–पुस्तकाकार, (ग) 2–अपूर्ण, और (ग) 3–बहुत बुरी दशा मे है । (घ) इसके आदि के 25 और अन्त के कई पन्ने गायब हैं जिसमे आदि–पर्व के आरम्भ के 67 रूपक और अन्तिम प्रस्ताव (वाण वेध सम्यो) के 66वें रूपक के बाद का समस्त भाग जाता रहा है । इस समय इस प्रति के 786 (26–812) पन्ने मौजूद हैं । बीच मे स्थान-स्थान पर पन्ने कोरे रखे गये हैं जिनकी सख्या कुल मिलाकर 25 होती है । प्रारम्भ के 25 पन्नो के नष्ट हो जाने से इस बात का अनुमान तो लगाया जा सकता है कि अन्त के भी इतने ही पन्ने गायब हुए हैं । (ङ) 1–पर अन्त के इन 25 पन्नो मे कौन-कौनसे प्रस्ताव लिखे हुए थे, इनमे कितने पन्ने खाली थे, इस प्रति को लिखवाने का काम कब पूरा हुआ था और (ङ) 2–यह किसके लिए लिखी गई थी ? इत्यादि बातों को जानने का इन पन्नो के गायब हो जाने से अब कोई साधन नही है । लेकिन प्रति एक-दो वर्ष के अल्पकाल मे लिखी गई हो, ऐसा प्रतीत नही होता, क्योंकि (च) इसमें नौ-दस तरह की लिखावट है और (छ) प्रस्तावो का भी कोई निश्चित क्रम नहीं है । ज्ञात होता है, रासो के भिन्न भिन्न प्रस्ताव जिस क्रम से और जब-जब भी हस्तगत हुए वे उसी क्रम से इसमे लिख लिये गये हैं । (ज) 'ससिव्रता सम्यो',

'सलप युद्ध सम्य' और 'अनगपाल सम्यौ' के नीचे उनका लेखन-काल भी दिया हुआ है। ये प्रस्ताव क्रमश स० 1770, स. 1772 और स. 1773 के लिखे हुए हैं, लेकिन 'चित्ररेखा', 'दुर्गाकेदार' आदि दो एक प्रस्ताव इसमें ऐसे भी हैं जो कागज आदि को देखते हुए इनसे 25–30 वर्ष पहले के लिखे हुए दिखाई पडते हैं। साथ ही 'सोहाना अजान बाहु सम्यौ' स्पष्ट ही स० 1800 के आस पास का लिखा हुआ है। कहने का अभिप्राय यह है कि रासौ की यह एक ऐसी प्रति है जिसको तैयार करने में अनुमानत 60 वर्ष (स 1740–1800) का समय लगा है।

भिन्न भिन्न व्यक्तियो के हाथ की लिखावट होने से प्रति के सभी पृष्ठो पर पंक्तियो और अक्षरो का परिमाण भी एकसा नहीं है। किसी पृष्ठ पर 13 पंक्तियाँ, किसी पर 15, किसी पर 25 और किसी किसी पर 27 तक पंक्तियाँ हैं। लिखावट प्राय सभी लिपिकारो की सुन्दर और सुपाठ्य है। पाठ भी अधिकतर शुद्ध ही है। दो एक लिपिकारो ने संयुक्ताक्षरो में लिखने मे असावधानी की है और ख्ख, ग्ग, त्त इत्यादि के स्थान पर क्रमशः ख, ग, त आदि लिख दिया है, जिससे कही-कही छदोभग दिखाई देता है। पर ऐसे स्थान बहुत अधिक नही है। इसम 67 प्रस्ताव हैं। उपरोक्त प्रति स० 2 के मुकावले म इसमे तीन प्रस्ताव (विवाह सम्यौं, 'पद्मावती सम्यौं और रेणसी सम्यो) कम और एक (समरसी दिल्ली सहाय सम्यो) अधिक हैं।

इस प्रति मे से 'ससिव्रता सम्यो' का थोडा-सा भाग हम यहाँ देते हैं। यह सम्यौ, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, स० 1770 का लिखा हुआ है —

दूहा

आदि कथा शाशिवृत की कहत अब समूल।
दिल्ली वै पतिसाह ग्रहि कहि लहि उनमूल ।।१।।

अरिल्ल

ग्रीषम ऋतु क्रीडत सुराजन। पिति उक्लत पेह नभ छाजन ।।
विषम बाय तप्पित तनु भाजन। लागी शीत सुमीर सुराजन ।।

कवित्त

लागी शीत फल मद नीर निकट सुरजत पट।
भ्रमित सुरग सुगध तनह उबटत रजत पट।
मलय चन्द मल्लिका धाम धारा–ग्रह सुवर।
रजि विपिन वाटिका शीत द्रुम छाह रजतत्तर ।।
कुमकुमा अग उबटत अधि मधि केसरि धनसार धनि।
कीलत राज ग्रीषम सुरिति आगम पावस तईय भनि ।।

इसकी प्रति मेवाड के प्रसिद्ध कवि राव बख्तावर जी के पौत्र श्री मोहनसिंह जी राव के पास है।[1]

1 राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग), पृ० 64–65।

इस विवरण मे 'क' के द्वारा तो ग्रन्थ का क्रमाक दिया गया है ।

(ख) मे आकार या साइज दी गई है—10 इच चौडी × 11 इच लम्बी

(ग) मे विशिष्ट आकार बताया गया है—इसमे पहले तो यह उल्लेख है कि यह पुस्तकाकार है । पुस्तकाकार से अभिप्राय है कि सिली हुई पुस्तक है, पत्राकार नही कि जिसमे पत्र अलग-अलग रहते है ।' फिर, कुछ अन्तरग परिचय दिया है कि पुस्तक अपूर्ण है । फिर ऊपरी दशा बताई गई है । 'बहुत बुरी दशा'। दशा का यह वर्णन लेखक ने अपनी रुचि के रूप मे किया है । बुरी दशा की व्याख्या नही दी है ।

(घ) मे आन्तरिक विवरण है— पहले इसका स्थूल पक्ष है । इस स्थूल पक्ष मे 'पन्नो' की दशा' बताई गई है । इसमे जिन बातो का उल्लेख किया जाता है वे हैं पन्ने गायब हैं क्या ? कितने और कहाँ कहाँ से गायब हैं ? क्या कुछ पन्ने कोरे छोड दिये गये हैं ? कितने और कहाँ पन्ने कोरे छोड़े गये हैं ? अब कुल कितने पन्ने ग्रन्थ मे हैं ? क्या पन्ने की ऐसी दशा से ग्रन्थ की वस्तु को ग्रहण करने मे कुछ बाधा पडी है ?

यह अन्तिम प्रश्न स्थूल पक्ष मे सम्बन्धित नही है । यह तो अन्तरग पक्ष अर्थात् ग्रन्थ की वस्तु से सम्बन्धित है । वस्तुत यह स्थूल और अन्तरग को जोडने का प्रयत्न भी करता है । इसी दृष्टि से यह प्रश्न भी यहाँ दिया गया है ।

(ङ) अब अन्तरग पक्ष मे निम्नलिखित बातो की जानकारी दी गई है पहली बात तो यही बतायी गयी है कि पन्नो के गायब हो जाने या नष्ट हो जाने का क्या प्रभाव पडा है ? यह सूचना दी जाती है कि 'इन पृष्ठो मे क्या था अब नही बताया जा सकता, ग्रन्थ आवश्यक सूचनाएँ भी नही मिल सकती ।'

(च) अन्तरग पक्ष म ही यह जानकारी अपेक्षित होती है कि पुस्तक मे एक ही लिखावट है या कई लिखावटें हैं ।

(छ) क्या अध्याय क्रम ठीक है, या अस्तव्यस्त और अक्रम (रासो मे अध्याय को प्रस्ताव' या 'सम्यो' का नाम दिया गया है ।)

(ज) ग्रन्थ म लिपिकाल की सूचनाएँ या अन्य सूचनाएँ क्या क्या हैं ?

ये सभी बातें आन्तरिक विवरण के अन्तरग पक्ष ग सम्बन्धित है । विवरण लेखक उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनुमानाश्रित अपने निष्कर्ष भी दे सकता है ।

एक और विवरण लें

उदाहरण रुक्मिणी मगल

327-रुक्मिणी मगल, पदम भगत कृत ।

(क) प्रत्येक राग रागिनी के अन्तर्गत आए छन्दो की सख्या पृथक्-पृथक् है ।

(ख) पत्र सख्या--83 है ।

(ग) अपेक्षाकृत मोटे देशी कागज पर है ।

(घ) आकार 11×5 5 इच का है ।

(ङ) हाशिया—दाएँ—एक इच, बाँए-एक इच है ।

(च) पक्ति—प्रति पृष्ठ 10 पक्तियाँ है ।
(छ) अक्षर-प्रति पक्ति 26–30 तक अक्षर हैं ।
(ज) लिपि-पाठ्य है, किन्तु बीच मे कई पन्नो के आपस मे चिपक जाने से कही-कही अपाठ्य है ।
(झ) श्री साहबरामजी द्वारा
(ञ) यह प्रति स० 1935 मे लिपिबद्ध की गयी ।
(ट) प्राप्ति स्थान—लोहावट साथरी है ।
(ठ) आदि का अश—"श्री विष्ण जी श्री रामचन्द्र जी नम"
(ड) अथ श्री प्रदमईया कृत
(ढ) रुकमणी मगल लिषत
(ण) दोहा — ससार सागर अथाग जल ।। सूझत वार न पार ।।
गुर गोविन्द कृपा करो ।। गाँवाँ मगल चार ।।१।।"
(त) अन्त का अश— जो मगल कू सुन गाय गुन है बाजे अधिक बजाये
पूरण ब्रिह्म पदम के स्वामी [मुक्त भक्त फल पाय । 5।।192
(थ) ईती श्री पदमईया कृत रुकमणी मगल सम्पूर्ण
(थ) 1—समत् 1935 रा वृष मीती भाद्रवाद्व 4 वार आदितवारे लीपीकृत
(थ) 2—शाध श्री 108 श्री महतजी श्री आतमारामजी का मिष शायबरामेण
(थ) 3—गांव फीटकासणी मेधे
(थ) 3–1विष्णुजी के मीदर मे
(थ) 4—जीमी प्रती देषी (प्रति) तसी लिषी मम दोस न दीजीये—
(थ) 4–1हाथ पाव कर कुबडी मुप अरु नीचें नेंन । ईन कष्टाँ पोथी लीपी तुम नीके राषीयो सेन ।
(द) सुभमस्तु कल्याणमस्तु विष्णुजी । (भिन्न हस्तलिपि मे)
(ध) 1—प्रती व्यावलो श्रीकिसन रुकमणी रो मगलाचा॰ री पोथी साद गोविददास विष्णु बैईरागी की कोई उजर करण पावैंही ।। माद रूपराम बिसनोइयाँ रा कना सु लीनो छै गाँव रामडावास रा छै।[1]

इसमे—
(क) म कृतिकार का नाम दिया गया है ।
(ख) ॰ यह सूचना है कि राग रागिनी म छ द सख्या अलग अलग है । (यह अन्तरग पक्ष है)
(ग) 'कागज विषयक सूचना (आकार एव स्वरूप पक्ष से सम्बन्धित) मोटा देशी कागज। वस्तुत कागज या लिप्यासन की प्रकृति बताना बहुत आवश्यक है । कभी-कभी इससे काल निर्धारण मे भी सहायता मिलती है, कागज के विविध प्रकारों का ज्ञान भी अपेक्षित है ।
(घ) मे आकार बताते हुए इचो मे लम्बाई-चौडाई बतायी गई है ।
(ङ) यह लेखन-सज्जा से सम्बन्धित है : हाशिये कैसे छोडे गये हैं दाँये और बाँये दोनो ओर हाशिये हैं ;

1 माहेश्वरी, हीरालाल (डॉ०)—जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० 120 ।

(च) मे प्रत्येक पृष्ठ मे पक्ति सख्या का निर्देश है।
(छ) मे प्रति पक्ति मे अक्षर-सख्या बतायी गयी है।
(ज) मे लिपि—इसमे सुपाठ्य या अपाठ्य की बात बतायी गई है। (लिपि का नाम नही दिया गया है। लिपि नागरी है।)
(झ) मे लिपिकार का नाम,
(न) मे लिपिबद्ध करने की तिथि,
(ट) मे प्राप्ति स्थान की सूचना है।

आन्तरिक परिचय ·

(ठ) मे ग्रन्थ के 'आदि' से अवतरण दिया गया है। ग्रन्थारम्भ 'नमोकार' से होता है इसमे साम्प्रदायिक इष्ट को नमस्कार है।
(ड) ग्रन्थ के आदि मे पुष्पिका है। इसमे रचनाकार और
(ढ) ग्रन्थ का नाम दिया गया है। तब
(ण) ग्रन्थ का प्रथम दोहा उद्धृत है, यह दोहा 'मगलाचरण' है।
(त) में 'अन्त के अश का उद्धरण है, जिसमे ग्रन्थ की 'फल श्रुति' है, यथा 'मुक्ति भक्ति फलपाया'
(थ) मे ग्रन्थ के अन्त की 'पुष्पिका' (Colophon) है। जिसमें 'इति' और सम्पूर्ण' से ग्रन्थ के अन्त और सम्पूर्ण होने की सूचना के साथ रचनाकार एव ग्रन्थ-नाम दिया गया है। तब (थ) 1–लिपिबद्ध करने की तिथि, (थ) 2–लिपिकार का परिचय, (थ) 3–मे लिपिबद्ध किये जाने के स्थान-गाँव का नाम है एव (थ) 3–।उस गाँव मे वह विशिष्ट स्थान (विष्णु मन्दिर) जहाँ बैठ कर लिखी गई। (थ) 4–लिपिकार की प्रतिज्ञा और दोषारोपण की वर्जना है। (थ) 4 1मे पाठक एव सरक्षक से निवेदन है, इसका स्वरूप परम्परागत है।
(द) आशीर्वचन।
(ध) 1–भिन्न हस्तलिपि मे पुस्तक के मालिक की घोषणा।

उदाहरण–एक पोथी

एक और ग्रन्थ के विवरण को उदाहरणार्थ यहाँ दिया जा रहा है। इस ग्रथ का विवरण म लेखक न 'पोथी'[1] बनाया है —

81 पोथी, जिल्दवधी (ब, प्रति)। यत्र-तत्र खण्डित। एकाध पत्र-अप्राप्य। अपक्षाकृत मोटा देशी कागज। पत्र सख्या 152। आकार 10×7 इच। हाशिया-दाएँ बाएँ . पौन इच। तीन लिपिकारों द्वारा स० 1832 स 1839 तक लिपिबद्ध। लिपि, सामान्यत पाठ्य। पक्ति, प्रति पृष्ठ।

(क) हरजी लिखित रचनाओ मे 23–29 तक पक्तियाँ हैं।
(ख) तुरछीदास लिखित सवदवाणी में 31 पक्तियाँ हैं, तथा।
(ग) ध्यानदास लिखित रचनाओं में 24–25 पक्तियाँ हैं। अक्षर-प्रति-पक्ति-क्रमशः (क)मे 18 से 20 तक, (ख)मे 24 से 25 तक तथा (ग)में 23 से 25 तक।

1. माहेश्वरी, हीरालाल (डॉ०)—जाम्भोजी, विश्नोई सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० 41–42।

गांव 'मुकाम' के श्री बदरीराम थापन की प्रति होने से इसका नाम ब० प्रति रखा गया है। इसमें ये रचनाएँ हैं—

(क) श्रौतार पात का बर्णाण, वील्होजी कृत। छन्द सख्या 140 ।
(ख) गूगलीयैं की कथा, वील्होजी कृत। छन्द सख्या 86। (प्रथम रचना का अन्तिम और दूसरी के आरम्भ का एक पन्ना भूल से शायद जिल्द बांधने समय, 'कथा जैसलमेर की' के बीच म लग गया है।)
(ग) सच अखरी विगतावली, वील्होजी कृत। छन्द सख्या –48 ।
(घ) कथा दूणपुर की, बील्होजी कृत। छन्द सख्या–60 ।
(ङ) कथा जैसलमेर की, बील्होजी कृत। छन्द सख्या–89 ।
(च) कथा श्रोरडा की, बील्होजी कृत। छन्द सख्या–33 ।
(छ) कथा ऊदा अतली की, केसोजी कृत। छन्द सख्या–77 ।
(ज) कथा सैंसे जोषाणी की, कैंसोदासजी कृत। छन्द सख्या–106 ।
(झ) कथा चीनोड की, कैंसोदासजी कृत। छन्द सख्या-130 ।
(न) कथा पुल्हेजी की, वील्होजी कृत। छन्द सख्या–25 ।
(ट) कथा असकदर पातिसाह की, केसोदासजी कृत। छन्द सख्या–191 ।
(ठ) कथा बाल लीला, कैंसोदासजी कृत। छन्द सख्या–61 ।
(ड) कथा ध्रमचारी तथा कथा-चेतन, सूरजनदास जो कृत। छन्द सख्या–115 ।
(ढ) ग्यान महातम, सुरजनदासजी कृत। छन्द सख्या–199 ।

सभत् 1832 मिती जेठ बद 13 लिषते वणिबाल हरजी लिषावतं अतित रासाजी लालाजी का चेला पोथी गांव जायाणीया मझे लिपी छै सुभ मसतु कल्याण ॥

कथा चतुरदस मे लिपी अरज करू कर धारि।
घट्य बधि अक्षर जो हुवै। सन्तो ल्योह सुधारि ॥1॥

(ण) पह्लाद चिरत, कैंसोदासजी कृत। छन्द सख्या–595। (त) श्री वायक झाभैंजी का (सबदवाणी) पद्य प्रसग समेत। सबद सख्या-117। आदि का अश–श्री परमात्मनेनम श्री गणेसायनमः। लिषते श्री वायक झाभैंजी का ॥

काचै करवै जल रख्या । सबद जगाया दीप ।
वामण कूं परचा दिया। ग्रैसा असा अचरज कीप ॥1॥
जो बूझया सोई कह्या । अलष लषाया भेव ॥
घोपा सर्व गमाईया। जदि सबद कह्या झभदेव ॥2॥

शबद ॥ गुर चीन्हो गुर चिन्ह पिरोहित। गुर मुष धरम वषाणी ॥

अन्त का अश भलीयां होइ त भल बुधि आवे। बुरिया बुरी कमावे ॥117॥ सवत 1833॥ तिथ तीज भादवो सुदि। सहर गोर मध्ये लिषते। वषत सागर तटे। लिपावतुं रासा अतीत झाभापथी॥ शबद झाभैंजी का सपूरण ॥ लिषतेतू तुलीछीदास ॥ झाभापथी केसोदास जी का चेला। केसोदास जी कालीपोस। बाबाजी नूर जी का सिष। नूरजी पेराजजी का सिष। पैराज जी जसाणी। आगे बाबा झाभाजी ताई पीढी छैं सू हम जाणत भी नाही। जिसी मुसाहिब जी की लिपति थी तिसी लिपी छै यथार्थ प्रिति

उतारी छै। ।सबद।। दोहा ।।कवित्। अरिल जो कुछ था सोई ।।था वक्त सुरजनजी रा कह्या, सख्या 329। समत् 1839 रा बैसाप मासे तिथी 5 देवा गुरवारे लिपत वैष्णव ।। ध्यानदास दुगाली मध्ये जथा प्रति तथा लिपत ।। बाचै विचारै तिणनु राम राम । (द) होम को पाठ (ध) आदि वसावली । (न) विवरस (प) कलस थापन (फ) पाहल । (ब) चौजुगी वीवाह की । (भ) पाहलि (पुन) आदि—श्री गणेसायनम श्री सारदाय नम. श्री विसनजी सत सही ।। लिषतु औतार पात का वर्णण ।।

दुहा ।। नवणि करू गुर आपणे ।। नउ निरमल भाय ।
कर जोडे वदू चरण ।। सीस नवाय नवाय ।।1।।

अन्त—मछ की पाहलि ।। कछ की पाहली ।। बारा की पाहली ।। नारिसिंघ की पाहलि ।। वावन की पाहलि फरसराम की पाहलि राम लक्षमण की पाहलि । कन की पाहलि बुध की पाहलि निकलकी पाहलि—।।

ऊपर कुछ ग्रन्थो के विवरण (Notices) उद्धृत किये गये हैं। साथ ही प्रत्येक विवरण मे आयी बातो का भी सकेत हमने अपनी टिप्पणियो मे कर दिया है। उनके आधार पर अब हम ग्रन्थ के विवरण मे अपेक्षित बातो को व्यवस्थित रूप मे यहाँ दे देना चाहते हैं पाँडुलिपि हाथ मे आने पर विवरण लेने की दृष्टि से इतनी बातें सामने आती हैं :

(1) ग्रन्थ का 'अतिरिक्त पक्ष'। इसमे ये बातें आ सकती हैं :

ग्रन्थ का रख-रखाव वेष्टन, पिटक, जिल्द, पटरी (कांबी), पुट्ठा, डोरी, ग्रन्थि। वेष्टन कैसा है ? सामान्य कागज का है, किसी कपडे का है, चमडे का है या किसी अन्य का ? वह पिटक, जिसमे ग्रन्थ सुरक्षा की दृष्टि से रखा गया है, काष्ठ का है या धातु का है। जिल्द—यदि ग्रन्थ जिल्दयुक्त है तो वह कैसी है। जिल्द किस वस्तु की है, इसका भी उल्लेख किया जा सकता है।

ताड पत्र की पांडुलिपि पर और खुले पत्रो वाली पाडुलिपि पर ऊपर नीचे पटरियाँ या काष्ठ-पट्ट[1] लगाये जाते हैं, या पट्ठे (पुट्ठे) लगाये जाते हैं। इन्हें विशेष पारिभाषिक अर्थ मे 'कबिका या कांबी' भी कहा जाता है। भा जै श्र स अने लेखन कला में बताया है कि 'ताड-पत्रीय लिखित पुस्तकना रक्षण माटे तेनी ऊपर अने नीचे लाकडानी चीपो-पाटीओ राखवामां आवती तेनु नाम 'कबिका' छे।[2] तो यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि क्या ये पट्टिकायें ग्रन्थ के दोनों ओर है। इनके ऊपर डोरे मे ग्रन्थि लगाने की ग्रन्थियाँ (गोलाकार टुकडे जिनमे डोरे को पिरोकर पक्की गाँठ लगायी जाती है) भी हैं क्या ? ये किस वस्तु की है ? और कैसे हैं ? क्या इन पर अलकरण या चित्र भी बने हैं ? अलकार और चित्र का विवरण भी दिया जाना चाहिये।

(2) पुस्तक का स्वरूप—'अतिरिक्त पक्ष' के बाद पाडुलिपि के 'स्वपक्ष' पर दृष्टि जाती है। इसमे भी दो पहलू होते हैं।

1 भा० जै० श्र० स० अने लेखन कला में 'काष्ठ पट्टिका' उस लकडी की 'पट्टी' को बताया है जिस पर व्यवसायी लोग कच्चा हिसाब लिखते थे, और लेखकगण पुस्तक का कच्चा पाठ लिखते थे। बच्चों को लिखना सिखाने के लिए भी पट्टी काम आती थी। यहाँ इस काष्ठ पट्टिका का उल्लेख नहीं है। यहाँ 'काष्ठ पट्टिका' से 'पटरी' अभिप्रेत है, जो पांडुलिपि की रक्षार्थ ऊपर नीचे लगायी जाती है।

2 भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ० 19।

पहला पहलू पुस्तक के सामान्य रूप-रग-विपयक मूचना से सम्बन्धित होता है। पुस्तक देखने मे सुन्दर है, अच्छी है, गन्दी है, बुरी है, मटमैली है, जर्जर है, जीर्ण-शीर्ण है, आदि। या भारी-भरकम है, मोटी है, पतली है। वस्तुत इस रूप मे पुस्तक का विवरण कोई अर्थ नही रखता, उपयोगी भी नही है। हाँ, यदि सुन्दर है या गन्दी है न लिख कर उसके बाह्य रूप-रग का परिचय दे दिया जाय तो उसे ठीक माना जा सकता है, यथा, ग्रथ का कागज गल गया है, उस पर स्याही के धब्बे हैं, चिकनाई के धब्बे, हल्दी के दाग है, रेत-मिट्टी, धुंएँ आदि से धूमिल हैं, कीडे-मकोडो ने, दीमक ने जहाँ-तहाँ खा लिया है, पानी मे भीगने से पुस्तक लिढड हो गयी है, आदि ।

पुस्तक के रूप का दूसरा पहलू है, 'आकार-सम्बन्धी'। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है, और सभी विवरणो मे इसका उल्लेख रहता है। इसमे ये बातें दी जाती हैं

(क) पुस्तक का प्रकार : प्रकार नामक अध्याय मे इनकी विस्तृत चर्चा है। आजकल प्रकारो के जो नाम-विशेष प्रचलित हैं, वे डॉ० माहेश्वरी ने अपने ग्रन्थ में दिये हैं, वे निम्नलिखित हैं :

1. पोथी—प्राय बीच से सिली, आकार मे बडी।
2. गुटका—पोथी की भाँति, पर छोटा $6 \times 4 \cdot 5$ इच के लगभग।
3. बहीनुमा पुस्तिका—$21 \times 4\ 25''$ इच। अधिक लम्बी भी होती है।
4. पुस्तिका : आकार $7.5'' \times 5\ 25''$ के लगभग ।
5. पोथा ।
6. पत्रा (खुले पत्रो या पन्नों का)
7. पानावली (विशेष विवरण 'प्रकार' शीर्षक अध्याय मे देखिये) ।

(ख) पुस्तक का कागज या लिप्यासन · सामान्यत: लिप्यासन के दो स्थूल भेद किये गये हैं (1) कठोर लिप्यासन–मिट्टी की इटें शिलाएँ, धातुएँ, आदि इस वर्ग में आती हैं। चर्म, पत्र, छाल, वस्त्र, कागज आदि (2) कोमल माने जाते हैं। मिट्टी की ईंटें, शिला, धातु, चर्म, छाल, ताड-पत्र आदि मे से पत्र, पत्थर, धातु, चर्म, छाल, वस्त्र आदि के प्रकारो को तो 'जनक' कह सकते हैं। क्योकि इनसे लिप्यासन जन्म लेते हैं। इनमें इनका प्रकृत रूप विद्यमान रहता है। उधर कागज पूरी तरह 'जनित' या मानव निर्मित है। यह विविध वस्तुओं से बनाया जाता है। कागज के भी कितने ही प्रकार होते हैं यथा-देशी कागज, सामान्य, मोटा, पतला, *कुछ मोटा, मशीनी और ये विविध रगो के—भूरा, बादामी, पीला, नीला* आदि। इस सम्बन्ध मे मुनि पुण्यविजय जी ने जो उल्लेख किया है वह ध्यातव्य है

"कागज ने माटे आपणा प्राचीन सस्कृत ग्रन्थामा कागद अने कद्गल शब्दो वपराअेला जोवा माँ आवे छे। जेम आजकाल जुदा जुदा देशो मे नाना मोटा, झीणा जाडा, सारा नरसा आदि अनेक जातना कागलो बने छे तेम जून जमाना थी माडी आज पर्यन्त आपणा देशना हरेक विभाग माँ अर्थात् काश्मीर, दिल्ली, बिहारना पटणा शाहाबाद आदि जिल्लओ, कानपुर, घोसु डा (मेवाड), अमदावाद, खमात, कागजपुरी (दौलताबाद पासे) आदि अनेक स्थलों मा पोत पोतानी खपत अने जरूरी आतना प्रमाणमा काश्मीरी, मुंगलीआ, अरवाल, साहेबखानी, अमदाबादी, खभाती, शणीआ, दौलताबादी आदि जात जातनो कागलो बनता हृता अने हजु पण घणे ठेकाणे बने छे, ते माँथी जेजे जे सारा, टकाऊ

अने माफक लाने ते नो ते ओ पुस्तक लखवा माटे उपयोग करता" ।[1] इस पुस्तक मे काश्मीरी कागज की बहुत प्रशसा की है। यह कागज बहुत कोमल और मजबूत होता था। इस विवरण मे मेवाड के घोसुन्दा के कागज का उल्लेख है, पर जयपुर मे सागानेर का सांगानेरी कागज भी बहुत विख्यात रहा है।

कागज के सम्बन्ध मे श्री गोपाल नारायण बहुरा की नीचे दी हुई टिप्पणी भी ज्ञानवर्द्धक है

'स्यालकोट अकबर के समय मे ही एक प्रसिद्ध विद्या केन्द्र बन गया था। वहाँ पर लिखने-पढने का काम खूब होता था और कागज व स्याही बनाने के उद्योग भी वहाँ पर बहुत अच्छे चलते थे। स्यालकोट का बना हुआ बढिया कागज 'मानसिंही कागज' के नाम से प्रसिद्ध था। यहाँ पर रेशमी कागज भी बनता था। इस स्थान के बने हुए कागज मजबूत, साफ और टिकाऊ होते थे। मुख्य नगर के बाहर तीन 'ढानियो' मे यह उद्योग चलता था और यहाँ से देश के अन्य भागो मे भी कागज भेजा जाता था। दिल्ली के बादशाही दफ्तरो मे प्राय यहाँ का बना हुआ कागज ही काम में आता था ।[2]

इसी प्रकार कश्मीर में भी कागज तो बनते ही थे, साथ ही वहाँ पर स्याही भी बहुत अच्छी बनती थी। कश्मीरी कागजो पर लिखे हुए ग्रन्थ बहुत बडी सख्या मे मिलते हैं। जिस प्रकार स्यालकोट कागज़ के लिए प्रसिद्ध था उसी तरह कश्मीर की स्याही भी नामी मानी जाती थी ।[3]

राजस्थान में भी मुगलकाल मे जगह-जगह कागज और स्याही बनाने के कारखाने थे। जयपुर, जोधपुर, भीलवाडा, गोगू दा, बू दी, बादीकुई, टोडामीम और सवाई माधोपुर आदि स्थानों पर अनेक परिवार इसी व्यवसाय से कुटुम्ब पालन करते थे। जयपुर और आस पास के 55 कारखाने कागज बनाने के थे, इनमे सांगानेर सबसे अधिक प्रसिद्ध था और यहाँ का बना हुआ कागज ही सरकारी दफ्तरो मे प्रयोग मे लाया जाता था। 200 से 300 वर्ष पुराना सागानेरी कागज और उस पर लिखित स्याही के अक्षर कई बार ऐसे देखने म आते हैं मानो आज ही लिखे गये हो।

शहरो और कस्बों से दूरी पर स्थित गाँवो मे प्राय बनिये और पटवारी लोगों के घरों व दूकानो पर 'पाठे और स्याही' मिलते थे। सागानेरी मोटा कागज 'पाठा' कहलाता था, अब भी कहते हैं। 'पाठा' सम्भवत पत्र' का ही रूपान्तर हो। सेठ या पटवारी के यहाँ ही अधिकतर गाँव के लोगा का लिखा पढी का काम होता था। कदाचित् कभी उनके यहाँ लेखन सामग्री न होती तो वह काम उस समय तक के लिए स्थगित कर दिया जाता जब तक कि शहर या पास के बडे कस्बे या गाँव से 'स्याही' पाठे' न आ जावें। नुकता या विवाह आदि के लिए जब सामान खरीदा जाता तो स्याही-पाठा' सबसे पहले खरीदा जाता था।"

तात्पर्य यह है कि जो हस्तलेख हाथ मे आयें उनके लिप्यासन की प्रकृति और प्रकार का ठीक ठीक उल्लेख होना चाहिये।

1 भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ० 29-30।
2 Surcar, J — Topography of the Mughal Empire p 25
3 Ibid p 112

(ख) 1—कागज के प्रकार के साथ कागज के सम्बन्ध मे ही कुछ अन्य बातें और दी जाती हैं

1 कागज का रग स्वाभाविक है या काल-प्रभाव से अस्वाभाविक हो गया है।
2. क्या कागज़ कुरकुरा (Brittle) हो गया है ?
3 कीडो मकोडो या दीमको या चूहो से खा लिया गया है ? कहाँ-कहाँ, कितना ? इससे ग्रन्थ के महत्त्व को क्या और कितनी क्षति पहुँची है।
4 समस्त पाडुलिपि मे क्या एक ही प्रकार का कागज है, या उसमे कई प्रकार के कागज़ हैं ?

इन अन्य बातो का अभिप्राय यह होता है कि कागज़ विषयक जो भी वैशिष्ट्य है वह विदित हो जाय ।

(ख) 2—कागज़ से काल-निर्धारण मे भी सहायता मिल सकती है। इस दृष्टि से भी टीप देनी चाहिये।

(ग) **पत्रों की लम्बाई चौड़ाई**—यह लम्बाई-चौडाई इचो मे देने की परिपाटी 'लम्बाई इच × चौडाई इच' इस रूप में देने मे सुविधा रहती है। अब तो सेंटीमीटर मे देने का प्रचलन भी आरम्भ हो गया है।

3 पाडुलिपि का रूप-विधान

(क) **पक्ति एव अक्षर परिमाण** — सबसे पहले लिपि का उल्लेख होना चाहिये। देवनागरी है या अन्य ?[1] वह लिपि शुद्ध है या अशुद्ध ? पाडुलिपि के अन्तरग रूप का यह एक पहलू है।

प्रत्येक पृष्ठ मे पक्तियो की गिनती दी जाती है तथा प्रत्येक पक्ति मे अक्षर सख्या दी जाती है। इनकी औसत सख्या ही दी जाती है।[2] इससे सम्पूर्ण ग्रन्थ की सामग्री का अक्षर परिमाण विदित हो जाता है।

सस्कृत ग्रन्थो मे 'अनुष्टुप' को एक श्लोक की इकाई मान कर श्लोक सख्या दे दी जाती थी। इस सबन्ध मे 'भा०जै०श्र०स० अने लेखन कला' से यह उद्धरण यहाँ देना समीचीन होगा

"... ग्रे ग्रन्थनी श्लोक सख्या गणवा माटे कोईपण माधुने ग्रे नकल आपवामा आवती अन ते साधु 'बत्रीस अक्षरना ग्रेक श्लोक' ने हिसाबे आखा ग्रन्थना अक्षरा गणीने श्लोक सख्या नक्की करतो ।।[3] बत्तीस अक्षर का एक अनुष्टुप श्लोक होता है एक चरण मे 8 अक्षर, पूरे चार चरणो मे $8 \times 4 = 32$ अक्षर। इस प्रकार गणना का मूलाधार अक्षर ही ठहरता है।

(ख) **पत्रो की सख्या**—पक्ति एव अक्षरो का विवरण देकर यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि पत्रो की पूर्ण सख्या भी दे दी जाय। यथा टेसीटरी, '436 पत्रो का वृहदाकार

1 यथा-टेसीटरी "कुछ देवनागरी लिपि में और कुछ उस समय में प्रचलित मारवाडी लिपि में लिपिबद्ध है।" परम्परा (28-29), पृ० 146।
2. यह पद्धति भी है कि कम से कम अक्षरों की संख्या और अधिक से अधिक अक्षरों की संख्या दे दी जाती है, यथा 23 से 25 तक।
3 भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ० 106।

ग्रन्थ'। पत्रो की सख्या के साथ यह भी देखना होगा कि (क) पत्र-सख्या का क्रम ठीक है, कोई इधर उधर तो नही हो गया है।

(ख) कोई पत्र या पन्ने कोरे छोडे गये हैं क्या ?

(ग) उन पर पृष्ठाक कैसे पडे हुए हैं ?

(घ) पन्ने व्यवस्थित हैं और एक माप के हैं या अस्त-व्यस्त और भिन्न-भिन्न मापो के है ?

विशेष 1 इसी के साथ यह बताना भी आवश्यक होता है कि लिखावट कैसी है-सुपाठ्य है, सामान्य है या कुपाठ्य है कि पढी ही नही जाती। सुपाठ्य है तो सुष्ठु भी है या नही। लिपि सौष्ठव के सम्बन्ध मे ये श्लोक आदर्श प्रस्तुत करते हैं

"अक्षराणि समशीर्षाणि वर्तुलानि घनानि च।
परस्परमलग्नानि, यो लिखेत् स हि लेखक ॥
समानि समशीर्षाणि, वर्तुलानि घनानि च।
मात्रासु प्रतिबद्धानि, यो जानाति स लेखक ॥
"शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान्, शुभ श्रेणिगतान् समान्
अक्षरान् वै लिखेद् यस्तु, लेखक स वर स्मृत.॥"

यथा टेसीटरी "अनेक स्थानो पर पढ़ा नही जाता क्योंकि खराब स्याही के प्रयोग के कारण पत्र आपस मे चिपक गये हैं।[1]

2 यह भी बताना होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ मे एक ही हाथ की लिखावट है या लिखावट-भेद है। लिखावट मे भेद यह सिद्ध करता है कि ग्रन्थ विभिन्न हाथों से लिखा गया है, यथा टेसीटरी : समय-समय पर अलग-अलग लेखको के हाथ से लिपिबद्ध किया हुआ है।"[2]

(ग) अलकरण--सज्जा एव चित्र

(आ) सज्जा की दृष्टि से इन दोनो बातो की सूचना भी यही देनी होगी कि ग्रथ अलकरण-युक्त है या सचित्र है। अलकरण केवल सुन्दरता बढ़ाने के लिए होते हैं, विषयो से उनका सम्बन्ध नहीं रहता। पशु पक्षी, ज्यामितिक रेखाकन, लता-बेल एव फल फूल की आकृतियो से ग्रन्थ सजाये जाते हैं। अत यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि सजावट की शैली कैसी है। सजावट के विविध अभिप्रायो या मोटिफो का युग-प्रवृत्ति से भी सम्बन्ध रहता है, अतः इनसे काल निर्धारण मे भी कुछ सहायता मिल सकती है। साथ ही, चित्रालकरण से देश और युग की सस्कृति पर भी प्रकाश पड सकता है। यह सिद्ध है कि मध्ययुग मे चित्रकला का स्वरूप ग्रन्थ-चित्रों (Miniatures) के द्वारा ही जान सकते हैं। जो भी हो, पहले अलकरण से सजावट की स्थिति का ज्ञान कराया जाना चाहिये।

तब, ग्रन्थ चित्रो का परिचय भी अपेक्षित है। क्या चित्र पुस्तक के विषय के अनुकूल है, क्या वे विषय के ठीक स्थल पर दिये गये हैं ? वे सख्या मे कितने हैं ? कला का स्तर कैसा है ?

1 परम्परा (28-29), पृ० 112।
2 वही, पृ० 112।

यह बात ध्यान मे रखने की है कि चित्र सज्जा के कारण पुस्तक का मूल्य बढ़ जाता है। ग्रन्थ के चित्रों का भी मूल्य अलग से लगता है।

(आ) चित्रों की सख्या की ओर उनके कला स्तर का उल्लेख करते हुए एक सम्भावना की ओर और ध्यान देना अपेक्षित है। कितनी ही पुस्तकों के चित्रों में एक विशेषता यह देखने को मिलती है कि चारों कोनों में से किसी एक में चतुर्भुज बना कर एक व्यक्ति का रूपाकन कर दिया गया है। इस व्यक्ति का चित्र के मूल कथ्य से कोई सम्बन्ध नही बैठता। यह सिद्ध हो चुका है। यह चतुर्भुज में अकित चित्र कृतिकार का होता है। अत विवरण में यह सूचना भी देनी होगी कि पुस्तक में जो चित्र दिये गये है उनमे एक झरोखा-सा बना कर पुस्तक-लेखक का चित्र भी अकित मिलता है क्या ?

(ग) चित्रों में विविध रगों के विधान पर भी टीप रहनी चाहिये। हाशिये छोडने और हाशिये की रेखाओं की सजावट का भी उल्लेख करें।

(घ) स्याही या मषी

स्याही का भी विवरण दिया जाना चाहिये

1 कच्ची स्याही मे लिखा गया है या पक्की मे ? एक ही स्याही में सम्पूर्ण ग्रन्थ पूरा हुआ है अथवा दो या दो से अधिक स्याहियों का उपयोग किया गया है ? प्राय काली और लाल स्याही का उपयोग होता है। लाल स्याही से दाँएँ बाँएँ हाशिये की दो दो रेखाएँ खीची जाती हैं। यह भी देखने में आया है कि ग्रन्थों में आरम्भ का नमोकार और अथ .... ग्रन्थ लिख्यते" आदि शीर्षक लाल स्याही मे लिखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक अध्याय के अन्त की पुष्पिका भी और ग्रन्थ-समाप्ति की पुष्पिका भी लाल स्याही से लिखी जाती है। पूरा ग्रन्थ काली स्याही में, उसके शीर्षक और पुष्पिकाएँ लाल स्याही में हो तो उसका उल्लेख भी विवरण मे किया जाना उचित प्रतीत होता है। किन्ही ग्रन्थो में ऐसे स्थलों पर लाल रग फेर देते हैं, और उस पर काली स्याही से ही पुष्पिका आदि दी जाती है।

यह तो वे बातें हुईं जो पाडुलिपि के रूप का बाह्य और अन्तरग रूप का ज्ञान कराती हैं।

4 अन्तरग परिचय

इसके बाद विवरण या प्रतिवेदन (रिपोर्ट) में कुछ और आन्तरिक परिचय भी देना होता है। यह अन्तरग परिचय भी स्थूल ही होता है। इस परिचय में निम्नाकित बातें बताई जाती हैं

(क) ग्रन्थकार या रचयिता का नाम यथा, टेसीटरी– दम्पति विनोद[1] (1) इसका कर्ता जोशीराया है।' बीकानेर के राठोडाँरी ख्यात (2) ग्रन्थ का निर्माण चारण सिढायच दयालदास द्वारा हुआ। ढाला मारवणी री बात—रचयिता-अज्ञात[2]

रचयिता के सम्बन्ध में अन्य विवरण जो ग्रन्थ में उपलब्ध हो वह भी यहाँ देना चाहिये। यथा, निवास स्थान, वश परिचय आदि।

1. परम्परा (28-29), पृ॰ 48।
2. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, पृ॰ 38।

(ख) रचनाकाल[1] : इस विवरण मे वही रचना-काल दिया जायगा जो ग्रन्थ मे ग्रन्थ कर्त्ता ने दिया है। यदि उसने रचना-काल नहीं दिया तो यही सूचना दी जानी चाहिये।

हाँ, यदि आपके पास ऐसे कुछ आधार हैं कि आप इस कृति के सम्भावित काल का अनुमान लगा सकते हैं तो अपने अनुमान को अनुमान के रूप मे दे सकते हैं।

(ग) ग्रन्थ रचना का उद्देश्य–यथा, "बीकानेर के राठोडां री ख्यात[2] ग्रन्थ का निर्माण ... ...बीकानेर के महाराजा सिरदार सिंह के आदेश पर किया गया है।"

"इसी प्रकार ये उद्देश्य भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, यथा-राजाज्ञा से' और 'सुफल प्राप्त्यर्थ' विष्णुदास ने 'पाडव चरित्र' लिखा।

(घ) ग्रन्थ रचना का स्थान। यथा, 'गढ गोपाचल वैरिति सालू'।[3]

(ङ) यदि किसी के आश्रय मे लिखा गया है तो आश्रयदाता का नाम—यथा, 'डौगर-सिंध राउवर बीरा' तथा आश्रयदाता का अन्य परिचय

(च) भाषा विषयक अभिमत– यहाँ स्थूलत. यह बताना होगा कि सस्कृत, डिंगल, प्राकृत, अपभ्रंश, बगाली, गुजराती, ब्रज, अवधी, हिन्दी (खडीबोली) तामिल या राजस्थानी (मारवाडी, हाडौती, ढूँढारी, शेखावाटी), आदि विविध भाषाओ मे से किस भाषा मे ग्रथ लिखा गया है।

यहाँ भाषाओ की यह सूची सकेत मात्र देती है। भाषाएँ तो और भी हैं, उनमे से किसी में भी यह ग्रथ लिखा हुआ हो सकता है।

(छ)—1 भाषा का कोई उल्लेखनीय वैशिष्ट्य।

(ज) लिपि एव लिपिकार का नाम

(झ) लिपिकार का कुछ और परिचय (ग्रन्थ मे दी गयी सामग्री के आधार पर)

1 किस गुरु-परम्परा का शिष्य
2 माता-पिता तथा भाई आदि के नाम
3 लिपिकार के आश्रयदाता
4. प्रतिलिपि कराने का अभिप्राय.
क—किसी राजकुमार के पठनार्थ
ख—किसी अन्य के लिए पठनार्थ
ग—स्व-पठनार्थ
घ—आदेश-पालनार्थ
ङ—शुभ फल प्राप्त्यर्थ
च—दानार्थ आदि-आदि

(ञ) लिपिकार के आश्रयदाता का परिचय

(ट) प्रतिलिपि का स्वामित्व

1 विस्तृत विवरण के लिए देखिए 'काल निर्णय की समस्या' विषयक सातवाँ अध्याय।
2. परम्परा (28–29), पृ॰ १।
3. पांडव चरित, पृ॰ 5।

(ठ) प्रत्येक अध्याय के अन्त मे भी यदि पुष्पिका हो तो उसे भी उद्धृत कर देना चाहिये ।

5. अन्तरंग परिचय का आन्तरिक पक्ष

(क) प्रतिपाद्य विषय का विवरण । यथा, टेसीटरी-इसी अध्याय मे पृ 74 पर (ग) 'नागौर रै मामले री बात' का विवरण देखें ।

(ख) आरम्भ का अश, कम से कम एक छन्द चार चरणो का तो देना ही चाहिये । यदि आरम्भ के अश मे कुछ और ज्ञातव्य सामग्री हो तो उसे भी उद्धृत कर दिया जाय, जैसे पुष्पिका । (यथावत् उद्धृत करनी होती है ।)

(ग) आरम्भ मे यदि पुष्पिका या कोलोफोन हो तो उसे भी यथावत् उद्धृत करना होगा ।

(घ) मध्य भाग से भी कुछ अश देना चाहिये । ये अश ऐसे चुने जाने चाहिये कि उनसे कवि के कवित्व का आभास मिल सके ।

(ङ) अन्त का अश, इस अ श मे अन्तिम पुष्पिका, तथा उससे पूर्व का भी कुछ अश दिया जाता है ।

(च) परम्परागत फलश्रुति, लेखक की निर्दोषिता (जैसा देखा वैसा लिखा) तथा श्लोक या अक्षर की सख्या ।

(छ) अन्य उल्लेखनीय बात या उद्धरण । यथा,

प्राप्ति स्थान, एव उस व्यक्ति का नाम एव परिचय जिसके यहाँ से ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है ।

विवरण के लिए प्रस्तावित प्रारूप

काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने विवरण लेने वाले व्यक्तियो की सुविधा के लिए प्रारूप मुद्रित करा दिया था । विवरण लेनेवाला उसमे दिये विविध शीर्षकों के अनुकूल सूचना भर देता है । इस योजना से यह भय नही रहता है कि खोजकर्त्ता किन्ही बातो को छोड देगा । ऊपर जो विवेचन दिया गया है उसके आधार पर एक प्रारूप यहाँ प्रस्तुत किया जाता है :

हस्तलिखित-ग्रन्थ (पाडुलिपि) का सामान्य परिचयात्मक विवरण (रिपोर्ट)

क्रमाक.......

पाडुलिपि का प्रकार........
गुटका/पोथी..... ....

1. पाडुलिपि (ग्रन्थ) का नाम........
2. कर्त्ता या रचयिता........
3. रचना काल........
4. पुस्तक की कुल पत्र सख्या........
   (विशेष--

(क) कितने पृष्ठ या पन्ने कोरें छोडे गये हैं ? किस-किस स्थान पर छोड़े गये हैं........

(ख) क्या कुछ पृष्ठ/पन्ने अपाठ्य हैं ? कहाँ-कहा ?........

(ग) क्या कहीं कटे-फटे हैं ? कहाँ-कहाँ ?········

5. प्रत्येक पत्र की लम्बाई×चौड़ाई (इंचों या सेंटीमीटरों में)········

6. प्रत्येक पृष्ठ पर पंक्ति संख्या········
प्रत्येक पंक्ति मे अक्षर संख्या········

7. पांडुलिपि का लिप्यासन प्रकार········
ईंट
शिला
चर्म
ताम्र या अन्य धातु का
ताड़-पत्र
भूर्जपत्र
छाल, पेपीरस आदि
कपड़ा
कागज········प्रकार सहित········

8. लिपि-प्रकार········
देवनागरी, मारवाड़ी, कैथी आदि

9. लिखावट क्या एक ही हाथ की या कई हाथों की········
लिखावट के सम्बन्ध मे अन्य विशिष्ट बातें········

10. प्रत्येक पन्ने पर लिपि की माप[1]················
(औसत मे)

11. लिपिकार/लिपिकारों के
नाम········
स्थान········
लिप्यंकन की तिथि········

12. रचनाकार के आश्रयदाता········ ··········
(परिचय)

13. लिपिकार के आश्रयदाता··················
(परिचय)

14. रचना का उद्देश्य

15. प्रतिलिपि करने का उद्देश्य

16. पुस्तक का रख-रखाव–
बुगचा, थैला, सामान्य वेष्टन, पुट्ठे, तख्तियाँ, डोरी, ग्रन्थि, अन्य, छादन········

17. विषय का संक्षिप्त परिचय-अध्यायों की संख्या के उल्लेख के साथ················

17. (i) विषय का कुछ विस्तृत परिचय

18. आदि (उद्धरण)

1. लिपि के माप से यह पता चलेगा कि अक्षर छोटे हैं या बड़े हैं।

19 मध्य (उद्धरण)

20. अन्त (उद्धरण)

21. ग्रन्थ मे आयी सभी पुष्पिकाएँ—

(1)

(2)

(3)

(4)

(5)

(6)

(7)

शोध-विवरण का यह प्रारूप अपने-अपन दृष्टिकोण से घटा-बढा कर बनाया जा सकता है। इसका सबसे बडा लाभ यह है कि कोई भी महत्त्वपूर्ण बात छूट नही सकती है और सूचनाएँ क्रमाक युक्त हैं। यथार्थ मे इन अकों का उपयोग भी लाभप्रद हो सकता है।

विवरण लेखन मे दृष्टि

डॉ० नारायणसिंह भाटी ने 'परम्परा'[1] मे डॉ० टेसीटरी के 'राजस्थानी ग्रन्थ सर्वेक्षण अक' मे सम्पादकीय मे डॉ० टेसीटरी के शोध सिद्धान्तो को सक्षेप मे अपने शब्दो मे दिया है। वे इस प्रकार है

1 "ग्रन्थ का परिचय देने से पहले उन्होने बडे गौर से उसे आद्योपान्त पढ़ा है तथा पूरे ग्रन्थ मे कोई भी उपयोगी तथ्य मिला है उसका उल्लेख अवश्य किया है।

2 डिंगल मे पद्य और गद्य दोनो ही विधाओ के अधिकांश ग्रन्थ ऐतिहासिक-तथ्यो पर आधारित हैं। अत उन्होने इतिहास को कही भी अपनी दृष्टि से ओझल नही होने दिया है। उस समय कर्नल टॉड के 'राजस्थान' के अतिरिक्त यहाँ का कोई प्रामाणिक इतिहास प्रकाशित नहीं था। अत ऐसी स्थिति मे भी ऐतिहासिक तथ्यो पर टिप्पणी करते समय लेखक ने सचेष्ट जागरूकता का परिचय दिया है और अनेक स्थलो पर अपना मत व्यक्त करते हुए शोधकर्त्ताओ के लिए कई गुत्थियो को सुलझाने का भी प्रयास किया है।

3 कृति मे से उद्धरण चुनते समय प्राय: इतिहास, भाषा अथवा कृति के लेखक व सवत् आदि तथ्यो को पाठक के सम्मुख रखने का उद्देश्य रखा है। उद्धरण अक्षरशः उसी रूप मे लिए गये हैं जैसे मूल मे उपलब्ध हैं।

4. एक ही ग्रन्थ मे प्राय अनेक कृतियाँ सगृहीत हैं परन्तु प्रत्येक कृति का शीर्षक लिपिकर्त्ता द्वारा नही दिया गया है। ऐसी कृतियो पर सुविधा के लिए टेसीटरी ने अपनी ओर से राजस्थानी शीर्षक लगा दिये हैं।

5. जो कृतियाँ ऐतिहासिक व साहित्यिक दृष्टि से मूल्यवान नही हैं उनका या तो उल्लेख मात्र कर दिया है या निरर्थक समझ कर छोड दिया है, परन्तु ऐसे स्थलो पर उनके छोडे जाने का उल्लेख अवश्य कर दिया है।

1. परम्परा (28-29), पृ० 1-2।

6 जहाँ ग्रन्थ मे कुछ पत्र त्रुटित हैं अथवा किसी कारण से कुछ पृष्ठ पढे जाने योग्य नही रहे हैं तो इसका उल्लेख भी यथास्थान कर दिया गया है।

7. जहाँ एक ग्रन्थ की कृतियाँ दूसरे ग्रन्थ की कृतियो के समरूप हैं, या उनकी प्रतिलिपि हैं या पाठान्तर के कारण तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्व रखती हैं, ऐसी स्थिति मे उनका स्पष्ट उल्लेख बराबर किया गया है।

8. जहाँ गीत, दोहे, छप्पय, नीसाणी आदि स्फुट छन्द आए हैं वहाँ उनका विषयानुसार वर्गीकरण करके उनके सम्बन्ध मे यथोचित् जानकारी प्रस्तुत की गई है। कृति के साथ कर्ता का नाम भी यथासम्भव दे दिया गया है। कर्ता का नाम देते समय प्राय उसकी जाति व खाँप आदि का भी उल्लेख कर दिया है।

9. डॉ० टैसीटरी प्रमुखतया भाषा-विज्ञान के जिज्ञासु विद्वान थे, अतः उन्होंने प्राचीन कृतियो का विवरण देते समय उनमे प्राप्त क्रियारूपो आदि पर भी अवसर निकाल कर टिप्पणी की है।

लेखा-जोखा .

पाडुलिपि की खोज मे प्रवृत्त सस्था या व्यक्ति उक्त प्रकार से ग्रन्थो के विवरण प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही उन्हें अपनी इस खोज पर किसी एक कालावधि मे बाँधकर विचार करना और लेखा-जोखा भी लेना होगा। यह कालावधि तीन माह, छ. माह, नौ माह, एक वर्ष या तीन वर्ष की हो सकती है।

यह लेखा जोखा उक्त शोध से प्राप्त सामग्री के विवरणो के लिए भूमिका का काम दे सकता है। इसमे निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जा सकता है :

लेखे-जोखे की कालावधि

सन्……से सन्……तक

1. खोज कार्य मे आने वाली कठिनाइयाँ, उन्हे किन उपायो से दूर किया गया।
2. खोज कार्य का भौगोलिक क्षेत्र। सचित्र हो तो उपयोगिता बढ़ जाती है।
3. भौगोलिक क्षेत्र के विविध स्थानो से प्राप्त सामग्री का सख्यात्मक निर्देश। किस स्थान से कितने ग्रन्थ मिले ? सबसे अधिक किस क्षेत्र से ?
4 कुल ग्रन्थ सख्या जिनका विवरण इस कालावधि मे लिया गया।
5. इस विवरण को (विशेष कालावधि मे) प्रस्तुत करने के सम्बन्ध मे नीति, यथा :

(क) सबसे पहले मेवाड़ और मेवाड मे भी सबसे पहले यहाँ के तीन प्रसिद्ध राजकीय पुस्तकालयो—सरस्वती भण्डार, सज्जनवाणी विलास और विक्टोरिया हॉल लाइब्रेरी से ही इस काम (शोध) को शुरू करना तय किया।[1]

(ख) "प्रारम्भ मे मेरा इरादा जितने भी हस्तलिखित ग्रन्थ हाथ मे आये उन सबके नोटिस लेने का था। लेकिन बाद मे जब एक ही ग्रन्थ की कई पाडुलिपियाँ मिलीं तब इस विचार को बदलना पडा ……अतएव मैंने एक ही ग्रन्थ की उपलब्ध सभी हस्तलिखित प्रतियो का एकसाथ तुलनात्मक अध्ययन किया और जिन-जिन ग्रन्थो

1. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज (प्रथम भाग), प्राक्कथन पृ० क।

को विभिन्न प्रतियो मे पाठान्तर पाया उन सब के नोटिस ले लिये और जिन-जिन ग्रन्थो की भिन्न-भिन्न प्रतियो मे पाठान्तर दिखाई नहीं दिया उनमे से सिर्फ एक, सबसे प्राचीन, प्रति का विवरण लेकर शेष को छोड दिया। लेकिन इस नियम का निर्वाह भी पूरी तरह से न हो सका"[1]—

(ग) "कुल मिलाकर मैंने 1200 ग्रन्थों की 1400 के लगभग प्रतियाँ देखी और 300 के नोटिस लिये। मूल योजना के अनुसार इस प्रथम भाग में इन तीन सो ही प्रतियों के विवरण दिये जाने को थे, लेकिन कागज की महगाई के कारण ऐसा न हो सका और 175 ग्रन्थो (201 प्रतियों) के विवरण देकर ही संतोष करना पडा।"[2]

6 समस्त ग्रन्थो का विषयानुसार विभाजन या वर्गीकरण। पं० मोतीलाल मेनारिया ने इस प्रकार किया है :—

1. भक्ति
2. रीति और पिंगल
3. सामान्य काव्य
4. कथा-कहानी
5. धर्म, अध्यात्म और दर्शन
6. टीका
7. ऐतिहासिक काव्य
8. जीवन-चरित
9. शृगार काव्य
10. नाटक
11. सगीत
12. राजनीति
13. शालिहोत्र
14. वृष्टि-विज्ञान
15. गणित
16. स्तोत्र
17. वैद्यक
18. कोश
19. विविध
20. संग्रह[3]

प्रत्येक खोज संस्थान या खोज-प्रवृत्त व्यक्ति को यह विभाजन अपनी सामग्री के आधार पर वर्गीकरण के वैज्ञानिक सिद्धान्तो के अनुसार करना चाहिये। पुस्तकालय-विज्ञान का वर्गीकरण उपयोग मे लाया जा सकता है। प्रत्येक विषय की प्राप्त पाडुलिपियो की पूरी संख्या भी देनी चाहिए।

1. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग), प्राक्कथन पृ० घ।
2. वही पृ० घ
3. वही पृ० च

7 यह सूचना भी देनी होती है कि—

(1) ऐसे लेखक कितने हैं जो अब तक अज्ञात थे। उनकी अज्ञात कृतियों की सख्या।

(2) ज्ञात लेखको की अज्ञात कृतियों की सख्या तथा नयी उपलब्धियो का कुल योग।

डॉ० हीरालाल, डी० लिट्०, एम० आर० ए० एस० ने त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण (सन् 1926–1928 ई०) की विवरणिका म प्राप्त ग्रन्थो का विषयानुसार वर्गीकरण यो दिया था

"हस्तलेखो के विषय हस्तलेखो के विषय का विवरण निम्नलिखित है

धर्म	358 हस्तलेख
दर्शन	114 ,,
पिंगल	31 ,,
अलकार	50 ,,
शृगार	151 ,,
राग रागिनी	51 ,,
नाटक	2 ,,
जीवन चारित्र	25 ,,
उपदेश	43 ,,
राजनीतिक	12 ,,
कोश	16 ,,
ज्योतिष	124 ,,
सामुद्रिक	9 ,,
गणित व विज्ञान	6 ,
वैद्यक	74
शालिहोत्र	11 ,
कोक	11 ,
इतिहास	67 ,
कथा कहानी	44 ,
विविध	80 ,,
जोड	1279 हस्तलेख'

8 मेनारिया जी और डॉ० हीरालाल जी दोनो के वर्गीकरण सदोष हैं, पर इनसे प्राप्त ग्रन्थ सम्पत्ति के वर्गों का कुछ ज्ञान तो हो ही जाता है। किन्तु पाडुलिपिविद को अपनी सामग्री का अधिक से अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत करना चाहिए, अन्यथा पुस्तकालय-विज्ञान में दिये वर्गीकरण का सिद्धान्त ही अपना लेना चाहिये।

9. नयी उपलब्धियों का कुछ विशेष विवरण, उनके महत्त्व के मूल्यांकन की दृष्टि से

की विभिन्न प्रतियो मे पाठान्तर पाया उन सब के नोटिस ले लिये और जिन जिन ग्रन्थो की भिन्न भिन्न प्रतियो मे पाठान्तर दिखाई नही दिया उनमे से सिर्फ एक, सबसे प्राचीन, प्रति का विवरण लेकर शेष को छोड दिया। लेकिन इस नियम का निर्वाह भी पूरी तरह से न हो सका'[1]—

(ग) 'कुल मिलाकर मैंने 1200 ग्रन्थो की 1400 के लगभग प्रतियाँ देखी और 300 के नोटिस लिये। मूल योजना के अनुसार इस प्रथम भाग म इन तीन सौ ही प्रतियो के विवरण दिये जाने को थे, लेकिन कागज की महगाई के कारण ऐसा न हो सका और 175 ग्रन्थो (201 प्रतियो) के विवरण देकर ही सतोष करना पडा।'[2]

6 समस्त ग्रन्थो का विषयानुसार विभाजन या वर्गीकरण। प० मोतीलाल मेनारिया ने इस प्रकार किया है —

1 भक्ति
2 रीति और पिंगल
3 सामान्य काव्य
4 कथा-कहानी
5 धर्म, अध्यात्म और दर्शन
6 टीका
7 ऐतिहासिक काव्य
8 जीवन चरित
9 शृगार काव्य
10 नाटक
11 सगीत
12 राजनीति
13 शालिहोत्र
14 वृष्टि विज्ञान
15 गणित
16 स्तोत्र
17. वैद्यक
18 कोश
19 विविध
20 सग्रह[3]

प्रत्येक खोज सस्थान या खोज प्रवृत्त व्यक्ति को यह विभाजन अपनी सामग्री के आधार पर वर्गीकरण के वैज्ञानिक सिद्धान्तो के अनुसार करना चाहिये। पुस्तकालय विज्ञान का वर्गीकरण उपयोग मे लाया जा सकता है। प्रत्येक विषय की प्राप्त पाडुलिपियो की पूरी सख्या भी देनी चाहिए।

1 राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज (प्रथम भाग), प्राक्कथन पृ० ख।
2. वही पृ० ग
3 वही पृ० च

7. यह सूचना भी देनी होती है कि—
   (1) ऐसे लेखक कितने हैं जो अब तक अज्ञात थे। उनकी अज्ञात कृतियों की संख्या।
   (2) ज्ञात लेखकों की अज्ञात कृतियों की संख्या तथा नयी उपलब्धियों का कुल योग।

डॉ० हीरालाल, डी० लिट्०, एम० आर० ए० एस० ने त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण (सन् 1926-1928 ई०) की विवरणिका में प्राप्त ग्रन्थों का विषयानुसार वर्गीकरण यों दिया था :

"हस्तलेखों के विषय : हस्तलेखों के विषय का विवरण निम्नलिखित है :

धर्म	358	हस्तलेख
दर्शन	114	"
पिंगल	31	"
अलंकार	50	"
शृंगार	151	"
राग रागिनी	51	"
नाटक	2	"
जीवन चारित्र	25	"
उपदेश	43	"
राजनीतिक	12	"
कोश	16	"
ज्योतिष	124	"
सामुद्रिक	9	"
गणित व विज्ञान	6	"
वैद्यक	74	"
शालिहोत्र	11	"
कोक	11	"
इतिहास	67	"
कथा-कहानी	44	"
विविध	80	"
जोड़	1279	हस्तलेख"

8. मेनारिया जी और डॉ० हीरालाल जी दोनों के वर्गीकरण सदोष हैं, पर इनसे प्राप्त ग्रन्थ सम्पत्ति के वर्गों का कुछ ज्ञान तो हो ही जाता है। किन्तु पांडुलिपिविद को अपनी सामग्री का अधिक से अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत करना चाहिए, अन्यथा पुस्तकालय-विज्ञान में दिये वर्गीकरण का सिद्धान्त ही अपना लेना चाहिये।

9. नयी उपलब्धियों का कुछ विशेष विवरण, उनके महत्त्व के मूल्यांकन की दृष्टि से :

इस विशेष कालावधि के विवरण म पुस्तको के विवरणो को अकारादि क्रम से प्रस्तुत करने मे सुविधा रहती है।

कुछ अनुक्रमणिकाएँ दी जानी चाहिएँ।

1 ग्रन्थ नामानुक्रमणिका

2 लेखक नामानुक्रमणिका

लेखे-जोखे मे रचना काल और लिपिकाल दोनो की कालक्रमानुसार उपलब्ध रचनाओ और विषयवार ग्रन्थों की सूचना भी दी जानी चाहिय। इसके लिए निम्न प्रकार की तालिका बनायी जा सकती है

विषय वग काल	भक्ति		रीति		आदि
	र० काल ग्रन्थ सख्या	लिपिकाल ग्रन्थ स०	र० काल ग्रन्थ सख्या	लिपिकाल ग्रन्थ स०	
1001[1]					
1010					
1020					
1030					

इस तालिका द्वारा शताब्दी क्रम से उपलब्ध ग्रन्थ-सख्या का ज्ञान हो जाता है।

एक तालिका यहाँ 'हिन्दी हस्तलेखो की खोज की तेरहवी 'विवरणिका' से उदाहरणार्थ उद्धृत की जाती है

शतियाँ	12वी	13वी	14वी	15वी	16वी	17वी	18वीं	19वी	अज्ञात	योग
	2	—	—	7	36	201	209	427	394	1278

इस तालिका द्वारा शताब्दी क्रम से उपलब्ध ग्रन्थ सख्या का ज्ञान हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि 13वी विवरणिका के वर्षों मे 12 वी शती से पूर्व की कोई कृति नही मिली थी। 12 वीं शती की 2 कृतियाँ मिली। फिर दो शताब्दियाँ शून्य रही।

इस तालिका से यह विदित हो जाता है कि किस काल मे किस विषय की कितनी पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं। इस काल क्रम से प्राचीनतम पुस्तक की ओर ध्यान जाता है। काल-क्रम मे जो पुस्तक जितनी ही पुरानी होगी उतनी ही कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण मानी जायेगी। इससे यह भी विदित होता है कि काल क्रम म विविध शताब्दियो में उपलब्धियो का अनुपात क्या रहा ?

अब तक के अज्ञात लेखको और अज्ञात कृतियो का विशेष परिचय प्राप्त हो सके तो उसे प्राप्त करके उन पर कुछ विशेष टिप्पणियाँ दना भी लाभप्रद होता है।

काशीनागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों मे जो क्रम अपनाया गया है, वह इस प्रकार है · (1) मे विवरणिका, जिसमे खोज के निष्कर्ष दिये जाते हैं। फिर परिशिष्ट एव रचयिताओं का परिचय। (2) में ग्रन्थों के विवरण, (3) मे अज्ञात रचनाकारो के

1 इस 'काल क्रम' का आरम्भ उस प्राचीनतम सन्/सवत् से करना चाहिये जिसकी कृति हमें खोज में मिल चुकी हो।

ग्रन्थों की सूची, (4) मे महत्त्वपूर्ण हस्तलेखो की समय-सूचक तालिका। यह परिपाटी दीर्घ अनुभव का परिणाम है। इसे कोई भी पाडुलिपि-विज्ञान-विद् अपने लाभ के लिये अपना सकता है।

तात्पर्य यह है कि लेखे-जोखे के द्वारा ग्रन्थ शोध से प्राप्त सामग्री का सक्षेप मे मूल्याकन प्रस्तुत किया जाता है, जिसमे शोध उपलब्धियों का महत्त्व उभर सके।

तुलनात्मक अध्ययन

पाडुलिपि-विद् के लिए यही एक और प्रकार का अध्ययन-क्षेत्र उभरता है। इसे उपलब्ध सामग्री का तुलनात्मक मूल्याकन या अध्ययन कह सकते हैं। हमे क्षेत्रीय कार्य करते हुए और विवरण तैयार करते हुए कुछ कवि प्राप्त हुए। अब हमे यह भी जानना आवश्यक है कि क्या एक ही नाम के कई कवि है? उनकी पारस्परिक भिन्नता, अभिन्नता और उनके कृतित्व की स्थूल तुलना करके अपनी उपलब्धि का महत्त्व समझा और समझाया जा सकता है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करना होगा। 'चन्द कवि' नाम के कवि के आपको कुछ ग्रन्थ मिले। आपने अब तक प्रकाशित या उपलब्ध सामग्री के आधार पर उनका विवरण एकत्र किया। तब तुलनापूर्वक कुछ निष्कर्ष निकाला। इसका रूप यह हो सकता है.

कवि चन्द

हिन्दी साहित्य मे आदिकालीन चदवरदायी से लेकर आधुनिक युग तक चद नाम के अनेक कवि हुए हैं। 'मिश्रबधु विनोद' ने 'चद' नाम के जिन कवियो का उल्लेख किया है उनका विवरण निम्न प्रकार है। इस विवरण के साथ 'सरोज सर्वेक्षणकार' की टिप्पणियाँ भी यथास्थान दे दी गई हैं।

मिश्रबन्धु विनोद

भाग 2 पृष्ठ—548
नाम—(1316) चन्द्रघन
ग्रन्थ—भागवत-सार भाषा।

कविताकाल—1863 के पहले (खोज 1900)। यहाँ वैषम्य केवल इतना है कि हमारे निजी सग्रह के कवि का नाम 'कवि चन्द' है और मिश्रबन्धु मे चन्द्रघन।

अब 'चन्द' नाम के अन्य कवि 'मिश्रबन्धु विनोद' मे नाम साम्य के आधार पर ये है :

प्रथम भाग

(135) चन्द पृष्ठ 134
ग्रन्थ—हितोपदेश
कबिताकाल—स० 1563
पृ०—71
(39) नाम महाकवि चन्द बरदाई
ग्रन्थ—पृथ्वीराज रासो

सरोजकार[1] ने पृथ्वीराज रासो के रचयिता चन्द को 'चन्द कवि प्राचीन बन्दीजन, सम्भल निवासी' स्वीकार किया है। स० 1196 मे उपस्थित माना है।

सरोज-सर्वेक्षणकार[2] ने चन्द का रचना काल स० 1225 से 1249 तक माना है। इनकी मान्यता के अनुसार चन्द की मृत्यु स० 1249 मे हुई।

द्वितीय भाग

पृ०—278

(538) नाम—(403) चन्द

ग्रन्थ—नागनौर की लीला (कालीनाथना)। सरोज सर्वेक्षणकार का मत है कि इस पुस्तक का नाम 'नाग लीला' भी है।

रचना काल—1715

पृ०—325

(382) चन्द व पठान सुल्तान

सरोजकार ने इस चन्द कवि को सवत् 1749 मे उपस्थित माना है। कवि सुलतान पठान नवाब राजागढ भाई बन्धु बाबू भूपाल के यहाँ थे। इन्होने कुण्डलियाँ छद मे सुलतान पठान के नाम से बिहारी सतसई का तिलक बनाया है।

सरोज सर्वेक्षणकार का मत है कि चन्द द्वारा प्रस्तुत यह टीका मिलती नही है। भूपाल का नवाब स० 1761 मे सुलतान मुहम्मद खाँ था। इन्ही के आश्रित चन्द कवि का उल्लेख मिलता है।

तृतीय भाग

पृष्ठ—44

(2138) नाम—(1784) चन्द कवि

विवरण—स० 1890 के लगभग थे।

पृष्ठ—85

(2341) नाम—(2003) चन्द कवि

ग्रन्थ—भेद प्रकाश - (प्र० भ्रं० रि०), महाभारत भाषा (1919) (खोज 1904)।

कविताकाल—स० 1904

कुछ कुछ नाम साम्य के आधार पर निम्न कवि मिश्रबन्धु विनोद से मिलते हैं। ये चन्द नाम के नही वरन् चन्द से मिलने-जुलते नाम वाले हैं। इन्हें यहाँ केवल इसलिए दिया जा रहा है कि इनके नाम मे जो साम्य है, उससे कही आगे भ्रम न रहे और 'चन्द' या 'चन्द्र' जिसका नामाश है वह भी ज्ञात हो जाय।

प्रथम भाग

पृष्ठ—194

(265) नाम—चन्द सखी (ब्रजवासी)

1 सरोजकार से हमारा अभिप्राय 'शिवसिंह सरोज' के लेखक से है।
2 'सरोज सर्वेक्षणकार' से हमारा अभिप्राय डॉ० किशोरी लाल गुप्त से है।

कविता काल—1638

द्वितीय भाग

पृष्ठ—301
(584) नाम—चन्द्रसेन
ग्रन्थ—माधव-निदान
पृष्ठ—467
(1066/2) नाम—चन्द्रलाल गोस्वामी (राधावल्लभी)।
कविता काल—1824 (द्वि० त्रै० रि०)
पृष्ठ—344
(763) नाम—चन्द्रलाल गोस्वामी (राधावल्लभी)
कविता काल—1767
पृष्ठ—437
(998) नाम—चन्द्र (राधा वल्लभी)
रचना काल—1820
पृष्ठ—466
(1064) नाम—चन्द्रदास
कविता काल—1823 के पूर्व
पृष्ठ—470
(1077) नाम—चन्द्र कवि सनाढ्य चौबे
कविता काल—1828
पृष्ठ—475
(1094) नाम—चन्दन
समय—सं० 1830 के लगभग वर्तमान थे।
पृष्ठ—815
नाम—(1011) चन्द्रहित, राधावल्लभी
पृष्ठ—508
नाम—(1190/1) चन्द्रजू गुसाईं
रचनाकाल—1846
पृष्ठ—571
नाम—(1433) चन्द्रशेखर वाजपेयी

तृतीय भाग

पृष्ठ—13
नाम—(1716) चन्द्रदास
नाम—(1717) चन्द्ररस कुंद
नाम—(1718) चन्द्रावल
पृष्ठ—77
नाम—(2248) चन्दसखी

कविताकाल—1900 के पूर्व
पृष्ठ—154
नाम—(2634) चन्द्रिका प्रसाद तँवारी
पृष्ठ—196
नाम—(2923) चन्द्र झा

चतुर्थ भाग

पृष्ठ—260
नाम—(3255) चन्द्रभान
रचनाकाल—स० 1875
पृष्ठ—322
नाम—(3449) चन्द्रकला बाई
समय—स० 1950
पृष्ठ—406
नाम—(3853) चन्द्र मनोहर मिश्र
रचनाकाल—स० 1963
पृष्ठ—410
नाम—(3858) चन्द्रमौलि सुकुल
रचनाकाल—स० 1964
पृष्ठ—413
नाम—(3867) चन्द्र शेखर शास्त्री
रचनाकाल—स० 1965
पृष्ठ—417
नाम—(3878) चन्द्रभानु सिंह दीवान बहादुर
रचनाकाल—स० 1967
पृष्ठ—447
नाम—(3970) चन्द्रशेखर मिश्र
पृष्ठ—454
नाम—(4028) चन्द्रशेखर (द्विज चन्द्र)
जन्मकाल—स० 1939
पृष्ठ—456
नाम—(4055) चन्द्रलाल गोस्वामी
जन्मकाल—लगभग 1940
नाम—(4056) चन्द्रिका प्रसाद मिश्र
रचनाकाल—सं० 1965
पृष्ठ—464
नाम—(4117) चन्द्रराज भण्डारी
पृष्ठ—465

नाम—(4124) चन्द्रभानु राय
पृष्ठ—480
नाम—(4216) चन्द्रमती देवी
जन्मकाल—स० 1950
पृष्ठ—520
नाम—(4312) चन्द्रमाराय शर्मा
रचनाकाल—स० 1982
पृष्ठ—557
नाम—(4437) चन्द्रशेखर शास्त्री
जन्मकाल—स० 1957
पृष्ठ—574
नाम—(4521) चन्द्रकला
रचनाकाल—स० 1987

सरोजकार ने उपर्युक्त 'चन्द' कवियो के अतिरिक्त निम्नलिखित दो अन्य कवियों का उल्लेख किया है—

प्रथम—चन्द कवि। यह सामान्य कवि थे। इन चन्द कवि के सम्बन्ध मे सरोज सर्वेक्षणकार ने लिखा है कि कायस्थो की निन्दा का एक कवित्त सरोज मे प्रस्तुत किया है।

द्वितीय—चन्द कवि के सम्बन्ध मे सरोजकार ने लिखा है कि इन्होंने शृगार रस मे बहुत सुन्दर कविता की है। हजारा मे इनके कवित्त हैं। सरोज सर्वेक्षणकार ने इन चन्द कवि का अस्तित्व स० 1875 के पूर्व स्वीकार किया है।

मिश्रबन्धु विनोद और 'सरोज सर्वेक्षण' से 'चन्द कवि' नामधारी कवियो के इस सर्वेक्षण के उपरान्त कुछ अन्य स्रोतो से भी 'चन्द' नाम के कवियो का पता चलता है, उन्हें यहाँ देना ठीक होगा।

एक कवि चन्द का उल्लेख 'जयपुर का इतिहास'[1] मे है। इस 'चन्द कवि' के ग्रन्थ 'नाथ वश प्रकाश' का उल्लेख इसमे हुआ है। ये चौमू नरेश रणजीत सिंह तथा कृष्ण सिंह और जयपुर नरेश जगतसिंह के समकालीन थे। 'नाथ वश प्रकाश' मे से 'जयपुर का इतिहास' मे जो उद्धरण लिखे गये हैं—वे निम्नलिखित प्रकार हैं—

(अ) जहाज (भाज) की लडाई मे रणजीत सिंह की विजय—

"शहर फतेहपुर में फते—करी नद रतनेश।
भाज गयो आपाण तजि, लखि रणजीत नरेश।"[2]

(आ) महाराजा जगत सिंह (जयपुर) की सेनाओं द्वारा जोधपुर को घेरने का उल्लेख—

गढी कोट की ओट को, मान प्रभा बलमन्द।
लूटि जोधपुर को लियो कृष्ण सुभाग बलन्द।[3]

1 शर्मा, हनुमान प्रसाद-जयपुर का इतिहास, पृ० 226
2 वही पृ० 226
3 वही, पृ० 231

'नाथ वश प्रकाश' (पद्य 275) में लिखा है कि 'मीर खाँ' के युद्ध के समय कृष्ण सिंह जी का चेहरा चमकता था और शत्रुगण उससे क्षोभित होते थे।

'नाथ वश प्रकाश' (पद्य 270) मे लिखा है कि समरू बेगम ने चौमू पर चढाई की। उस समय उसका कनल आगे आया था। उसको कृष्ण सिंह जी ने ससैन्य परास्त किया और उसके साथ वालो के रुण्ड मुण्ड उठाकर पीछे हटा दिया।

'आचार्य श्री विनय चन्द ज्ञान भण्डार ग्रथ सूची (भाग–1)' से विदित होता है कि इस भण्डार मे चन्द कवि के तीन ग्रथ हैं—

1. चन्द–नेम राजमती पद (हिन्दी–राजस्थानी) 5 छन्द[1]
2 चन्द–राधा कृष्ण के पद –5 पद[2]
3 चन्द–सीमन्धर स्वामी की स्तुति–6 छन्द[3]

इनमे से दो जैन कवि हैं और एक कवि को उसकी रचना के विवरण के आधार पर वैष्णव माना जा सकता है।

इससे पूर्व कि कवि चद के सम्बन्ध मे ऊपर की सूची को लेकर और प० कृपा शंकर तिवारी के हस्तलेखागार मे प्राप्त सामग्री के आधार पर कुछ कहा जाय हम तिवारी जी की सामग्री पर भी सक्षिप्त टिप्पणियाँ नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

(1) कवि चद

रचना –नाग दवन ('नाग लीला' लिपिकार द्वारा) पूर्ण।
रचना काल–सवत् 1756 श्रा सु 5, बुधवार।
लिपिकाल सवत् 1869 अग० बदी 3, फोलियो 1 से 9 तक

विवरण

यह ग्रन्थ कवि चद द्वारा सवत् 1756 मे रचा गया है। इसमें कृष्ण द्वारा काली दमन की घटना का वर्णन है। ग्रथ व्रज एव राजस्थानी भाषा से युक्त है। कवि ने द्वित शब्दो का अवसरानुकूल प्रयोग किया है। भाव, भाषा, शैली आकर्षक है। कही कही पृथ्वीराज रासो की सी झलक दृष्टिगत होती है। प्रारम्भ मे गणेश, शारदा की वदना है। कवि ने चौपाई का अधिक प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त अरिल्ल, छप्पय, दोहा, भुजगी, कुण्डलियाँ, पाधरी, सवैया आदि का अच्छा प्रयोग किया है। भावनाओं का वर्णन करने मे कवि सफल हुआ है। यह ग्रथ पूर्ण है। उदाहरणार्थ

प्रारम्भ

दोहा—

हौ गनपति गुन विस्तरो सिधिवुधि दातार।
अष्ट सिधि नव निधि धरो कृपा करतार॥

सुब तन वरदाइनी करँ मूढ कविराइ।
बुधि विचित्र कवि चन्द को दँ अज सारद भाइ॥
सत्रह सै दस पचच्छर मैं सही

1 भानावत नरेन्द्र (डॉ०) सं०—आचार्य श्री विनय चन्द ज्ञान भंडार, ग्रथ सूची पृ० 38।
2 वही पृ० 66।
3. वही, पृ० 88।

सद्दि सांवन तिथि पच चन्द कवियो कही ॥
मढ़यो ग्रन्थ गुन मूल महा बुधवार है
परिहा हाजू नागदवनि कौं छद कियो विस्तार है ॥

इसी कवि की इसी 'नागदमन' या 'नागलीला' की एक हस्तलिखित प्रति की सूचना श्री कृष्ण गोपाल माथुर ने दी है।[1] उन्होंने इसका रचनाकाल सवद् 1715 माना है। ऊपर हमने ग्रन्थ मे आये तिथि विषयक उल्लेख को उद्धृत कर दिया है। इसमे 'सत्रह से दस पचछर' लिखा हुआ है। इसका अर्थ करते समय यदि हम 'पच' शब्द पर ही रुक जायेंगे तब तो स० 1715 मानना होगा जैसा कि श्री माथुर ने माना है किन्तु पूरा शब्द 'दस पचछ' है जो कि सधि के कारण 'पचछर' हो गया है। अतएव हमारी दृष्टि म इसका ठीक अर्थ होगा-सत्रह सौ और दस पच=50+6 अर्थात् 1756।

नागदवन के कुछ पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं।

नागदवन (नागलीला)

रिस रोस रहा मुरली धुनिकौ सुनि नाद अगाध तिहु पुर छाही।
ब्याल जग्यो जम ज्वाला उठी विख झाल इति ब्रह्ममण्डल माहीं।
हरखि जसुधा ब्रज की वसुधा जब फुलि फिरयी घर ही घर माही।
कस गिरयो मुरझाइ तबै धरकी छतिया मुरली धुनि पाही ॥
मुरली धुनि कौ सुनि सबद चौंकि उठ्यौ तत्काल
झटकि पु छि फन फुकरत उठयो क्रोध को काल ॥

जागौ नाग काली धरा भूमि हाली, विख ज्वालाझाली हरे वृछ जाली
कछे बदल सग्राम को वन्नवारी, फन्नफुकर फकुन झाक अरी।
लरी निरख झाला मुरछे मुरायरी, हरख्खी दुचि भइ नाग नारी।
हट की व नानै कह्यो वृधवारी, हसते उठे चेति बाला विहारी।
कछे काकली प्रीति बाधं कटैठी, भुजा ठाकि ठाठे अखारे अमहो।
सु सू घे अचानक कूदे कन्हाई, धिरे कुण्डली मधि बैठे नन्हाई।
बन तालज्जे सिर सेस मद्धि, द्विपार्व तन तौ करे पूछि सद्धी।
रिस रोस सेस बिख झाल अग्गी, जले झार झारे द्रुमदाह लग्गी।
बुझावें जदुनाथ एह्ययबय्य, वर्जे मुठि पसी श्रुतीर तत्त थे।
झट बकं फन पुछि फुकार भारे, जदुनाथ ज्यौं गारहु उद मारे ॥
नफीरी बजै बंस मजीर मेर बजे ताल तू वर घटा घनेर।
बजे दुदुमि औ सुर नाद चगी वजै मोह चय दुनारा उपगी।
सरगी बजी खजरी सब-नाद उपज्यौ मही तौ महा रुप स्वाद।
बजे सख सुध्र असख अभगी नरसिघ बज्जे उछाह सुभ्रगी।
बर्जे घु घरु घू घरी घोर-नीकी कटताल कसावरी नाद हीकी।
हुयं नाल बजै अलगोज भारी, नचे ग्वाल बाल सु आनंद कारो ॥
भई बधाई ब्रज मे जदुकुल हरखि अपार।
सकल सभा रछा करे काली नाथ न हार ॥

1. वीणा, (इन्दौर), अगैल, 1972, पृ० 53।

(2) कवि चद

रचित ग्रन्थ—भागवत् दोहासूची ग्रन्थ ।
रचना काल—स० 1896 (नरसिंह चौदस को पूर्ण हुई) ।

पुस्तक विवरण—

जिल्द की सिली हुई, दायें-बायें हाशिया, 10 6 इच, कुछ जीर्ण, देशी कागज । फोलियो स० 32 । कुछ दो-तीन पृष्ठ खाली हैं । दसम स्कध रगीन हाशिये मे लिखा है ।

लिपिकाल—

इसम लिपिकार का नाम तथा काल नही दिया है । ऐसा विदित होता है कि यह स्वय कवि की ही लिखी पहली प्रति है । एक ओर का पुट्ठा नही है । लेख सामान्य रूप मे सुपाठ्य है ।

विवरण--

यह पुस्तक कवि चन्द रचित है । यह कवि चन्द वाघ नृपति के पुत्र हैं । यह पूर्ण श्रीमद्भागवत् श्रीधरी टीका की दोहो मे सूची है । कवि न एक एक दोहे मे एक एक अध्याय का अर्थ लिखा है, इस प्रकार से सभी स्कधो के अध्यायो की दोहे म सूची है । इतने बडे अध्याय की दोहे म सूची बनाना कठिन कार्य है । चन्द कवि न इसम सफलता पाई है । भाषा ब्रजभाषा है । धर्म की दृष्टि स कवि का यह प्रयास विशप महत्त्व रखता है । पुस्तक विभिन स्कधो मे विभाजित है । दसम स्कध कवि ने स० 1805 असाड बु० पडवा गुरु को समाप्त किया । द्वादस स्कध स० 1896 नरसिंह चौदस को समाप्त हुआ ।

कवि ने अपन परिचय मे केवल निम्न पक्तियाँ लिखी है—

इतिश्री भागवते महापुराण श्री धरी टीकानुसारण 12 स्कधे सूची सम्पूर्ण महाराज श्री बाघ सिंह जी फतेहगढ नृपत सुतचन्द कघकतत दोहा समाप्त ।

कवि ने प्रारम्भ मे वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ जी और उनके पुत्र की गुरु के रूप मे वदना की है । पुष्टि मार्ग की महानता भी बताई है ।

उदाहरण—

दसवी अध्याय दिलीप वस रामचन्द्र अवतार ।
रावण हत आए अवधि ताके कंज सहै भार ।
भ्रातन जुत श्री रामचन्द्र जिग कीयि अवध विराज ।
ग्यारीध्या मण्डल कथा विरची सुक सुभ साज ।

अन्त—

इक-इक दोहा मे लिख्यो इक ईकध्या कौर्थ ।
सूची द्वादसकध की रमजन बुध असमर्थ ।
बाघ नपत सुत चन्द कृत दुहा सूची मान ।
को विद बाज विचार कर सुध कीज्यो बुधवान ।

टिप्पणी—अन्तिम पृष्ठ म जगदीश पण्डे के सम्बन्ध मे लिखा है ।

(3) कवि चद

(अ) रचना—अभिलाप पच्चीसी

लिपिकाल--स० 1833 (एक लिखावट के कारण) फोलियो 1 से 8 तक, रचना पूर्ण है।

विवरण

कवि चद के हित हरिवंश हरिव्यासी सम्प्रदाय के हैं। इसमे इन्होंने नागरीदास का भी नाम लिया है। सुन्दर ब्रजभाषा म कवित्त सवैया म रचना है। अभिभावनायुक्त सुन्दर 26 पद हैं। रचनाकार ने इसका नाम मनो-अभिलाषा रखा है।

उदाहरणार्थ 'अभिलाष पच्चीसी' मे से कुछ पद प्रस्तुत हैं :—

प्रारम्भ

जाति पाति नाना भाँति कुल अभिमान तजि
निसि दिन सीस को नवाऊ रसिकन मैं।
सेवा कुज मण्डल पुलिन वशीवट निधिवन
औ समीर धीर विचरौ मगन मे।
लता द्रुम हेरो राधाकृष्ण कहि टेरौं,
रज लपटाऊं तन मैं औ सुख पाऊं मन मैं।
अहो राधा वल्लभ जू तुम ही सौ विनती है
जैसे बनैं तैसी मोहि राखौ वृन्दवन मे॥

मध्य—

वह वन भूमि द्रुम लता रही झमि लेतौ
त्रिविधी समीर सौ रुस्ति लहकि लहकि।
फुली नव कुज तहा भवर करत गुज सदा
सुख पुज रह्यौ सौरभ महकि महकि।
कोकिल मयूर सुक सारो आदि पक्षी सब
दम्पति रिझावत है गावत गहकि गहकि।
हित सौ जे देखें नित तिनकी दौ कहा कहौं
बात ही मैं चन्द चित जात है बहकि बहकि॥

अन्त—

ढोलक मृदग मुहचग औ उमग चग
गदायरौ तबूरा बीन आदि सब साज है।
इनकौ मिलाइबौ परन उपजाईबौ
सरस रग छाईबौ प्रवीनत कौ काज है।
कर सौ तौ कर औ सुधर होत
जैसे सब सौज तैसे रसिक रयाज है।
जब मिलैं सगी चन्द रस रगी
तब रग जामै टुटै भव पाज है॥

(ब) रचना—समय पचीसी

रचनाकार—कवि चद हित

रचना का समय नही दिया है। ग्रन्थ पूर्ण है। लिपिकाल ग्रौर लिपिकार सवत् 1833 वि। फोलियो 9 से 15 तक।

विवरण—

भक्तियुक्त ग्रत्यन्त सुन्दर ब्रजभाषा मे कवित्त, सवैया इस ग्रन्थ मे हैं। पद सख्या कुल 26 हैं। रचना पूर्ण है। उदाहरणार्थ —

ग्रन्त—

ईतनी विचारि चन्द सबन सौ नय चले जामैं
भलौ होई सोई करौ निशि भोर ही।

उदाहरणार्थ—'समय पच्चीसी' के कुछ पद प्रस्तुत हैं–

ग्रारम्भ—

समय बिपरीति कहु देखिय न प्रीति
मिटि गई परतीति रीति जगत की न्यारी जू।
स्वारथ मैं लगे परमारथ सौ भगे
भूठे तन ही मे पगे साची वस्तु न निहारी जू।
मोह मैं भुलाने सदा दुख लपटान
ज्ञान ऊर म न ग्राने भक्ति हिय म न धारी जू।
चद हितकारी तौपे होत वलिहारी
लाज तुमको हमारी कृपा करिये बिहारी जू।।

मध्य—

जग दुख सागर म गोता खात जीव यह
माया की पवन के भकोर माभ परचौं है।
धारि शिर भार क्यौहु हो नहि पार ग्रैसे
करत विचार मन मेरो ग्ररवरयो है।
टेरत तहा तैं दीन-बन्धु करुणा के सिन्धु
तुम बिन दुख को कापैं जात हर्यो है।
वह प्राण धर्यो, कृपा ही क्रो ग्रनुसर्यो प्यारे
जोई तुम कर्यो सोई ग्रानन्द सौ भर्यो है।

ग्रन्त—

दैनि के समय मैं न होत है प्रभात कहु
भोर के समय मै न होत कभू रात है।
ठीक दुपहर माभ होत नहि सभ चन्द
साभ ही के माभ कहो कैसे होत प्रात है।
प्रात मध्य साभ रात होत है समय ही मैं
ग्रैसे हानि लाभ सुख दुख निजु गात है।
समै की जो बात तेतौ समै ही मैं होत जात
जानत विवेकी ग्रविवेकी पछितात है।।

(स) रचना—श्री राम जी चौपर को ख्याल

रचनाकार—कवि चन्द (हित)

लिपिकाल—1823, अपूर्ण । फोलियो 15 से 20 तक ।

इस रचना मे 12 पद पूर्ण हैं । 13वां पद पूर्ण नही है श्रौर श्राग के पृष्ठ नही हैं । अत यह विदित नही होता कि रचना कितनी बडी हैं । पद वडे सुन्दर हैं । भाषा ब्रजभाषा है । कवित्त सवैया का प्रयोग है । उदाहरणार्थ –

प्रारम्भ—

चौपर को खयाल सब खेलत जगत माझ
यह सब ही को ज्ञान प्रगट दिखावै है ।

नोट —यह चन्द हित है, इनका रचनाकाल जानना है । तीनो ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं ।

उदाहरणार्थ– 'श्री राम जी चौपर को ख्याल' के पद उद्घृत किये जाते हैं ।

चौपर—

कविता बनावैं श्राछे श्रछरनि लावैं
जानि जमक मिलावैं अनुप्रास हु सवैं कहौं ।
भाट ह्व सुनावैं हरखावैं ललचावैं, दाम
एक नहि पावैं वृथा नर की कृपा चहै ।
सब मैं प्रवीन हरिपद मैं न लीन
प्रेम रस के नही लहै
भक्ति सौ विमुख ताको मुख न दिखाश्रो
हम चाहत हैं यह वासौं दूर नित ही रहै ।
उत्तम पदारथ बनाय कै जो श्रागैं धरैं
तहि नहि देखैं यह मुख को खरेल है ।
श्रैसैं परमारथ की बात न सुहात याहि
वृथा बकवाद विख सेवे बिगरैल है ।
श्राग श्रौर पीछे को विचार नाहि करै कमू
महानीच सबही सौ श्ररत श्ररेल है
हरि गुरु कौं सतन को रूप नहि जान्यो
यातैं भक्तिहीन नर सींग पूछ बिन बैल है ।।

श्रथ भाव सिखलते

रूप के सरोवर मे श्रली कुमुदावली हैं
लाल है चकोर तहा राधा मुख चन्द है
छवि की मरीचिन सौ सींचत है निस दिन
कोटि कोटि रवि ससि लागैं श्रति मन्द है
इकटक करि रहैं मुख नाम मुख लहैं
फिरि कृपा दृष्टि चहैं सुख रूप नदनद हैं

जाको वेद गावें मुनि ध्यान हु न पावें
तेतो वलि बलि जावें चन्द फसे प्रेम फन्द है ।
पीत रग बोरे खरे खेलत है होरी दाऊ
वृन्दावन वीथिन में घूम मची भारी हैं ।
सुघर समाज सब सखी सौज लिये सोहैं
फैंटनि गुलाल कर कज पिचकारी हैं ।
चोटनि चलाव तव तब चावत अदायनि सों
नैननि नचावत हसत सुकुवारी हैं ।
हो हो कहि बोलैं चन्द हित सग डोलै
कहै सुख को निकेत ये बिहारिन बिहारी हैं ।।

(द) रचना—चद्र नाथ जो की सबदी

प्रति गूढ भाषा मे 19 पद हैं । यह ग्रन्थ योग से सम्बन्धित है ।

उदाहरण—

काया सोनौ सिध्र सुनार
प्रारम्भ अग्नि जगावण हार ।
ताहि अग्नि को लागो पास
अग्नि जगाई चकमक स्वास ।

(3) ग्रन्थ-श्री नीतिसार भाषायाम

रचनाकार-कवि चन्द

रचनाकाल-जयपुर नरेश सवाई जयसिंह जी का समय

लिपिकाल-कवि के समय का अथवा अनुमान से 200 वर्ष प्राचीन

विवरण—

यह पुस्तक 5 8 इच चौडी लगती है । दोनो ओर 1 इच की जगह छूटी हुई है । एक हाथ की सुन्दर सधी हुई लिखावट है । यह पुस्तक अलग-अलग जुज मे है, इस समय बिना सिलाई के है । सारी रचना जो विद्यमान है उसका अन्तिम फोलियो न० 59 है परन्तु गणना करने से 64 होती है । प्रारम्भ का फोलियों अप्राप्य है, मध्य के 16 फोलियो नही हैं । अन्त के अनुमान से 1 या 2 फोलियो नही हैं ।

यह रचना कवि चद रचित है, कवि ने जयपुर राज्य के मुसाहिब श्री मनोलाल दरोगा के लिए यह रचना की । मनोलाल दरोगा धर्मात्मा, बीर, उदार, नीतिज्ञ था । रचना मे नीतिसार ग्रन्थ को अपूर्व कौशल के साथ ब्रजभाषा मे दोहा, सोरठा, चौपाई, बरवे, अडिल, त्रोटक, छप्पय, कवित्त, कुण्डलियाँ, आदि छदा मे प्रकट किया है । राजनीति सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यक बातो का, यथा-युद्ध की सामग्री, व्यूह-प्रति-व्यूह आदि अनेक बातो का उल्लेख किया गया है । अनेक दृष्टियो से यह रचना महत्वपूर्ण है । राजा-मन्त्री के गुणो का विस्तार से प्रकटीकरण है । कवि ने रचना को सर्गों मे विभाजित किया है ।

1–इन्द्री जयो विद्यावृद्धि सजोगोनाम प्रथमो सर्ग–65 छद
2–विद्या उपदश वर्णाश्रमधर्म दण्ड महात्मना द्वितीयो सर्ग–35 छद
3–आचार व्यवस्थानां तृतीयो सर्ग–29 छद
4–राजा मुसाहिब देश कोष पजानो फौज, मित्र परीक्षण गुण वर्णना चतुर्थ सर्ग–49 छद
5–भृत्य मित्र वधन उपदम सामान्य जीत वृत्त नाम पच सर्ग–5 छद
6–कटव साधनोनाम षष्ट सर्ग–12 छद
7–राजपुत धातमारनदास सरस्ता वर्णनाम् सप्तम्–41 छद
8–अष्टमोसर्ग के केवल 32 छद इसमे हैं।
9–अप्राप्य
10–अप्राप्य
11–अप्राप्य
12–अप्राप्य
13–अकीलचर प्रकरण वर्णनोनाम त्रयोदश सर्ग–42 छद
14–प्रकृति कर्म प्रकृति विशन वर्णनो नाम चतुर्दश–43 छद
15–राजोपदेश सप्त विसन दूषण वनेनोनाम पचदसमो–39 छद
16–राजोपदेश जाया जुवति दरसनो नाम षोडसोसर्ग–44 छद
17–दरसनो नाम सप्तदशो सर्ग–21
18–अष्टादशमो सर्ग–38
19–उनीसवो सर्ग–39
20–बीसवें सर्ग म व्यूह आदि का तथा अत म काव्य-ग्रन्थ प्रयोजन दिया है जो 51 वें छद तक है। आगे के पृष्ठ नही हैं।

इस प्रकार से इस पुस्तक म लगभग 630 छद प्राप्य हैं।

उदाहरण—

दोहा

गुरु सेवहु नृप पद चितै, पावहु कमला पूर
सिक्षा सैं नीतिहि बढ़ै शत्रु हनियत्तै सूर।
जाकर भूप नहि नीति रस ताजीतै परिहीन
छोटो हू जग जय सटै राजा शिक्षा सीन ॥

अत—

श्री जय साहि नरेस धरम अवतार प्रगटि घर
जिनके अष्ट प्रधान नीति प्रम जान बुधिवर
सिंघी भूँवाराम स्वाम के काम सुधारत
फोज मुसाहिब हुकुमचद दल उद्धत विदारत
औबा जु सिंघ विरम प्रभुत मत्री विमल प्रभानिय
मनाजुलाल बरनति विसद टाल हिन्दु की जानिये।

ग्रमा ग्रु चद दीवान स्वामिधर्मि हरिभक्त है
मानासिध सिंघ जिमि बल दडन ग्रनुरक्त है
सिरमोर सीतलाल पालना प्रजा समाम्ह
पवरि विदिमि दिस गहत परच ग्रावदनी हत्थ है
सब विधि सुजान बुधिवान वरम नी लाल उदारचित ।

सवैयो के ग्रत मे लिखा है "इति श्री नीतिसारे भाषाया कवि चद विरचित दरागाजी श्री मनालालजी हेत" ।

यह प्रति प्रारम्भिक प्रति हो सकती है। इसमे ग्रनेक स्थानो पर शुद्ध किया हुग्रा है।

ऊपर हमने मिश्रबन्धु विनोद से चन्द ग्रथवा चन्द्र ग्रौर उनके नाम साम्य वाले कवियो की सूची दी है। उसका एक कारण सीधा-सा यह है कि हमे हिन्दी मे चन्द नाम तथा साम्य रखने वाले नाम के कवियो का एकसाथ ज्ञान हो जायेगा किन्तु हमारा दूसरा उद्देश्य ग्रौर मुख्य उद्देश्य यह जानना भी है कि जो ग्रन्थ हमे उपलब्ध हुए हैं ग्रौर जिनके लेखक जो चद नाम के कवि हैं उनका पता मिश्रबन्धुग्रो तक मिल सका था ग्रथवा नही। इसमें जिन चन्द नाम के कवियो का साहित्य मिला है उनमे से एक तो 18वी शताब्दी का कवि है। शेष सभी 19वी शताब्दी के विदित होते हैं। मिश्रबन्धु विनोद के चन्दबरदायी तो प्रसिद्ध हैं ग्रौर प्रसिद्धि से भी ग्रधिक विवादास्पद हैं। दूसरे चन्द हितोपदेश के लेखक हैं। जिनका रचना काल 1563 माना गया है ग्रर्थात् वे 16वी शताब्दी के हैं। एक चन्दसखी ब्रजभाषी 1638 यानी 17वीं शती के हैं। 18वी शती के कवि हैं एक चन्द 'नागनौर की लीला' के लेखक जिनका रचनाकाल 1715 या 1756 है। दूसरे चन्द पठान ग्रौर सुलतान हैं जिनका समय 1761 है। एक चन्द्रसेन को 1726 के पूर्व का बताया गया है। एक चन्दलाल गोस्वामी 1768 के हैं। ये राधावल्लभी हैं। ये 18वी शताब्दी के कवि हैं। 19वी शताब्दी के कवियो मे एक चन्द्रघन हैं 'भागवत सार भाषा' के लेखक जिनका समय 1863 बताया गया है। दूसरे चन्द्र राधावल्लभी हैं जिनका समय 1820 बताया गया है। एक चन्द्रदास को 1823 के पूर्व का, फिर एक चन्द्रलाल गोस्वामी राधावल्लभी जिनका कविता काल 1824 माना गया है। सम्भवत ये वही चन्द्रलाल हैं जिनका कविता काल 1768 बताया गया है। फिर एक चन्द्रकवि सनाढ्य चौबे हैं, कविता काल 1828। फिर एक चन्द्रहित राधावल्लभी जिनका रचनाकाल नहीं दिया है। एक चन्द जो गोसाई हैं जिनका रचनाकाल 1846 है। इतने 19वीं शताब्दी के कवि हैं।

इनमे से हमारे सग्रह के पहले कवि ग्रौर मिश्रबन्धु विनोद के 'नागनौर' की लीला के लेखक कवि चन्द एक ही हैं जिनकी रचना 'नागदमन' है। मिश्रबन्धुग्रो ने इसे 'नागनौर' लिखा है जो मूलत 'नागदौन' होगा ग्रौर इसका रचनाकाल स० 1715 मिश्रबन्धु विनोद मे बताया गया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि 'वीणा' मे भी इसी कवि की इसी कृति का उल्लेख है ग्रौर उन्होंने भी सवत् 1715 रचना काल माना है। क्योकि सवत् की जो पक्ति है उसे 'सत्रह सै दस पच' तक ग्रहण करें तो उससे 1715 ही रचना का सवत् निकलेगा। ग्रन 'नागदौन' की लीला के लेखक चन्द ग्रौर हमारे चन्द 'नागदवन' के लेखक एक ही प्रतीत होते हैं। कृति के नाम मे विभिन्नता है पर विषय से स्पष्ट है कि उसमे नागदमन या कृष्ण की नागलीला का वर्णन किया गया है। मिश्रबन्धु विनोद मे

अत्यन्त सूक्ष्म रचना मिलती है। हमारी दृष्टि में यह कवि महत्त्वपूर्ण है। यह आवश्यक है कि इस पर विशेष ध्यान दिया जाये। हमने ऊपर स्पष्ट किया है कि हमारी दृष्टि मे इसका रचनाकाल 1856 होना चाहिए। हमे 'सत्रह से दस पच' पर ही नही रुकना चाहिए आगे छर' को भी ग्रहण करना होगा।

हमारे दूसरे कवि चन्द 'भागवत दोहा' सूची के लेखक हैं। जैसा कि हमने ऊपर टिप्पणी मे बताया है कि यह 'भागवत दोहा सूची' ग्रन्थ श्रीमद्भागवत् श्रीधरी टीका की दोहो मे सूची है। कवि ने एक एक अध्याय को एक एक दोहे मे अत्यन्त सक्षेप में प्रस्तुत कर दिया है। ग्रन्थ मे जो उल्लेख है उससे विदित होता है कि लेखक ने 10 स्कध ग्रन्थ 1895 मे पूरा किया, द्वादश स्कध 1896 मे नृसिंह चौदस को। इन चन्द के सम्बन्ध मे इस ग्रन्थ मे जो परिचय दिया हुआ है उससे प्रतीत होता है कि यह फतेहगढ़ के नृपति महाराजा बाघसिंह के पुत्र थे। अत मे, एक दोहे मे यह भी उल्लेख है जो ऊपर की टिप्पणी मे विद्यमान है। प्रारम्भ में जिस प्रकार वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथजी की वदना की गयी है उससे स्पष्ट है कि यह पुष्टि मार्गी थे। इन कवि चन्द का पता मिश्रबन्धुओ को नहीं था, ऐसा प्रतीत होता है। हमारे कवि चन्द के 'भागवत दोहा सूची' ग्रन्थ के समकक्ष ग्रन्थ 'भागवत सार भाषा' के लेखक चन्द्रघन को मिश्रबन्धुओ ने 1863 के पूर्व का बताया है। ग्रन्थ के नाम से भी यह सम्भावना प्रतीत होती है कि मिश्रबन्धुओ के चन्द्रघन पुष्टि-मार्गी कवि चन्द से भिन्न हैं। अत ये एक नये कवि हैं जिनका अब तक पता नहीं था। इसमे कोई सन्देह नही कि यह 'बाघनृपति सुत चन्द' विद्वान भी थे और उच्च कोटि के कवि भी थे, तभी एक अध्याय का सार एक दोहे मे दे सके।

फिर एक कवि चन्द 'अभिलाष पच्चीसी' के लेखक हैं। प्रतीत होता है कि 'समय पच्चीसी' और 'श्री राम जी चौपड़ के ख्याल' के लेखक भी यही कवि चन्द हैं। बहुधा इन्होंने अपने नाम के साथ हित लगाया है यथा 'कवि चन्द हित' जिससे भी सिद्ध होता है कि ये हित हरिवश सम्प्रदाय अर्थात् राधावल्लभी सम्प्रदाय के कवि हैं।

कवि चन्द हित की इन रचनाओ का लिपि समय 1823 दिया हुआ है। हित शब्द के आधार पर देखें तो मिश्रबन्धुओ के 1001 की सख्या के कवि चन्द हित भी राधावल्लभी हैं अतएव दोनो एक ही प्रतीत होते हैं। पर इनमे से किसी के साथ रचनाकाल नही दिया हुआ है। इससे अंतिम निर्णय नही लिया जा सकता।

इनके बाद चन्द्रलाल गोस्वामी के दो रचनाकाल हैं, एक 1767 और एक 1824 और एक अन्य चन्द राधावल्लभी का समय 1880 है। इन तीनो का विशेष विवरण मिश्रबन्धु विनोद मे नही दिया गया है। इसलिये यह निर्णय करना सम्भव नही कि यह हमारे कवि चन्द हित से भिन्न हैं या अभिन्न। किन्तु इसमे सदेह नही कि कवि चन्द हित की रचनायें समय पच्चीसी', 'अभिलाष पच्चीसी' तथा 'राम की चौपड का ख्याल' नयी उपलब्धियाँ है और इसी प्रकार 'नीतिसार भाषायाम' के लेखक कवि चन्द भी एक नयी खोज हैं। जयपुर नरेश सवाई जयसिंह का 1699 से 1743 तक शासनकाल है। इनके राज्य के मुसाहिब श्री मनोलाल दरोगा के लिए यह रचना कवि चन्द ने रची।[1]

1. इति श्री नीति सारे भाषायां, कवि चन्द विरचितं दरोगा जी श्री मनोलालजी हेत।

स्पष्ट है कि नीतिसार का सम्बन्ध विशेषत राजनीति से है।

एक अन्य कवि 'चन्द नाथ' हैं जिन पर संक्षिप्त टिप्पणी दी है। इनका ग्रन्थ 'चन्द्रनाथ की शब्दी' हमें प्राप्त हुआ है। यह भी नयी उपलब्धि विदित होती है। ये नाथ सम्प्रदाय के कवि हैं और इस शब्दी मे योग की चर्चा है।

एक अन्य चन्द कवि की एक कृति 'सग्राम' हमे अन्यत्र देखने को मिली। यह भी जयपुर नरेशो के कवि हैं और इसने 'सग्राम सागर' नामक ग्रन्थ मे महाभारत के द्रोणपर्व के अनुवाद के रूप मे युद्ध-शास्त्र का वर्णन किया है। इस कवि ने आरम्भ में शिव की वदना की है फिर कृष्ण की वदना की है किन्तु इसने विस्तारपूर्वक नृपवश वर्णन तथा कवि वश वर्णन दिये हैं जिसमे जयपुर राजघराने के राजाओ तथा उनके आश्रित कवियो पर कुछ प्रकाश पडता है। हम इनके ये अश यहाँ ज्यो के त्यो उद्धृत कर रहे हैं :—

अथ नृप वंश वर्णनम छप्पये

देश ढ ढाहर मध्य सर्व सुख सम्पति साजत।
अमरावति सम अवनि माझ आमेरि विराजत।
तास भूप पृथिराज सदा हरि भक्ति परायन।
भारमल्ल तिन तनय खग्ग खडन अरि धायन।
भगवत दास नृप तास सुव दखल जैम दक्षिण करिये।
सुत मान जिति शत शष्टि रण जश जहा न धन वियथरिय।
तास कवर जगतेश खान ईशव जिन खडिय।
महा सिघ तिन तनय कीर्ति महि मडल मडिय।
? (जा) यउताम जयसिघ जीति मेवा गहि आनिय।
तास पुत्र नृप राम अमल आसाम जु ठानिय।
? य कृष्ण सिंघ तिन के तनय विष्णु सिंघ तिन सुत लियउ।
जयसिंह सवाई जास जिन अश्वमेध गध्वर कियउ।8।
माधवेश नरनाहु तनं तिनके परगट्टिय।
जिन जवाहिर हि जेर ठानि जट्टन दह वट्टिय।
तिन तनूज परताप ताप दुज्जन दल मडिय।
करि पटेल मदमग जग दक्षिण दल खडिय।
राजाधिराज जगतश मय जिन जहान जय विथ्थरिय।
करि समर (?क) उज कमधज्ज कारण भजाय कमधज्ज किय।
तिन तनूज जयसाह तरनि समतेज उभलल्ले।
जन्म लेत जिन तिमिर तत भय नष्ट मुसल्ले।
कूरम राम नरेन्द्र तनं तिनके परगट्टिय।
पुहुमि माझ पुरहूत जेमि प्रभुता जिन पहिय।
रसबीर माझ बट्टिट सुरुचि द्रोण जुद्ध चित अनुसरिय।
भाषा प्रबन्ध कवि चन्द कौ करन हेतु आयस करिय ।।10।।

दोहा लशत भरि कूरम सदन कवि कोविद वर व्रंद
देव मनुज भाषा निपुण निरख्यो तह कवि चन्द। 11।

कवि वंश वर्णन

दोहा—

उतन धासवन पुर विशद अंतरवेद मझार।
भयो चद्र मणि विप्र कुल कान्य कुब्ज अवतार। 14।

तिहि तनूजा गिरधर भये गिरधर को हियवाश।
वशे जाय रुजगार लहि दिल्ली पति के पाश। 15।

भये शिरोमणि तास सुत पडित परम सुजान।
लहि निदेश आने इते दिल्ली पति तै मान। 16।

तिहि तनूज माधव भये चरनऊ माधव चाहू।
जिस हमेश वर्णन किये सुजश बडे जयसाह। 17।

भये प्रकट तिनके तनय जाहिर लछीराम।
जिन्हें रीझि जयसाह नृप दिये दिष्य दश ग्राम। 18।

रामचन्द्र तिनके भये पैरि सर्वगुन पथ।
महाराजा जयसाह हित अलंकार किय ग्रथ। 19।

प्रगट पुत्र तिनके भये सोमानन्द सुजान।
माधवशे नरनाहू तें लह्यो सरस सनमान। 20।

तिनके सुवन सपूत भे लालचंद इक आय।
महाराज परताप को रहै सदा गुन गाय। 21।

सुकविचंद तिनको तनय भो गुन उत्तम गात्र।
कूरम राम नरेन्द्र के भयो कृपा को पात्र। 22।

देश विदेशन मे भयो कवि पडित विख्यात।
कूरम राम नरेन्द्र हित किये ग्रथ जिन्हें सात। 23।

हुक्म पाय जिहि राम को द्रोण पर्व अनुसार।
सु सग्राम सागर रच्यो शूरन को शृगार। 24।

श्रवण सुनत ही क्षेत्र कुल कायरता गटि जाय।
अंग अंग अति जग की मन उमग अधिकाय। 25।

रुद्र गगन योगीश शशि भाद्र शुक्ल रविवार।
ढूंजि द्रोण सग्राम निधि लियो ग्रंथ अवतार। 1911। 27।

इति श्री मन्महाराजाधिराज राजराजेन्द्र श्री सवाई राम सिंघ देवाज्ञया सुकवि चंद विरचित सग्राम सागरे पाथुपता———शुभमस्तु।

पत्र सख्या 378, जिल्द बंधी।

इसके आधार पर राजवश वर्णन और सुकवि चंद के वंश का पारस्परिक सम्बन्ध कुछ इस प्रकार प्रतीत होता है जैसे कि प्रस्तुत तालिका में दिया हुआ है।

काल	राजवंश	कविवंश
1503–1527 ई०	1–पृथ्वी राज	चन्द्रमणि (उतनवास, काव्य कुञ्ज, बनपुर ग्रन्तर्वेद गिरधर (दिल्ली पति की सेवा में ग्राये) शिरोमणि
1548–1574	2–भारमल्ल	
1574–1590	3–भगवत दास	
1590–1614	4–मानसिंह	
	5–जगतेश	
1615–1622	6–महासिंघ	
	7–भावसिंह	
1622–1667	8–जयसिंह प्र०	1–माधव 2–लच्छी राम 3–रामचन्द्र
1667–1690	9–रामसिंह प्र०	
	10–कृष्ण सिंह	
	11–विष्णु सिंह	
1700–1743	12–जयसिंह सवाई द्वि०	
1743–1751	13–सवाई ईश्वरी सिंह	
1751–1768	14–सवाई माधव सिंह	शोभा चद, जवाहर
1778–1803	15–सवाई प्रताप सिंह	लालचंद
1803–1818	16–सवाई जगत सिंह	
	17–सवाई जयशाह	
1835–1880	18–सवाई रामसिंह द्वि०	सुकवि च॰
1880–1922	19–सवाई माधोसिंह जी बहादुर द्वि०	
1922–1970	20–सवाई मानसिंह	
1970–1971	21–सवाई भवानी सिंह	

ऐसा प्रतीत होता है कि नाथ वश प्रकाश' का लेखक तथा सग्राम सागर' का लेखक तथा 'नीतिसार' का लेखक एक ही व्यक्ति है। इस कवि ने सग्राम सागर मे यह उल्लेख तो किया है कि उसने सवाई रामसिंह के लिए सात ग्रन्थ लिखे। एक ग्रन्थ 'भेद प्रकाश नाटक' भी एक ग्रन्थ हस्तलेखागार मे हमे देखने को मिला। उसका लेखक भी सुकवि चद है। उसका रचना काल सद् 1890–1912 दिया हुग्रा है। यह भी इसी कवि का प्रतीत होता है। मिश्रबन्धु विनोद ने कवि चन्द के जिस 'भेद प्रकाश ग्रन्थ' का उल्लेख किया है वह भी इसी कवि से ग्रभिन्न विदित होता है। इस कवि की ग्रोर विशेष ध्यान देने की ग्रावश्यकता है। इस कवि का काव्य स्तर भी ऊँचा है। यहाँ खोज मे प्राप्त इन 'चन्द' नाम के कुछ कवियो का सामान्य परिचय तुलनापूर्वक दिया गया है।

इस एक विस्तृत उदाहरण से उन सभी बातो पर प्रकाश पड जाता है, जो कि इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन मे उपयोग मे आती हैं। निष्कर्षत हम कह सकते हैं कि जितनी भी उपलब्ध सामग्री है उसके आधार पर पहले तो एक सूची समान नाम के कवियों की बनायी जानी चाहिए। इसमे सक्षेप मे वे आवश्यक सूचनाएँ दी जानी चाहिए जो सामान्यत अपेक्षित है, यथा—उनके ग्रन्थ, उनका रचना-काल एव उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध मे अन्य सूचनाएँ।

इनके आधार पर यह देखना होगा कि कौन-कौन से कवि ऐसे हैं जो एक ही व्यक्ति हैं, भले ही उनके नोटिस या विवरण अलग-अलग लिए गए हो। इस प्रकार समस्त उपलब्ध सामग्री का एक सरसरा निरीक्षण प्रस्तुत हो जाता है, जो विषय के अध्येता के लिए उपयोगी हो सकता है।

इसके साथ ही अपने सग्रह मे उपलब्ध इसी नाम के कवियों के ग्रन्थों की कुछ विस्तार से चर्चा कर देने से यह भी पता चल सकता है कि क्या हमारी सामग्री बिल्कुल नयी उपलब्धि है और क्या किन्ही दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है ?

यह कहने की आवश्यकता नही कि उपर्युक्त एक नाम के कवियो और उनकी कृतियो की यह चर्चा इन कवियो का अध्ययन नही है, इसका उद्देश्य केवल जानकारी देना है।[1]

अब पाडुलिपि विज्ञानार्थी को इसी प्रकार की अन्य अपेक्षित सूचियाँ या तालिकाएँ भी अपने तथा अन्यों के लिए अपेक्षित उपयोगी जानकारी या सूचना देने के लिए प्रस्तुत करनी चाहिए।

यहाँ तक उन प्रयत्नो का उल्लेख किया गया है जो पाडुलिपि के सम्पर्क में आने पर पाडुलिपि विज्ञानार्थी को करने होते हैं।

विवरण प्रकार : इनमे से सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है विवरण लेने और प्रस्तुत करने का। इन प्रयत्नो को सक्षेप में यों दुहराया जा सकता है। विवरण कई प्रकार के हो सकते हैं :

एक प्रकार को 'लघु सूचना' कह सकते हैं,

इसमे निम्नलिखित बातो का उल्लेख सक्षेप मे पर्याप्त माना जा सकता है :

1 क्रमाक

2 रचयिता का नाम···· ···· (अकारादि क्रम मे)

3 ग्रन्थ नाम ············

1. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रधान मन्त्री, निरीक्षक, खोज विभाग काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने 'हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण (सन् 1926–28 ई०) की 'पूर्व पीठिका' में इसी प्रकार का एक सुझाव दिया था। उन्होने लिखा है, "मेरा विचार है कि कुछ प्रमुख ग्रन्थकारों पर खोज की सामग्री के आधार पर कुछ पुस्तकें पृथक रूप मे क्रमश प्रकाशित की जाय। इनसे अनुसन्धान करने वालो को विशेष लाभ तो होगा ही, आलोचना करने वालों और ग्रन्थ सम्पादित करने वालों को भी सरलता होगी। अनायास उन्हें बहुत-सी सामग्री घर बैठे मिल जायगी। इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नही पडेगी।" (पृ० ८)

4 विषय············

5. रचना काल ···· ···· रचना स्थान ···· ····

6. लिपि काल ···· ···· लिपि स्थान ···· ····

7. लिपिकार

'मिश्रबन्धु विनोद' मे ऐसी सूचनाएँ बहुत हैं, यथा :

नाम (1025) टेक चन्द

ग्रन्थ (1) तत्वार्थ श्रुत सागरी टीका की वचनिका (1837),
(2) सुदृष्टि तरंगिणी वचनिका (1838),
(3) षट् पाहुड वचनिका,
(4) कथा कोश
(5) बुध प्रकाश
(6) अनेक पूजा पाठ

रचना काल – 1837[1]

ऐसी सूचनाएँ प्रकाशन करके पाडुलिपि-विज्ञानार्थी भविष्य के अनुसन्धान का बीज वपन करता है, तथा साहित्य सम्पत्ति की समृद्धि के लेखे-जोखे मे भी सहायक होता है। साहित्य के इतिहास और सस्कृति के इतिहास की यथार्थ रूप-रचना मे निर्मापक तन्तु या ईंट का भी काम करता है।

कभी-कभी तो रचयिता (कवि) के नाम की सूची या ग्रन्थनाम की सूची दे देना भी उपयोगी होता है। इन सूचियो से उन कवियो और ग्रन्थो की ओर ध्यान आकर्षित होता है जो भले ही गौण हो, पर साहित्य तथा सस्कृति की महत्त्वपूर्ण कडियाँ हैं। श्री नलिन विलोचन शर्मा जी ने 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' मे इन गौण कवियो का महत्त्व स्थापित करने का प्रयत्न किया है और पाडुलिपि मे सिद्ध विद्वान की भाँति कुछ सूचियाँ भी परिश्रम-पूर्वक किये गये अनुसधान को चरितार्थ करने वाली दी हैं। एक सूची उन्होने सस्कृत के गौण कवियो की विविध सुभाषित ग्रन्थो[2] से प्रस्तुत की है।

इस तालिका मे उन्होने 'सदुक्ति कर्णामृत' से ही छाट कर गौण कवि दिये हैं। इन कवियो को सूची मे अकारादि क्रम से सजोया है, दूसरे उन्होने इस तालिका मे यह भी सकेत

1. मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृ० 818।
2. उन्होंने यह सूची निम्न सुभाषित ग्रन्थों से तैयार की है
   (क) सदुक्ति कर्णामृत (श्रीधरदास द्वारा 13वीं शती के प्रारम्भ में संकलित)। यही इस तालिका का मुख्य आधार है।
   (ख) कवीन्द्र वचन समुच्चय (जिसमें सभी कवि 1000 ई० से पूर्व के ही हैं)।
   (ग) सुभाषित मुक्तावली एवं सूक्ति मुक्तावली
   (घ) दोनों (जल्हण द्वारा सकलित) 13वीं शती के मध्य की हैं।
   (ङ) शार्ङ्गधर पद्धति (14वीं का मध्य)।
   (च) सुभाषितावली (15वीं)।

कर दिया है कि समान छद्र या कवि का नामोल्लेख किसी अन्य सुभाषित सग्रह मे भी हैं। तीसरा महत्त्वपूर्ण सकेत इस तालिका म यह दिया गया है कि इन गौण कवियो के सम्बन्ध मे 'साहित्य' तथा 'जीवनी' सम्बन्धी कुछ सामग्री आज किन किन स्रोतो से उपलब्ध है।

इस पद्धति को समझाने के लिए इस तालिका म से कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

1 अचल कवीन्द्र समुच्चय (आगे 'क' से सकेतित), कोई सूचना नहीं (आगे न. से सकेतित)।

व्याख्या 1 अकारादि क्रम मे 'अचल' पहले आता है। यह शब्द शर्माजी ने 'सदुक्ति कर्णामृत' से लिया है।

2 'कवीन्द्र समुच्चय' में भी यह कवि मिलता है।

3 'क' सकेत से अभिप्राय है कि आगे जहाँ कवीन्द्र समुच्चय' का उल्लेख होगा वहाँ केवल 'क' लिखा जायेगा।

4 'अचल' के सम्बन्ध मे कोई और सूचना नही मिलती। इसके लिए कि कोई सूचना नही मिलती, सकेताक्षर 'न' रखा है। सूची मे आगे जहाँ 'न' आयेगा वहाँ यही अभिप्राय होगा कि उस कवि के सम्बन्ध मे कोई और जानकारी नहीं मिलती।

— 74 गणपति–सु मे पीटरसन ने (पृ 33) लिखा है कि जल्हण की सू. म राजशखर का एक श्लोक है जिसमें गणपति नामक एक कवि और उसकी कृति 'महा मोह' का उल्लेख है।[1]

व्याख्या 1 संख्या 74 अकारादि क्रम मे सूची में गणपति का स्थान बताती है।

2 'सु' सुभाषितावली का सकेताक्षर है। सख्या 14 के ग्रन्थ में इसका सकेत है। वहाँ यह पूरे नाम से दी गई है।

3 'सू' यह 'सूक्ति मुक्तावली' का सकेताक्षर है। यह सूचना 36वी सख्या के कवि के सन्दर्भ मे दे दी गई है।

131 सुतातित, ऑफ़ेक्त (कैटेलॉगस कैटेलेगोरम) के अनुसार सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल स्वामी का नाम।[2]

इन उदाहरणो से यह विदित होगा कि मिश्रबन्धुओ ने जो सक्षिप्त विवरण दिये है उनसे यह आगे का चरण है क्योकि एक शब्द या एक पक्ति लिखने के पीछे लेखक का विशद अध्ययन विद्यमान है उसका उपयोग भी इस तालिका मे भरपूर हुआ है। यह तालिका सूची मात्र नहीं वरन् अध्ययन प्रमाणित विवरण है।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने 482 गौण कवियो की तालिका दी है। उसके साथ यह टिप्पणी है "ऊपर प्रस्तुत तालिका से सस्कृत के ज्ञात गौण कवियो की सख्या का अनुमान मात्र किया जा सकता है। अन्य समस्त सुलभ स्रोतो से ऐसे नाम सकलित किये जायें तो सख्या सहस्राधिक होगी।' निश्चय ही ऐसी तालिका प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किसी सीमा तक पांडुलिपि विज्ञानार्थी के क्षेत्र म आता है। उसके आधार पर सस्कृत साहित्य का पूर्ण इतिहास लिखना साहित्य के इतिहासकार का काम होगा।

1 शर्मा नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास दर्शन पृ० 14।
2 वही, पृ० 16।

इस प्रकार आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने 'हिन्दी' के गौण कवियों का इतिहास' शीर्षक अध्याय मे '971' कवियो की तालिका दी है। यह तालिका भी उन्होंने प्रकाशित ग्रन्थो के आधार पर प्रकाशित की है। इस सम्बन्ध मे उनकी भूमिकावत् यह टिप्पणी उल्लेख्य है

"परमानन्द सुहाने' तथा इनसे भिन्न बहुसख्यक कवियो की स्फुट रचनाएँ शिवसिंह सरोज मे भी सगृहीत हैं। यह दुर्भाग्य का विषय है कि सरोजकार द्वारा उल्लिखित आकर-ग्रन्थो मे से प्राय. सभी आज अप्राप्य हैं। परमानन्द सुहाने के हजारा मे जिन कवियो के छद सगृहीत हैं, उनके नामो और समय आदि को, सरोज पर अवलम्बित आगे दी गई तालिका से मिला कर हिन्दी के गौण कवियों के अध्ययन के निमित्त आधार भूमि तैयार की जा सकती है। इस तालिका म सरोजकार द्वारा किये गये नामो तथा समय के विषय मे ग्रियर्सन तथा किशोरीलाल गोस्वामी[1] की टिप्पणियो का भी उल्लेख है ।"[2]

प्रश्न यह उठता है कि क्या मुद्रित और उपलब्ध ग्रन्थो के आधार पर ऐसी सूची प्रस्तुत करना पाडुलिपि विज्ञानार्थी के क्षेत्र मे आता है ? आपत्ति सार्थक हो सकती है। पर पाडुलिपि विज्ञानार्थी को अपने भावी कार्यक्रम की दृष्टि से या किसी परिपाटी को या प्रणाली को हृदयगम करने के लिए इनका ज्ञान आवश्यक है। हस्तलेखो मे शतश ऐसे सग्रह ग्रन्थ मिलेंगे जो हजारा' की भाँति के होगे। उनके कवि और काव्य को तालिकाबद्ध करने के लिए यही प्रणाली काम मे लायी जा सकती है जो आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने यहाँ दी है ।

तालिका का रूप .

अब इस तालिका के रूप को समझने के लिए कुछ उदाहरण दिये जाते हैं

(1) अकबर बादशाह

स०, दिल्ली, 1584 वि०, ग्रि० कि०, 1556–1605।

(2) अजवेस (प्राचीन)

स०, 1570, वि०, ग्रि०, कि०, इस नाम का कवि कोरी कल्पना।

(5) अवधेश ब्राह्मण

स०, वदरबारी, बुन्देलखण्डी, 1901 वि०; ग्रि०, 1840 इ० म उप०।

(6) अवधेश ब्राह्मण

म०, भूपा के बु'देलखडी, 1835 वि०, ग्रि०, जन्म 1832 ई०। कि० के अनुमार *दोनो अवधेश ब्राह्मण एक ही हैं, रचनाकाल 1886–1917 ई० है; 1838 ई० ज मकाल* नही है।

(787) लक्ष्मणशरण दास

कि०, "इस कवि का अस्तित्व ही नही है" सरोज मे उद्धृत पद मे 'दास सरन लछिमन सुत भूप' का अर्थ है–"यह दास लछिमन सुत अर्थात् वल्लभाचार्य की शरण मे है।"

(806) शम्भु कवि

स०, राजा शम्भुनाथ सिंह सुलकी, सितारागढवाले 1, 1738 वि०, नायिका भेद;

1. आचार्य शर्मा यहाँ गोस्वामी' भूल से लिख गए हैं। यह 'गुप्त' हैं।
2. शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास-दर्शन पृ० 161।

ग्रि०, सितारा के राजा शम्भुनार्थासह सुलकी, उर्फ शम्भुकवि, उर्फ नाथ कवि, उर्फ नृपशम्भु, 1650 ई० के आस-पास उपस्थित, सुन्दरी तिलक, सत्वविगिराविलास, कवियो के आश्रय-दाता ही नहीं, स्वय एक प्रसिद्ध ग्रन्थ के रचयिता, यह शृ गार रस मे है और इसका नाम 'काव्य निराली' (?), कि०, शम्भुनाथ सोलकी क्षत्रिय नही, मराठे, सरोज मे इस कवि के सबध मे लिखा है—"शृ गार की इनकी काव्य निराली है। नायिका-भेद का इनका ग्रन्थ सर्वोपरि है। इसी का भ्रष्ट अग्रेजी अनुवाद ग्रियर्सन ने किया है और इनके काव्य ग्रन्थ का नाम 'काव्य निराली' ढूँढ निकाला है। इनका नखशिख रत्नाकर जी द्वारा सम्पादित होकर भारत जीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हो चुका है।"[1]

इन उद्धरणो से इस प्रणाली का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। कालक्रम म सबसे पहला ग्रन्थ 'सरोज' अर्थात् शिवसिंह सरोज, उसने कवि का उल्लेख सबसे पहले किया। आधार ही उसे बनाया है। सरोज का द्योतक सकेताक्षर 'स०'। उसके बाद ग्रियर्सन ने सूचना दी है। ग्रियर्सन का द्योतक सकेताक्षर 'ग्रि०' तब 'कि०' सकेताक्षर से किशोरीलाल गुप्त को अभिहित कराते हुए उनके सरोज सर्वेक्षण' से आवश्यक जानकारी सक्षेप मे दे दी है। इस प्रकार एक ऐसी सूची या तालिका की आधारशिला आचार्य शर्मा ने रख दी है जिसमे पाडुलिपि विज्ञानार्थी अपनी दृष्टि से यथास्थान नये कवियों का नाम और आवश्यक सूचना जोड़ता जा सकता है तथा टिप्पणी देकर अद्यतन अध्ययनो से प्राप्त ज्ञान को हस्तामलकवत् कर सकता है।

पाडुलिपि विज्ञानार्थी इसी सूची का उपयोगी सम्वर्द्धन दो प्रकार से कर सकता है: प्रथम तो अब तक की खोजो के विवरणों से सामग्री लेकर ।

यथा, खोज मे उपलब्ध हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का अठारहवाँ त्रैवार्षिक विवरण (सन् 1941-43 ई०) द्वितीय भाग मे जिसके सपादक प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हैं: चतुर्थ परिशिष्ट (क) में प्रस्तुत खोज म मिले नवीन रचयिताओ की नामावली दी है और उनका शताब्दी क्रम भी बताया है। इस नामावली मे 206 कवि हैं। पाडुलिपि विज्ञानार्थी इन नामो की परीक्षा कर अपनी तालिका मे प्रामाणिक कवियो को स्थान दे सकता है।

इसमे भी महत्वपूर्ण चतुर्थ परिशिष्ट (ग) है। इसमे काव्य सग्रहों मे आये नवीन कवियों की सूची दी गई है। इस सूची मे गौण कवियों की तालिका और अधिक उपयोगी हो जायेगी और शोधार्थी को शोध की दिशाओं का निर्देश भी कर सकेगी।

पाडुलिपि विज्ञानार्थी को एक तालिका और बना कर अपने पास रखनी होगी। यह तालिका उसके स्वय के उपयोग के लिए तो होगी ही, अन्य अनुसधाता भी उसका उपयोग कर सकते हैं। इस तालिका को रा०ब० डॉ० हीरालाल जी डी०लिट०,एम०आर०ए० एस. ने त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण में इस रूप मे दिया है। यह इन्होंने चतुर्थ परिशिष्ट मे दिया है। इसकी व्याख्या यो की गई है "महत्वपूर्ण हस्तलेखो के समय एव सन् 1928 ई० तक प्रकाशित खोज विवरणिकाओ म उनके उल्लेख का विवरण"। तालिका का रूप यह है

सख्या	रचयिताओं का नाम	हस्तलेखों का नाम	प्राप्त हस्तलेखो के उल्लेख तथा समय	विशेष
1	2	3	4	५

1. शर्मा, नलिन विलोचन—साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ० 226।

यह तालिका उपयोगी है, यह स्वयसिद्ध है, क्योकि सन्दर्भ की दृष्टि से भी खोज-विवरणों का उल्लेख कर दिया गया है, जहाँ विस्तृत विवरण देखे जा सकते है। सख्या 4 को दो भागो मे भी विभाजित किया जा सकता है : प्रथम—यह भाग केवल समय-द्योतक होगा, और दूसरा, यह भाग विवरणिकाओ का उल्लेख करेगा। डॉ० हीरालाल ने केवल ना० प्र० स० के खोज के विवरणो के ही उल्लेख दिये है, पर पाडुलिपि-विज्ञानार्थी को जितने भी ऐसे विवरण मिलें उन सभी से सूचनाएँ देनी होगी। स्पष्ट है कि यह तालिका जितनी परिपूर्ण होगी उतनी ही अधिक उपादेय होगी।

इस विवेचन से हमारा ध्यान डॉ० किशोरीलाल गुप्त के प्रयत्न की ओर जाता है जो उन्होने 'सरोज सर्वेक्षण' के रूप मे प्रस्तुत किया है। 'सरोज' मे दिये विवरणो की अन्य स्रोतो से प्राप्त सामग्री का उपयोग कर उन्होने परीक्षा की है और उनके सम्बन्ध मे सप्रमाण अपना निर्णय भी दिया है। पाडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिए यह प्रणाली उपयोगी है, इसमे सन्देह नहीं। वह किसी भी प्राप्त 'पाडुलिपि' के विषय मे उपलब्ध अन्य सामग्री से इसी प्रकार परीक्षा करके टिप्पणी देगा, इससे अद्यतन ज्ञातव्य की सूचना उपलब्ध रह सकेगी।

इसी परिपाटी का पल्लवित रूप वह है जो 'चन्दकवि' के विवरण में ऊपर दिया गया है। ऐसे विवरण एक-एक कवि पर पाडुलिपि-विज्ञानार्थी को प्रस्तुत कर लेने चाहिए।

ऊपर हम देख चुके है कि विवरण के मुख्यत दो भाग होते है। एक को 'परिचय कह सकते हैं। इसका विस्तृत विवरण विवेचनापूर्वक दिया जा चुका है। दूसरा अश है विषय का अतरग परिचय आदि, मध्य और अन्त के उद्धरणो सहित।

काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों मे आरम्भ मे आदि, मध्य (कभी मध्य उद्धृत नही भी किया जाता था) और अन्त के छद-मात्र दे दिए जाते थे। आरम्भ मान लीजिए दोहे से है तो मात्र वह दोहा दे दिया जाता था। अन्त एक कवित्त से हो रहा है तो बस केवल उसी को दे देते थे। इससे विषय का अपेक्षित परिचय नहीं मिल पाता था। अत. जार्ज ग्रियर्सन के परामर्श से इस विषय के अतरग परिचय को अधिक विस्तार दिया जाने लगा। विषय की भी कुछ अधिक विस्तृत रूपरेखा दी जाने लगी। इस बात की ओर उक्त 'विवरणिका' मे डॉ. हीरालाल जी ने सकेत किया है :

"इसमे विगत विवरणिकाओ की अपेक्षा ग्रन्थो के विषय का विवरण विस्तार से दिया भी गया है। केवल उन्ही का विवरण नही दिया गया है जिनका विवरण विगत विवरणिकाओं मे विस्तृत रूप मे विद्यमान है। ऐसा सर जार्ज ग्रियर्सन के सुझाव से ही किया गया है जो उपादेय तो अवश्य है किन्तु इससे विवरणिका का विस्तार बहुत हो गया है।"[1]

विस्तार के रूप

विवरण के विस्तार के भी तीन रूप सम्भवतः माने जा सकते हैं :

1. विषय का ब्यौरेवार बहुत सक्षेप मे सार-रूप। इससे ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का कुछ ज्ञान हो सकता है। यह परिचय ग्रन्थ का ज्ञान कराने के लिए नही होता, वरन् ग्रन्थ

1. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण, पृ० 7।

-की विषय-वस्तु और विज्ञानार्थी की दृष्टि से उसकी प्रकृति और प्रतिपाद्य की पद्धति का उल्लेख करता है । डॉ टैसीटरी न अपने दृष्टिकोण से उन हस्तलेखो की विस्तृत टिप्पणियाँ ली, जो ऐतिहासिक महत्त्व के थे ।

दूसरा रूप है मूल उद्धरणो का, पाडुलिपि के आदि, मध्य और अन्त से ऐसे उद्धरण देने का और इतने उद्धरण देने का कि उनसे उन मूल उद्धरणो के द्वारा कवि या लेखक की भाषा, शैली तथा अन्य अभिव्यक्तिगत वैशिष्ट्यो की ओर दृष्टि जा सके ।

इसका तीसरा रूप है ग्रथ म आयी समस्त पुष्पिकाओ को उद्धृत करना । पुष्पिकाओ म कितनी ही महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं ।

इस प्रकार विवरण प्रस्तुत करके पाडुलिपि-विज्ञानार्थी उपलब्ध सामग्री के उपयोग के लिए मार्ग प्रशस्त कर देता है ।

कालक्रमानुसार सूची

इनमे से एक कालक्रमानुसार उपलब्ध-ग्रथ सूची भी हो सकती है जो इतिहास के क्षेत्रो म प्रसिद्ध 'The Chronology of Indian History' (भारतीय इतिहास के काल-क्रम) के ढग की हो सकती है । मेरे सामने ऐसी ही एक पुस्तक C Mabel Duff की लिखी है । उसके आरम्भ मे दी गई कुछ बातें यहाँ देना समीचीन प्रतीत होता है ।

पहले तो उन्होंने लिखा है कि "इस कृति मे नागरिक तथा साहित्यिक इतिहास की उन तिथियो को एकत्र कर व्यवस्थित रूप से तालिकाबद्ध कर देना अभिप्रेत है, जो वैज्ञानिक अनुसन्धान स आज के दिन तक निर्धारित की जा चुकी हैं ।

इससे यह सिद्ध है कि वे तिथियाँ ही दी गई हैं जो वैज्ञानिक प्रविधि से पुष्ट होकर निर्विवाद हो गई हैं ।

दूसरी बात उन्होंने यह बताई है कि भारतीय इतिहास की सामग्री मात्रा मे प्रचुर है और अनेक ग्रथो और निबन्धो मे फैली हुई है, अत इस काल तालिका मे उस समस्त सामग्री को व्यवस्थित करके तो रखा ही गया है, स्रोतो का निर्देश भी है जिससे यह तालिका समस्त सामग्री के स्रोतो की अनुक्रमणिका भी बन गई है ।

ये दोनो बातें हमे ध्यान म रखनी होगी । डफ ने इस तालिका मे कुछ तिथियाँ (सन्/सवत) इटेलिक्स मे दी हैं । इटेलिक्स मे वे तिथियाँ दी गई हैं जो पूरी तरह सही नही है, पर निष्कर्ष से निकाली गई हैं और लगभग सही (Approximately Correct) मानी जा सकती हैं । यह प्रणाली भी उपयोगी है क्योंकि इसमे सुनिश्चित और प्राय: निश्चित तिथियो मे अन्तर स्पष्ट हो जाता है जो वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ।

इस पुस्तक मे से साहित्य सम्बन्धी कुछ उल्लेख उदाहरणार्थ प्रस्तुत करना समीचीन होगा । पुस्तक अग्रेजी मे है, यहाँ अपेक्षित अशो का हिन्दी रूपान्तर दिया जा रहा है

ई०पू० 3102 शुक्रवार, फरवरी 18, कलियुग या हिन्दू ज्योतिष सवत का आरम्भ • यह बहुधा तिथियो मे दिया जाता है, यह विक्रम सवत से 3044 वर्ष पूर्व का है और शक सवत् से 3179 वर्ष पूर्व का

140 पतजलि, वैयाकरण, 'महाभाष्य' का रचयिता ई०पू० 140–120 में विद्यमान । 'महाभाष्य' के अवतरणो से गोल्डस्टुकर एव भण्डारकर ने पतजलि की तिथि निर्धारित की है । जिनसे विदित होता है कि वह

मेनाडर और पुष्यमित्र के समकालीन थे। पूर्वी भारत के गोनार्द के वे-निवासी थे और कुछ समय के लिए काश्मीर में भी रहे थे। उनकी माँ का नाम गोणिका था—
गोल्डस्टुकर पाणिनि 234। LitRem i, 131 ff LiAii, 485 BD8 I A, i, 299 ff JBRAS, XVI, 181, 199.

सन् ई० 476 आर्यभट्ट, ज्योतिषी का जन्म कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) में, आर्याष्टक तथा दशगीतिका का रचयिता–WL 257 Indische Streifen, iii, 300-2 गणकतरंगिणी, ed सुधाकर, The Pandit, N S XIV (1892), P. 2

600 कविबाण, श्री हर्षचरित, कादम्बरी और चण्डिकाशतक के रचयिता, मयूर, सूर्य-शतक के रचयिता, दंडी, दशकुमार चरित एवं काव्यादर्श के रचयिता और दिवाकर इस काल में थे क्योंकि ये कन्नौज के हर्षवर्द्धन के समसामयिक थे। जैन परम्परा के अनुसार मयूर बाण के श्वसुर थे। भक्तामर स्त्रोत के रचयिता मानतुंग भी इसी काल के हैं। ब्हूलर, Di indischer Inschriften Petersons सुभाषितावली Int 88 VOJ, IV, 67

1490 हिन्दी कवि कबीर इसी काल के लगभग थे क्योंकि ये दिल्ली के सिकंदर शाह लोदी के समसामयिक थे—BOD 204। उड़िया के कवि दीन कृष्णदास, रस-कल्लोल के कर्त्ता भी सम्भवतः इसी काल में थे। वे उड़ीसा के पुरुषोत्तम देव (जिनका राज्यकाल 1478–1503 के बीच माना जाता है) के समसामयिक थे, आदि।

इस पद्धति में यह द्रष्टव्य है कि प्रथम स्तम्भ में केवल सन् (ईस्वी) दिया गया है। और सभी बातें दूसरे स्तम्भ में रहती हैं। जिन घटनाओं की ठीक तिथियाँ विदित हैं वे यदि एक ही वर्ष के अन्दर घटित हुई हैं, तो उन्हें तिथि-क्रम से दिया जाता है।

हमें हिन्दी के हस्तलेखों या पांडुलिपियों की ऐसी कालक्रम तालिका बनाने के लिए निम्न बातों का उल्लेख करना होगा। स्तम्भ तो दो ही रखने होंगे। पहले में प्रचलित 'सन्' उक्त इतिहास की तालिका की भाँति ही देना ठीक होगा। दूसरे खाने में पहले खाने के सन् के सामने सं० लिखकर 'संवत्' की संख्या देनी होगी। उसके नीचे 'चैत्र' से प्रारम्भ करके तिथि का उल्लेख करना ठीक माना जा सकता है। तिथि का पूरा विवरण 'पुष्पिका' सहित लिखना चाहिए। 'कृतिकार' का नाम, आश्रयदाता का नाम, कृति के लिखे जाने के स्थान का नाम, ग्रंथ का विषय। साथ ही लिपिकार या लिपिकारों के नाम। लिपि करने का स्थान-नाम, लिपिकाल, लिपिकाल की कालक्रम से भी प्रविष्टि की जायगी। वहाँ भी लिपिकार के साथ ग्रंथ और रचयिता का उल्लेख काल-सहित किया जायेगा, यथा—

पाडुलिपि कालक्रम तालिका

क्रमसंख्या	ईसवी सन्	
1.	760	वि०सं० 817 सरहपा–ब्राह्मण, भिक्षु सिद्ध (6) देश मगध (नालंदा) कृतियाँ–कायकोष-अमृत-वज्रगीति, चित्तकोष–अज वज्रगीति, डाकिनी गुह्य,–

वज्रगीति, दोहा कोष–उपदेशगीति, दोहा कोष, तत्वोपदेश-शिखर-दोहा कोष, भावना फल-दृष्टि चर्या, दोहा-कोष, बसन्ततिलक-दोहा कोष, चर्यागीति दोहा कोष, महामुद्रोपदेश दोहा कोष, सरहपाद गीतिका (गोपाल-धर्मपाल के राज्य-काल (750–70–806 ई०) में विद्यमान ।
रा० सा०–"पुरातत्व निबन्धावलि (पृ० 169) रा० सा०–हिन्दी काव्य धारा)।

2. 1459 वि०स० 1516
9, ज्येष्ठ वदि, बुधवार (रचना काल) । 'लखमसेन पद्मावति' रचयिता दामो । लिपिकाल स० 1669 वर्ष, माह 7 । लिपि-स्थान · फूलखेडा । सवत पनरह सोलोत्तरा मझारि, ज्येष्ठ वदि नवमी बुधवार । सप्त तारिका नक्षत्र दृढ़ जाणि, वीर कथारस करू बँखाण" दामो रचित लखमसेन पद्मावती स० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी +प्रकाशित (परिमल प्रकाशन प्रयाग–2) प्रथम स० 1959 ई० ।

अब 1459 मे 10 वी बृहस्पतिवार ज्येष्ठ वदी की कोई रचना है तो 'लखमसेन पद्मावती' के उल्लेख के बाद इसी स्तम्भ में लिखी जायगी । पहले विक्रम सवत्, तब रचना-तिथि, ग्रन्थ का नाम, रचयिता का नाम तथा अन्य आवश्यक सूचनाएँ देकर नये प्रघट्टक से पुष्प या तारक (*) लगा कर सन्दर्भ सूचना दे दी जानी चाहिये ।

प्रत्येक पाडुलिपि विज्ञानार्थी अपने-अपने लिए ये कालक्रम तालिकाएँ बना सकते हैं, पर आवश्यकता इस बात की है कि The Chrono'ogy of Indian History की तरह समस्त पाडुलिपियो की 'कालक्रम तालिका' प्रस्तुत कर दी जाय । साथ ही दायीं ओर इतना स्थान छूटा रहे कि पाडुलिपियो के प्रकाशन की सूचना यथा समय भर दी जाय, यथा : ऊपर (+) चिह्न के साथ प्रकाशन सूचना दी गयी है ।

अध्ययन को, विशेष दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिए, ऐसी सूचियाँ भी प्रस्तुत करनी होंगी जैसी डब्ल्यू० एम० कलेवाइर्ट (W.M. Callewaert) ने बेल्जियम के 'ओरियंटेलिया लोवनीनसिया पीरियोडिका' के 1973 के अक मे प्रकाशित करायी है और शीर्षक दिया है "सर्च फॉर मैन्युस्क्रिप्ट्स् ऑव द दादूपन्थी लिटरेचर इन राजस्थान"[1] अर्थात् राजस्थान मे दादूपन्थी साहित्य के हस्तलेखो की खोज

इस 12 पृष्ठ के निबन्ध म छोटी-सी भूमिका मे उन्होने यह बताया है कि 'सबसे पहले स्वामी मगलदास जी ने 77 दादूपन्थी लेखको की व्यवस्थित सूची प्रस्तुत की जिसमे लेखकों के नाम, उनकी कृतियाँ और सम्भावित रचना-काल दिया ।" फिर भी बहुत-से दादू-पन्थी लेखको के बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ अभी तक सूचीबद्ध नही हुए है । तब लेखक ने यह बताया है कि—

"इन पृष्ठो मे राजस्थान, दिल्ली और वाराणसी मे पाँच महीने की अवधि मे उन्होने जो शोध की उसके परिणाम दिये गये है । लेखक ने यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी है कि

1. Callewaert W. M —Search for Manuscripts of the Dadu Panthi Literature in Rajasthan, Orientalia Lovaniensia Periodica (1972-74)

इस सूची का यह दावा नहीं कि इसमे जितने भी सम्भव सग्रह हो सकते हैं, सभी का उपयोग कर लिया गया है । इस कथन से उस भ्रम को दूर किया गया है, जो सम्भवत: इस सूची को देखकर पैदा होता कि इस लेखक ने सूची अद्यतन पूर्ण कर दी है, अब और कुछ शेष नही रहा । वस्तुत: मानवीय प्रयत्नों की सामर्थ्य और सीमाओं के कारण ऐसा दावा कोई भी नही कर सकता कि ऐसी सूची उस विषय की अन्तिम सूची है ।"

फिर लेखक ने यह भी इंगित कर दिया है कि इस सूची में दादू के शिष्यों के द्वारा प्रस्तुत किये गये साहित्य का ही समावेश है, किसी अन्य की कृति का समावेश किया गया है तो यथास्थान उसका उल्लेख कर दिया गया है ।

लेखक ने सूची में उन ग्रन्थों की पाडुलिपियों का उल्लेख करना भी समीचीन समझा है जिनका मुद्रित रूप मिल जाता है । ऐसा उसने पाठालोचन के लिए उनकी उपयोगिता को दृष्टि में रख कर किया है ।

यह सूचना भी उसने दी है कि सन्-सवत की सख्या से ईस्वी सन् (A.D.) ही अभिहित है । प्रतिलिपि के कालक्रम से ही ग्रन्थ सूची तैयार की गई है ।

इस सम्बन्ध मे लेखक के पक्ष मे हमे यह कहना है कि प्रतिलिपि-काल अधिकांश पाडुलिपियों में मिल जाता है, जब कि रचना-काल बहुत कम रचनाओं में प्राप्त होता है । यह बात संत-साहित्य के सम्बन्ध मे सर्वाधिक सत्य है । अत. सूची बनाने में क्रम की दृष्टि से वैज्ञानिक आधार प्रतिलिपि का काल ही हो सकता है । यों भी प्रतिलिपि-काल महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह काल यह तो सिद्ध करता ही है कि रचना इस काल से पूर्व हुई । यह काल ग्रन्थ की लोकप्रियता का भी प्रमाण होता है, और लिपि के तत्कालीन रूप की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है ।

इसके बाद संग्रहो या सग्रहालयों की संकेत सूची दी गई है, क्योंकि सूची मे आगे सकेताक्षरों से ही काम चलाया गया है । ऐसे 16 संग्रहों या संग्रहालयो के संकेताक्षर दिये गये हैं, यथा. 'D.M' . दादू महाविद्यालय, मोती डूंगरी, जयपुर ।

जिन संग्रहो से यह सूची प्रस्तुत की गई है वे निम्न प्रकार के हैं .

1. सस्थाओं के संग्रह , जैसे-दादू महाविद्यालय का, दादूद्वारा नरैना का, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा का, अनूप सस्कृत पुस्तकालय बीकानेर का, आदि ।
2. ऐसी बड़ी सस्थाओ के अन्तर्गत विशिष्ट वर्ग या कक्ष के संग्रह , यथा : NPM . यह सकेत काशी नागरी-प्रचारिणी सभा वाराणसी (Varanasi) के पुस्तकालय के 'मायाशकर याज्ञिक संग्रह' के लिए है ।
3. ऐसे महाग्रंथ जिनमे ग्रथ संकलित हो, यथा : NAR,MG यह संकेताक्षर 'दादू द्वारा नरैना' के महाग्रंथ का द्योतक है ।
4. ऐसी सूचियाँ जिनमे पाडुलिपियों का उल्लेख है : यथा : NPV. यह काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (1900–55) I–II 1964 के संस्करण का द्योतक है । इस विवरण से भी दादूपन्थी ग्रंथों को इस सूची मे सम्मिलित किया गया है ।
5. व्यक्तियों के संग्रह , यथा : KT. यह संकेताक्षर है प० कृपाशकर तिवारी, 1, म्यूजियम रोड, जयपुर के संग्रह के लिए है ।

तब उन्होने सूची से पूर्व ही उन स्रोतो का विवरण और दे दिया है, जिनसे दादूपंथी साहित्य का पता चल सकता है।

अब सूची मे उन्होने पहले बायी ओर लेखक या कवि का नाम दिया है, उसके साथ कोष्ठक मे उसका अस्तित्व काल दिया है और उसके सामने दायें छोर पर भक्तमाल (राघवदास कृत) का उल्लेख उसकी उन पृष्ठो की सख्या सहित किया है, जिन पर इस कवि का विवरण है। जिन कवियो का उल्लेख उक्त भक्तमाल मे नही है उनके आगे यह सकेत नही किया गया।

इस नामद्योतक पक्ति के नीचे भिन्न टाइप मे 'पुस्तक' या पाडुलिपि का नाम, उसके आगे सक्षेप मे छन्दो की गणना और यदि रचनाकाल उसमे है तो उसका उल्लेख। उसके नीचे सकेताक्षरो मे उन सग्रहो का उल्लेख है, जिनमे यह ग्रथ मिलता है। कोई अन्य ज्ञातव्य उसी के साथ कोष्ठक मे दिया गया है।

इस सूची की रूपरेखा की कुछ विशिष्ट बातें केवल निर्देशनार्थ ही दी गयी है। पाडुलिपि-विज्ञानार्थी ऐसी सूचियाँ बनाते समय यह ध्यान मे रखेगा ही कि सूची अधिकाधिक वैज्ञानिक और उपयोगी बने। इसी दिशा-निर्देशन की दृष्टि से यहाँ इस सूची का एक उद्धरण देना भी समीचीन प्रतीत होता है

Jagannatha[1] - , - Bh M. p 732–733

Gunaganja nama (anthology of selections from 162 poets) DM 2, p 521-536 (1676), 14 b, p 1-216, 17, p 329-450, 10 c, 14 b, NP 2521/1476, p 1-48, p 2520/1475, p 1-20, NAR 3/11, 4 p 316 ff, 7/2; 13/83, 23/10 (1761), VB 154/6, KT 500/SD

Mohamard raja ki Katha

VB 34 p 575-79 (1653), DM 2, p, 329-332 (1676), 24, p 376-382, 18, p 465 ff, 20. p 401-406, 14, p 78 84, c p 2987/4, 3028/12, 3657/6, 3714/3, KT 148 (1675-1705), 399, p 5-82; 495, 303, VB 4, p 483-496; 74 p 521-526, 8, p 271-281, NAR 2/3, 19/14, 23/34, 29/21, PV 163, 588, 751 664, NP 2346/1400, p 56-68 has this work under the name of Jan Gopal See the note in NPVI, p 254 on the different names of Jangopal

Dattatrey ke 25 guruo ki lila

VB 14, p 154-162, KT 205, p 65-74 (1653), see also Jangopal's work.

Dohe—VB 4, passim, KT 477; AB 78, p 148-160.

-Pada—VB 12, p. 20 (1684), KT, 331, 352, 122, 469; 566. 154, 240, 311

The (complete ?) works of Jagannath are found in DM 3, p. 1-b59, 1, p. 429-557; NAR MG p 201-283 NP VI, p. 322.

1 Callewaert, W. M.—Search for Manuscripts of the Dadu-Panthi Literature in Rajasthan, Orientalia Lovaniensia Periodica (1973-74), p 160

Dayaldas (disciple of Jagannath)
Nasiket vyakhyan (completed in 1677)
VB 4, p 390–451, NAR 2/2 , 3/7, 5/5 , DM 9, p 447-469, 21, p 329-357, 20, p 453-481, 14, p 131-165; 23, p 362-388, VB 8, p 331-400, KT 486, SD: NPV I, p 407

नकली पाडुलिपियाँ

पाडुलिपि विज्ञानार्थी को क्षेत्रीय अनुसधान मे जिस सबसे विकट समस्या का सामना करना पडता है वह नकली ग्रथो की है । पांडुलिपियो के साथ यह नकली पाडुलिपियो की समस्या भी खडी होती है । तुलसीदास जी पर लिखे गये दो ऐसे ग्रथ मिले थे, जिनके लेखकों ने दावा किया था कि वे गोस्वामी जी के प्रिय शिष्य थे । एक ने सवत् एव तिथि देकर उनके जीवन की विविध घटनाओ का उल्लेख किया था । इनसे कोई कोना अधकारमय नही रह जायगा । किन्तु अन्तरग परीक्षा से विदित हुआ कि उसमे सबकुछ कपोल-कल्पित हैं । पूरा का पूरा ग्रथ किसी कवि ने दूसरे के नाम से रच डाला था, अत नकली था, जाली था । ऐसे ही अनेक उदाहरण मिलते हैं ।

स्व० डॉ० दीनदयाल गुप्त भू०पू० अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की एक मौखिक परीक्षा के समय वाराणसी के एक ऐसे व्यक्ति का नाम बताया था जो जाली हस्तलिखित पुस्तकें तैयार करने मे दक्ष था । मुझे आज उसका नाम स्मरण नही, किन्तु ऐसे व्यक्तियो का होना असम्भव नहीं । जहाँ पुरानी ऐतिहासिक वस्तुओ के क्रय विक्रय के केन्द्र होते हैं वहाँ ऐसी जालसाजी के लिए बहुत क्षेत्र रहता है । अनेक प्रकार के प्रयत्न किये जाते हैं और नकल को असल बता कर व्यवसायी पूरी ठगाई करते हैं ।

19वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे मध्य एशिया के 'खुतन' शहर मे तो किसी ने हस्तलिपियो के निर्माण के लिए कारखाना ही बना डाला था । डॉ भगवतीशरण उपाध्याय ने धर्मयुग, 8 मार्च, 1970 (पृष्ठ 23 एव 27) के अक मे 'पुरातत्व मे जालसाजी' शीर्षक निबन्ध मे आरेल स्टाइन' के आधार पर रोचक सूचना दी है । उन्होने बताया है कि 'खुतन और काशगर से एक बार जाली हस्तलिपियो की खरीदफरोख्त का ताता बँधा और अग्रेजी, रूसी तथा अनेक यूरोपीय सग्रहकर्त्ताओ को जाली हस्तलिपियाँ पर्याप्त मात्रा मे बेची गयी । यह इतनी दक्षतापूर्वक की गई जालसाजी थी कि "विद्वान् और अनभिज्ञ दोनो ही समान रूप से इस धोखे के शिकार हुए ।" 'आदिर आरेल स्टाइन' ने इस जालसाजी का पूरी तरह भडाफोड किया । इसलाम अखुन नाम के एक जालसाज ने तो प्राचीन पुस्तको की खपत अधिक देख कर एक कारखाना ही खोल दिया था । आरेल स्टाइन महोदय के विवरण के आधार पर डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने इस जालसाज इस्लाम अखुन द्वारा जालसाजी करने की कथा यो दी है

'अब इसलाम अखुन द्वारा निर्मित 'प्राचीन पुस्तको' की कथा सुनिये, अपनी पहली 'प्राचीन पुस्तक' इस प्रकार बनाई हुई उसने 1895 मे मु शी अहमद दीन को बेची । मु शी अहमद दीन मैकार्ती की अनुपस्थिति मे काशगर के असिस्टेंट रेजिडेंट के दफ्तर की सम्भाल करने लगा था । वह पुस्तक हाथ से लिखी गई थी और कोशिश इस बात की की गयी थी कि

इस कारखाने मे बनी पहली पुस्तको की तरह घसीट ब्राह्मी मे लिखी असली हस्तलिपियों के कुछ टुकडे ददा उइलिक में इब्राहीम को पहले कभी मिल गये थे और यह काम इन जालसाजो ने कुछ इस तरह किया था कि यूरोप के अच्छे से अच्छे विशेषज्ञ तक को आसानी से सफलतापूर्वक धोखा दिया जा सकता था । यह डॉ० हेर्न्ले की 'मध्य एशियाई पुरावस्तुओ की रिपोर्ट' से प्रमाणित है, जो पहले की सामग्री पर आधारित थी । यह 'पहले की सामग्री' इस्लाम अखुन के कारखाने मे बनी अन्य वस्तुओ के साथ अब ब्रिटिश म्यूजियम लदन के हस्तलिपि-विभाग के जाली कागजात के अनुभाग मे सुरक्षित है । इसी प्रकार की एक 'प्राचीन खत्तन की हस्तलिपि' की अनुलिपि (फैक्सिमिली) डॉ० स्वेन हेडिन की कृति 'थ्रू एशिया' के जर्मन सस्करण मे सुरक्षित है जो इस्लाम इब्राहीम आदि की आधुनिक फैक्ट्री मे प्राचीन रूप मे सम्पादित हुई ।

काशगर मे जालसाजी का यह बाजार गर्म होने तथा हस्तलिपियो की कीमत बगैर मीनमेख के कल्पनातीत मिलने से अन्यत्र के जालसाज भी वहाँ जा पहुँचे । इनमे सरगना लद्दाख और कश्मीर का एक फरेबी बदरुद्दीन था । उसका काम तो बहुत साफ न था, पर 'प्राचीन पुस्तको' की सख्या का परिमाण सहसा काफी बढ गया । चूँकि उन्हे खरीदने वाले यूरोपियन उन अक्षरो को पढ या उनका वास्तविक प्राचीन लिपि से मिलान नही कर सकते थे, अत जालसाजो ने भी जाली अक्षरो का मूल से मिलान कर अपने करतब मे सफाई लाने की कोशिश नहीं की ।

हाथ से लिख कर फरेब से हस्तलिपियाँ बनाने का काम बडी मेहनत से सम्पन्न होता था । इसी से जालसाजी के उन माहिरो ने काम हल्का और आसान करने के लिए कारखाना ईजाद किया । अब वे लकडी के ब्लाको से बार-बार छापे मार कर पुस्तको का निर्माण करने लगे । इससे उनके काम मे बडी सुविधा हो गयी । इन ब्लाको को बनाने में भी किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती थी, क्योकि चीनी, तुर्किस्तान मे लकडी के ब्लाकों से छपाई आम बात थी । 'प्राचीन पुस्तको' की इस प्रकार से छपाई 1896 मे शुरू हुई । नयी सिरजी लिपि की भिन्नता ने विद्वानो की कल्पना को जगाया और उसकी व्याख्या करने के लिए बडे परिश्रम से उन्होंने नये फार्मूले रचे ।

हस्तलिपि 'प्राचीन' बनाने मे जिन उपायों का अवलम्बन किया जाता था, इस्लाम अखुन ने उसका भी सुराग दिया । 'ब्लाक प्रिंट' अथवा हस्तलिपि तैयार करने के लिए कागज भी विशेष रूप से तैयार किया जाता था और विशेष विधि से उसे पुराना भी कर *लिया जाता था । तुर्किस्तान कागज के उद्योग का प्रधान केन्द्र होने के कारण खुत्तन जाल*-साजो के लिए आदर्श स्थान बन गया था । कारण कि वहाँ उन्हे मनोवाछित प्रकार और परिमाण का कागज बडी सुविधा मे प्राप्त हो सकता था । 'तोगरुगा' के जरिये कागज पहले पीले या हल्के ब्राउन रग मे रग लिया जाता था । तोगरुगा तोगरक नामक वृक्ष से प्राप्त किया जाता था, जो पानी मे डालते ही घुल जाता था और घुलने पर दाग छोडने वाला द्रव बन जाता था ।

रंगे कागज के ताव पर जब लिख या छाप लिया जाता तब उसे धुँए के पास टाँग दिया जाता था । धुँए के स्पर्श से उसका रूप पुराना हो जाया करता था । अनेक बार इसमे कागज कुछ झुलस भी जाता था । जैसा कि कलकत्ते मे सुरक्षित कुछ 'प्राचीन पुस्तकों' से प्रमाणित है । इसके बाद उन्हें पत्रवत् बाँध लिया जाता था । इस जिल्दसाजी

से जालसाजी का भण्डाफोड़ हो सकता था। क्योंकि उसमें कुछ ऐसे बन्धन आदि का प्रयोग होता था जिनमें उनके आधुनिक यूरोपीय सम्पर्क का जाहिर हो जाना भी अनिवार्य था। यद्यपि इसका राज भी नभी खुला जब इस्लाम अखुन ने अपना कसूर कबूल कर लिया और हकीकत बता दी। हस्तलिपि अथवा पुस्तक तैयार हो जाने पर उसके पन्नों में रेत झाड़ देते थे जिससे उनके रेगिस्तानी रेत में दीर्घकाल तक दबे रहने का आभास पैदा हो जाय। 1898 के बसंत में आरेल स्टाइन लिखते हैं, "जाली ब्लाक-प्रिंट जाँचने के पहले मुझे कपड़े के ब्रुश का इस्तेमाल करना पड़ा था। यह हस्तलिपि कश्मीर के एक संग्रहकर्त्ता के जरिये मुझे कश्मीर में ही मिली थी।"[1]

यहीं हम श्री पूर्णेन्दु बसु की पुस्तक 'Archives and Records · What are they ?' नामक पुस्तक से भी कुछ उद्धृत करना चाहेंगे। वसु महोदय ने तीसरे (III) अध्याय म लेखों के शत्रु (Enemies of Records) में रिकार्डों के प्रमुख शत्रु की गणना दी है कि "The are generally speaking time, fire, water, light, heat, dust, humidity, atmospheric gases, fungi, vermin," 'acts of God' and, last but not least, human beings" लेखो अभिलेखों के शत्रुओं में उन्होंने काल, अग्नि, जल, प्रकाश, गर्मी, धूप, आर्द्रता, वातावरणिक गैसें, फफूंद (fungi) तथा कीड़े-मकोड़ों के साथ-साथ मनुष्यों को भी प्रमुख शत्रु बताया है। अन्य शत्रुओं पर चर्चा करने के उपरान्त 'मनुष्य' के सम्बन्ध में लिखा है—

'Human beings can be as much responsible for the destruction of records as the elements or insects I am not only referring to mishandling or careless handling the effects of which are obvious There are cases of bad appraisal It is evident that every scrap of paper produced or received in an office cannot be kept for ever–they are not sufficiently valuable to merit expenditure of money or energy for their preservation by being retained they only occupy valuable space and bscure the more valuable materials So at some stage a selection has to be made of the records that can be destroyed without doing any harm to either administration or scholarship Bad appraisal has often led to the valuable record being thrown away and the valueless kept Then there are people who may use the information contained in records to the detrement of government or of indviduals Again there are others who may wish to temper with the records in order to destroy or distort evidence There are some who are either collectors of autographs and seals or are mere kleptomaniacs, and it is a problem to guard the record against them '[2]

इसमें हस्तलेखों के मानवीय शत्रुता के कारनामों का उल्लेख है। यह बताया गया है कि 1. वे हस्तलेखों का ठीक ढंग से उपयोग नहीं करते, 2 वे ग्रन्थों-लेखों के उपयोग में

1 धर्मयुग (8 मार्च, 1970), पृ० 23 एवम् 27।
2. Basu, Purendu — Archives and Records What are they ?, p. 33

प्रमाद करते हैं, 3. वे महत्त्व को ठीक नहीं आँक (appriase) पाते, फलतः अभिलेखागारों में से कभी-कभी महत्त्वपूर्ण कागज पत्र नष्ट करवा दिये गए, रद्दी हस्तलेखों को सुरक्षित रखा गया। इससे सरकार को और व्यक्ति को भी हानि उठानी पड़ी है, 4 स्वार्थियों ने साक्षी को नष्ट करने या बिगाड़ देने के लिए हस्तलेखों में जालसाजी की, 5 कुछ हस्ताक्षरों (autograph) और मुद्राओं (seal)/मुहरों के संग्रहकर्त्ता अभिलेखों में से उन्हें काट लेते हैं, कुछ को यों ही कतरनों का शौक होता है। ये सभी काम अभिलेखों के प्रति शत्रुता के काम हैं।

लेखों अभिलेखों में हेरफेर करना भी जालसाजी है। यह जालसाजी बहुत घातक है। ऐसी ही एक जालसाजी की बात राजतरंगिणी के लेखक द्वितीय (तृतीय) जोन राज ने बताई है, जिसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। इसमें स्वयं जोन राज के साथ उस व्यक्ति ने भोजपत्र पर लिखे भूमि के विक्रीनामा में जालसाजी करके सारी भूमि हड़प लेनी चाही थी। पर पहले विक्रीनामा पक्की स्याही से लिखा गया था बाद में जालसाज ने कच्ची स्याही से जाल किया था। फलतः पानी में भोजपत्र के डाल देने पर कच्ची स्याही धुल गयी और जाल सिद्ध हो गया। महाकवि भास के बहुत-से ग्रन्थ कुछ वर्ष पूर्व मिले थे। एक विद्वान् ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि वे जाली हैं। ब्रिटिश म्यूजियम में ऐसी जाली वस्तुओं का अलग ही एक कक्ष बना दिया गया है।

अतः पांडुलिपि-विज्ञानविद् को पुस्तक की आन्तरिक और बाह्य परीक्षा द्वारा यह आश्वस्त हो लेना आवश्यक है कि कोई पांडुलिपि जाली तो नहीं है।

□ □ □

अध्याय 4

पाण्डुलिपियों के प्रकार

प्रकार-भेद अनिवार्य

'पाडुलिपि' का अर्थ बहुत विस्तृत हो गया है, यह हम पहले के अध्यायो मे देख चुके हैं। वस्तुत विस्तृत अर्थ होने का अभिप्राय ही यह है कि उसके अन्तर्गत कितने ही प्रकारो का समावेश हो गया है। पाडुलिपि मे विविध प्रकार के लिप्यासनो पर लिखी कृतियाँ भी आयेंगी, साथ ही वे ग्रथ रूप मे भी हो सकती हैं और राज्यादेशो के रूप मे भी, चिट्ठी-पत्री के रूप मे भी, और भी कितने ही प्रकार के कृतित्व 'पाडुलिपि' मे समावेशित हैं। अत 'पाडुलिपि विज्ञान' के क्षेत्र के सम्यक् ज्ञान के लिए उसके सभी प्रकारो और प्रकार-भेदों के आधारो से कुछ परिचित होना अनिवार्य हो जाता है। यह प्रकार-भेद 'पाडुलिपि' के अभिप्राय-क्षेत्र के आधार पर किया गया है।

इन प्रकारो को एक दृष्टि मे निम्नस्थ वृक्ष से समझा जा सकता है :
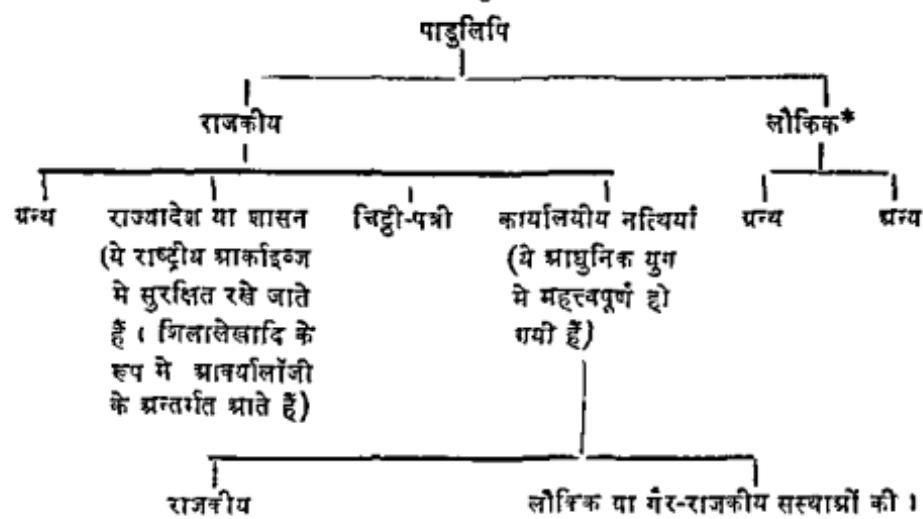
उक्त वृक्ष मे हमने राजकीय क्षेत्र मे भी ग्रथ को एक प्रकार माना है, और लौकिक म भी। राजकीय क्षेत्र मे भी ग्रथ-रचना होती थी, इसमे सन्देह नही। स्वय राजाओ ने ग्रथ रचना की है। किन्तु इस वर्ग मे ऐसे ही ग्रथ रखने होंगे जिनका अभिप्राय राजकीय हो। राजा की विजय या उसकी प्रशस्ति विषयक ग्रथ राजकीय योजनाओ पर ग्रथ आदि।

लिप्यासन की दृष्टि से भी पाडुलिपियो के भेद होते हैं। लेखो को आसन की प्रकृति के अनुसार लेखनी/कलम से, टाकी से, कोरक से, साचे से, छेनी से, यत्र से लिखा जाता है।

* स्मृति चन्द्रिका में उद्धृत वसिष्ठोक्ति कि 'लौकिकं राजकीय च लेख्य विद्याद् द्विलक्षण (व्यवहार 1 14)।' इसी वसिष्ठोक्ति के आधार पर हमने भी यहाँ 'राजकीय' और 'लौकिक' दो भेद स्वीकार किये हैं।

इस आधार से लिप्यासन के दो प्रकार हो जाते हैं इन्हे 'कोमल' तथा 'कठोर' कहा जाता है। कोमल पर लिखा जाता है, कठोर पर उत्कीर्ण किया जाता है।

पाषाणीय-शिलालेख

चट्टानीय | शिलापट्टीय | स्तम्भीय | मूर्तीय | अन्य
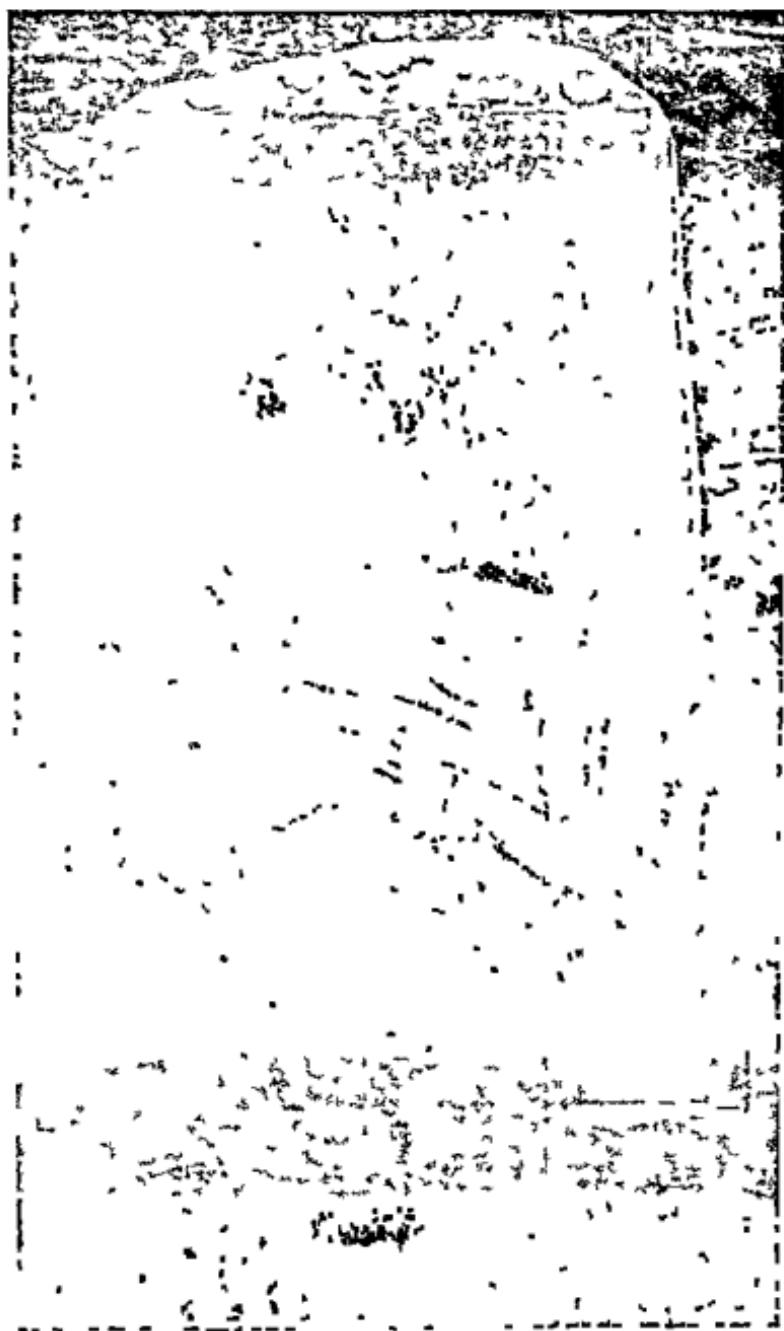
चट्टानीय शिलालेख का चित्र तथा शिलापट्टीय (त्रिपुरातकम् का)

चट्टानीय

'उन्नत शिखर पुराण' दिगम्बर-जैन-सम्प्रदाय की कृति है। 1170 ई. की यह कृति उदयपुर क्षेत्र के भीलवाडा जिले मे बिजोलियाँ गाँव की चट्टान पर खुदी हुई है।

शिलापट्टीय

सामान्य शिलालेख एक शिला-पट्ट पर लिखे जाते थे और उचित स्थान पर जड दिए जाते थे। पर बडी-बडी प्रशस्तियाँ और ग्रन्थ भी शिलापट्टों पर लिखे और जडे मिलते है। राणा कुम्भा का लेख पाँच शिला-पट्टो पर लिखा (खोदा) हुआ कुम्भलगढ के कु भि स्वामिन् या मामादेव के मन्दिर मे जडा मिला है। मेवाड मे राजसमुद्र जलाशय के पुश्तो पर 24
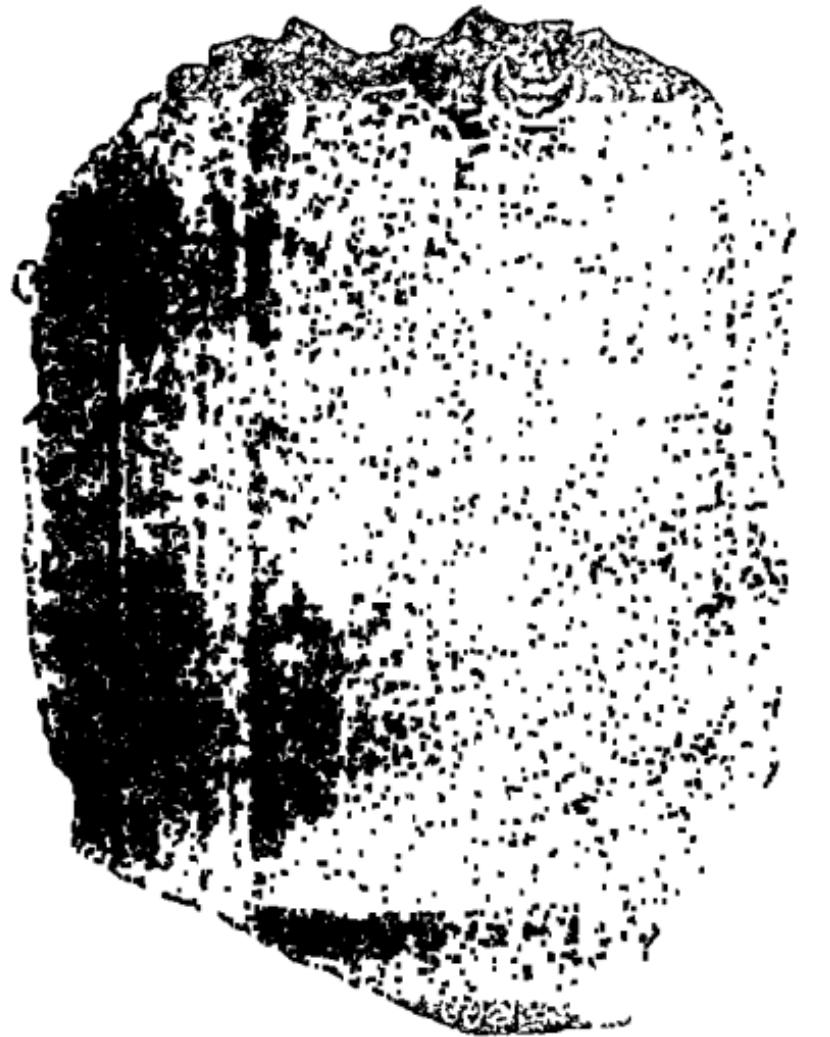
पुष्पगिरि शिलालेख

शिलापट्टो पर जडी हुई है 'राजप्रशस्ति', इसके 24 खड हैं। इसके रचयिता है क वि रणछोड। यह प्रशस्ति राणा राजसिह के सम्बन्ध मे है। राजा भोज परमार का प्राकृत भाषा का काव्य 'कूर्मशतक', मदन की सस्कृत कृति 'पारिजातमजरी'(या विजयश्री नाटक), चाह्माण राजा विग्रहराज चतुर्थ (1153–64 ई.) का 'हर केलि नाटक' तथा उनके राजकवि सोमेश्वर कृत 'ललित-विग्रहराज नाटक' शिला-पट्टों पर खुदवाकर दीवारो मे जड़वाये गए थे। इनके अश अजमेर सग्रहालय मे सुरक्षित हैं।

स्तम्भीय

स्तम्भों पर लेख उत्कीर्ण करने की पुरानी परम्परा है। सम्भवतः प्राचीनतम स्तम्भ लेख अशोक (272–232 ई. पू.) कालीन हैं। इन पर खुदे लेखों में इन्हें शिला-स्तम्भ कहा गया है। ये स्तम्भ निम्न प्रकार के मिलते हैं :

कालकुड का वीरस्तम्भ (पालिया)

स्तम्भ

1. शिलास्तम्भ	2. ध्वजस्तम्भ	3. जयस्तम्भ	4. कीर्तिस्तम्भ
	(जैसे–होलियो-डोरस का गरुडध्वज) मन्दिर के सामने खड़े किये जाते हैं और इन पर लेख भी रहता है।	किसी विजय पर किसी विजेता राजा की प्रशस्ति के लिए (जैसे समुद्रगुप्त का एरण का और यशोधर्मन का मन्दसौर का)	किसी यशस्वी के पुण्य कार्य के लिए खड़ा किया जाता है।

(क्रमशः)

स्तम्भ

5 वीर स्तम्भ
(गुजराती मे जि हे
पालियाँ कहते हैं)
गाँव या नगर के किसी
वीर की युद्ध म मृत्यु
होने पर। इन पर
लेख भी रहते हैं।

6 सती स्तम्भ
ये सती होने वाली नारी
का स्मारक होता है।
इन पर भी लेख
मिलते है।

7 धर्मस्तम्भ
(वोटिव पिलर)
ये धम स्थलो पर
विशेषत बौद्ध धम
के स्थलो पर
स-लेख मिलते हैं।

देवगिरि का सतीस्तम्भ (पालिया)

महाकुट का धमस्तम्भ

स्तम्भ

- 8. स्मृति स्तम्भ
  ये गोत्र या गोत्र शालिका भी कहे जाते हैं। अपने कुटुम्ब के किसी व्यक्ति की स्मृति मे खड़े किए जाते हैं।
- 9. छाया-स्तम्भ
  इन स्मृति स्तम्भो पर स्मृत व्यक्ति को मूर्ति उकेरी रहती है।
- 10. यूप स्तम्भ
  (यज्ञोपरान्त बलि को बाँधने के लिए बनाये गए स्तम्भ) इन पर भी लेख मिले हैं।

9. मृण्मय—मृण्मय लेख कई रूपों में मिलते हैं, यथा—

- 1. ईंट पकायी हुई एवं कच्ची
  ईंट की सामग्री, दोनों प्रकार की प्रभूत मात्रा मे मिली है—पकायी हुई ईंटों पर भी और बिना पकायी (कच्ची) ईंटों पर भी
  - ग्रन्थ
    ईंटो पर ग्रन्थ भी लिखे गए। गिलगेमश की गाथा ईंटों पर लिखी मिली, इसका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके है। भारत में कुछ बौद्ध-ग्रथ ईंटो पर उभारे गए मिले हैं। कुछ राजाओं ने अश्वमेघ युद्ध किए, जैसे—दाममित्र एवं शीलवर्मन् ने। इनके अश्वमेघ सम्बन्धी अभिलेख ईंटों पर लिखे मिले हैं।
  - अभिलेख
    ईंटों पर अभिलेख तो अनगिनती मिले हैं।
- 2. धोंधे
  कभी-कभी मिट्टी की ईंटें न बनाकर उसके धोंधे (मिट्टी को सानकर एक ढेर का आकार देकर ढीम के रूप मे) उस पर लेख अंकित कर उसे पका लिया जाता था। धार्मिक मनौतियो के लिए विशेषतः ऐसे धोंधो पर लेख लिखे गए।
- 3. मुहर-मुद्रा
  ये मृन्मुद्राएँ भी बहुत संख्या मे मिली हैं। मोहन-जोदड़ो एवं नालंदा से मिली मुद्राएँ प्रसिद्ध हैं।
- 4. घट
  घड़ों या उनके ढक्कनों पर भी लेख उत्कीर्ण हुए मिले हैं।

नालन्दा की मृण्मय मुहर

मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुहर

10. सीप, शंख, दाँत, काष्ठ आदि—शंखों पर, हाथीदाँत की बनी मुद्राओं पर, लकड़ी की लाटों या स्तम्भों पर भी अंकित लेख मिले हैं।

धातु-वस्तु—धातुओं में ताँबा सबसे अधिक प्रिय रहा है। इसके बने पत्रों पर उत्कीर्ण लेख पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं और प्राचीन समय से मिलते हैं। कोई शासन ताम्र-पत्र के एक ओर, कोई दोनों ओर लिखा होता था। कोई शासन कई ताम्रपत्रों पर लिखा जाता था। इन पत्रों को ताँबे के कड़े में पिरोकर एक घट या किसी पात्र में बन्द करके सुरक्षित रखा जाता था। ताम्रपत्रों पर कई प्रकार के लेख मिलते हैं :

ताम्र वस्तु
- पत्र रूप
  - ग्रन्थ
  - शासन
  - प्रशस्ति
  - यन्त्र
- मूर्ति
- अन्य ताम्र वस्तुएँ, यथा—चमचे पर (तक्षशिला), दीपक पर (दीपक : जमालगढ़ में) कड़ाही पर, आदि।

ह्वेनसाग ने बताया है कि कनिष्क ने बौद्ध-धर्म-ग्रंथ ताम्रपत्रों पर अंकित कराये। एक अनुश्रुति है कि सायण की वेदों की टीका ताम्रपत्रों पर अंकित करायी गयी थी।

तेलुगु में रचित 'ताल्लपाकमवरो' कई ताम्रपत्रों पर लिखित तिरुपति में सुरक्षित हैं।

इसी तरह कास्य पीठिका (मूर्तिकी), कास्य पिटक, कांस्य फलक, कास्य मुद्राएँ भी मिली हैं, जिन पर लेख अकित हैं।

लौह तुपक, लौह स्तम्भ (दिल्ली), लौह त्रिशूल (अचलेश्वर मन्दिर, आबू) पर भी लेख मिले हैं।

पीतल के बहुत-से घण्टा पर, जो मन्दिरो मे टगे हैं, लेख हैं।

सक्षेप मे, लिप्यासन के आधार से उपर्युक्त भेदो का सर्वेक्षण किया गया है। इनके विस्तृत विवरण यहाँ दिये जाते हैं।

एकादशस्वतीतेषु संवत्सर.शतेषु च ।
एकोनपंचाशति च गतेष्वब्देषु विक्रमात् ॥107॥[1]

धातु-पत्रों पर ग्रन्थ

'वासुदेव हिंडि' मे प्रथम खण्ड मे ताम्रपत्रों पर पुस्तक लिखवाये जाने का उल्लेख मिलता है

"इयरेण तबपत्तेसु तणुभेसु रायल क्खवण रएऊण निहालारसेण तिम्मेऊण तबभायणे पोत्थाओ पक्खित्तो, निक्खित्तो, नयरबाहिं दुव्वावेढमज्झे ।"[2]

पत्र 189

अन्य धातुओं, जैसे रौप्य, सुवर्ण कांस्य आदि के पत्रों पर लिखी गयी पुस्तकों का उल्लेख नही मिलता । हाँ विविध यन्त्र मन्त्र, विविध उद्देश्यों की पूर्ति निमित्त ऐसे धातु-पत्रों पर अवश्य लिखे जाते थे । पंच धातु के मिश्रण से बने पत्रों पर भी ये लिखे जाते थे, इसी प्रकार 'अष्टधातु' के मिश्रण से बने पत्रों पर भी यन्त्र-मन्त्र लिखे जाते थे, पर इन्हें पुस्तक' या ग्रन्थ नही माना जा सकता ।[3]

मृण्मय

ईंट और मिट्टी (Clay) के पात्रों पर लेख

ईंटों और मिट्टी के बरतनों पर भी लेख लिखवाये जाते थे । इसके प्रमाण ईसा से पूर्व के मिलते हैं । मोहनजोदडो और हडप्पा के उत्खननों मे भी ऐसी ईंटें और मृण्मय-पात्र पाये गए हैं जिन पर लेख खुदे हुए हैं । मिट्टी के ढेलों (या धोधों) पर मुहरें लगी हुई हैं । मिट्टी पर मुहर अंकित करने का रिवाज तो अभी 20–25 वर्ष पहले तक (सन् 1950 तक) राजस्थान के गाँवों मे चालू था । जिन गाँवों मे राजस्व, उत्पन्न हुए अन्न का बाँटा या हिस्सा लेकर वसूल किया जाता था वहाँ पर किसान के खेत मे पैदा हुए अनाज की राशि के किनारों पर और बीच मे भी मिट्टी को गीली करके उसके ढेले या धोधे बनाकर रख दिए जाते थे और उन पर लकडी मे खुदी हुई मुद्रा का ठप्पा लगा दिया जाता था । इसे 'चाँक' कहते थे । लकडी के ठप्पे मे प्राय 'श्रीरामजी', ये चार अक्षर चार खानों मे उलटे खुदे होते थे जो मिट्टी के धोधे की परत पर सुलटे रूप मे उभर कर आते थे । इस चाँक को लगाने वालों के अतिरिक्त कोई अन्य नही तोडता था । इसे 'कच्ची चाँक' कहते थे । यह प्राय आज लगाकर कल तोड ली जाती थी क्योंकि अनाज घडों मे भर-भर कर बाँटा जाता था और पूरे गाँव का बाँटा,

1 अन्य सूचना

किं चित्र यन्महीपालो भुनक्तिस्माखिलां महीम् ।
यस्य गीर्वाणमन्त्रीव मंत्री गौरोऽभवद् सुधी ॥110॥
प्रशस्ति रियमुत्कीर्णा पद्मवर्णपद्मशिल्पिना ।
देवस्वामिसुतेन श्रीपद्मनाथ सुरालये ॥111॥
तथैव मिहवाजेन माहुलेन च शिल्पिना ।
प्राप्नुवन्तु समुत्कीर्णान्यक्षराणियपार्थताम् ॥112॥

2. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ॰ 27 ।
3. वही, पृ॰ 27 ।

एकत्रित होने पर तौल लिया जाता था। यदि एक-दो दिन बाद मे तौलने का कार्यक्रम होता तो पक्की चाँक लगाई जाती थी। पक्की चाँक लगाने के लिए गीली मिट्टी मे गोबर मिला दिया जाता था और उस गीले मिश्रण को अन्न की राशि के घेरे पर छिडक कर उस पर चाँक का ठप्पा लगाया जाता था।

सम्भवत मिट्टी पर लेख अकित करने का यह प्रारम्भिक तरीका था। बाद मे कच्ची ईटो पर लेख कोर कर उन्हे पकाया जाने लगा। लम्बा लेख कई ईटो पर अकित करके पकाया जाता और फिर उनको कमात् दीवार पर लगा दिया जाता था। यह प्रथा बौद्धकाल मे बहुत प्रचलित रही है। उनके धार्मिक सूत्र आदि ईटो पर खुदे हुए मिले हैं। मथुरा के सग्रहालय मे ऐसे नमूने देखे जा सकते हैं।[1]

कुछ राजाओ ने अश्वमेघ यज्ञ किए। इनके विवरण ईटो पर अकित[2] कराये गए। देवी मित्र, दाममित्र एव शीलवर्मन् के अश्वमेघ यज्ञो के उल्लेख के ईटो के अभिलेख मिले है। ये अभिलेख ईटो पर अकित कराने के बाद अश्वमेघ के चबरो मे लगा दिए जाते थे। मृण्मय मुद्राएँ (Seal) बहुत मिली हैं। नालदा मे मृण्मय घट (घडे) विशेषत मिले हैं। इन पर लेख अकित हैं। इनका सम्बन्ध भी किसी धार्मिक कृत्य से रहा है।

लिपि विकास का अध्ययन करते हुए यह विदित होता है कि मेसोपोटामिया मे उरुक या वर्का म उरुक युग' म ईटो पर पुस्तकें लिखी मिली हैं। एक हजार ईटें, क्यूनीफार्म या सूच्याकार लिपि मे लिखी मिली हैं।[3]

पेपीरस

ईसा से कोई पाँच शताब्दी पूर्व ग्रीक (यूनानी) लोगो ने मिस्र से पेपायरस[4] नामक

1 (अ) भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 151।

2 बौद्ध धर्म के ईटो पर लिखे गए ग्रथों के विवरण के लिए देखें—कनिंघम, ASR, Vol I, p 47, Vol II, पृ० 124 आदि।

3 डिरिंजर महोदय के ये शब्द इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं—
'The earl est extant written cuniform documents consisting of over one thousand tablets and fragments discovered mainly at Uruk or Warka the B blical Ereeh, and belongii g to the 'Uruk period of the Mesopotamian predynast c period are c uched in a crude pictographic script and probably sumerian language —(Diringer D —The Alphabet p 41)

4 'पेपायरस एक घास या सरकण्डे की जाति का पौधा होता है जो दलदली प्रदेश में बहुतायत से पैदा होता है। मिस्र में नील नदी के किनारे व मुहाने पर इसकी खेती बहुत प्राचीन काल से होती थी। यह पौधा प्राय 5-6 फीट ऊँचा होता है और इसके डण्ठल साढ़े चार से नौ साढ़े नौ इन्च लम्बे होते हैं। इसको छाल से पतली चिप्पियाँ निकाल कर लेई आदि से चिपका लेते थे उसी से लिखने के लिए पत्र बनाते थे। पहले इन पत्रों को दबाकर रखा जाता था फिर अच्छी तरह सुखाया जाता था। सूख जाने पर हाथी दाँत या शख से घोंटकर उन्हें चिकना बनाया जाता था, फिर विविध आकारों में काट कर लिखने के काम मे लिया जाता था। इस तरह तैयार किये हुए लेखाधार लिप्यासन को योरोप वाले 'पेपायरस' कहते थे और इसी से पेपर शब्द बना है। पेपायरस के लम्बे-लम्बे लिखे हुए खरडे मिस्र की कब्रों में बड़े-बड़े सन्दूकों में रखी लाशों के हाथों में या उनके शरीरों से लिपटे हुए मिलते हैं। जो लगभग ईसा से 2000 वर्ष तक पुराने हैं। इनके नष्ट न होने का कारण मिस्र की गरम और सूखी जलवायु है।

—भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 16

सरकडे की छाल अपने यहाँ मँगाना शुरू किया था और उसी को लिखने के आसन के काम मे लेते थे। फिर धीरे धीरे योरोप मे इसका व्यवसाय फैलने लगा और अरबो के शासनकाल मे तो इटली आदि देशा मे पेपायरस की खेती भी होने लगी और उनसे छाल निकाल कर लिखने की सामग्री बनायी जाने लगी। 704 ई. मे अरबो ने समरकद को जीत लिया और वहाँ पर ही सर्वप्रथम उन्होने रुई और चिथडो से कागज तैयार करने की कला सीखी। इसके बाद दमिश्क (Damuscus) मे भी कागज बनने लगा। ईसा की नवीं शताब्दी मे सबसे पहले कागज पर अरबी मे ग्रथ लिखे गए और अरबों द्वारा बारहवीं शताब्दी के आसपास योरोप मे कागज का प्रवेश हुआ और पेपायरस का प्रचलन बन्द हो गया।

चमडे पर लेख

देवी पुराण मे [पुस्तक दान का उल्लेख है। उसमे ताडपत्र पर पुस्तक लिखवाकर उसे चर्म से सम्पुटित करने का विधान है—

श्री ताडपत्रके सञ्चे समे पत्रसुसञ्चिते।
विचित्र काञ्चिकापार्श्वे चर्मणा सम्पुटीकृते ।।

इससे ज्ञात होता है कि भारत मे पुस्तक-लेखन के क्रम मे चर्म का भी उपयोग होता था परन्तु बहुत कम क्योकि यहाँ ताडपत्र और भूर्जपत्र पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होते थ। वैसे ब्राह्मणो और जैनो म चर्म का स्पर्श वर्जित भी माना गया है। बौद्ध ग्रन्थों मे अवश्य ही चमडे को भी लेखन-सामग्री मे गिनाया गया है। जिस प्रकार कवि सम्राट कालीदास ने हिमालय के वर्णन मे (क्र स) किन्नर सुन्दरियो द्वारा भूर्जत्वच पर धातुरस (गेरु) मे लिखे गए प्रेमपत्रो की उपमा बिन्दु-मण्डित हाथी की सूड से दी है उसी प्रकार सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता नाम की आख्यायिका मे भी रात्रि मे काले आकाश मे छिटके हुए चाँद-तारो का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आकाश अँधेरे रूपी काले रग (मषी) से रँगे हुए चर्मपत्र के समान है जिस पर विधाता विश्व का हिसाब लगा रहा है और ससार की शून्यता के कारण चाँदरूपी खडिया के टुकडे से उस पर ताराख्पी शून्य बिन्दुएँ अकित कर रहा है।[1]

"विश्व गणयतो विधातु शशिकाठिनीखण्डेन तमोमषीश्यामेऽजिन इव वियति ससारस्यातिशून्यत्वाच्छून्य बिन्दव इव।"

डॉक्टर बूल्हर को भी जैसलमेर के वृहद् ज्ञान-भण्डार मे हस्तलिखित ग्रन्थो के साथ कुछ चर्मपत्र मिले थे जो पुस्तकें लिखने अथवा उनको आवेष्टित करने के लिए ही एकत्रित किये गए थे।[2]

परन्तु यह सब होते हुए भी भारत मे लेखन के लिए चर्मपत्र का प्रयोग स्वल्प मात्रा मे ही होता था। यूनान, अरब, योरोप और मध्य एशिया आदि स्थानो मे लिखने के लिए चर्मपत्र का प्रयोग बहुधा पाया जाता है।[3] सोक्रेटीज (सुकरात) से जब पूछा गया—"आप

1 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 147।
2 बूल्हर्स इन्सक्रिप्शन रिपोर्ट, पृ० 95।
3 पार्चमेण्ट चमड से ही बना होता है।

पुस्तकें क्यो नहीं लिखते ?" तो उस प्रसिद्ध दार्शनिक ने उत्तर दिया—"मैं ज्ञान को मनुष्य के सजीव हृदय से भेडो की निर्जीव खाल पर नही ले जाना चाहता हूँ।" इससे विदित होता है कि वहाँ भेडो का चमडा लिखने के काम मे लाया जाता था।

आरम्भिक इस्लामी काल मे चमडे पर लिखने की प्रथा थी। कुरान की प्रतियाँ शुरू मे अरबी मे मृगचर्म पर ही लिखी जाती थीं। ग्यारहवीं शताब्दी तक इसका खूब चलन रहा। पैगम्बर और खैबर के यहूदियो का सन्धिपत्र और किसरा के नाम पैगम्बर का पत्र भी चमडे पर ही लिखे गए थे।

मिस्र मे किर्तास (छत्त) म बाँस के डण्ठलो से कागज बनाया जाता था और इसी पर लिख कर खलीफा की आज्ञाएँ ससार भर मे भेजी जाती थी। कुरान मे भी करातीस कागज बनाने का उल्लेख मिलता है (सूर 6, 96)। मिस्र मे बने इस बाँस के कागज मे बछडे की चमडी की भिल्ली लगाई जाती थी, इस विधि से बने कागज पर लिखे हुए अक्षर सहज मे मिटाये नही जा सकते थे।

ईरान मे भी चमडे पर ग्रन्थ लिखे जाते थे। इस चमडे को अंग्रेजी मे 'पार्चमैण्ट' कहते थे। पह्लवी भाषा म खाल का वाचक पुस्त' शब्द है। ईरानियो के सम्पर्क से ही यह शब्द धीरे धीरे भारत मे आ गया और यहाँ की भाषा मे व्याप्त हो गया। परन्तु ईसा की पाँचवीं शताब्दी से पहले इसका प्रयोग भारतीय भाषा मे नही पाया जाता। पाणिनि, पतञ्जलि, कालीदास और अश्वघोष की कृतियो मे 'पुस्तक' शब्द नही पाया जाता। वैदिक साहित्य मे भी 'पुस्तक' का कही पता ही नही चलता। अमरकोष मे भी यह शब्द नहीं आता। हाँ, बाद के कोषो म पुस्त' शब्द लेप्यादि शिल्प कर्म का वाचक बताया गया है। 'पुस्त शोभाकर कर्म —हलायुध कोष।

मृच्छकटिक म पुस्तक शब्द का प्राकृत रूप 'पोत्थम या पोथा' मिलता है। इसी से पोथी शब्द भी बना है। बाणभट्ट ने हर्षचरित और कादम्बरी, दोनो ही रचनाओ मे पुस्तक शब्द का प्रयोग किया है। कादम्बरी मे चण्डिका देवी के मन्दिर के तमिल देशवासी पुजारी के वर्णन मे लिखा है—'धूमरक्तालक्तकाक्षरतालपत्रकुहकतन्त्रमन्त्रपुस्तिकासग्राहिणा" अर्थात् उस पुजारी के पास कज्जल और लाल अलक्तक से बनी स्याही से तालपत्र पर लिखी तन्त्र-मन्त्र की पुस्तको का सग्रह था। इसमे विदित होता है कि उस समय तक तालपत्रो पर रग-बिरगी स्याहियो से लिखने की प्रथा भी चल चुकी थी। इसी पुजारी के वर्णन मे कपडे पर लिखित दुर्गा स्त्रोत का भी उल्लेख है। हर पत्ता मे रस और कोयले से बनी स्याही का सीपी मे रखने का भी रिवाज उस समय था (हरित-पत्र रसागारमषीमलिनशम्बूकवाहिना)।

ताडपत्रीय ग्रन्थ

भारत मे प्राचीन काल की अधिकतर हस्तलिपियाँ ताडपत्रो पर ही मिलती हैं। ताड या ताल वृक्ष दो प्रकार के होते हैं एक खरताड और दूसरा श्रीताड। गुजरात, सिंध और राजस्थान म कही कही खरताड के वृक्ष हैं। इनके पत्ते मोटे और कम लम्बे-चौडे होते हैं। ये सूखकर तडकने भी लग जाते हैं और कच्चे ताड लेने पर जल्दी ही सड़ या गल जाते हैं। इसलिए उनका उपयोग पोथी लिखने में नहीं किया जाता। श्रीताड के पेड़ दक्षिण मे मद्रास और पूर्व मे ब्रह्मा आदि देशो मे उगते हैं। इन पेडों के पत्ते अधिक लम्बे, लचीले और कोमल हैं। ये पत्ते 37 इंच तक लम्बे होते हैं। कभी-कभी इससे भी अधिक परन्तु इनकी चौडाई 3 इंच या इसके लगभग ही होती है।

ताडपत्रो को उबालकर उन्हे शख या कौडी से रगडा या घोटा जाता था जिससे वे चिकने हो जाते थे। फिर लोहे की कलम से उन पर कुरेदते हुए अक्षर लिखे जाते थे। तदन्तर उन पर स्याही लेप दी जाती थी जो कुरेदे हुए अक्षरो मे भर जाती थी। यह तरीका दक्षिण भारत मे अधिक प्रचलित था। उत्तर भारत मे प्राय. ताडपत्रो पर स्याही से लेखनी द्वारा लिखा जाता था। सस्कृत मे 'लिख्' धातु का अर्थ कुरेदना होता है। स्पष्ट है कि ताडपत्रो पर पहले कुरेदकर लिखा जाता था। अत लिखने का अर्थ हुआ—कुरेदना। अत इस क्रिया का नाम लेखन या लिखना हुआ है। 'लिप्' धातु का अर्थ है—लीपना। ताडपत्र पर अक्षर कुरेद कर उन पर 'स्याही लेपन' के कारण लिपि शब्द का प्रयोग भी चालू हुआ।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, ताडपत्रो की चौडाई प्राय 3 इन्च की होती है। ऐसा लगता है कि बाद मे जैसे बाँस से कागज बनाए जाते थे, वैसे ही तालपत्रो को भी भिगोकर या गलाकर उनकी लुगदी बना कर और बाद मे कूट पीटकर अधिक चौडाई के पत्रो का निर्माण किया जाने लगा। ऐसा पूर्वीय देशो म होता था। महाराजा जयपुर म्यूजियम मे महाभारत के कुछ पर्व ऐसी ही पत्रो पर बग लिपि म लिखे हुए हैं जिनका लिपि सवत् लक्ष्मण सेन वर्ष में है। इसी प्रकार मोटाई अधिक करने के लिए तीन या चार पत्रो को एकसाथ सीकर उन पर लिखा जाता था। ऐसा करने से पुस्तक मे अधिक स्थिरता आ जाती थी। ऐसे ग्रन्थ बर्मा या ब्रह्मा देश मे अधिक पाए जाते हैं।

ताडपत्रो के लिए गर्म जलवायु हानिकारक है, इसीलिए अधिक मात्रा में लिखे जाने पर भी ताडपत्रीय ग्रंथ दक्षिण भारत मे कम मिलते हैं। काश्मीर, नेपाल, गुजरात व राजस्थान आदि ठण्डे और सूखे प्रदेशो मे अधिक सख्या म मिलते हैं। नेपाल की जलवायु को इन ग्रन्थो के लिए आदर्श बताया गया है।

कई बार ऐसा देखा गया है कि यदि किसी ताडपत्रीय प्रति के बीच मे से कोई पत्र जीर्ण हो गया या त्रुटित हो गया है तो उसी आकार-प्रकार के कागज पर उस पत्र पर लिखित अश की प्रतिलिपि करके बीच मे रख दी गई है। परन्तु कालान्तर मे आस पास के ताडपत्र तो बचे रह गये और वह कागज जीर्णशीर्ण हो गया। कभी कभी सुरक्षा की दृष्टि से ताडपत्रों के बीच बीच म हलके पतले कपडे की परतें रखी गई—परन्तु उसको भी ताडपत्र खा गया, यही नही ताडपत्रीय प्रति पर बाँधा हुआ कपडा भी विवर्ण और जीर्ण हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि कपडे, कागज और ताडपत्र का मेल नहीं बैठता। ताडपत्र कागज और कपडे पर विनाशकारी प्रभाव ही पडता है। इसीलिए प्राय ताडपत्रीय प्रतियाँ वाली म न बाँध कर मुक्त रूप म ही रखी जाती हैं।

ताडपत्र पर लिखित जो प्राचीनतम प्रतियाँ मिली हैं वे पाशुपत मत के आचार्य रामेश्वरध्वज कृत 'कुसुमाञ्जलिटीका' और 'प्रबोधसिद्धि' है, इनका लिपिकाल ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी बताया जाता है।[1] इसी प्रकार डॉ० लूडर्स ने अपने *(Kleinene Sanskrit Texte Panti)* मे एक नाटक के त्रुटित अश को छपवाया है जिसकी ताडपत्र पर दूसरी शताब्दी में लिखी प्रति का उल्लेख है। यह ताडपत्र पर स्याही से लिखी प्रति है। जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी, बगाल की सख्या 66 के पृ 218

1 अक्षर अमर रहें पृ० 4।

पर प्लेट 7, सख्या 1 मे a से ı तक एक सस्कृत ग्रथ के टुकडे छपे हैं जो श्री मकार्ट ने काशगर से भेजे थे। ये ईसा की चौथी शताब्दी मे लिखे हुए माने गये हैं। जापान के होरियूजि मठ मे दो बौद्ध ग्रथ रखे हुए हैं जो मध्य भारत से ले जाये गये हैं। यह 'प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र' और 'उष्णीषविजयधारिणी' की पुस्तकें हैं, ये ईसा की छठी शताब्दी मे लिखी गयी हैं। नेपाल के ताडपत्रीय ग्रन्थ सग्रह मे 'स्कन्दपुराण' (7 वीं शताब्दी मे लिखित) और 'लकावतार' (906–7 ई मे लिखित) की प्रतियां सुरक्षित हैं। कैम्ब्रिज के ग्रन्थ-सग्रह मे प्राप्त 'परमेश्वर तन्त्र' भी ताडपत्र पर ही लिखित है और यह प्रति हर्ष सवत् 252 (859 ई) की है। राजस्थान मे जैसलमेर के ग्रन्थ-भण्डार अपने प्राचीन ग्रन्थ-सग्रह के लिए सर्वविदित हैं। इनमे से जिनराजसूरीश्वर के शिष्य जिनभद्रसूरि द्वारा सस्थापित बृहद्भण्डार का 1874 ई. मे डॉ० ब्हूलर ने अवलोकन करके 1160 वि. की लिखी हुई ताडपत्रीय प्रति को उस सग्रह की प्राचीनतम प्रति बतलाया है। इसके पश्चात् 1904–5 ई मे हीरालाल हसराज नामक जैन पण्डित ने दो हजार दो सौ ग्रन्थों का सूची-पत्र तैयार किया। उसी वर्ष अग्रेज सरकार की ओर से प्रोफेसर श्रीधर भाण्डारकर भी जैसलमेर गये। उन्होंने अपनी विवरणी मे जैन पण्डित की सूची के ही आधार पर सवत् 924 की लिखी तालपत्र प्रति को प्राचीनतम बताया। परन्तु बाद मे सी डी. दलाल द्वारा अनुसधान करने पर सवत् 1130 मे लिखित 'तिलकमञ्जरी' और 1139 में लिपिकृत 'कुवलयमाला' की ही प्रतियाँ प्राचीनतम प्रमाणित हुईं। इस सग्रह मे अर्वाचीनतम ताडपत्रीय प्रति 'सर्वसिद्धान्त विषमपदपर्याय' नामक प्रति सवत् 1439 वर्ष मे लिखित है। परन्तु जैसलमेर के ही दूसरे तपागच्छ ग्रन्थ भण्डार मे 'पञ्चमीकहा' ग्रन्थ की प्रति 1109 वि की लिखी हुई है जो बृहद् भण्डार की प्रति से भी प्राचीन है। इसी प्रकार हरिभद्रसूरि कृत 'पचाशको' की सवत् 1115 मे लिखित प्रति भी इस भण्डार मे विद्यमान है। जैसलमेर मे डूगरजी-यति सग्रह और थाहरूशाह भाण्डागार नामक दो सग्रह और हैं किन्तु इनमे उक्त भण्डारो की अपेक्षा अर्वाचीन ग्रन्थ हैं।[1]

गुजरात के खम्भात के शातिनाथ ज्ञान भण्डार मे भी सवत् 1164 मे लिखित 'जीवसमासवृत्ति' और 1181 सवत् मे लिखित मुनिचन्द्रसूरि रचित 'धर्मबिन्दुटीका' की प्राचीनतम ताडपत्रीय प्रतियाँ उपलब्ध हैं।[2]

भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इस्टीट्यूट, पूना मे 'उपमिति भवप्रपञ्च कथा' नामक जैन ग्रन्थ की 178 पत्रो की ताडपत्रीय प्रति उपलब्ध है जो विक्रम सवत् 962 (905–6 ई) मे लिखी गई है। इस ग्रन्थ की भाषा सस्कृत है।

भूर्जपत्रीय (भोजपत्र पर लिखे ग्रन्थ)

भूर्जपत्र से तात्पर्य है भूर्ज नामक वृक्ष की छाल। यह वृक्ष हिमालय प्रदेश मे बहुतायत से होता है। इसकी भीतरी छाल कागज की तरह होती है, उसी को निकालकर बहुत प्राचीन समय से लिखने के काम मे लिया जाता था। भले ही लेखन का प्रथम अभ्यास पत्थरो पर हुआ हो पर अवश्य ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लिखने की प्रथा

1. जैसलमेर-भाण्डागारीय-ग्रन्थानां सूचीपत्रस्य प्रस्तावना—लालचन्द्र भगवानदास गांधी, 1923 ई०।
2. श्री खभात, शान्तिनाथ प्राचीन ताडपत्रीय, जैन ज्ञान भण्डार नु सूचीपत्र, सूचीकर्त्ता—श्री विजय-कुमुद सूरि।

का यह प्रचलन पहले पत्र या पत्तो पर ही लिखने से हुआ होगा, क्योंकि पत्ते से ही लिखित 'पत्र' शब्द की उत्पत्ति हुई और बाद मे जिस किसी आधार पर लिखा गया वह भी पत्र ही कहलाया। लिखी हुई भूर्ज की छाल, छाल होते हुए भी पत्र ही कहलाती है और फिर इसका नाम ही भूर्जपत्र पड गया। इसमे भी सन्देह नही कि भूर्जपत्र पर लिखने की प्रथा बहुत पुरानी है। यह छाल कभी कभी 60 फुट तक लम्बी निकल आती है। इसको लेखक आवश्यकतानुसार टुकडो मे काटकर विविध आकार प्रकार का कर लेते थे और फिर उस पर तरह-तरह की स्याही से लिखते थे। चिकना तो यह अपने आप ही होता है। मूल रूप में यह छाल एक ओर से अधिक चौडी और फिर क्रमश सँकडी होती जाती है और हाथी की सूँड की तरह होती है। कवि कालिदास ने अपने 'कुमार सम्भव' काव्य के प्रथम सर्ग (श्लोक 7) मे हिमालय का वर्णन करते हुए लिखा है

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र
भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणा ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणा
मनगलेखक्रिययोपयोगम् ।। (1 7)

इस श्लोक में 'भूर्जत्वक्', 'धातुरस' और 'कुञ्जरबिन्दुशोणा' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। हिमालय मे उगने वाले वृक्ष की प्रधानता, उसकी त्वक् अर्थात् छाल का लेखक्रियोपयोग, धातुरस से शोण अर्थात् लाल स्याही का प्रयोग और उस मूल रूप मे भूर्ज की छाल का लिखे जाने के बाद अक्षरो से युक्त होकर बिन्दुयुक्त हाथी की सूड के समान दिखाई देना—इसके मुख्य सूचक भाव हैं।[1]

कालिदास का समय यद्यपि पण्डितो मे विवादास्पद है परन्तु ईसा की दूसरी शताब्दी से इधर वह नहीं आता, अत यह तो मान ही लेना चाहिए कि लिखने की क्रिया का उस समय तक बहुत विकास हो चुका था और 'भूर्जत्वक्', जो पत्र लेखन के काम आने के कारण भूर्जपत्र कहलाने लगा था, काफी प्रचलित हो चुका था। अलबेरुनी ने भी अपनी भारत यात्रा विवरण मे 'तूज़ की छाल' पर लिखने की सूचना दी है।

भूर्जपत्र पर लिखी हुई पुस्तकें या ग्रन्थ अधिकतर उत्तरी भारत मे ही पाये गए हैं विशेषत कश्मीर मे। भारत के विभिन्न ग्रथ सग्रहालयो म तथा योरप के पुस्तकालयो म जो प्राचीन भूर्जपत्र पर लिखित ग्रथ सुरक्षित हैं वे प्राय काश्मीर म ही प्राप्त किये गए हैं। खोतान मे 'धम्मपद' (प्राकृत) का कुछ अश भूर्जपत्र पर लिखा हुआ मिला है, यही भूर्ज-पत्र का प्राचीनतम ग्रथ माना जाता है। इसका लिपिकाल ईसा की दूसरी शती आँका गया है। दूसरा ग्रथ 'मयूरकागमसूत्र' बौद्ध ग्रथ भी डॉ स्टाइन को खोतान मे खडलिक स्थान मे मिला। यह ग्रथ ईसा की चौथी शताब्दी का लिखा हुआ है। मिस्टर बावर को मिली पुस्तको का उल्लेख बावर पाडुलिपियाँ (Bower Manuscripts) नामक पुस्तक मे है। वे पुस्तकें भी ईसा की छठी शताब्दी के लगभग की हैं और बख्शाली का अकगणित 8वीं शताब्दी का है।[2] ये पुस्तकें स्तूपो और पत्थरो के बीच मे रखी होने से इतने दिन

1 शाकुन्तल नाटक में भी शकुन्तला दुष्यन्त को प्रेमपत्र लिखते समय कहती है—"लिखने के साधन नहीं हैं तो सखियाँ सुझाव देती हैं कमलिनी के पत्ते पर नखो से गडाकर शब्द बना दो।" यह लेखन का नियमित साधन नहीं अपितु तात्कालिक साधन है।

2 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 144।

टिक सकी हैं अन्यथा खुले मे रहने वाली पुस्तक तो 15वी या 16वी शताब्दी से पहले की मिलती ही नही हैं। ताडपत्र पर तो अब भी कोई-कोई ग्रथ लिखा जाता है परन्तु भोजपत्र तो अब केवल यन्त्र-मन्त्र या ताबीज आदि लिखने की सामग्री होकर रह गया है। इस पर लिखे हुए जो कई ग्रथ मिलते भी हैं वे भी प्राय धार्मिक स्तोत्रादि ही हैं। राजस्थान-प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के सग्रह मे 'दुर्गासप्तशती' की एक प्रति सुरक्षित है। वह 16वी शताब्दी की (राजा मानसिंह, आमेर के समय की) है। इसी प्रकार महाराजा जयपुर के सग्रहालय मे भी एक-दो पुस्तकें हैं जो 16वी शती से पुरानी नही हैं। ताडपत्र और कागज की अपेक्षा भूर्जपत्र कम टिकाऊ होता है।

सन् 1964 ई मे विश्व प्राच्य-सम्मेलन के अवसर पर 'राष्ट्रीय सग्रहालय, नई दिल्ली' द्वारा आयोजित प्रदर्शनी में तक्षशिला से प्राप्त भूर्जपत्र पर ब्राह्मी-लिपि मे लिखे कुछ पाडुलिपीय पत्र प्रदर्शित किये गए थे, जो 5वी-6ठी शताब्दी के थे। इसी प्रदर्शनी मे 'राष्ट्रीय अभिलेखागार' (National Archives of India) से प्राप्त "भैषज्यगुरुवैदूर्य-प्रभासूत्र' नामक बौद्ध-धर्म ग्रथ की प्रति भी भूर्जपत्र पर गुप्तकालीन लिपि मे लिखित देखी गई जो 5वी-6ठी शताब्दी की है।

साचीपातीय

भूर्जपत्र की तरह आसाम मे अगरुवृक्ष की छाल भी ग्रथ लिखने और चित्र बनाने के काम मे आती थी। महत्वपूर्ण ग्रथो, विशेषत राजाओ और सरदारो के लिए लिखे जाने वाले ग्रथो के लिए इसका उपयोग मुख्यत किया जाता था। इस छाल को तैयार करने का प्रकार श्रम-साध्य और जटिल-सा होता है। पहले, कोई 15-16 वर्ष पुराने अगरुवृक्ष को चुन लेते हैं। इसके तने की परिधि 30 से 35 इच तक होती है। जमीन से कोई 4 फीट की ऊँचाई पर से छाल की पट्टियाँ उतार लेते हैं जो कभी-कभी 6 से 18 फीट लम्बी और 3 से 27 इच तक चौडी होती हैं। इन पट्टियो का भीतरी अर्थात् सफेद भाग ऊपर रख कर तथा बाहरी अर्थात् हरे भाग को अन्दर की तरफ रखकर गुलिया लेते हैं। फिर इनको सात-आठ दिन तक धूप मे सुखाते हैं। इसके पश्चात् इनको किसी लकडी के पट्टे अथवा अन्य दृढ आधार पर फैलाकर हाथ से रगडते हैं जिससे इनका खुरदरापन दूर हो जाता है। तदुपरान्त इनको रात भर ओस मे रखते हैं और प्रात छाल की ऊपरी सतह (निरारी) को बहुत सावधानी से उतार लेते हैं। इस शुद्ध छाल के 9 से 27 इच लबे और 3 से 18 इच चौडे टुकडे सुविधानुसार काट लिए जाते हैं। कोई एक घण्टे तक ठण्डे पानी म रखकर इन पर क्षार (Alkali) छिडकते हैं, फिर चाकू से इनकी सतह को खुरचते हैं। इसके बाद इस नरम सतह पर पकी हुई ईंट घिसते हैं जिससे रहा-सहा खुरदरापन भी दूर हो जाता है। अब इन टुकडो पर माटीमह (मॉटीमाता) से तैयार किया हुआ लेप लगाते हैं और फिर हरताल (पीले रग) से रग लेते हैं। धूप मे सुखाने के बाद ये अगर की छाल के पत्र सगमरमर की तरह चिकने हो जाते हैं और लेखन तथा चित्रण के योग्य बन जाते है।

इन पत्रो की लम्बाई, चौडाई और मोटाई विभिन्न प्रकार की होती हैं। दो फीट लम्बे और लगभग 6 इच चौडे टुकडे पवित्र धार्मिक ग्रथो की प्रतियाँ तैयार करने के लिए सुरक्षित रखे जाते थे। ऐसी प्रतियाँ प्राय राजाओ और सरदारो के निम निर्मित होती थी। लिखित पत्रो पर सख्यासूचक अक दूसरी ओर 'श्री' अक्षर लिखकर अकित किया

जाता था। प्रत्येक पत्र के मध्य मे बाँधने की डोरी पिराने के लिए एक छिद्र बनाया जाता था। लिखित पत्रो से अपेक्षाकृत मोटे पत्र सुरक्षा के लिए प्रति के ऊपर-नीचे लगाए जाते थे। कभी-कभी लकडी के पटरे भी इस कार्य के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। इन मोटे पत्रो पर ग्रथ के स्वामी और उसके उत्तराधिकारियो के नाम लिखे जाते थे अथवा उनके जीवन मे अथवा परिवार मे हुई महत्त्वपूर्ण घटनाओ का भी लेख कभी-कभी अकित किया जाता था। इन अतिरिक्त पत्रो को 'बेटी पत्र' कहते हैं (आसाम मे 'बेटी' शब्द दासी-पुत्री के रूप मे प्रयुक्त होता है)। बाँधने का छिद्र प्राय: दाएँ हाथ की ओर मध्य मे बनाया जाता था और इसमे बहुत बढिया मुगा अथवा एण्डी का धागा पिरोया जाता था जिसको 'नाडी' कहते थे। 18वी शताब्दी मे लिखे गए शाही ग्रथो मे ऐसे छिद्रो के चारो ओर बेल-बूटे और फारसी ढंग की सजावट तथा कभी-कभी सोने का काम भी दिखाई देता है।

लिखने तथा चित्रित करने से पूर्व इन पत्रो को चिकना और मुलायम बनाने के लिए प्राय: 'माटीमाह्' का ही लेप किया जाता है परन्तु कभी-कभी बतख के अण्डे भी काम मे लाये जाते हैं। हरताल का प्रयोग पत्रो को पीला रगने के लिए तो करते ही हैं, साथ ही यह कृमि नाशक भी है। जब प्रति तैयार हो जाती है तो वह गन्धक के धुए मे रखी जाती है, इससे यह विनाशक कृमियो से मुक्त हो जाती है। आहोम के दरबार मे हस्तप्रतियो दस्तावेजो, मानचित्रो और निर्माण सम्बन्धी आलेखो की सुरक्षा के लिए एक विशेष अधिकारी रहता था जो 'गन्धइया बरुआ' कहलाता था।

इस प्रकार तैयार किये हुए पत्रो को आसाम मे 'साँचीपात' कहते हैं। कोमलता और चिक्कणता के कारण ये पत्र दीर्घायुषी होते हैं और कितने ही स्थानो पर बहुत सुन्दर रूप मे इनके नमूने अब तक सुरक्षित पाये जाते हैं। परन्तु, ये सब 15वी–16वी शताब्दी से पुराने नही है, हाँ अगरु-पत्रो का सन्दर्भ बाणकृत 'हर्षचरित' के सप्तम उच्छ्वास मे मिलता है। बाण महाकवि हर्षवर्द्धन का समकालीन था और इसलिए उसका समय 7 वी शताब्दी का था। कामरूप का राजा भास्कर वर्मा भी हर्ष का समकालीन, मित्र और सहायक था। उसने सम्राट के दरबार मे भेंटस्वरूप कुछ पुस्तकें भेजी थी जो अगरु की छाल पर लिखे हुए सुभाषित ग्रन्थ थे।

"अगरुवल्कल-कल्पित-सञ्चयानि च सुभाषितभाञ्जि पुस्तकानि, परिणतपाटल-पटोलत्विषि····"[1]

बौद्धो के तान्त्रिक ग्रथ 'आर्यमञ्जुश्रीकल्प'[2] मे भी अगरुवल्कल पर यन्त्र-मन्त्र लिखने का उल्लेख मिलता है और इस प्रकार इसके लेखाधार बनने का इतिहास और भी पीछे चला जाता है।

महाराजा जयपुर के सग्रहालय मे प्रदर्शित महाभारत के कुछ पर्व भी साचीपात पर लिखे हुए हैं।

कागजीय

यो तो लेख और लेखाधार दोनो के लिए सस्कृत मे 'पत्र' शब्द का ही प्रयोग अधिकतर पाया जाता है परन्तु बाद के साहित्य मे और प्राय. तन्त्र साहित्य मे 'कागद'

1 हर्षचरित (सप्तम उच्छ्वास)।
2 त्रिवेन्द्रम सीरीज भाग 1, पृ० 131।

शब्द भी खूब प्रयुक्त किया गया है। भूर्जपत्र, रेशम, लाल कपडा और तालपत्र के समान 'कागद' भी यन्त्र-मन्त्र और पताकाएँ आदि लिखने के काम मे आता था। ग्रन्थ तो इस पर लिखे ही जाने थे। इसे 'शण पत्र' भी कहा गया है।[1]

प्राय कहा जाता है कि सर्वप्रथम ईस्वी सन् 105 मे चीन के लोगो ने कागज वनाया। परन्तु, ईसा से 327 वर्ष पूर्व जब यूनान के बादशाह सिकन्दर ने भारत पर हमला किया तब उसके साथ निम्रार्कस नामक सेनापति आया था। उसने अपने व्यक्तिगत अनुभव से लिखा है कि उस समय भारत के लोग रूई से कागज बनाते थे। निम्रार्कस सिकन्दर की इस चढाई के समय कुछ समय तक पजाब मे रहा था और उसने यहाँ के हालचाल का अध्ययन करके भारत के लोगो का विस्तृत वर्णन लिखा था, इसका सक्षिप्त रूप एरिअन ने अपनी 'इडिका' नामक पुस्तक मे उद्धृत किया है। मैक्समूलर ने भी 'हिस्ट्री ऑफ एशियेण्ट सस्कृत लिटरेचर' नामक पुस्तक मे इसी आधार पर भारतीयो के रूई को कूटकर कागज बनाने की कला से अवगत होने का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि रूई व चिथडो आदि को भिगो कर लुगदी बनाने तथा उसको कूटकर कागज बनाने की विधि से भारतवासी ईसा से चार शताब्दी पूर्व भी अच्छी तरह परिचित थे। परन्तु किसी भी प्रकार ऐसा कागज ताडपत्र और भूर्जपत्र की अपेक्षा अधिक टिकाऊ और सुलभ नही था इसीलिए इस पर लिखे ग्रन्थ कम मिलते हैं और उतने पुराने भी नही हैं।

फिर भी, यह अवश्य कहा जा सकता है कि एशिया और योरोप के अन्य देशो के मुकाबले मे भारत ने कागज बनाने की कला पहले ही जान ली थी।

भारत मे बहुत प्राचीनकाल से कागज बनता रहा है। यहाँ विविध स्थानो पर कागज बनाने के उद्योग स्थापित थे जिनके यत्किचित् परिवर्तित रूप अब भी पाये जाते हैं। कागज बनाना एक गृह उद्योग भी रहा है। काश्मीर, दिल्ली, पटना, शाहाबाद, कानपुर, अहमदाबाद, खभात, कागजपुरा (अर्थात् दौलताबाद), घोसुण्डा और सागानेर[2] आदि स्थान कागज बनाने के केन्द्र रहे हैं और इनमे से कई स्थान तो इसी उद्योग के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। दौलताबाद का एक वडा भाग तो कागजपुरा ही कहलाता था। अहमदाबाद, घोसुण्डा और सागानेर मे तो कई परिवार कागज का ही उद्योग करते थे और अब भी करते है। इन लोगो की बस्तियो मे जाकर देखने पर कई मकानो की दीवारा पर रूई,

1. वाचस्पत्यम् पृ॰ 1855-56, Sanskrit English Dictionary-by M M Williams, *P. 268*, सुखानन्द कृत शब्दार्थ चिन्तामणि।

2 सांगानेर कस्बा जयपुर से 8 मील दक्षिण में है। यहाँ का कागज उद्योग प्रसिद्ध है। सवाई जयसिंह के पुत्र सवाई ईश्वरीसिंह के समय मे इस उद्योग को विशेष प्रोत्साहन मिला था। उनके समय में कागज की किस्म और माप कायम की गई और वह कागज 'ईश्वरसाही' कागज कहलाता था। कागज की चिकनाई के अनुसार उस पर राज्य की मोहर लगा दी जाती थी। तदनुसार वह कागज 'दो मोहरिया' या 'डेढ़ मोहरिया' या 'मोहरिया' कहलाता था। इस व्यवसाय को करने वाले परिवार 'कागदी या 'कागजी' नाम से प्रसिद्ध हैं। सांगानेरी कागज बहुत टिकाऊ होता है। भूतपूर्व जयपुर राज्य के बहीखाते स्टाम्प पेपर और अन्य अभिलेख इसी कागज पर पाये जाते हैं। सामान्य रूप से सुरक्षित रखने योग्य सभी तहरीरें लिखने के लिए इसी का प्रयोग होता था। सत्रहवी शताब्दी या इसके बाद में लिखे हुए बहुत से ग्रन्थ भी सांगानेरी कागज पर लिखे पाये जाते हैं।

रद्दी कागज और चियडो को भिगोकर गलाने के बाद लुगदी बनाकर कूट कर बनाए हुए कागज चिपके हुए मिलेंगे, जो सूखने के लिए लगाये जाते है। सूखने पर इनको शख या कौडी अथवा हाथीदाँत के गोल टुकडों से घोटकर चिकना बनाया जाता है जिससे स्याही इधर-उधर नही फैलती।

इसी प्रकार देश मे काश्मीरी, मुगलिया, अरवाल, साहबखानी, खम्भाती, शणिया, अहमदाबादी, दौलताबादी आदि बहुत प्रकार के कागज प्रसिद्ध हैं और इन पर लिखी हुई पुस्तकें विविध ग्रन्थ-भण्डारो मे प्राप्त होती है। विलायती कागज का प्रचार होने के बाद भी ग्रन्थो और दस्तावेजो को देशी हाथ के बने कागजो पर लिखने की परम्परा चालू रही है। वास्तव मे, अब तो हाथ का बना कागज हाथ के बने कपडे के साथ सलग्न हो गया है और यत्र-तत्र खादी भण्डारो मे हाथ के बने देशी कागज बेचने के कक्ष भी दिखाई देते हैं। देशी कागजो का टिकाऊपन इसी बात से जाना जा सकता है कि सरकारी या गैर-सरकारी अभिलेखागारो मे जो कागज-पत्र रखे हुए हैं उनमे से विलायती कागज (चाहे पार्चमैण्ट ही क्यों न हो) पर लिखे हुए लेख देशी कागज पर लिखी सामग्री के आगे फीके और जीर्ण लगते हैं। ग्रन्थागारो मे भी देशी कागज पर लिखी प्राचीन पाडुलिपियाँ ऐसी निकलती हैं मानों अभी-अभी की लिखी हुई हो। इन कागजो के नामकरण के विषय मे यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कोई कागज अपने निर्माण-स्थान के नाम से जाना जाता है, तो कोई अपने निर्माता के नाम से। किसी-किसी का नाम उसमे प्रयुक्त सामग्री से भी प्रसिद्ध हुआ है, जैसे–शणिया, मोमिया, बाँसी, भोगलिया इत्यादि।

मध्य एशिया मे यारकंद नामक नगर से 60 मील दक्षिण में 'कुगिअर' नामक स्थान है। वहाँ मिस्टर वेबर को जमीन मे गडे हुए चार ग्रन्थ मिले जो कागज पर सस्कृत भाषा मे गुप्त लिपि के लिखे हुए बताय जाते हैं। डॉ॰ हार्नली का अनुमान है कि ये ग्रन्थ ईसा की पाँचवी शताब्दी के होने चाहिए। इसी प्रकार मध्य एशिया के ही काशगर आदि स्थानों पर जो पुराने सस्कृत ग्रन्थ मिले है वे भी उतने ही पुराने लगते हैं।[1]

भारत मे प्राप्त कागज पर लिखित प्रतियो मे वाराणसी के सस्कृत विश्वविद्यालय मे सरस्वती भवन पुस्तकालय स्थित भागवत पुराण की एक मिश्रित प्रति का उल्लेख मिलता है। इसकी मूल पुष्पिका का सवत् 1181 (1134 ई॰) बताया गया है।[2]

राजस्थान-प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर के सग्रह मे आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक पर *अभिनवगुप्त विरचित ध्वन्यालोकलोचन टीका* की प्राचीनतम प्रति सवत् 1204 (1146 ई॰) की है। इसके पत्र बहुत जीर्ण हो गए हैं, पुष्पिका की अन्तिम पक्तियाँ भी झड गई हैं परन्तु उसकी फोटो प्रति सग्रह मे सुरक्षित है।

महाराजा जयपुर के निजी सग्रह 'पोथीखाना' मे पद्मप्रभ सूरि रचित 'भुवनदीपक' पर उन्ही के शिष्य सिंह तिलक कृत वृत्ति की सवत् 1326 वि. की प्रति विद्यमान है। इस वृत्ति का रचना काल भी सवत् 1326 ही है और यह बीजापुर नामक स्थान पर

1. भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ॰ 145। ब्लूलर द्वारा सग्रहीत गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिन्ध और खानदेश के खानगी पुस्तक सग्रहालयों की सूची, भाग 1, पृ॰ 238 पर इन ग्रन्थों का उल्लेख देखना चाहिए।
2. मैन्युस्क्रिप्ट्स फ्रॉम इण्डियन कलैक्शन्स, नेशनल म्यूजियम, 1964, पृ॰ 8।

लिखी हुई है। इस प्रति के पत्र जीर्णता के कारण अब शीर्ण होने लगे हैं परन्तु प्रत्येक सम्भव उपाय से इसकी सुरक्षा के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

तूलीपातीय

आसाम मे चित्रण व लेखन के लिए 'तूलीपात' का प्रयोग भी बहुत प्राचीन काल से होता आया है। इसके निर्माण की कला इन लोगो ने सम्भवत 'ताइ' और 'शान' लोगो से सीखी थी जो 13वी शताब्दी मे अहोम के साथ यहाँ आये थे।

वास्तव मे 'तूलिपात' एक प्रकार का कागज ही होता है जो लकडी के गूदे या बल्क से बनाया जाता है। यह तीन रग का होता है—सफेद, भूरा और लाल। सफेद 'तूलिपात' बनाने के लिए महाइ (Mahai) नामक वृक्ष को चुना जाता है, गहरे भूरे रग के तूलिपात के लिए यामोन (जामुन) वृक्ष का प्रयोग होता है और लाल 'तूलिपात' जिस वृक्ष के गूदे स बनता है उसका नाम अज्ञात है।

उपर्युक्त वृक्षो की छाल उपयुक्त परिमाण मे निकाल ली जाती हैं और फिर उसे खूब कूटते हैं। इससे उनके रेशे ढीले होकर अलग-अलग हो जाते हैं। फिर इनको पानी में इतना उबालते हैं कि एक-एक कण अलग होकर उनका सब कूडा-करकट साफ हो जाता है। इन कणों का फिर कल्क बना लेते हैं। इसके बाद अलग-अलग माप वाली आयताकार तश्तरियो में पानी भरकर उस पर उस कल्क को समान रूप से फैला देते हैं और ठण्डा होने को रख देते हैं। ठण्डा होने पर पानी की सतह के ऊपर कल्क एक सख्त और मजबूत कागज के रूप मे जम जाता है। साधारणतया तूलिपात पत्र दो पाठो को सीकर तैयार किया जाता है अथवा एक ही लम्बे पाठे को दोहरा करके सी लेते हैं। इससे वह पत्र और भी मजबूत हो जाता है। कागज बनाने का यह प्रकार विशुद्ध भारतीय अतिरिक्त प्रकार है। इस उद्योग के केन्द्र नम्फकिआल, मगलोग और नारायणपुर मे स्थित थे जो आसाम के लखीमपुर जिले के अन्तर्गत हैं। नेफा मे कामेग सीमा क्षेत्र के मोपा बौद्ध भी इसी प्रकार के कागज का निर्माण करते हैं जो स्थानीय 'सुक्सो' नामक वृक्ष की छाल से बनाया जाता है।

पटीय अथवा (सूती कपडों पर लिखे) ग्रन्थ

ग्रन्थ लिखने, चित्र आलेखित करने तथा यन्त्र-मन्त्रादि लिखने के लिए रूई से बना सूती कपडा भी प्रयोग मे लाया जाता है। लेखन क्रिया से पहले इसके छिद्रों को बन्द करने हेतु आटा, चावल का माँड या लेई अथवा पिघला हुआ मोम लगाकर परत सुखा लेते है और फिर अकीक, पत्थर, शख, कौडी या कसौटी के पत्थर आदि से घोटकर उसको चिकना बनाते हैं। इसके पश्चात् उस पर लेखन कार्य होता है। ऐसे आधार पर लिखे हुए चित्र पट-चित्र कहलाते हैं और ग्रन्थ को पट ग्रन्थ कहते हैं।

सामान्यत पटो पर पूजा-पाठ के यन्त्र-मन्त्र ही अधिक लिखे जाते थे—जैसे, सर्वतोभद्र यन्त्र, लिंगतो-भद्र-यन्त्र, मातृका-स्थापन-मण्डल, ग्रह स्थापन-मण्डल, हनुमत्पताका, सूर्यपताका, सरस्वती-पताकादि चित्र, स्वर्ग-नरक-चित्र, सापसेनी ज्ञान चित्र और जैनों के अढाई द्वीप, तीन द्वीप, तेरह द्वीप और जम्बू द्वीप एव सोलह स्वप्न आदि के नक्शे व चित्र भी ऐसे ही पटो पर बनाए जाते हैं। बाद में मन्दिरो मे प्रयुक्त होने वाले पर्दे अर्थात्

प्रतिमा के पीछे वाली दीवार पर लटकाने के सचित्र पट भी इसी प्रकार से बनाने का रिवाज है। इनको पिछवाई कहते हैं। नाथद्वारा मे श्रीनाथजी की पिछवाइयाँ बहुमूल्य होती हैं। राजस्थान मे बहुत से कथानको को भी पटो पर चित्रित कर लेते हैं जो 'पड' कहलाते हैं। ऐसे चित्रो को फैलाकर लोकगायक उनके सगीतबद्ध कथानको का गान करते हैं। पाबूजी की पड, रामदेवजी की पड, आदि का प्रयोग इस प्रदेश मे सर्वत्र देखा जा सकता है।

महाराजा जयपुर के सग्रह मे अनेक तान्त्रिक नक्शे, देवचित्र एव इमारती खाके विद्यमान हैं जो 17वी एव 18वीं शताब्दी के हैं। कोई कोई और भी प्राचीन हैं परन्तु वे जीर्ण हो चले हैं। इनमे महाराजा सवाई जयसिह द्वारा सम्पन्न यज्ञो के समय स्थापित मण्डलो के चित्र तथा जयपुर नगर सस्थापन के समय तैयार किए गये प्रारूप चित्र दर्शनीय हैं। इसी प्रकार सग्रहालय म प्रदर्शित राधाकृष्ण की होली के चित्र भी पट पर ही अकित हैं और उत्तर 17 वी शती के है। दक्षिण से प्राप्त किए हुए छ ऋतुओ के विशाल पट चित्रो पर विविध अवस्थाओ म नायिकायें निरूपित हैं। ये चित्र भी कपडे पर ही बने हैं और बहुत सुन्दर हैं।

जिस कपडे पर मोम लगाकर उसे चिकना बनाया जाता था उसे मोमिया कपडा या पट कहते थे। ऐसे कपडो पर प्राय जन्म पत्रियाँ लिखी जाती थी। ये जन्म-पत्रियाँ पट्टियो को चिपका कर बहुत लम्बे-लम्बे आकार मे बनाई जाती थी। इन पर लिखी हुई सामग्री इतनी विशद और विशाल होती थी कि उन्हे एक ग्रन्थ ही मान लिया जा सकता है। जिसकी जन्म पत्री-होती है उसके वश का इतिहास, वश वृक्ष, स्थान, प्रदेश और उत्सवादि वर्णन, नागरिक वर्णन, ग्रह स्थिति, ग्रह भावफल, दशा निरूपण आदि का सचित्र सोदाहरण निरूपण किया जाता है। इनमे अनेक ऐसे ग्रथो के सन्दर्भ भी उद्धृत मिल जाते है जो अब नाम शेष ही रह गये है। जयपुर नरेश के सग्रह मे महाराजा रामसिह प्रथम के कुमार कृष्णसिह की जन्म पत्री 456 फीट लम्बी और 13 इच चौडाई की है जो अनेक भव्य चित्रो से सुसज्जित और विविध ज्योतिष ग्रथो से सन्दर्भित है। यह जन्म-पत्री सवत् 1711 से 1736 तक लिखी गई थी। इसी प्रकार महाराजा माधवसिह प्रथम की जन्म-पत्री भी है। इसमें यद्यपि चित्र नही है परन्तु कछवाहा वश का इतिहास, जयपुर नगर वर्णन और सवाई जयसिह की प्रशस्तियाँ आदि अनेक उपयोगी सूचनाएँ लिखित हैं।

भाद्रपद मास मे (बदि 12 से सुदि 4 तक) जैन लोग आठ दिन का पर्यूषण पर्व मनाते हैं। आठवें दिन निराहार व्रत रखते हैं। इसकी समाप्ति पर ये लोग एक-दूसरे से वर्ष भर मे किए हुए किसी भी प्रकार के बुरे व्यवहार के लिए क्षमा माँगते हैं। ऐसे क्षमावाणी के अवसर पर एक गाँव अथवा स्थान के समस्त सघ की ओर से दूसरे परिचित गाँव के प्रति 'क्षमापन पत्र' लिखे जाते थे। सघ का मुखिया आचार्य कहलाता है अत वह पत्र आचार्य के नाम से ही सम्बोधित होता है। इन पत्रो में सावत्सरिक-क्षमापना के अतिरिक्त पर्यूषण-पर्व के दिनो मे अपने गाँव मे जो धार्मिक कृत्य होते हैं उनकी सूचना आचार्य को दी जाती थी तथा यह भी प्रार्थना की जाती थी कि वे उस ग्राम में आकर सघ को दर्शन दें। ऐसे पत्र 'विज्ञप्ति-पत्र' कहलाते हैं। इनके लिखने मे गाँव की ओर से पर्याप्त धन एव समय व्यय किया जाता था। इनका आकार-प्रकार भी प्राय जन्म-पत्री के खरडों जैसा ही होता है तथा ये कागज के अतिरिक्त ताडपत्रादि पर भी लिखे मिलते

हैं। कभी-कभी कोई जैन विद्वान मुनि इनमे अपने काव्य भी लिखकर आचार्य की सेवा मे प्रेषित करते थे। महामहोपाध्याय विनयविजय रचित 'इन्दुदूत', मेघविजय विरचित 'मेघदूत', समस्या लेख और एक अन्य विद्वान द्वारा प्रणीत चेतोदूत काव्य ऐसे ही विज्ञप्ति पत्रो मे पाये गये हैं। सबसे पुराने एक विज्ञप्ति-पत्र का एक ही त्रुटित ताडपत्रीय-पत्र पाटन के प्राचीन ग्रन्थ भण्डार मे मिला है जो विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का बताया जाता है।[1]

यद्यपि कागज पर लिखे विज्ञप्ति पत्र 100 हाथ (50 गज=150 फीट) तक लम्बे और 12-13 इच चौडे 15वी शती के जितने पुराने मिले हैं परन्तु कपडे पर लिखित ऐसा कोई पत्र नही मिला। किन्तु जब इन विज्ञप्ति पत्रो को जन्म पत्री जैसे खरड़ो मे लिखने का रिवाज था तो अवश्य ही इनके लिए रेजी, तूलिपात या अन्य प्रकार के कपडे अथवा पट का भी प्रयोग किया ही गया होगा। ऐसे पत्रो का प्राचीन जैन-ग्रन्थ-भण्डारो मे अन्वेषण होना आवश्यक है।

प्राचीन समय मे पञ्चाग (ज्योतिष) भी कपडे पर लिखे जाते थे। इनमे देवी-देवता और ग्रह-नक्षत्रादि के चित्र भी होते थे। महाराजा जयपुर के सग्रह मे 17वी शताब्दी के कुछ बहुत जीर्ण पचाग मिलते हैं। 'राजस्थान प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान' जोधपुर मे भी कतिपय इसी तरह के प्राचीन पचाग विद्यमान हैं।

दक्षिण आन्ध्र प्रदेश आदि स्थानो म इमली खाने का बहुत रिवाज है। इमली के बीज या 'चीयाँ' को आग मे सेंक कर सुपारी की तरह तो खाते ही हैं परन्तु इसका एक और भी महत्त्वपूर्ण उपयोग किया जाता था। वहाँ पर इस 'चीयाँ' से लेई बनाई जाती थी। उस लेई को कपडे पर लगाकर कालापट तैयार किया जाता था। उसकी बही बनाकर व्यापारी लोग उस पर सफेद खडिया से अपना हिसाब किताब लिखते थे। ऐसी बहियाँ 'कडितम्' कहलाती थी। शृंगेरी मठ मे ऐसी सैंकडो बहियाँ मौजूद हैं जो 300 वर्ष तक पुरानी है। पाटण के प्राचीन ग्रन्थ-भण्डार मे श्री प्रभसूरि रचित 'धर्म विधि' नामक कृति उदयसिंह कृत टीका सहित पाई गयी है जो 13 इच लम्बे और 5 इच चौडे कपडे के 93 पत्रो पर लिखित है। कपडे के पत्रो पर लिखित अभी तक यही एक पुस्तक उपलब्ध हुई है।[2]

कपडे पर लेई लगाकर कालापट् तैयार करके सफेद खडिया से लिखने के अनुकरण मे कई ऐसी पुस्तकें भी मिलती हैं जो कागज पर काला रग पोत कर सफेद स्याही से लिखी गयी हैं।

इमली के बीज से चित्रकार भी कई प्रकार के रग बनाते थे।

रेशमी कपडे की

अलबेरुनी ने अपने भारत यात्रा विवरण मे लिखा है कि उसको नगरकोट के किले मे एक राजवशावली का पता था जो रेशम के कपडे पर लिखी हुई बताई जाती है। यह वशावली काबुल के शाहियावशी हिन्दू राजाओ की थी। इसी प्रकार डॉ० ब्यूहलर ने

1 मुनि जिनविजय स० 'विज्ञप्ति त्रिवणी' पृ० 32।
2. भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ० 146।

अपने ग्रन्थ निरीक्षण विवरण (पृ० 30) मे लिखा है कि उन्होंने जैसलमेर के वृहद्-ग्रन्थ-भण्डार में जैन सूत्रों की सूची देखी जो रेशम की पट्टी पर लिखी थी।

काष्ठपट्टीय

लिखने के लिए लकडी के फलको के उपयोग का रिवाज भी बहुत पुराना है। कोई 40-45 वर्ष पूर्व सर्वत्र और कही कही पर अब भी बालको को सुलेख लिखाने के लिए लकडी की पाटी काम में लाई जाती हैं। यह पाटी लगभग डेढ फुट लम्बी और एक फुट चौडी होती है। इसके सिरे पर एक मुकुटाकार भाग काट दिया जाता है जिसमे छिद्र होता है। बालक इस छिद्र मे डोरा पिरोकर लटका लेते है। इसकी सहायता से घर पर भी इसे खूँटी पर टाँग देते हैं क्योंकि विद्या को पैरो में नहीं रखना चाहिये। इसी पाटी पर मुलतानी या खडिया पोतते हैं। यह लेप इतना साफ और स्वच्छ करके लगाया जाता है कि पाटी के दोनो ओर की सतह समान रूप से स्वच्छ हो जाती है। पाटी पोतने और उसको सुखाने की कला मे बालको की चतुराई आँकी जाती थी। चटशाला मे बच्चे सामूहिक रूप से पाटी पोतने बैठते और फिर 'सूख-सूख पाटी, विद्या आवै'[1] की रट लगाते हुए पट्टी हवा मे हिलाते थे। पाटी सूख जाने पर वे इसे अपने दोनो घुटनो पर रखकर नेजे या सरकडे की कलम और काली स्याही से सुन्दर अक्षर लिखने का अभ्यास करते थे। आरम्भ मे गुरूजी कलम के उल्टे सिरे से बिना स्याही के उस पाटी पर अक्षरों के आकार (किटकिया) बना देते थे और फिर बालक उस आकार पर स्याही फेरकर सुलेखन का अभ्यास करते थे।

पाटी पर जो खडिया या मुलतानी पोती जाती थी वह पाण्डु कहलाती थी और इसीलिए आरम्भिक मूल लेख को पाण्डुलिपि कहते हैं जो अब प्रारूप, मूल हस्तलेख और हस्तलिखित ग्रन्थ का वाचक शब्द बन गया है। पाटी लिखने से पहले बच्चों को 'खोर-पाटा' देते थे। एक लकडी का आयताकार पाटा, जिसके छोटे-छोटे चार पाये होते थे या दोनो ओर नीचे की तरफ डाट होती थी, यह बालक के सामने बिछा दिया जाता था। इस पर लाल चूने या स्वच्छ भूरी मिट्टी बिछाकर इस तरह हाथ फेरा जाता कि उसकी सतह समतल हो जाती थी। फिर लकडी की तीखी नोकदार कलम से उस सतह पर लिखना सिखाते थे। इस कलम को 'बरता' या 'बरतना' कहते थे। जब पाटा भर जाता तो लेख गुरुजी को जँचवा कर फिर उस मिट्टी पर हाथ फेरा जाता और पुन: लेखन चालू हो जाता।

आजकल जैसे स्कूलो मे कक्षाएँ होती है उसी प्रकार पहले पढ़ने वाले छात्रों की श्रेणी-विभाजन इस प्रकार होता था कि आरम्भ मे 'खोरा-पाटा' की कक्षा फिर 'पाटी' कक्षा। दिन मे विद्यार्थी कितनी पट्टियाँ लिख लेता था, इसके आधार पर भी उसकी वरिष्ठता कायम की जाती थी। इस प्रकार पाटी या फलक पर लिखने की परम्परा बहुत पुरानी है। बौद्धो की जातक-कथाओ मे भी विद्यार्थियों द्वारा काष्ठ-फलकों पर लिखने का उल्लेख मिलता है।

1 इसका एक रूप ब्रज में यो मिलता है—
सूख सूख पट्टी चन्दन गट्टी, राजा आये महल चिनाये, महल गये टूट पट्टी गई सूख।

सुलेख सिखाने के लिए आगे का क्रम यह होता था कि पाटियो के एक ओर लाल लाख का रोगन लगा दिया जाता और दूसरी ओर काला या हरा रोगन लेपा जाता था।[1] फिर इन पर हरताल की पीली-सी स्याही या खडिया या पाण्डु की सफेद सी स्याही से लिखाया जाता था।

दैनिक प्रयोग मे बहुत से दूकानदार पहले लकडी की पाटी पर कच्चा हिसाब टीप लेते थे (आजकल स्लेट पर लिख लेते हैं) और फिर यथावकाश उसे स्याही से पक्की बही मे उतारते थे। इसी तरह ज्योतिषी लोग भी पहले खोर पाटे पर कुण्डलियाँ आदि खीच कर गणित करते थे, पुती हुई पाटियो पर भी जन्म, लग्न, विवाह लग्न आदि टीप लेते थे और फिर उनके आधार पर हस्तलेख तैयार कर देते थे। खोर-पाटे पर लिखने की ज्योतिष-शास्त्र मे 'धूलीकर्म' कहते है।

विद्वान भी ग्रन्थ रचना करते समय जैसे आजकल पहले रूल पेंसिल से कच्चा मसविदा कागज पर लिख लेते हैं अथवा किसी पद्य का स्फुरण होने पर स्लेट पर जमा लेते हैं और बाद मे उसको निर्णीत करके स्थायी रूप से लिखते या लिखवा लेते हैं। उसी तरह पुराने समय मे ऐसे प्रारूप काष्ठपट्टिकाओ पर लिखने का रिवाज था। जैनो के 'उत्तराध्ययन सूत्र' की टीका की रचना नेमिचन्द्र नामक विद्वान ने सवत् 1129 मे की थी। उसमे इस प्रकार पाटी से नकल करके सर्वदेव नामक गणि द्वारा ग्रंथ लिखने का उल्लेख है—

पट्टिका तो ऽलिखच्चेमाँ सर्वदेवाभिधो गणि.।
आत्मकर्मक्षयायाय परोपकृति हेतवे ॥ 14 ॥

खोतान से भी कुछ प्राचीन काष्ठपट्टिओ के मिलने का उल्लेख है। इन पर खरोष्ठी लिपि मे लेख लिखे है।

बर्मा मे रोगनदार फलको पर पाण्डुलिपि लिखी जाती है। ऑक्सफोर्ड की बोडलेयन पुस्तकालय मे एक आसाम से प्राप्त काष्ठ-फलको पर लिखी एक पाण्डुलिपि बतायी जाती है।

कात्यायन और दण्डी ने बताया है कि वाद-पत्र फलको पर पाण्डु (खडिया) से लिखे जाते थे और रोगन वाले फलको पर शाही शासन लिखे जाते थे।

ग्रन्थो के दोनो ओर जो काष्ठफलक (या पटरी) लगाकर ग्रथ बाँधे जाते हैं, उन पर भी स्याही से लिखी सूक्तियाँ अथवा मूल ग्रथ का कोई अश उद्धृत मिल जाता है जो स्वय रचनाकार अथवा लेखक (प्रतिलिपिकर्त्ता) द्वारा लिखा हुआ होता है।

कभी-कभी काष्ठ स्तम्भो पर लेख खोदे गये, जैसे किरारी से प्राप्त स्तम्भ पर मिले हैं। भज की गुफा की छतो की काष्ठ महराबो पर भी लेख उत्कीर्ण मिले है।

1. ब्रज मे 'हिरमिच' पोती जाती थी जिससे पट्टी लाल हो जाती थी। फिर उस पर घोटा किया जाता था। 'घोटा' शीशे के बड़े गोल छल्ले के आकार का लगभग तीन अगुल चौड़ाई का होता था। इससे घोटने पर पट्टी चिकनी हो जाती थी। उस पर खड़िया के घोल से लिखा जाता था

ग्रन्थों के अन्य प्रकार

आकार के आधार पर.

यहाँ तक हमने ग्रंथ लिखने के साधन या आधार की दृष्टि से ग्रंथो के प्रकार बताये। प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियाँ प्राय लम्बी और पतली पट्टियो के रूप मे ही प्राप्त होती हैं। जिनको एक के ऊपर एक रखकर गड्डी बनाकर रखा जाता है। एक-एक पट्टी को पत्र कहते हैं। 'पत्र' *नाम इसलिए दिया कि ये पोथियाँ ताडपत्रो या भूर्जपत्रो पर लिखी* जाती थी। बाद मे तत्समान आकार के माडपत्र या कागज बनाए जाने लगे। अब यह 'पत्र' शब्द चिट्ठी के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा है। 'पता' भी पत्र से ही निकला है। अत' प्राचीन पुस्तकें छूटे या खुले पत्राकार रूप मे ही होती थी। इनके छोटे बड़े प्रकार का भेद बताने के लिए जो शब्द प्रयुक्त हैं उनसे पता चलता है कि पोथियाँ पाँच प्रकार की होती थी। दशवैकालिक सूत्र की हरिभद्रकृत टीका मे एव निशीथचूर्णी आदि मे पुस्तको के 5 प्रकार इस तरह गिनाये गये हैं[1] (1) गण्डी (2) कच्छपी, (3) मुष्टी (4) सम्पुटफलक और (5) छेदपाटी, छिवाडी या सृपाटिका।[2]

गण्डी

जो पुस्तक मोटाई और चौडाई मे समान होकर लम्बी (Rectangular) होती है वह 'गण्डी' कहलाती है। जैसे पत्थर की 'कतली' होती है उसी आकार की यह पुस्तक होती है। ताडपत्र पर या ताडपत्रीय आकार के कागजों पर लिखी हुई पुस्तकें गण्डी' प्रकार की होती है।

कच्छपी

कच्छप या कछुए के आकार की अर्थात् किनारो पर सँकरी और बीच मे चौडी पुस्तके कच्छपी कहलाती है। इनके किनारे या छोर या तो त्रिकोण होते है अथवा गोलाकार।

1 'गडी कच्छवि मुटठी सपुडफलए छिवाडीय'
एय पुत्थयपणय, बक्खाण मिणं भवेतस्य ॥
बाहल्ल पुहत्तेहि, गण्डी पुत्थो उ तुल्लगो दीहो।
कच्छवि अते तणुओ, मज्झे पिहुलो मुणेयव्वो
चउर गुलदी हो वा, वटटागिह मुट्ठि पुत्थगो अहवा।
चउर गुलदीहोच्चिय, चउरसो होइ विन्नेओ ॥
सपुडगो दुगनाई फलगावोच्छ मेत्ता है।
तणुपत्तूसियरुवो, होइ छिवाडो बुहा वेंति ॥
दी होवा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्लो।
त मुणियसमयसारा, छिवाडियोत्थ भणतीह ॥
—दश वैकालिक हरिभद्री टीका, पत्र 25

'मुनि पुण्य विजय जी भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला मे पृ॰ 22 पर 25 वी पाद टिप्पणी से उद्धृत।

2 मुनि पुण्य विजयजी ने भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला मे पृ॰ 22 ... 26 वीं टिप्पणी मे बताया है कि कुछ विद्वान छिवाडी को सृपटिक मानते हैं। किन्तु वृत्ति तथा स्थानाग सूत्र टीका आदि मान्य ग्रन्थो के आधार पर ... मानते हैं।

मुष्टी

छोटे आकार की मुष्टिग्राह्य पुस्तक को मुष्टी कहते हैं। इसकी लम्बाई चार अगुल कही गई है। इस रूप मे बाद के लिखे हुए छोटे छोटे गुटके भी सम्मिलित किए जा सकते हैं। हैदराबाद सालारजग-सग्रहालय मे एक इच परिमाण वाली पुस्तकें हैं। वे मुष्टी ही मानी जायेगी।

सपुट-फलक

सचित्र काष्ठपट्टिकाओ अथवा लकडी की पट्टियो पर लिखित पुस्तको को सम्पुट फलक कहा जाता है। वास्तव म, जिन पुस्तको पर सुरक्षा के लिए ऊपर और नीचे काष्ठ फलक लगे होते हैं, उनको ही 'सम्पुट फलक' पुस्तक कहते हैं।

छेद पाटी

जिस पुस्तक के पत्र लम्बे और चौडे तो कितने ही हो परन्तु सख्या कम होने के कारण उसकी मोटाई (या ऊँचाई) कम होती है उसको छेदपाटी छिवाडी या सृपाटिका कहते हैं।

पुस्तको की लेखन शैली से पुस्तक-प्रकार

लेखन शैली के आधार पर पुस्तको के निम्न प्रकार 'भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला' मे बताये गये हैं

1 त्रिपाट या त्रिपाठ) ये तीन भेद पुस्तक के पृष्ठ के रूप विधान पर
2 पचपाट या पचपाठ) निर्भर हैं
3 शूड या शुंड)
4 चित्र पुस्तक यह उपयोगी सजावट पर निर्भर है।
5. स्वर्णाक्षरी) यह लेखाक्षर लिखने के माध्यम (स्याही) के विकल्प के
6 रौप्याक्षरी) प्रकार पर निभर है।
7 सूक्ष्माक्षरी) ये अक्षरो के आकार के परिमाण पर निर्भर है।
8 स्थूलाक्षरी आदि)

उक्त प्रकारो के स्थापित करने के चार आधार अलग अलग हैं। ये आधार हैं

1 पृष्ठ का रूप विधान।
2 पुस्तक को सचित्र करने से भी पुस्तक का एक अलग प्रकार प्रस्तुत होता है।
3. सामान्य स्याही से भिन्न स्वर्ण या रजत से लिखी पुस्तकें एक अलग वर्ग की हो जाती हैं
4 फिर अक्षरो के सूक्ष्म अथवा स्थूल परिमाण से पुस्तक का अलग प्रकार हो जाता है।

कुंडलित, वलयित या खरडा

ऊपर जो प्रकार बताये गये हैं, उनमें एक महत्त्वपूर्ण प्रकार छूट गया है। वह कुण्डली प्रकार है जिसे अग्रेजी मे स्काल (Scroll) कहा जाता है। प्राचीन काल में फराऊनों के

युग में 'मिस्र' में पेपीरस पर कुंडली ग्रंथ ही लिखे गये। भारत में कम ही सही कुंडली ग्रंथ लिखे जाते थे। 'भागवत पुराण' कुंडली ग्रंथ ब्रिटिश म्यूजियम में रखा हुआ है।[1] जैनियों के 'विज्ञप्ति पत्र' भी कुण्डली-ग्रंथ का रूप ग्रहण कर लेते थे। बड़ौदा के प्राच्य-विद्यामंदिर में हस्तलिखित सचित्र सम्पूर्ण महाभारत कुंडली ग्रंथ के रूप में सुरक्षित है—यह 228 फीट लम्बी और 5½' चौड़ी कुण्डली है जिसमें एक लाख श्लोक हैं। तेनह्लांग से डॉ० रघुवीर 8000 वलयिताओं की प्रतिलिपियाँ लाये थे।
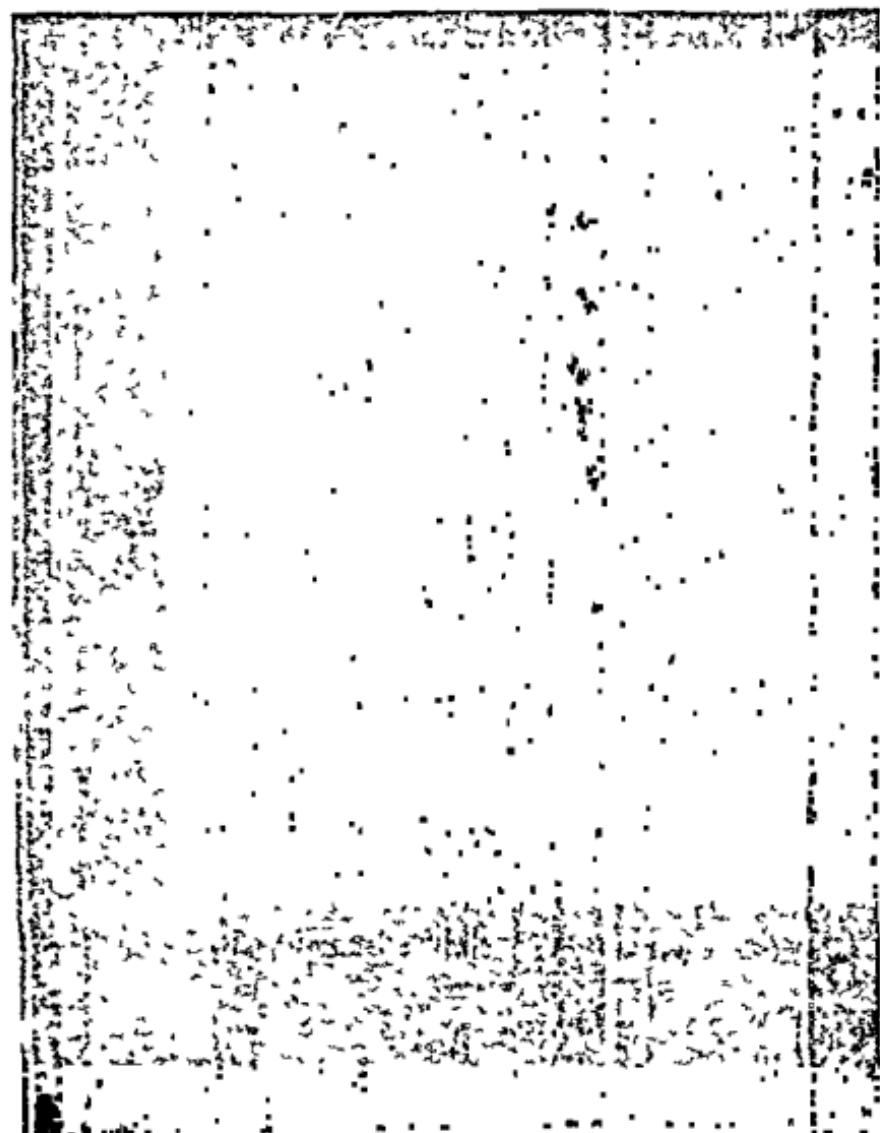
'कुंडली ग्रंथ' रखने के पिटक के साथ

1. यह पुराण 5 इंच चौड़ी और 65 फुट लम्बी कुण्डली में है, सचित्र है।

पृष्ठ के रूप-विधान से प्रकार-भेद

सामान्य ग्रथों मे पाट या पाठ का भेद नही होता है। आदि से अन्त तक पृष्ठ एक ही रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

किन्तु जब पृष्ठ का रूप विधान विशेष अभिप्राय से बदला जाय तो वे तीन प्रकार के रूप ग्रहण करते मिलते हैं

त्रिपाट या त्रिपाठ

इस पाट या पाठ मे यह दिखाई पडता है कि पृष्ठ तीन हिस्सो मे बाँट दिया गया है। बीच मे मोटे अक्षरो म मूल ग्रथ के श्लोक, उसके ऊपर और नीचे छोटे अक्षरो म टीका, टीका या व्याख्या दी जाती है। इस प्रकार एक पृष्ठ तीन भागा मे या पाटा या पाठो म बँट जाता है। इसलिए इसे त्रिपाट या त्रिपाठ कहते हैं।

पचपाट या पाठ

जब किसी पृष्ठ को पांच भागो मे बांटकर लिखा जाय तो पचपाट या पाठ कहलाएगा। त्रिपाट की तरह इसमें भी बीच मे कुछ मोटे अक्षरो मे मूल ग्रथ रहता है, यह एक पाट हुआ। ऊपर और नीचे टीका या व्याख्या लिखी गई यह तीन पाट हुए फिर दाईं और बाईं ओर हाशिये में भी जब लिखा जाय तो पृष्ठ का इस प्रकार का रूप विधान पचपाठ कहा जाता है।

शूंड या शुंड

जिस पुस्तक का पृष्ठ लिखे जाने पर हाथी की सुड की भाँति दिखलाई पडे वह 'सूड पाठ' कहलाएगा। इसमे ऊपर की पक्ति सबसे बडी, उसके बाद की पक्तियाँ प्राय छोटी होती जाती हैं, दोनो ओर से छोटी होती जाती हैं। अन्तिम पक्ति सबसे छोटी होती है और पृष्ठ का स्वरूप हाथी की सूड का आधार ग्रहण कर लेता है। यह केवल लेखक की या लिपिकार की अपनी रुचि को प्रगट करता है। किन्तु इस प्रकार के ग्रथ दिखाई नही पडते। हाँ, किसी लेखक के अपने निजी लेखा मे इस प्रकार की पृष्ठ रचना मिल सकती है। किंतु कुमार सम्भव' म कालिदास ने श्लोक 17 मे 'कुजर बिदुशोण' से ऐसी ही पुस्तक की ओर सकेत किया है। इसी अध्याय मे भूर्जपत्र शीर्षक देखिए।

अन्य

इस दृष्टि से देखा जाय तो लेखक की निजी पृष्ठ रचना में त्रिकोण पाठ भी मिल सकता है। ऊपर की पक्ति पूरी एक ओर हाशिये की रेखा के साथ प्रत्येक पक्ति लगी हुई किन्तु दूसरी ओर थोडा थोडा कम होती हुई अन्त म सबसे छोटी पक्ति। इस प्रकार पृष्ठ मे त्रिकोण पाठ प्रस्तुत हो जाता है। अत ऐसे ही अन्य पृष्ठ सम्बन्धी रचना प्रयोग भी लेखक की अपनी रुचि के द्योतक हैं। इनका कोई विशेष अर्थ नही। त्रिपाट और पचपाठ इन दो का महत्त्व अवश्य है क्योंकि ये विशेष अभिप्राय से ही पाठों मे विभक्त होती हैं।

सजावट के आधार पर पुस्तक-प्रकार

जिस प्रकार से कि ऊपर पृष्ठ-रचना की दृष्टि से प्रकार भेद किये गये हैं उसी प्रकार से सजावट के आधार पर भी पुस्तक का प्रकार अलग किया जा सकता है। यह

सजावट चित्रो के माध्यम से होती है। एक हस्तलेख मे चित्रो का उपयोग दो दृष्टियो से हो सकता है। एक-केवल सजावट के लिए और दूसरे सदर्भगत उपयोग के लिए। ये दोनो ही सादा एक स्याही मे भी हो सकते हैं और विविध रगो मे भी।

ग्रंथ मे चित्र

ग्रथो मे चित्राकन की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। 11 वी शती से 16 वी शती के बीच एक चित्रशैली प्रचलित हुई जिसे 'अपभ्र श-शैली' नाम दिया गया है।

इनके सम्बन्ध मे 'मध्यकालीन-भारतीय कलाओ एव उनका विकास' नामक ग्रथ का यह अवतरण द्रष्टव्य है—

"मुख्यत ये चित्र जैन सबधी पोथियो (पाण्डुलिपियो) मे बीच-बीच मे छोडे हुए चौकोर स्थानो मे बने हुए मिलते हैं।[1]"

इसका अर्थ है कि यह 'अपभ्र श-कला' ग्रथ-चित्रो के रूप मे पनपी और विकसित हुई। यह भी स्पष्ट है कि इसमे जैन धर्म ग्रथो का ही विशुद्ध योगदान रहा। हाँ, अकबर के समय मे साम्राज्य का प्रश्रय चित्रकारो को मिला। इस प्रश्रय के कारण कलाकारो ने अन्य ग्रथो को भी चित्रित किया। राजस्थान-शैली मे भी चित्रण हुआ। इस प्रकार हस्त-लिखित ग्रथो मे चित्रो की तीन शैलियाँ पनपती मिलती हैं। एक अपभ्र श-शैली जैन-धर्म ग्रथो मे पनपी। इसके दो रूप मिलते हैं। एकमात्र अलकरण सम्बन्धी। 1062 ई. के 'भगवती-सूत्र' मे अलकरण मात्र हैं। अलकरण शैली मे विकास की दूसरी स्थिति का पता हमे 1100 ई० की 'निशीथ चूर्णि' से होता है। इस पाण्डुलिपि मे अलकरण के लिए वेलबूटो के साथ पशुओ की आकृतियाँ भी चित्रित हैं। 13 वीं शती मे देवी-देवताओ का चित्रण बाहुल्य से होने लगा।

ये सभी प्रतियाँ ताडपत्र पर हैं। चित्र भी ताडपत्र पर ही बनाये गये हैं।

"1100 से 1400 ई के मध्य जो चित्रित ताडपत्र तथा पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं उनमे 'अगसूत्र', 'कथा सरित्सागर', 'त्रिषष्ठि शालाका-पुरुष-चरित', 'श्री नेमिनाथ चरित', 'श्रावक-प्रतिक्रमण चूर्णि' आदि मुख्य हैं।[2]

1400 से ताडपत्र के स्थान पर कागज का उपयोग होने लगा।

1400 से 1500 के बीच की चित्रित पाडुलिपियो मे कल्पसूत्र, कालकाचार्य-कथा, सिद्धसेन आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।[3]

पद्रहवी सोलहवी शती मे कागज की पाडुलिपि मे कल्पसूत्र और कालकाचार्य कथा की अनेको प्रतियाँ चित्रित की गयी। हिन्दी मे कामशास्त्र के कई ग्रथ इसी काल मे सचित्र लिखे गये। 1451 की कृति वसत विलास मे 79 चित्र हैं।[4]

1 नाथ आर० (डॉ०)–मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास, पृ० 43।
2 वही, पृ० 4
3 वही पृ० 4
4. लखनऊ संग्रहालय में हैं 1547 ई० में चित्रित 23 चित्रों से युक्त फिरदोसी का 'शाहनामा,' अकबर के समय में चित्रित छ चित्रों वाली पोथी हरिवंश पुराण' के अंशों के फारसी अनुवाद वाली, 17 वीं शताब्दी की काश्मीर शैली के 12 चित्रो वाली कुण्डली (Scroll) के रूप में 'भागवत'। क्रमश

अब यह कला प्राणवान हो चली थी और धर्म के क्षेत्र से भी बँधी हुई नहीं रही।

सजावटी पुस्तके

सजावटी चित्र पुस्तको को कई प्रकार से सजाया जा सकता है। एक तो ग्रंथ के प्रत्येक पृष्ठ पर चारो ओर के हाशियो को फूल पत्तियो से या ज्यामितिक आकृतियो से या पशु पक्षियों की आकृतियो से सजाया जा सकता है। दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि आरम्भ मे जहाँ पुष्पिका दी गयी हो या अध्याय का अन्त हुआ हो, वहाँ इस प्रकार का कोई सजावटी चित्र बना दिया जाय (जैसे राउलवेल मे)। फूल पत्तियो वाला, अशोक चक्र जैसा तथा अनेक प्रकार के ज्यामितिक आकृतियो वाला अथवा पशु पक्षियो वाला कोई चित्र बनाकर पृष्ठ को तथा पुस्तक को सजाया जा सकता है। पृष्ठो के मध्य मे भी विशिष्ट प्रकार की आकृतियाँ लिपिकार इस रूप मे प्रस्तुत कर सकता है कि लेख की पंक्तियो को इस प्रकार व्यवस्थित करे कि पृष्ठ मे स्वस्तिक या स्तम्भ या डमरू या इसी प्रकार का अन्य चित्र उभर आये। पृष्ठ के बीच मे स्थान छोडकर अन्य कोई चित्र, मनुष्य की या पशु की आकृति के चित्र बनाये जा सकते हैं। ये सभी चित्र सजावट या लिपिकार के लेखन कौशल के प्रदर्शन के लिए होते हैं। पाडुलिपियो मे ताडपत्रो के ग्रंथो के पत्रो के बीच मे डोरी या सूत्र डालने के लिए गोल छिद्र किए जाते थे और लिखने मे बीच मे इसी निमित्त लेखक गोलाकार स्थान छोड देता था। यह अनुकरण कागज की पाण्डुलिपियो मे भी किया जाने लगा। इस गोलाकार स्थान को विविध प्रकार से सजाया भी जाने लगा।

उपयोगी चित्रो वाली पुस्तकें

सजावट वाले चित्रो से भिन्न जब ग्रंथ के विषय के प्रतिपादन के लिए या उसे दृश्य बनाने के लिए भी चित्र पुस्तक मे दिये जाते हैं, तब ये चित्र पूरे पृष्ठ के हो सकते हैं और ग्रंथ मे आने वाली किसी घटना का एव दृश्य का चित्रण भी इनमे हो सकता है। कभी-कभी इन चित्रो मे स्वय लेखक को भी हम चित्रित देख सकते हैं। पूरे पृष्ठो के चित्रो के अतिरिक्त ऐसी चित्रित पुस्तको मे पृष्ठ के ऊपरी आधे भाग मे, नीचे आधे भाग मे, पृष्ठ के बाईं ओर के ऊपरी चौथाई भाग मे या बाईं ओर के नीचे के चौथाई भाग में, या नीचे के चौथाई भाग मे चित्र बन सकते हैं या बीच मे भी बनाए जा सकते हैं। ऊपर नीचे लेख और बीच म चित्र हो सकते हैं। जब कभी किसी काव्य के भाव को प्रगट करने के लिए

1 कोटा-सग्रहालय में श्रीमद्भागवत की एक ऐसी पाण्डुलिपि है जिसका प्रत्येक पृष्ठ रगीन चित्रो से चित्रित है।

कलकत्ता आशुतोष-कला-सग्रहालय मे एक कागज पर लिखी 1105 ई० की बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय की पाण्डुलिपि है इसमें बौद्ध देवताओं के आठ चित्र हैं। इस प्रति का महत्त्व इसलिए भी है कि यह कागज पर लिखे प्राचीनतम ग्रंथों में से है।

अलवर सग्रहालय मे महत्वपूर्ण चित्रित पाण्डुलिपियाँ इस प्रकार हैं—(1) भागवत—कुडली रूप मे लिखित, चित्रयुक्त 18 फुट लम्बा है। (2) गीत गोविन्द, अलवर शैली के चित्रो से युक्त है, (3) वाक्यातेबाबरी हुमायू के समय में तुर्की से फारसी मे अनूदित हुई। इसम चित्र भारतीय ईरानी शैली के हैं। शाहनामा—इसके चित्र उत्तर मुगल काल की शैली के हैं। 'गुलिस्तां—इसकी वह प्रति यहाँ सुरक्षित है जिसे महाराज विनयसिंह ने पौने दो लाख रुपये व्यय करके तैयार कराया था और इसको तैयार करने मे 15 वर्ष लगे थे।

चित्र दिए जाते हैं तो काव्य का कोई ग्रश चित्र के ऊपर या नीचे ग्रकित कर दिया जाता है। इस प्रकार ग्रथ ग्रनेक प्रकार से चित्रित किए जा सकते हैं। ये चित्र सजावट वाली चित्रशैली से भी युक्त बनाए जा सकते हैं। ऐसे चित्रो मे हाशिए को विविध प्रकार की सुन्दर ग्राकृतियो से सजाया जाता है तब चित्र बनाया जाता है।

इन चित्रो मे ग्रपने काल की चित्र-कला का रूप उभर कर ग्राता है। इनके कारण ऐसी पुस्तकों का मूल्य बहुत बढ जाता है।

सामान्य स्याही से भिन्न माध्यम मे लिखी पुस्तक

सामान्यत पुस्तक लेखन मे ताडपत्रो को छोड़कर काली पक्की स्याही से ग्रथ लिखे जाते रहे हैं। लाल स्याही को भी हम सामान्य ही कहेंगे किन्तु इस प्रकार की सामान्य स्याही से भिन्न कीमती स्वर्ण या रजत ग्रक्षरो मे लिखे हुए ग्रथ भी मिलते हैं। ग्रत इनका एक ग्रलग वर्ग हो जाता है। ये स्वर्णाक्षर ग्रथवा रजताक्षर हस्तलेखो के महत्त्व ग्रौर मूल्य को बढा देते हैं। साथ ही ये लिखवाने वाले की रुचि ग्रौर समृद्धि के भी द्योतक होते हैं। स्वर्णाक्षर ग्रौर रजताक्षरो मे लिखे हुए ग्रथो को विशेष सावधानी से रखा जायेगा ग्रौर, उनके रखने के लिए भी विशेष प्रकार का प्रबन्ध किया जायेगा। स्पष्ट है कि स्वर्णाक्षरी ग्रौर रजताक्षरी पुस्तकें सामान्य परिपाटी की पुस्तकें नहीं मानी जा सकतीं। ऐसी पुस्तकें बहुत कम मिलती हैं।

अक्षरो के ग्राकार पर आधारित प्रकार

ग्रक्षर सूक्ष्म या ग्रत्यन्त छोटे भी हो सकते हैं ग्रौर बहुत बडे भी। इसी ग्राधार पर सूक्ष्माक्षरी पुस्तको ग्रौर स्थूलाक्षरी पुस्तको के भेद हो जाते हैं। सूक्ष्माक्षरी पुस्तक के कई उपयोग हैं। पचपाट मे बीच के पाट को छोडकर सभी पाट सूक्ष्माक्षर मे लिखने होते हैं, तभी पचपाट एक पन्ने मे ग्रा सकते हैं। इसी प्रकार से एक ही पन्ने मे 'मूल' के ग्रश के साथ विविध टीका टिप्पणियाँ भी ग्रा सकती हैं।

सूक्ष्माक्षरी सूक्ष्माक्षरो मे लिखी पुस्तक छोटी होगी, ग्रौर सरलता से यात्रा मे साथ ले जाई जा सकती है। वस्तुत जैन मुनि यात्राग्रो म सूक्ष्माक्षरी पुस्तकें ही रखते थे।

ग्रक्षरो का ग्राकार छोटे-से छोटा इतना छोटा हो सकता है कि उसे देखने के लिए ग्रातिशी-शीशा ग्रावश्यक हो जाता है। सूक्ष्माक्षर मे लिखने की कला तब चमत्कारक रूप ले लेती है जब एक चावल पर 'गीता' के सभी ग्रध्याय ग्रकित कर दिये जायें।

स्थूलाक्षरी

पुस्तक बडे बडे ग्रक्षरो मे भी लिखी जाती हैं। ये मद दृष्टि पाठको का सुविधा प्रदान करने के लिए मोटे ग्रक्षरों मे लिखी जाती हैं ग्रथवा इसलिये कि इन्हें पोथी की भाँति पढ़ने मे सुविधा होती है।

कुछ ग्रौर प्रकार

ग्रब जो प्रकार यहाँ दिए जा रहे हैं, वे ग्राजकल प्रचलित प्रकार हैं। इन्ही के ग्राधार पर ग्राज खोज रिपोर्टों में ग्रन्य प्रकार दिए जाते हैं।

पांडुलिपियाँ इतने प्रकार की मिलती हैं :—

(1) खुले पन्नों के रूप में । पत्राकार ।
(2) पोथी । कागज को बीच से मोडकर बीच से सिली हुई ।
(3) गुटका । बीच से या ऊपर से (पुस्तक की भाँति) सिला हुआ । इसके पत्र अपेक्षाकृत छोटे होते हैं । पन्नों का आकार प्राय: 6 $\times$ 4 इंच तक होता है ।
(4) पोथो । बीच से सिली हुई ।

पोथी और पोथो में अन्तर है । पोथी के पन्ने अपेक्षाकृत आकार मे छोटे और संख्या में कम होते हैं । पोथो मे इससे विपरीत बात है ।

(5) पानावली । यह बहीनुमा होती है । लम्बाई अधिक और चौड़ाई कम । चौड़ाई वाले सिरे से सिलाई की गई होती है । इसे बहीनुमा पोथी भी कभी-कभी कह दिया जाता है ।
(6) पोथियाँ । पुस्तक की भाँति लम्बाई या चौड़ाई की ओर से सिला हुआ ।

इसमें और पोथी मे सिलाई का अन्तर है । पोथियाँ प्रायः सकलन ग्रन्थ होते हैं, अथवा अनेक रचनाओं को एकत्र कर लिया जाता है, बाद में उन सबको एकसाथ बड़े ग्रन्थ के रूप मे सिलवा लिया जाता है । इन सिले ग्रन्थो का लिपिकाल प्राय: भिन्न-भिन्न ही होता है ।

कौनसा प्रकार कितना उपयोगी है, इसको समझने के लिए उसका उद्देश्य जानना जरूरी है ।

ऊपर जो प्रकार बताये गये हैं, उन्हें वस्तुतः दो बड़े वर्गों मे रखा जा सकता है ।

(क) ग्रन्थ प्रकार

(1)

पत्रों के रूप में

1–खुले पत्रों के रूप मे
2–बीच मे छेद वाले डोरी-ग्रंथि युक्त
1–इनका प्रचलन सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से विशेष हुआ लगता है । जैनों के अतिरिक्त इसके पश्चात् जन-साधारण मे और अन्यत्र यही रूप विशेष प्रचलित रहा । सख्या में सर्वाधिक यही मिलते हैं ।

विशेषताएँ :

(1) इनमें पृष्ठ-संख्या लगाने की पद्धति :
(क) बायें हाथ की ओर हाशिये में सबसे ऊपर किन्तु 'श्री गणेश' भाग से हटकर कुछ नीचे, तथा
(ख) उसी पन्ने के द्वितीय भाग (पृष्ठ 2) में दायें हाथ की ओर नीचे ।

(2)

जिल्द के रूप में

पोथो	पोथी	गुटका
	|	|
	लम्बाई-चौड़ाई बराबर	लम्बाई-चौड़ाई में लम्बाई अपेक्षाकृत अधिक

इसका विशेष उद्देश्य—

पोथी : 1–घरू
2–सम्प्रदाय–पीठ, मन्दिर (एक शब्द में धार्मिक सस्था विशेष) के लिए
3–पीढ़ी के लिए–सामूहिक रूप से भविष्य की पीढ़ियों के लिए

पोथो : ऊपर दी गयी बातों के अतिरिक्त
(i) भेंटस्वरूप देने के लिए

(2) नाम लिखने की पद्धति

(क) जहाँ पृष्ठ सख्या लिखते थे उसके ठीक नीचे या ऊपर (सामान्यत) रचना के नाम का प्रथम अक्षर (अपवादस्वरूप दो अक्षर भी) लिखते थे। ऐसा साधारणत प्रथम पृष्ठ के बायें हाथ वाले अक के साथ ही किया जाता था। दूसरे पृष्ठ के बायें हाशिय या दायें हाशिये म लिखी पृष्ठ सख्या के पास भी। या रचना नाम हाशियो (केवल बायें ही) के बीच मे भी लिखे मिलते हैं।

(3) विशेष

(क) एक पन्ने की सख्या एक ही मानी जाती थी, आधुनिक पुस्तको म लिखी पृष्ठ सख्या की भाँति दो नहीं।

(ख) पोथो, पोथी और गुटके म काम आने वाली पद्धति नीचे दी जा रही है।

(ii) बेचने के लिए

(iii) किसी के कहने पर दान मे देने के लिए। किसी के कहने पर लिखी गयी या बनायी गयी पोथी भी इसी वर्ग म आयेगी

(iv) अपने लिए

गुटका उपर्युक्त बातो के अतिरिक्त निम्न लिखित और

(i) पाठ के लिए

(ii) स्वाध्याय हेतु

कुछ ऐसी प्रथा थी कि गुटके को सामान्यत किसी को दिखाया या दिया नही जाता था। किन्तु ऐसी वर्जना उसी गुटके के लिए होती थी जिसमे धार्मिक भावना निहित होती थी चूँकि उसका खूब उपयोग होता था।

विशेष इन सबमे गुटके के दोनो रूप विशेष प्रचलित रहे।

कारण (1) सुविधा, (2) मजबूती एव (3) सक्षेप लघु आकार। फलत सैकडो गुटके मिलते हैं। शेप दो रूप (पोथो एवं पोथी) भी मिलते हैं, पर अपेक्षाकृत कम।

विशेष उपयोगिता

इन सब कारणो के अतिरिक्त इनकी कुछ और उपयोगिताएँ भी थी, यथा–

1–राजस्थान के राजघराने मे पठन-पाठन के लिए सग्रह के लिए।

2–राजपूत राजघराने से विशेप रूप से सम्बन्धित चारण आदि जातियो म परम्परा सुरक्षित रखना और व्यवसाय की प्रतिष्ठा के लिए।

3–भाटा मे दहेज म, गोद लेने पर, विशेष अवसर पर भेंट या प्रसन्नता के प्रतीक के रूप मे दिये जाने के लिए।

4 नाथो मे

5–जैनों मे–तथा,

6–घनिष्ठ मित्रों आदि मे आपस मे दिये जाते थे–उदाहरणार्थ—
(धर्म–भाई बनाते समय, धर्म–बहिन बनाते समय, पवित्र स्थानो मे)

पोथो, पोथी, गुटका

इनमे भी पृष्ठ सख्या लगाने की पद्धति भी उपरिवत् है, प्रकार मे यत्किचत् भेद है। इन तीनो मे ही 'लेजर' की भाति 'फोलियो' सख्या रहती है। हमे फालिया शब्द ग्रहण कर लेना चाहिए।

पृष्ठ सख्या की पद्धति।

1 बायें पन्ने के ऊपर आरम्भिक पक्ति के बराबर या उससे कुछ नीचे सख्या दी जाती है। यही सख्या दायें पन्ने के दायें हाशिये के ऊपर इसी प्रकार लगाई जाती है। इनमे सख्या सामान्यत ऊपर की ओर ही देने की परिपाटी रही है।

2 दूसरा रूप इस प्रकार है बायें पन्ने के ऊपर (उपरिवत्) तथा दायें पन्ने के दायें हाशिये मे नीचे की ओर। यह पद्धति विशेष सुविधाजनक रहती है। एक ओर के किनारे नष्ट होने पर भी शेषाश बचा रहने पर इस सख्या का पता लगाया जा सकता है।

3 पृष्ठ सख्या (फोलियो सख्या से तात्पर्य है) पोथो, पोथी, गुटका आदि मे कहाँ तक दी जाय, इसके लिए दो परिपाटियाँ रही है—

(क) आदि से लेकर बीच की सिलाई के दाय पन्ने तक।
(ख) आदि से लेकर अन्तिम पन्ने तक।

विशेष (ख) मे दी गयी स्थिति मे यदि अन्त मे एक ही पत्ना हा और वह बायाँ हा सकता है, तो भी उसी ढग से सख्या दी जाती थी। इसकी गणना ठीक उसी रूप मे की जाती थी जिसमे शेष 'फालियो' की।

4 इसमे भी रचना का प्रथम अक्षर सख्या के नीचे लिखा रहता है किन्तु केवल बायें पन्ने की सख्या के नीचे ही।

इन तीनो के विषय म ये बातें विशेष रूप से लागू होती हैं —

(क) यदि सकलन ग्रन्थ है, तो भिन्न रचना का नाम (उसका प्रथम अक्षर लिखा जायगा)।
(ख) यदि हरजस, पद आदि विषयक ग्रन्थ है (जो सकलन ही है) तो उसमे 'ह०' या 'भ०' (भजन), गी० (गीत) आदि लिखा मिलता है।
(ग) यदि एक ही रचना है, तो स्वभावत उसी के नाम का प्रथम अक्षर लिखा जायगा।

सिलाई

1 पत्राकार पुस्तको में
(क) खुले पत्रों के रूप मे
(ख) बीच मे छेद वाले रूप में

(क) खुले पन्नो वाली पुस्तको की तो सिलाई का प्रश्न नही उठता। पन्ने क्रमानुसार सजाकर किसी बस्ते मे बाँधे जाते थे। पुस्तक के ऊपर-नीचे विशेषत लकडी की और गौणत पत्तो के उसके पन्नो से कुछ बडी आकार की पटरियाँ लगा दी जाती थी। इससे पन्नो की सुरक्षा होती थी। इसको भगवे, पीले या लाल रग के वस्त्र से लपेट कर रखते थे। यह वस्त्र दो प्रकार का होता था .—

(1) बुगचा—यह तीन ओर से सिला हुआ होता था, चौथे कोने मे एक मजबूत डोरी भी लगी रहती थी। पटरियों सहित पुस्तक को इसमे रखकर डोरी से लपेट कर बाध दिया जाता था।

(2) चौकोर वस्त्र—इस कपडे से बाँध दिया जाता था।

(ख) बीच मे छेद वाली खुले पन्नो की पुस्तकें अपेक्षाकृत कम मिलती हैं। प्रतीत होता है ताडपत्र ग्रन्थो की यह नकलें हैं। इस प्रकार की हस्तप्रति मे प्रत्येक पन्ने के दोनो ओर ठीक बीच मे एक ही आकार प्रकार का फूल बना दिया जाता था। अनेक म केवल एक पैसे (पुराने ताँबे के पैसे) के बराबर रगीन गोला बना रहता था। इन ग्रथो मे पन्नो की लम्बाई चौडाई सावधानीपूर्वक एकसी रखी जाती थी। सब ग्रन्थ लिखे जाने के बाद उसके पन्नो मे छेद करके रेशमी या ऊन की डोरी उनमे पिरो दी जाती थी। इस प्रकार इन्हे बाँध कर रखा जाता था। ऐसे ग्रन्थ सामान्यत दूसरो को देने के लिए न होकर धर्म के स्थान विशेष अथवा परिवार या व्यक्ति-विशेष के निजी सग्रह के लिए होते थे। इनके लिखने और रखने तथा प्रयुक्त करने मे सावधानी और सतर्कता बरतनी पडती थी। व्यय भी अधिक होता था। यही कारण है कि ऐसे ग्रन्थ कम मिलते हैं।

2. **पोथो, पोथी, गुटका**

पुराने समय के जितने भी ऐसे ग्रन्थ देखने मे आये हैं (डॉ० हीरा लाल माहेश्वरी ने बीस हजार के लगभग ग्रन्थ देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि) वे सभी बीच से सिले हुए मिलते हैं। इनके दो रूप हैं —

1– एक-जैसे आकार के पन्नो को लेकर, उन्हे बीच से मोडकर बीच से सिलाई की जाती थी,

2– क्रमश (चौडाई की ओर से) घटते हुए आकार के पन्ने लगाना।

(1) ग्रन्थ के बडा होने के कारण या/तथा (2) लम्बाई अधिक होने के कारण ऐसा किया जाता था। उदाहरणार्थ—

पहले 100 पन्ने 1 फुट के
दूसरे 100 पन्ने 10 इच (या 10" या 11") के
तीसरे 100 पन्ने 8 इच के

ऐसे ग्रन्थ अपेक्षाकृत कम मिलते हैं, किन्तु यह पद्धति वैज्ञानिक है। ऐसे एक ग्रन्थ का उपयोग डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने डी० लिट्० की थीसिस मे किया है।

(3) सिलाई मजबूत रेशमी या बहुधा सूत की बटी हुई डोरी से होती थी। गाँठ वाला अश प्राय इनके बीच मे लिया जाता था। यदि ग्रन्थ बडा हुआ तो मजबूती

के लिए सिलाई के प्रत्येक छेद पर धागा पिरोने से पूर्व कागजो, गत्तो या चमडो का एक गोल आकार का अश काटकर लगाते थे। ऐसा दोनो ओर भी किया जाता था और एक ओर भी किया जाता था। इसी को 'ग्रंथि' कहते हैं। ज्ञातव्य है कि जिन ग्रन्थो मे लिपिकार की (या जिनके लिए वह तैयार किया गया है—उनकी) किसी प्रकार की धर्मभावना निहित होती थी तो चमडे का उपयोग कभी नही किया जाता था।

ऐसे ग्रन्थो की सिलाई के सम्बन्ध मे दो बातें हैं :

(क) पहले सिलाई करके फिर ग्रन्थ लेखन करना,

(ख) पहले लिखकर फिर सिलाई करना। दूसरे के सम्बन्ध मे एक बात और है। मान लीजिए कभी-कभी प्रारम्भ के 10 बडे पन्नो पर रचना लिख ली गई। तत्पश्चात् और अधिक रचनाओ के लिखने का विचार हुआ और उनको भी लिखा गया। अब सिलाई मे आरम्भ के 10 बडे पन्ने दो भागो मे विभक्त होगे। प्रथम 5 का अश आदि मे रहेगा और शेषाश सिलाई के मध्यभाग के पश्चात्। अत. यदि किसी ग्रन्थ के आदि भाग मे कोई रचना अपूर्ण हो, और बाद मे उसी ग्रन्थ मे उसकी पूर्ति इस रूप मे मिल जाय तो प्रक्षिप्त नहीं मानना चाहिए।

3– आदि और अन्त के भाग मे (प्राय: विषम सख्या के – 5, 7, 9, 11) पन्ने अतिरिक्त लगा दिये जाते थे। इसके ये कारण थे :—

(क) मजबूती के लिए आदि और अन्त मे कुछ कोरे पन्ने रहने से लिखित पन्ने सुरक्षित रहते हैं।

(ख) यदि रचना पूरी न लिखी जा सकी हो तो सम्भावित छूटे हुए अश को लिखने के लिए।

(ग) लिपिकार, स्वामी, उद्देश्य आदि से सम्बन्धित बातें लिखने के लिए, उदाहरणार्थ .—

(अ) कभी-कभी कोई ग्रन्थ बेचा भी जाता था। अन्त के पन्नो मे या कभी आदि के पन्नो मे भी उसका सन्दर्भ रहता था। गवाहो के भी नाम दिये जाते थे। बेचने की कीमत, मिति और सवत् का उल्लेख होता था।

(ब) यदि भेंटस्वरूप दिया गया, तो अवसर का, स्थान का, कारण का उल्लेख रहता था।

इन व्यवहारो को सूचित करने के लिए भी कुछ पन्ने कोरे छोडे जाते थे। इन छूटे हुए या अतिरिक्त कोरे पन्नो के सम्बन्ध मे ये बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं —

(क) यदि कोई रचना अधूरी रह गई, तो प्राय· उसकी पूर्ति आरम्भ के पन्नो से की जाती थी। ऐसा करने मे कभी-कभी आदि के भी तीन-चार या कम-बेशी पन्ने खाली रह जाते थे। हस्त-ग्रन्थो के विद्यार्थी और पाठक को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

(ख) किसी रचना का बाद मे मिला हुआ कोई अश भी इनमे लिखा जाता था, भले ही ऐसा कम ही किया जाता था ।

(ग) ग्रन्थ मे जिस कवि/लेखक की रचना लिपिबद्ध होती थी, प्राय उसकी कोई अन्य रचना बाद मे मिलती थी तो वह भी इन पन्नो मे लिखी जाती थी ।

शिलालेख प्रकार

ग्रन्थो के बाद हस्तलेखो की दृष्टि से शिलालेखो का स्थान आता है । शिलालेख भी कितने ही प्रकार के माने जा सकते हैं —

1 पर्वतांश पर लेख (पर्वत मे लेखन-योग्य स्थान देखकर उसे ही लेखन-योग्य बनाकर शिला-लेख प्रस्तुत किया जाता है ।) ये शिला-लेख एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही ले जाये जा सकते ।

2 गुफाओ मे पर्वताश पर खुदे शिला लेख । ये भी अन्यत्र नही ले जाये जा सकते ।

3 पर्वत से शिलाएँ काटकर उन पर अकित लेख । ये शिलाएँ एक स्थान से दूसरे पर ले जायी जा सकती है ।

4 स्तम्भो या लाटो पर लेख ।

वर्णित विषय के आधार पर इन लेखो के कई भेद किए जा सकते हैं

1 राजकीय आदेश विषयक शिला-लेख ।

2. दान विषयक शिला-लेख ।

3. किसी स्थान निर्माण के अभिप्राय तथा काल के द्योतक शिला-लेख, तथा

4 किसी विशेष घटना के स्मरण-लेख ।

शिला-लेख सभी खुदे हुए होते हैं, किन्तु कुछ मे खुदे अक्षरो मे कोई काला पत्थर या सीसा (lead) या अन्य कोई पदार्थ -मसाला भरकर लेख प्रस्तुत किये जाते हैं । ऐसा विशेषत सगमरमर पर खुदे अक्षरो मे किया जाता है ।

ये सभी इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते है । पर्वतीय शिला-लेख अचल होते हैं, अत. इन शिला-लेखो की छापें पाडुलिपि-आलय मे रखी जाती है । जो शिला-लेख उठाये जा सकते हैं वे मूल मे ही ले जाकर हस्तलेखागार या पाडुलिपि-आलय मे रखे जाते हैं ।

छाप लेना : इनकी छाप लेने की प्रक्रिया यहाँ दी जाती है । यह प० उदयशकर शास्त्री के लेख से उद्धृत की जा रही है ।

प्रारम्भ मे इन शिलालेखो को पढने के लिये अक्षरो को देखकर उनकी नकले तैयार की जाती थी और फिर उन्हे पढने का कार्य किया जाता था । इस पद्धति से अक्षर का पूरा स्वरूप पाठक के सामने नही आ पाता था, और इसीलिये कभी-कभी भ्रम भी हो जाया करता था । कभी-कभी पेरिस प्लास्टर की सहायता से भी छापें (Estampage) तैयार की गई, पर उनमे अक्षर की पूरी आकृति उभर नही पाती थी । अक्षर की पूरी गोलाई, मोटाई, उसके घुमाव, फिराव के लिये यह आवश्यक है कि जिस स्थान (शिला अथवा ताम्रपट्ट) पर वह उत्कीर्ण हो उस पर छाप ली जाने वाली चीज पूरी तरह से

चिपक सके । इसके लिये अब सबसे सुविधाजनक कागज उपलब्ध है, जिसे भारत सरकार जूनागढ से मँगवाती है। लेख वाले स्थान को पहिले साफ पानी से अच्छी तरह धोकर साफ कर लेना चाहिये ताकि अक्षरों में धूल, मिट्टी या और किसी तरह की कोई चीज भरी न रह जाय। फिर कागज को पानी में अच्छी तरह भिगोकर चिपका देना चाहिये, फिर उसे मुलायम ब्रुश से पीटना चाहिये, जिससे अक्षरों मे कागज अच्छी तरह चिपक जाये। उसके बाद एक कपडा भिगोकर कागज के ऊपर लगादें और उसे कडे ब्रुश से पीट-पीट कर कागज को और चिपका दें। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि लेख पर कागज चिपकाते समय लेख और कागज के बीच में बुलबुले (Bubbles) न उठने पावें, और यदि उठ जायें तो उन्हे ब्रुश से पीट-पीटकर किनारे पर कर देना चाहिए अन्यथा अक्षर पर कागज ठीक चिपक न सकेगा। पीटते समय यदि कहीं से कागज फट जाये तो उसके ऊपर तुरन्त ही कागज का दूसरा टुकडा भिगोकर लगा देना चाहिये। थोडा पीट देने से कागज पहले वाले कागज मे अच्छी तरह चिपक जायेगा। जब कागज अच्छी तरह से अक्षरों मे घुस जाये तब ऊपर का कपडा उतार कर मुलायम ब्रुश से फिर इधर-उधर उठ गई फुटकियों को सुधार लेना चाहिये। अब थोडी देर तक कागज को हवा लगने छोड देना चाहिये जिससे कि कागज सूख जाये। फिर एक तश्तरी मे कालिख (Black Japan) घोल कर डैबर की सहायता से लेख की पंक्तियों पर क्रमश लगा देना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी पंक्ति पर धब्बा न आने पाये अन्यथा अक्षर धुँधला पड जायेगा और उसकी आकृति स्पष्ट न हो सकेगी, कागज पर जब रोशनाई ठीक से लग जाये तब उसे सावधानी से उतार कर सुखा लेना चाहिये। आजकल कालिख को घोल कर लगाने के बजाय कोई-कोई सूखा ही लगाते है। पर उससे छाप (Estampage) में वह चमक नही आ पाती जो गीले काजल मे आती है।

यह पद्धति उन लेखो के लिए है जो गहरे खोदे हुए होते हैं, पर उर्दू आदि के उभरे हुए लेखो के लिए अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है अन्यथा कागज फट जाने की बहुत सम्भावना रहती है।

साधारणतया छाप तैयार करने के लिए यह सामग्री अपेक्षित होती है—

1. तिरछे लम्बे ब्रुश (Bent bar Brush) 2।
2. एक गज सफेद हल्का कपडा।
3. स्याही घोलने के लिये तश्तरी।
4. एक डैबर (Dabbar) स्याही मिलाने के लिये।
5. एक डैबर बडा (लेख पर स्याही लगाने के लिये)।
6. जूनागढी कागज (इसके अभाव मे भी छाप लेने का काम मामूली कागज से लिया जा सकता है, पर कागज चिकना कम होना चाहिये)।
7. चाकू।
8. नापने के लिये कपडे का फीता या लोहे का फुटा (यदि यह सब सामान एक छोटे सन्दूक मे रखा जा सके तो यात्रा में सुविधा रहेगी)

भारतीय लिपियो व शिला-लेखो का अनुसन्धान करने वालो को *अग्रलिखित* साहित्य देखना चाहिये—

उपसंहार

पांडुलिपि के कितने ही प्रकारों की विस्तृत चर्चा ऊपर की गयी है। इनमें नरियों एव चिट्ठी पत्रियों का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया। इनका विवेचन आधुनिक पांडुलिपि पुस्तकालयों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह विषय इतना विशद भी है कि प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे खण्ड को जन्म दे सकता है।

यहाँ तक जितना विषय चर्चित हुआ है उतना स्वयमेव एक पूरे विज्ञान का एक पूरा पक्ष प्रस्तुत कर देता है। अतः इतनी चर्चा ही इस अध्याय के लिए पर्याप्त प्रतीत होती है।

□□□

अध्याय **5**
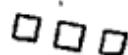
लिपि - समस्या

महत्त्व :

पाडुलिपि-विज्ञान मे लिपि का बहुत महत्त्व है । लिपि के कारण ही कोई चिह्नित वस्तु हस्तलेख या पाडुलिपि कहलाती है । 'लिपि' किसी भाषा को चिह्नो मे बाँधकर दृश्य और पाठ्य बना देती है । इससे भाषा का वह रूप सुरक्षित होकर सहस्राब्दियो बाद तक पहुँचता है जो उस दिन था जिस दिन वह लिपिबद्ध किया गया । विश्व मे कितनी ही भाषाएँ हैं, और कितनी ही लिपियाँ हैं । पाडुलिपि विज्ञान के अध्येता के लिए और पाडुलिपि-विज्ञान-विद् बनने वालो के समक्ष कितनी ही लिपियो मे लिखी गयी पाडुलिपियाँ प्रस्तुत हो सकती हैं । पुस्तक की अन्तरंग जानकारी के लिए उन पुस्तको की लिपियो का कुछ ज्ञान अपेक्षित है । वस्तुत विशिष्ट लिपि का ज्ञान उतना आवश्यक नही जितना उस वैज्ञानिक विधि का ज्ञान अपेक्षित है जिससे किसी भी लिपि की प्रकृति और प्रवृत्ति का पता चलता है । इस ज्ञान से हम विशिष्ट लिपि की प्रकृति और प्रवृत्ति जानकर अध्येता के लिए अपेक्षित पाडुलिपि का अन्तरग परिचय दे सकते हैं । अत· लिपि का महत्त्व है, किसी विशेष युग या काल के विशेष दिन की भाषा के रूप को पाठ्य बनाने के लिए सुरक्षित करने की दृष्टि से एव इसलिए भी कि इसी के माध्यम से पाडुलिपि-विज्ञानार्थी वैज्ञानिक विधि से पुस्तक के अन्तरग का अपेक्षित परिचय निकाल सकता है, अत आज भी लिपि का महत्त्व निर्विवाद है, वह चाहे पुरानी से पुरानी हो या अर्वाचीन ।

लिपियाँ :

विश्व मे कितनी ही भाषाएँ हैं और कितनी ही लिपियाँ हैं । भाषा का जन्म लिपि से पहले होता है, लिपि का जन्म बहुत बाद में होता है । क्योंकि लिपि का सम्बन्ध चिह्नो से है, चिह्न 'अक्षर' या 'अल्फाबेट' कहे जाते हैं । ये भाषा की किसी ध्वनि के चिह्न होते हैं । अत: लिपि के जन्म से पूर्व भाषा भाषियो को भाषा के विश्लेषण मे यह योग्यता प्राप्त हो जानी चाहिये कि वे जान सकें कि भाषा मे ऐसी कुल ध्वनियाँ कितनी हैं जिनसे भाषा के सभी शब्दो का निर्माण हो सकता है । भाषा का जन्म वाक्य रूप मे होता है । विश्लेपक बुद्धि का विकास होने पर भाषा को अलग-अलग अवयवो मे बाँटा जाता है । उन अवयवों मे फिर शब्दो को पहचाना जाता है । शब्दो को पहचान सकने की क्षमता विश्लेपक-बुद्धि के और अधिक विकसित होने का परिणाम होती है । 'शब्द' अर्थ से जुडे रहकर ही भाषा का अवयव बनते हैं । सस्कृति और सभ्यता के विकास से 'भाषा' नये अर्थ, नयी शक्ति और क्षमता तथा नया रूपातरण भी प्राप्त करती हैं । सशोधन, परिवर्द्धन, आगम, लोप और विपर्यय की सहज प्रक्रियाओ से भाषा दिन ब-दिन कुछ से कुछ होती चलती है । इस प्रक्रिया मे उसके शब्दो मे भी परिवर्तन आते हैं तद्नुकूल अर्थ-विकार भी प्रस्तुत होते हैं । अब 'शब्द' का महत्त्व हो उठता है । शब्द की इकाइयो से उनके 'ध्वनि-तत्त्व' तक सहज ही पहुँचा जा सकता है । यह आगे का विकास है । ध्वनियो के विश्लेपण से किसी भाषा की आधारभूत ध्वनियों का ज्ञान मिल सकता है । इस चरण पर आकर ही 'ध्वनि' (श्रव्य) को दृश्य बनाने के लिए चिह्न की परिकल्पना की जा सकती है ।

भाषा बोलना आने पर अपने समस्त अभिप्राय को व्यक्ति एक ऐसे वाक्य में बोलता

है जिसके अवयवो मे वह अन्तर नहीं करता होता है– यथा, वह कहता है—

(i) "मैंखानाखाताहूँ"

यह पूरा वाक्य उसके लिए एक इकाई है। फिर उसे ज्ञान होता है अवयवो का। यहाँ पहले विकास के इस स्तर पर दो अवयव ही हो सकते हैं, (i) 'मैं' तथा (ii) खाना खाता हूँ'। इस प्रकार उसे भाषा मे दो अवयव मिलते हैं—अब वह अन्य अवयवो को भी पहचान सकता है। इन अवयवों के बाद वह शब्दो पर पहुँचता है, क्योकि जैसे वह अपने लिए 'मैं' को अलग कर सका वैसे ही वह खाद्य पदार्थ के लिए 'खाना' शब्द को भी अलग कर सका–अब वह जान गया कि मैंने चार शब्दों से यह वाक्य बनाया था—

1 2 3 4
(iii) मैं खाना खाता हूँ

सांस्कृतिक विकास से उसमे यह चेतना आती है कि ये शब्द ध्वनि-समुच्चय से बने हैं। इनमे ध्वनि-इकाइयो को अलग किया जा सकता है–यहीं ध्वनि मे स्वर और व्यजन का भेद भी समझ में आता है। अब वह विकास के उस चरण पर पहुँच गया है जहाँ अपनी एक एक ध्वनि के लिए एक-एक चिह्न निर्धारित कर वर्णमाला खडी कर सकता है। यही लिपि का जन्म होता है हमारी लिपि मे उक्त वाक्य के लिपि चिह्न ये होंगे :—मैं=म+ ै+ ं/खाना=ख+ा+न+ा/खाता=ख+ा+त+ा/हूँ=ह+ ू+ ँ।

ये लिपि चिह्न भी हमे लिपि विकास के कारण इस रूप मे मिले हैं।

चित्र-लिपि

किन्तु वर्णमाला से भी पहले लेखन या लिपि का आधार चित्र थे। चित्रों के माध्यम से मनुष्य अपनी बात ध्वनि निर्भर वर्णमाला से पहले से कहने लगा था। चित्रो का सबंध ध्वनि या शब्दो से नहीं बरन् वस्तु से होता है। चित्र वस्तु की प्रतिकृति होते हैं। भाषा–वह भाषा जिसका मूल भाषण या वाणी है, इस भाषा से पूर्व मनुष्य 'सकेतो' से काम लेता था। सकेत का अर्थ है कि मनुष्य जिस वस्तु को चाहता है उसका सकेत कर उसके उपयोग को भी सकेत से बताता है–यदि वह लड्डू खाना चाहता है तो एक हाथ की पाँचो उगलियो के पोरो को ऊपर ऐसे मिलायेगा कि हथेली और अगुलियो के बीच ऐसा गोल स्थान हो जाय कि उसमे एक लड्डू समा सके, फिर उसे वह मुँह से लगायेगा—इसका अर्थ होगा–'मैं लड्डू खाऊगा'। इसमे एक प्रकार से चित्र प्रक्रिया ही कार्य कर रही है। हाथ की आकृति लड्डू का चित्र है, उसे मुख से लगाना लड्डू को मुँह मे रखने का चित्र है। गूँगों की भाषा चित्र सकेत-भाषा है।

मनुष्य ने चित्र बनाना तो आदिम से आदिम स्थिति मे ही सीख लिया था। प्रतीत यह होता है कि उन चित्रों का वह आनुष्ठानिक टोने के रूप मे प्रयोग करता था।

फिर वह चित्र बनाकर अन्य बातें भी दर्शित करने लगा। इस प्रयत्न से चित्र-लिपि का आरम्भ हुआ। इस प्रकार से देखा जाय तो चित्रलिपि का आधार वाणी, बोली या भाषा नही, वस्तुबिम्ब ही है। वस्तुबिम्ब को रेखाओ मे अनुकृत करने से चित्र बनता है। आदिम अवस्था मे ये रेखाचित्र स्थूल प्रतीक के रूप में थे। उसने देखा कि मनुष्य के सबसे ऊपर गोल सिर है, अतएव उसकी अनुकृति के लिए उसकी दृष्टि से चिह्न एक-वृत्त ○ होगा। यह सिर गरदन से जुडा हुआ है, गरदन कन्धे से जुडी है। यह उसे एक '|' छोटी सीधी खडी रेखा-सी लगी। कन्धा भी उसे पडी सीधी रेखा के समान दिखायी दिया

'—' । इसके दोनो छोरो पर दो हाथ जो कुहनी से मुड सकते हैं और छोर पर पाँच अँगुलियाँ अर्थात् प्रस्तुत चित्र।
धड को उसने दो रेखाओं से बने डमरू के रूप मे समझा क्योंकि कमर पतली, वक्ष और उरु चौडे X = धड । कभी कभी धड को वर्गाकार या आयताकार भी बनाया । नीचे पैर और टागे । इन्हे बनाने के लिए दो आडी खडी रेखाएँ '//' और एक दिशा मे मुडे पैर की द्योतक दो पडी रेखाएँ '—' '—' । मानव के बिम्ब की रेखानुकृति ने यह रूप लिया

(चित्र–1)
यह रेखा-चित्र तो प्रक्रिया को समझाने के लिए है

यह रेखाकन की प्रक्रिया है जिसमे चित्र बनावे वाले की कुशलता से रूप मे भिन्नता आ सकती है पर जो भी रूप होगा, वह स्पष्टत से उस वस्तु का बिम्ब प्रस्तुत करेगा, यथा–
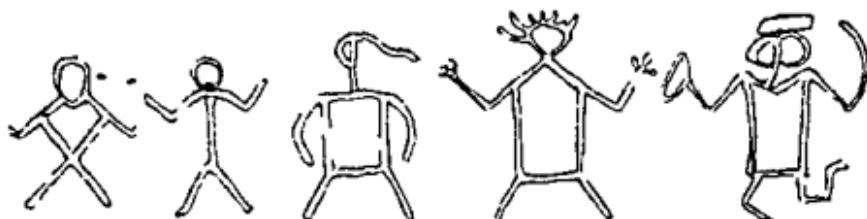
(चित्र–2)
आदिम मानव के बनाये चित्र हैं। वर्गाकार धड द्रष्टव्य है।

2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15

1

(चित्र–3)
चित्रलिपि में मनुष्य के विविध रेखांकन सिन्धुघाटी की मुहरो की छापो से नीचे दिये गए हैं। ये वास्तविक लिपि-चिह्न हैं।

भागते कुत्ते को बताने के लिए वह कुत्ते को भागने की मुद्रा मे रेखांकित करने का प्रयत्न करेगा। भले ही उसके पास अभी कुत्ते के लिए वाणी या भाषा में कोई शब्द न हो, न भागने के लिए ही कोई शब्द हो। चित्रलिपि इस प्रकार भाषा के जन्म से पूर्व की सकेत लिपि की स्थानापन्न हो सकती थी। चित्रलिपि के लिए केवल वस्तुबिम्ब अपेक्षित था।

इतिहास से भी हमे यही विदित होता है कि चित्रलिपि ही सबसे प्राचीन लिपि है। आनुष्ठानिक टोने के चित्रो से आगे बढ़कर उसने चित्रलिपि के माध्यम से वस्तुबिम्बो की रेखाकृतियाँ पैदा की तथा आनुष्ठानिक उत्तराधिकार मे देवी-देवताओ के काल्पनिक मूर्तरूपो या बिम्बो की अनुकृतियो का उपयोग भी किया। मिस्र की चित्रलिपि इसका एक अच्छा उदाहरण है। इसके सम्बन्ध मे 'एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड ऐथिक्स" मे उल्लेख है कि चित्रमय प्रत्याभिव्यक्ति अपने आप मे अभिव्यक्ति की समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे असमर्थ थी। अभिव्यक्ति की यह प्रतिबन्धना विचार और भाषा के द्वारा प्रस्तुत की गई थी। इन प्रतिबन्धनाओ के कारण बहुत पहले ही चित्रमय प्रत्याभिव्यक्ति दो भिन्न शाखाओ मे बँट गयी। एक सजावटी कला और दूसरी चित्राक्षरिक लेखन (जर्नल ऑव ईजिप्ट, आर्कोलाजी, II [1915], 71-75)। इन दोनो शाखाओं का विकास साथ-साथ होता गया और एक-दूसरे मे मिलकर भी निरन्तर विकास मे सहायक होती गई। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि एक ने दूसरे के क्षेत्र मे भी हस्तक्षेप किया।[1]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दो प्रक्रियाओ के योग से मिस्र की प्राचीन लिपि अपना रूप ग्रहण कर रही थी। चित्रों से विकसित होकर ध्वनि के प्रतीक के रूप मे लिपि का विकास एक जटिल प्रक्रिया का ही परिणाम हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि 'चित्र' दृश्य वस्तुबिम्ब से जुड़े होते हैं। इन वस्तुबिम्बो का ध्वनि से सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। वस्तु को नाम देने पर चित्र ध्वनि से जुड़ता है। पर नाम कई ध्वनियो से युक्त होता है, इधर ध्वनि-समुच्चय में से एक ध्वनि-विशेष को उस वस्तुबिम्ब के चित्र से जोड़ना और चित्र का विकास वर्ण (letter) के रूप मे होना, — इतना हो चुकने पर ही ध्वनि और लिपि वर्ण परस्पर सम्बद्ध हो सकेंगे और 'लिपि-वर्ण' आगे चलकर मात्र एक ध्वनि का प्रतीक हो सकेगा। यह तो इस विकास का बहुत स्थूल विवरण है। वस्तुत इन प्रक्रियाओ के अन्तराल मे कितनी ही जटिलताएँ गुँथी रहती हैं।

पर आज तो सभी भाषाएँ 'ध्वनि मूलक' हैं किन्तु पाडुलिपि वैज्ञानिक को तो कभी प्राचीनतम लिपि का या किसी लिपि के पूर्व रूप का सामना करना पड़ सकता है। उसके सामने मिस्र के पेपीरस या सकते हैं। साथ ही भारत मे 'सिन्धु लिपि' के लेख आना तो बड़ी बात नहीं। सिन्धु की एक विशेष सभ्यता और संस्कृति स्वीकार की गयी है। नये अनुसन्धानों से 'सिन्धु सभ्यता' के स्थल राजस्थान एव मध्य भारत तथा अन्यत्र भी मिल रहे हैं और उनकी लिपि के लेख भी मिल रहे हैं। तो ये लेख कभी भी पांडुलिपि-वैज्ञानिक

1. The inability of pictorial representation, as such, to meet all the exigencies of expression imposed by thought and language early led to its bifurcation into the two separate branches of illustrative art and hieroglyphic writing (Journal of Egypt Archeology, II [1915] 71-75) These two branches persued their development *pari passu* and in constant combination with one another, and it not seldom happened that one of them encroached upon the domain of its fellow —Encyclopaedia of Religion and Ethics (Vol IX), p 787

के सामने आ सकते हैं। अत: यह अपेक्षित है कि वह विश्व में लिपियों के उद्भव व विकास के सिद्धान्तों से परिचित हो।

चित्र

आदिम मानव ने पहले चित्र बनाए। चित्र उसने गुफाओं में बनाए। गुफाओं में ये चित्र अँधेरे स्थान में गुफा की भित्ति पर बनाये हुए मिलते हैं। इन चित्रों में वस्तु-बिम्ब को रेखाओं के द्वारा अंकित किया गया है। आदिम मानव के ये चित्र 20,0000 ई. पू से 4000 ई पू के बीच के मिलते हैं।

इन चित्रों को बनाते-बनाते उसमें यह भाव विकसित हुआ होगा कि इन चित्रों से वह अपनी किसी बात को सुरक्षित रख सकता है और ये चित्र परस्पर किसी बात के सम्प्रेषण के उपयोग में लिए जा सकते हैं। इस बोध के साथ चित्रों का उपयोग करने से ही वे चित्र 'लिपि' का काम देने लगे। यह लिपि 'बिम्ब-लिपि' थी। कई वस्तु-बिम्बों को एक क्रम में प्रस्तुत कर, उनसे उनमें निहित गति या कार्य से भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया। यह बिम्ब लिपि चित्रलिपि की आधारभूमि मानी जा सकती है।

जब मानव बहुत-सी बातें कहना चाहता था, वह उन्हें उस माध्यम से प्रस्तुत करना चाहता था, जो चित्रों के आभास से उसे मिल गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि वस्तु-बिम्ब छोटे बनाए जाने लगे, जिससे बहुत-से बिम्ब-चित्र सीमित स्थान में आ सकें और उसकी विस्तृत बात को प्रस्तुत कर सकें।

अत लेखन और लिपि के लिए प्रथम चरण है 1. बिम्ब अंकन

देखिए—ये चित्र[1]
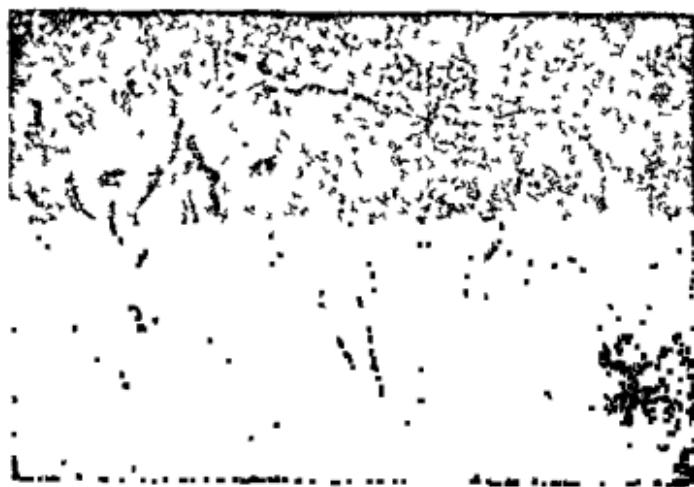
द ला ग्रेज जंगली बैल (प्रस्तर युग)

1 यह चित्र 30,000 से 10,000 ई० पू० के हैं। Much research in this field has been done in recent years, and we now have a fairly definite knowledge of the art of some of the most primitive of men known to the anthropologist (from 30 000 to 10,000 B C)

—The Meaning of Art, p. 53

बुशमैन-चित्र, दो शैलीबद्ध हिरण,
ग्रं ण्डवर्ग, दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका

'बनियाबेरी गुफा' (पचमढ़ी-क्षेत्र) में गो-पंक्ति के ऊपर ग्रंकित स्वास्तिक पुष्प

और दूसरा चरण है उससे सप्रेषण का काम लेना। इसे हम—

2 बिब लिपि का नाम दे सकते हैं।

इस चित्र से स्पष्ट है कि स्वस्तिव पूजा और छत्र अर्पण के पूरे शान्तिमय भाव को प्रेषित करने के लिए पूजा भाव मे पशुओ के आदर के समावेश की कथा को और पूजा-विधान को हृदयगम कराने के लिए चित्र लेखक इस चित्र के द्वारा विम्बो से सप्रेषित करना चाहता है। अत यह लिपि का काम कर उठा है। यह लिपि ध्वनियो की ,नही, बिम्बों की है। छत्रधारी मनुष्य कितने ही हैं, अत वे लघु आकृतियो मे हैं।

'बिम्ब' धीरे-धीरे रेखाकारो के रूप मे परिवर्तित हो उठता है। तब हम इसे

3 रेखाकार चित्र लिपि कह सकते हैं।

महनर्तन, जम्बूद्वीप (पचमढी) आरोही नर्तक, कुप्पगल्लु (वेलारी, रायचूर, द०भा०)

4–तब, आगे बिम्ब-लिपि और रेखाचित्र-लिपि के सयोग से 'चित्रलिपि' प्रस्तुत हुई।

[ऐरिजोना (अमेरिका) म प्राप्त चित्र लिपि, जो प्राचीनतम लिपियो मे से एक है]

'चित्रलिपि' मे प्राय रेखाकारो मे छोटे-छोटे चित्रो द्वारा संप्रषण सिद्ध होता था। इसी लिपि का नाम 'हिम्ररोग्लाफिक' लिपि है। यह मिस्र की पुरातन लिपि है। कैलीफोर्निया और एरिजोना मे भी चित्र लिपि मिली है। ये भी प्राचीनतम लिपियाँ मानी जाती हैं। ऐस्किमो जाति और अमेरिकन इण्डियनो की चित्र लिपि को ही सबसे प्राचीन माना जाता है।

मिस्र के अलावा हिट्टाइट, माया (मय ?) और प्राचीन क्रीट मे भी चित्रलिपि या हिम्ररोग्लाफ मिले हैं।

हिम्ररोग्लाफ का अर्थ मिस्री-भाषा मे होता है, 'पवित्र अंकन', इसे यूनानियों ने 'दैवी शब्द' (Gods Words) भी कहा है। स्पष्ट है कि इस लिपि का उपयोग मिस्र मे धार्मिक अनुष्ठानो मे होता रहा होगा।

इस चित्रलिपि का मिस्र मे उदय 3100 ई० पू० से पहले हुआ होगा।

पहले विविध वस्तु बिम्बो के रेखाकारो को एकसाथ ऐसे सजोया गया कि उसका 'कथ्य-दृश्य' पाठक की समझ में आ जाय। इसमे जन जन द्वारा मान्य बिम्ब लिए गये। ये चित्रलिपि कभी-कभी बहुत निजी उद्भावना भी हो सकती है, इस स्थिति में ऐसे चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं जिनकी आकृतियाँ सर्वमान्य नही होती।

फिर भी, इस भाषा मे अधिकाश बहुमान्य बिम्ब आकृतियों का उपयोग ही होता है। इन्हीं के कारण यह लिपि इस रूप मे आगे विकास कर सकी।

पहली स्थिति मे एक बिम्ब चित्र उस वस्तु का ही ज्ञान कराता था, जैसे '☉' यह बिम्बाकार सूर्य के लिए गृहीत हुआ। मनुष्य एक घुटने पर बैठा, एक घुटना ऊपर उठा हुआ और मुँह पर लगा हुआ हाथ—इस आकृति का अर्थ था 'भोजन करना'।

इसका विकास इस रूप मे हुआ कि वही पहला चित्र एक वस्तु बिम्ब का अर्थ न देकर उसी से सम्बद्ध अन्य अर्थ भी देने लगा—जैसे ☉ इसका अर्थ केवल सूर्य नही रहा, वरन् सूर्य का 'देवता' रे (Re) या रा (Ra) भी हो गया और 'दिन' भी। इसी प्रकार 'मुख पर हाथ' वाली मानवाकृति का एक अर्थ 'चुप' भी हुआ। स्पष्ट है कि इस विकास मे मूर्ताकृति वस्तुबिम्ब के यथार्थ से हटकर प्रतीक का रूप ग्रहण कर रहे विदित होते हैं।

वे बाद मे इस चित्रलिपि के चित्राकार ध्वनि प्रतीको का काम देने लगे।

इस अवस्था म चित्रो के माध्यम से मनुष्य जो भी अभिव्यक्त कर रहा था, वह भाषा का ही प्रतिरूप था। प्रत्येक चित्रकार के लिए एक बिम्ब चित्र एक शब्द था। कुछ चित्राकार जब व्यजन-ध्वनियो के प्रतीक बने तो वे उस शब्द के प्रथमाक्षर की ध्वनि से जुडे रहे। जैसे 'श्रृङ्गीसर्प'[1] के लिए शब्द था 'फत' (fi)। इसकी प्रथम ध्वनि 'फ्' से यह 'श्रृङ्गीसर्प' जुडा रहा। अर्थात् 'श्रृङ्गीसर्प' अब 'फ' व्यजन की ध्वनि के लिए 'वर्ण' का काम कर उठा था।

इस प्रकार हमने देखा कि हम विकास मे 'लिपि', जिसका अर्थ है 'ध्वनि-प्रतीक' वाली वर्णमाला, ऐसी लिपि की ओर हम दो कदम आगे बढ़े।

5 प्रतीक चित्राकृति—चित्रलिपि मे आगे स्थूल चित्र जब प्रतीक होकर उस मूल बिम्बाकृति द्वारा उससे सम्बन्धित दूसरे अर्थ भी देने लगे तब वह प्रतीक अवस्था मे पहुँची।

1. श्रृंगीसर्प=सींग वाला साँप।

अब चित्रलिपि के चित्र केवल चित्र ही नहीं रहे, वे प्रतीक हो गए। इसे भावमूलक या (diographic) भी कहा जाता है। ये ही आगे विकसित होकर—
6. ध्वनि प्रतीक हो गए। अब 'शृङ्गीसर्प', शृङ्गीसर्प नहीं रहा वह वर्णमाला की व्यंजन ध्वनि 'फ' का चिह्न हो गया। इस प्रकार चित्रलिपि ध्वनि की वर्णमाला की ओर अग्रसर हुई। किन्तु, चित्र ध्वनि-प्रतीक बने, अपने चित्र रूप को उसने फिर भी कुछ काल तक सुरक्षित रखा, पर अब तो वे लिपि का रूप ग्रहण कर रहे थे। अतएव अधिकाधिक उपयोग में आने के कारण उनकी आकृति में भी विकास हुआ। अब एक मध्यावस्था आयी। इसमें चित्र भी रहे, और चित्रों से विकसित वे ध्वनि-प्रतीक भी सम्मिलित हुए जो चित्रों से वर्ण-चिह्नों के रूप में परिणत हो रहे थे।

इसी वर्ग में वह भाषा भी आती है जिसमें वर्णमाला न होकर शब्द-माला होती है, और उन्हीं से अपने विविध भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द-रूप बनाये जाते हैं।

7 अब वह विकसित स्थिति आयी जहाँ 'चित्र' पीछे छूट गये, ध्वनि-चिह्न मात्र काम में आने लगे। अब लिपि पूर्णत ध्वनि-मूलक हो गयी।

ध्वनिमूलक वर्णमाला के दो भेद होते है :

एक—अक्षरात्मक (Syllable)

दूसरी—वर्णात्मक (alphabetic)

देवनागरी वर्णमाला अक्षरात्मक है क्योंकि 'क'='क्+अ', अत यह अक्षर या Syllabic है। रोमन वर्णमाला वर्णात्मक है क्योंकि K=क् जो वर्ण या (alphabet) है। हिन्दी की 'क' ध्वनि के लिए रोमन वर्ण K में a मिलाना होता है : क=Ka। इसमें 'a'=अ।

आज विश्व मे हमे तीन प्रकार की लिपियाँ मिलती हैं—

एक—वे जिनमे एक लिपि-चिह्न एक शब्द का द्योतक होता है। यह चित्र लिपि का अवशेष है या प्रतिस्थानापन्न है।

दूसरी—वे, जो अक्षरात्मक हैं, तथा

तीसरी—वे जो वर्णात्मक हैं।

पर, ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि चित्रलिपि का उपयोग अब नहीं होता। अमरीका की एक आदिम जाति की चित्रलिपि का एक उदाहरण डॉ० भोलानाथ तिवारी ने अपने ग्रन्थ मे दिया है—
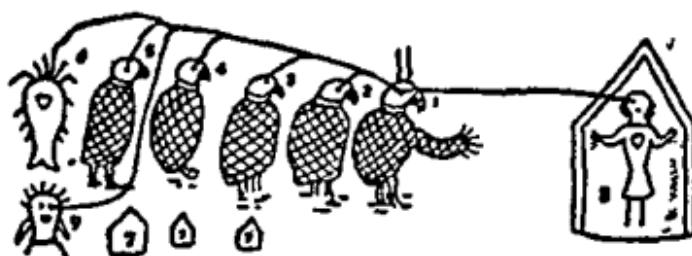
चित्र लिपि (रेड इंडियन सरदार का संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति के नाम पत्र)

हमने यहाँ चित्र से चलकर ध्वनि-मूलक लिपियो तक के विकास की चर्चा अत्यत सक्षेप में और अत्यन्त स्थूल रूप मे की है, ऐसा हमने यह जानने के लिए किया है कि लिपि-विकास की कौन-कौनसी स्थितियाँ रही हैं और उनसे लिपि विकास के कौन-कौनसे स्थूल सिद्धान्तो का ज्ञान होता है। वस्तुत पाडुलिपि-वैज्ञानिक के लिए लिपि-विकास को जानना केवल इसीलिए अपेक्षित है कि इससे विविध लिपियो से परिचित होने मे और किसी भी लिपि के उद्घाटन मे परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सहायता मिल सकती है।

इस दृष्टि से कुछ और बातें भी जानने योग्य हैं। यथा, एक यह कि लिपियाँ सामान्यत तीन रूपो मे लिखी जाती है—(1) दायें से बायी ओर–जैसे फारसी लिपि (2) बायें से दायी ओर जैसे, देवनागरी या रोमन, और (3) ऊपर से नीचे की ओर–यथा, 'चीनी' लिपि। किसी भी अज्ञात लिपि के उद्घाटन (decipher) या पठन के लिए यह जानना प्रथम आवश्यकता है कि वह लिपि दायें से बायें, बाये से दायें या ऊपर से नीचे की ओर लिखी गयी है। वस्तुत यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन काल मे मिस्र की चित्रलिपि मे, और भारत की प्राचीन देवनागरी म हम दायें से बायें और बायें से दायें दोनो रूपो मे लिखने के उदाहरण मिल जाते हैं, और एकाध ऐसे भी कि एक पक्ति बायें से दायें और दूसरी दायें से बायें हो, पर आज यह द्वैत किसी भी लिपि मे शेष नही रह गया। हाँ, प्राचीनकाल की लिपि को पढने के लिए लिपि के इस रूप को भी ध्यान मे रखना होगा।

अज्ञात लिपियो को पढने (उद्घाटन) के प्रयास

हम यह जानते हैं कि हिन्दी की वर्णमाला या लिपि का विकास अशोक कालीन लिपि से हुआ। आज भारत के पुरातत्व-वेत्ताओ मे ऐसे लिपि-ज्ञाता हैं जो भारत मे प्राप्त सभी लिपियों को पढ सकत हैं। हाँ, 'सिन्धु-लिपि' अब भी अपवाद है। इसे पढने के कितने ही प्रयत्न हुए हैं पर सभी सुझाव के या प्रस्ताव के रूप मे ही है। किन्तु एक समय ऐसा भी था कि प्राचीन लिपियो को पढने वाला कोई था ही नही। फिरोजशाह तुगलक ने एक विशाल अशोक-स्तम्भ मेरठ स दिल्ली मगवाया कि उस पर खुदा लेख पढवाया जा सके। पर कोई उसे नही पढ सका। वह उसने एक भवन पर खडा कर दिया। इन स्तम्भो को कही-कहीं लालबुझक्कड लोग भीम का गिल्ली डण्डा आदि भी बता देते थे। लिपियो के सम्बन्ध मे यह अन्धकार-युग था। फिर आधुनिक युग मे भारत की लिपियो को कैसे पढा जा सका। इसका रोचक विवरण मुनि जिनविजय जी के शब्दा मे पढिये —

"इस प्रकार विभिन्न विद्वानो द्वारा भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तो विषयक ज्ञान प्राप्त हुआ और बहुत-सी वस्तुए जानकारी मे आई परन्तु प्राचीन लिपियो का स्पष्ट ज्ञान अभी तक नही हो पाया था। अत भारत के प्राचीन ऐतिहासिक ज्ञान पर अभी भी अन्धकार का आवरण ज्यो का त्यो पडा हुआ था। बहुत से विद्वानो ने अनेक पुरातन सिक्को और शिलालेखो का सग्रह तो अवश्य कर लिया था परन्तु प्राचीन लिपि-ज्ञान के अभाव मे वे उस समय तक उसका कोई उपयोग न कर सके थे।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के प्रथम अध्याय का वास्तविक रूप मे आरम्भ 1837 ई० मे होता है। इस वर्ष मे एक नवीन नक्षत्र का उदय हुआ जिससे भारतीय पुरातत्त्व विद्या पर पडा हुआ पर्दा दूर हुआ। ऐशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के दिन से

1834 ई० तक पुरातत्त्व सम्बन्धी वास्तविक काम बहुत थोडा हो पाया था, उस समय तक केवल कुछ प्राचीन ग्रन्थो का अनुवाद ही होता रहा था। भारतीय इतिहास के एक मात्र सच्चे साधन रूप शिलालेखो सम्बन्धी कार्य तो उस समय तक नही के बराबर ही हुआ था। इसका कारण यह था कि प्राचीन लिपि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना अभी बाकी था।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि सस्कृत भाषा सीखने वाला पहला अग्रेज चार्ल्स विल्किन्स् था और सबसे पहले शिलालेख की ओर ध्यान देने वाला भी वही था। उसी ने 1785 ई० मे दीनाजपुर जिले मे बदाल नामक स्थान के पास प्राप्त होने वाले स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख को पढा था। यह लेख बगाल के राजा नारायणलाल के समय मे लिखा गया था। उसी वर्ष मे, राधाकांत शर्मा नामक एक भारतीय पण्डित ने टोमरा वाले दिल्ली के अशोक स्तम्भ पर खुदे हुए अजमेर के चौहान राजा अनलदेव के पुत्र बीसलदेव के तीन लेखो को पढ़ा। इनमे से एक लेख की भित्ति 'सवत् 1220 बैशाख सुदी 5' है। इन लेखो की लिपि बहुत पुरानी न होने के कारण सरलता से पढी जा सकी थी। परन्तु उसी वर्ष जे० एच० हेरिंग्टन ने बुद्धगया के पास वाली नागार्जुनी और बराबर की गुफाओ मे से मौखरी वश के राजा अनन्त वर्मा के तीन लेख निकलवाये जो ऊपर वर्णित लेखो की अपेक्षा बहुत प्राचीन थे। इनकी लिपि बहुत अशो म गुप्तकालीन लिपि से मिलती हुई होने के कारण उनका पढा जाना अति कठिन था। परन्तु, चार्ल्स विल्किन्स् ने चार वर्ष तक कठिन परिश्रम करके उन तीनो लेखो को पढ लिया और साथ ही उसने गुप्त लिपि की लगभग आधी वर्णमाला का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया।

गुप्तलिपि क्या है, इसका थोडा सा परिचय यहां करा देता हूँ। आजकल जिस लिपि को हम देवनागरी (अथवा बालबोध) लिपि कहते हैं उसका साधारणतया तीन अवस्थाओ मे से प्रसार हुआ है। वर्तमान काल मे प्रचलित आकृति से पहले की आकृति कुटिल लिपि के नाम से कही जाती थी। इस आकृति का समय साधारणतया ईस्वीय सन् की छठी शताब्दी से 10 वी शताब्दी तक माना जाता है। इससे पूर्व की आकृति गुप्त-लिपि के नाम से कही जाती है। सामान्यत इसका समय गुप्त-वश का राजत्वकाल गिना जाता है। अशोक के लेख इसी लिपि मे लिखे गये हैं। इसका समय ईसा पूर्व 500 से 350 ई० तक माना जाता है।

सन् 1818 ई० से 1823 ई० तक कर्नल जेम्स टॉड ने राजपूताना के इतिहास की शोध-खोज करते हुए राजपूताना और काठियावाड मे बहुत-से प्राचीन लेखो का पता लगाया। इनमे से सातवीं शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक के अनेक लेखो को तो उक्त कर्नल साहब के गुरु यति ज्ञानचन्द्र ने पढा था। इन लेखो का साराश अथवा अनुवाद टॉड साहब ने अपने 'राजस्थान'[1] नामक प्रसिद्ध इतिहास मे दिया है।

सन् 1828 ई० मे बी० जी० बेबिंग्टन ने मागलपुर के कितने ही सस्कृत और तामिल लेखों को पढ़कर उनकी वर्णमाला तैयार की। इसी प्रकार वाल्टर इलियट ने प्राचीन कनाडी अक्षरों का ज्ञान प्राप्त करके उसकी विस्तृत वर्णमाला प्रकाशित की।

ईस्वी सन् 1834 मे केप्टेन ट्रॉयर ने प्रयाग के अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण गुप्त-वशी राजा समुद्रगुप्त के लेख का बहुत-सा अश पढ़ा और फिर उसी वश मे डॉ० मिले ने

1. इसका वास्तविक नाम है—एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान।

उस सम्पूर्ण लेख को पढकर 1837 ई० मे भिटारी के स्तम्भ वाला स्कन्दगुप्त का लेख भी पढ़ लिया।

1835 ई० मे डब्ल्यू एम. वॉथ ने वलभी के कितने ही दानपत्रो को पढ़ा।

1837-38 ई० मे जेम्स प्रिसेप ने दिल्ली, कुमाऊँ और ऐरन के स्तम्भो एव अमरावती के स्तूपो तथा गिरनार के दरवाजो पर खुदे हुए गुप्तलिपि के बहुत-से लेखो को पढा।

साँची-स्तूप के चन्द्रगुप्त वाले जिस महत्त्वपूर्ण लेख के सम्बन्ध मे प्रिसेप ने 1834 ई० मे *लिखा था कि ,'पुरातत्व के अभ्यासियो को अभी तक भी इस बात का पता नही* चला है कि साँची के शिलालेखो मे क्या लिखा है।" उसी विशिष्ट लेख को यथार्थ अनुवाद सहित 1837 ई० मे प्रयुक्त करने मे वही प्रिसेप साहब सम्पूर्णत सफल हुए।

अब, बहुत-सी लिपियो की आदि जननी ब्राह्मी लिपि की बारी आयी। गुप्तलिपि से भी अधिक प्राचीन होने के कारण इस लिपि को एकदम समझ लेना कठिन था। इस लिपि के दर्शन तो शोधकर्त्ताओ को 1795 ई० म ही हो गये थे। उसी वर्ष सर चार्ल्स मैलेट ने एलोरा की गुफाओ के कितने ही ब्राह्मी लेखो की नकलें सर विलियम जम्स के पास भेजी। उन्होने इन नकलो को मेजर विल्फोर्ड के पास, जो उस समय काशी म थे, इसलिए भेजा कि व इनको अपनी तरफ से किसी पण्डित द्वारा पढवावें। पहले तो उनको पढने वाला कोई पण्डित नही मिला, परन्तु फिर एक चालाक ब्राह्मण ने कितनी ही प्राचीन लिपियो की एक कृत्रिम पुस्तक बेचारे जिज्ञासु मजर साहब को दिखलाई और उन्ही के आधार पर उन लेखो को गलत-सलत पढकर खूब दक्षिणा प्राप्त की। विल्फोर्ड साहब ने उस ब्राह्मण द्वारा कल्पित रीति से पढ़े हुए उन लेखो पर पूर्ण विश्वास किया और उसके समझाने के अनुसार ही उनका अग्रेजी मे भाषान्तर करके सर जेम्स के पास भेज दिया। इस सम्बन्ध मे मेजर विल्फोर्ड ने सर जेम्स को जो पत्र भेजा उसमे बहुत उत्सुकतापूर्वक लिखा है कि "इस पत्र के साथ कुछ लेखो की नकलें उनके साराश सहित भेज रहा हूँ। पहले तो मैंने इन लेखो के पढे जाने की आशा बिल्कुल ही छोड दी थी, क्योकि हिन्दुस्तान के इस भाग मे (बनारस की तरफ) पुराने लेख नही मिलते है, इसलिए उनके पढने की कला मे बुद्धि का प्रयोग करने अथवा उनकी शोध-खोज करन की आवश्यकता ही नही पडती। यह सबकुछ होते हुए भी और मेरे बहुत-से प्रयत्न निष्फल चले जाने पर भी अन्त में सौभाग्य से मुझे एक वृद्ध गुरु मिल गया जिसने इन लेखो को पढन की कुञ्जी बताई और प्राचीनकाल मे भारत के विभिन्न भागों मे जो लिपियाँ प्रचलित थी उनके विषय मे एक सस्कृत पुस्तक मेरे पास लाया। निस्सन्देह, यह एक सौभाग्य सूचक शोध हुई है जो हमारे लिए भविष्य मे बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।" मेजर विल्फोर्ड की इस 'शोध' के विषय मे बहुत वर्षों तक किसी को कोई सन्देह नही हुआ क्योकि सन् 1820 ई० मे खडगिरि के द्वार पर इसी लिपि मे लिखे हुए लेख के सम्बन्ध में स्टर्लिंग ने लिखा है कि "मेजर विल्फोर्ड ने प्राचीन लेखो को पढने की कुञ्जी एक विद्वान ब्राह्मण से प्राप्त की और उनकी विद्वत्ता एव बुद्धि से इलोरा व शालसेट के इसी लिपि मे लिखे हुए लेखो के कुछ भाग पढे गये। इसके पश्चात् दिल्ली तथा अन्य स्थानो के ऐसे ही लेखो को पढने मे उस कुञ्जी का कोई उपयोग नही हुआ, यह शोचनीय है।"

सन् 1833 ई० मे मि० प्रिन्सेप ने सही कुञ्जी निकाली। इससे लगभग एक वर्ष

पूर्व उन्होंने भी मेजर विल्फोर्ड की कुञ्जी का उपयोग न करने की बाबत दुःख प्रकट किया था। एक शोधकर्त्ता जिज्ञासु विद्वान को ऐसी बात पर दुःख होना स्वाभाविक भी है। परन्तु उस विद्वान ब्राह्मण की बताई हुई कुञ्जी का अधिक उपयोग नहीं हुआ, इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योकि जिस प्रकार शोध-खोज के दूसरे कामो मे मेजर विल्फोर्ड की श्रद्धा का श्राद्ध करने वाले चालाक ब्राह्मण के धोखे मे वे आ गये इसी प्रकार इस विषय मे भी वही बात हुई। कुछ भी हुआ हो, यह तो निश्चित है कि मेजर विल्फोर्ड के नाम से कहलाने वाली सम्पूर्ण खोज भ्रमपूर्ण थी। क्योकि उनका पढा हुआ लेख-पाठ कल्पित था और तदनुसार उसका अनुवाद भी वैसा ही निर्मूल था–युधिष्ठिर और पाण्डवो के वनवास एव निर्जन जगलो मे परिभ्रमण की गाथाओ को लेकर ऐसा गडबड-घोटाला किया गया है कि कुछ समझ मे नहीं आता। उस धूर्त ब्राह्मण के बताए हुए ऊटपटाँग अर्थ का अनुसधान करने के लिए विल्फोर्ड ने ऐसी कल्पना कर ली थी कि पाण्डव अपने वनवासकाल मे किसी भी मनुष्य के ससर्ग मे न आने के लिए वचनबद्ध थे। इसलिए विदुर, व्यास आदि उनके स्नेही सम्बन्धियो ने उनको सावधान करने की सूचना देते रहने के लिए ऐसी योजना की थी कि वे जगलो मे, पत्थरो और शिलाओ (चट्टानो) पर थोडे-थोडे और साधारणतया समझ मे न आने योग्य वाक्य पहले ही से निश्चित की हुई लिपि मे सकेत रूप से लिख-लिख कर अपना उद्देश्य पूरा करते रहते थे। अग्रेज लोग अपने को बहुत बुद्धिमान मानते हैं और हसते-हसते दुनियाँ के दूसरे लोगो को ठगने की कला उनको याद है परन्तु वे भी एक बार तो भारतवर्ष की स्वर्गपुरी मानी जाने वाली काशी के 'वृद्ध गुरु' के जाल मे फँस ही गये, अस्तु।[1]

एशियाटिक सोसाइटी के पास दिल्ली और इलाहाबाद के स्तम्भो तथा खण्डगिरी के दरवाजो पर के लेखो की नकलें एकत्रित थी, परन्तु विल्फोर्ड साहब की 'शोध' निष्फल चली जाने के कारण कितने ही वर्षों तक उनके पढने का कोई प्रयत्न नही हुआ। इन लेखो के मर्म को जानने की उत्कट जिज्ञासा को लिए हुए मिस्टर जेम्स प्रिंसेप ने 1834-45 ई० में इलाहाबाद, रधिया और मथिआ के स्तम्भो पर उत्कीर्ण लेखो की छापें मगवायी और उनको दिल्ली के लेख के साथ रखकर यह जानने का प्रयत्न किया कि उनमे कोई शब्द एक सरीखा है या नहीं। इस प्रकार उन चारो लेखो को पास-पास रखने से उनको तुरन्त ज्ञात हो गया कि ये चारो लेख एक ही प्रकार के हैं। इससे प्रिंसेप का उत्साह बढा और उनकी जिज्ञासा पूर्ण होने की आशा बँध गई। इसके पश्चात् उन्होने इलाहाबाद स्तम्भ के लेख के भिन्न-भिन्न आकृति वाले अक्षरो को अलग-अलग छाँट लिया। इससे उनको यह बात मालूम हो गयी कि गुप्त लिपि के अक्षरो की भाँति इसमे भी कितने ही अक्षरो के साथ स्वरो की मात्राओ के भिन्न-भिन्न पाँच चिह्न लगे हुए है। इसके बाद उन्होंने पाँचो चिह्नो को

1 ऐसी ही एक घटना इतिहास मे नैपोलियन के समय मे हुई थी। उस समय मिस्री फराऊनो की लिपि पढ़ने के प्रयास हो रहे थे। फ्रान्स में शापोंलियो नाम का विद्वान इस लिपि के उद्घाटन मे सलग्न थे। इसी समय शापोलियो को एक पुस्तक मिली जिसके लेखक ने यह दावा किया था कि उसने लिपि पढने की कुञ्जी ढूँढ ली है। पर वह कुञ्जी भी ठीक ऐसी ही काल्पनिक और निराधार थी जैसी काशी म 'वृद्ध गुरु ने भारतीय लिपियो के लिए निकाली थी। शापोलियो ने उसकी पोल तत्काल खोल दी थी अत वहाँ वह छल इतने समय तक नही चल सका जितने समय तक भारत मे चला।

एकत्रित करके प्रकट किया । इससे कितने ही विद्वानो का इन अक्षरो के यूनानी अक्षर होने सम्बन्धी भ्रम दूर हो गया ।

अशोक के लेखों की लिपि को देखकर साधारणतया अंग्रेजी अथवा ग्रीक लिपि की भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है । टॉम कोरिएट नामक यात्री ने अशोक के दिल्ली वाले स्तम्भ-लेख को देखकर एल. व्हीटर को एक पत्र मे लिखा था कि "मैं इस देश के दिल्ली नामक नगर म आया हूँ कि जहाँ पहले अलेक्जेण्डर ने हिन्दुस्तान के पोरस नामक राजा को हराया था और अपनी विजय की स्मृति मे एक विशाल स्तम्भ खडा किया था जो आज भी यहाँ पर मौजूद है ।" पादरी एडवर्ड टेरी ने लिखा है कि "टॉम कोरिएट ने मुझे कहा था कि उसने दिल्ली मे ग्रीक लेख वाला एक स्तम्भ देखा था जो अलेक्जेण्डर महान् की स्मृति मे वहाँ पर खडा किया गया था ।" इस प्रकार दूसरे भी कितने ही लेखको ने इस लेख को ग्रीक लेख ही माना था ।

उपर्युक्त प्रकार से स्वर-चिह्नों को पहचान लेने के बाद मि० जेम्स प्रिंसेप ने अक्षरो के पहचानने का उद्योग आरम्भ किया । उन्होंने पहले प्रत्येक अक्षर को गुप्त लिपि के अक्षरो के साथ मिलाने और मिलते हुए अक्षरो की वर्णमाला मे शामिल करने का क्रम अपनाया । इस रीति से बहुत-से अक्षर उनकी जानकारी मे आ गये ।

पादरी जेम्स स्टीवेन्सन् ने भी प्रिंसेप साहब की तरह इसी शोधन मे अनुरक्त होकर 'क' 'ज' 'थ' 'प' और 'व' अक्षरो को पहचाना और इन्ही अक्षरो की सहायता से पूरे लेखो को पढकर उनका अनुवाद करने का मनोरथ किया, परन्तु कुछ तो अक्षरो की पहचान मे भूल होने के कारण, कुछ वर्णमाला की अपूर्णता के कारण और कुछ इन लेखो की भाषा को सस्कृत समझ लेने के कारण यह उद्योग पूरा-पूरा सफल नही हुआ । फिर भी प्रिंसेप को इससे कोई निराशा नही हुई । सन् 1835 ई० मे प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ प्रो० लासेन ने एक ऑस्ट्रियन ग्रीक सिक्के पर इन्ही अक्षरो मे लिखा हुआ अँ गँ थाँ किलस का नाम पढ़ा । परन्तु 1837 ई० के आरम्भ मे मि० प्रिंसेप ने अपनी अलौकिक स्फुरणा द्वारा एक छोटा-सा 'दान' शब्द शोध निकाला जिससे इस विषय की बहुत-सी ग्रन्थियाँ एकदम सुलझ गई । इसका विवरण इस प्रकार है । ई० स० 1837 मे प्रिंसेप ने साँची स्तूप आदि पर खुदे हुए कितने ही छोटे-छोटे लेखो की छापो को एकत्रित करके देखा तो बहुत-से लेखो के अन्त मे दो अक्षर एक ही सरीखे जान पडे और उनके पहले 'स' अक्षर दिखाई पडा जिसको प्राकृत भाषा की छठी विभक्ति का प्रत्यय (सस्कृत 'स्य' के बदले) मानकर यह अनुमान किया कि भिन्न-भिन्न लेख भिन्न-भिन्न व्यक्तियो द्वारा किये हुए दानो के सूचक जान पडते हैं । फिर उन एक सरीखे दिखने वाले और पहचान मे न आने वाले दो अक्षरो मे से पहले के साथ 'ा' (आ की मात्रा) और दूसरे के साथ 'ं' (अनुस्वार चिह्न) लगा हुआ होने से उन्होने निश्चय किया कि यह शब्द 'दान' होना चाहिये । इस अनुमान के अनुसार 'द' और 'न' की पहचान होने से आधी वर्णमाला पूरी हो गयी और उसके आधार पर दिल्ली, इलाहाबाद, साँची, मेथिया, रधिया, गिरनार, धौरमी आदि स्थानो से प्राप्त अशोक के विशिष्ट लेख सरलतापूर्वक पढ लिये गये । इससे यह भी निश्चित हो गया कि इन लेखो की भाषा, जैसा कि अब तक बहुत-से लोग मान रहे थे, सस्कृत नही है वरन् तत्स्थानो मे प्रचलित देश-भाषा थी (जो साधारणतया उस समय प्राकृत नाम से विख्यात थी) ।

इस प्रकार ब्राह्मी लिपि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ और उसके योग से भारत के

प्राचीन से प्राचीनतम लेखो को पढ़ने मे पूरी सफलता मिली ।

अब, उतनी ही पुरानी दूसरी लिपि की शोध का विवरण दिया जाता है। इस लिपि का ज्ञान भी प्राय उसी समय मे प्राप्त हुआ था। इसका नाम खरोष्ठी लिपि है। खरोष्ठी लिपि आर्य लिपि नही है अर्थात् अनार्य लिपि है यह। सेमेटिक लिपि के कुटुम्ब की अरमेइक् लिपि से निकली हुई मानी जाती है। इस लिपि को लिखने की पद्धति फारसी लिपि के समान है अर्थात् यह दाँयें हाथ से बाँयी ओर को लिखी जाती है। यह लिपि ईसा से पूर्व तीसरी अथवा चौथी शताब्दी मे केवल पजाब के कुछ भागो मे ही प्रचलित थी। शहाबाजगढी और मन्सोरा के दरवाजो पर अशोक के लेख इसी लिपि में उत्कीर्ण हुए हैं। इसके अतिरिक्त शक, क्षत्रप, पार्थिअन् और कुषाणवशी राजाओ के समय के कितने बौद्ध लेखो तथा बाक्ट्रिअन, ग्रीक, शक, क्षत्रप आदि राजवशो के कितने ही सिक्को मे यही लिपि उत्कीर्ण हुई मिलती है। इसलिए भारतीय पुरातत्त्वज्ञो को इस लिपि के ज्ञान की विशेष आवश्यकता थी।

कर्नल जेम्स टॉड ने बाक्ट्रिअन्, ग्रीक, शक, पार्थिअन् और कुषाणवशी राजाओ के सिक्को का एक बडा सग्रह किया था। इन सिक्को पर एक ओर ग्रीक और दूसरी ओर खरोष्ठी अक्षर लिखे हुए थे। सन् 1830 ई० मे जनरल वेंटुरा ने मानिकिआल स्तूप को खुदवाया तो उसमे से खरोष्ठी लिपि के कितने ही सिक्के और दो लेख प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त अलेक्जेण्डर, बर्न्स आदि प्राचीन शोधको ने भी ऐसे अनेक सिक्के इकट्ठे किये थे जिनमे एक ओर के ग्रीक अक्षर तो पढे जा सकते थे परन्तु दूसरी ओर के खरोष्ठी अक्षरो के पढे जाने का कोई साधन नही था। इन अक्षरो के विषय मे भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ होने लगी। सन् 1824 ई० मे कर्नल टॉड ने कड्फिसेस् के सिक्के पर खुदे इन अक्षरो को ससेनिअन्' अक्षर बतलाया। 1833 ई० मे अपोलोडोटस् के सिक्के पर इन्ही अक्षरो को प्रिसेप ने 'पहलवी' अक्षर माना। इसी प्रकार एक दूसरे सिक्के की इसी लिपि तथा मानिकिआल के लेख की लिपि को उन्होने ब्राह्मी लिपि मान लिया और इसकी आकृति कुछ टेढी होने के कारण अनुमान लगाया कि जिस प्रकार छपी हुई और बही मे लिखी हुई गुजराती लिपि म अन्तर है उसी प्रकार अशोक के दिल्ली आदि के स्तम्भो वाली और इस लिपि मे अन्तर है। परन्तु बाद मे स्वय प्रिसेप ही इस अनुमान को अनुचित मानने लगे। सन् 1834 ई० म केप्टन कोर्ट को एक स्तूप मे से इसी लिपि का एक लेख मिला जिसको देखकर प्रिसेप ने फिर इन अक्षरो के विषय मे 'पहलवी' होने की कल्पना की। परन्तु उसी वर्ष मे मिस्टर मेसन नामक शोधकर्त्ता विद्वान ने अनेक ऐसे सिक्के प्राप्त किये जिन पर खरोष्ठी और ग्रीक दोनो लिपियो मे राजाओ के नाम अकित थे। मेसन साहब ने ही सबसे पहले मिनेंड्रो, ओपोलडोटो, अरमाइओ, वासिलिओ और सोट्रो आदि नामो को पढा था, परन्तु यह उनकी कल्पना मात्र थी। उन्होने इन नामो को प्रिसेप साहब के पास भेजा। इस कल्पना को सत्य का रूप देने का यश प्रिसेप के ही भाग्य मे लिखा था। उन्होंने मेसन साहब के सकेतो के अनुसार सिक्को को बाँचना आरम्भ किया तो उनमे से बारह राजाओ और सात पदवियो के नाम पढ़ निकाले।

इस प्रकार खरोष्ठी लिपि के बहुत से अक्षरो का बोध हुआ और साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि यह लिपि दाहिनी ओर से बायी ओर पढी जाती है। इससे यह भी निश्चय हुआ कि यह लिपि सेमेटिक वर्ग की है, परन्तु इसके साथ ही इसकी भाषा को, जो वास्तव

मे ब्राह्मी लेखों की भाषा के समान प्राकृत है, पहलवी मान लेने की भूल हुई। इस प्रकार ग्रीक लेखों की सहायता से खरोष्ठी लिपि के बहुत-से अक्षरों की तो जानकारी हुई परन्तु भाषा के विषय मे भ्रान्ति होने के कारण पहलवी के नियमों को ध्यान मे रखकर पढने से अक्षरों को पहचानने म अशुद्धता आने लगी जिससे थोडे समय तक इस कार्य मे अडचन पडती रही। परन्तु 1838 ई० मे दो बाक्ट्रिअन् ग्रीक सिक्कों पर पालि लेखो को देखकर दूसरे सिक्कों की भाषा भी यही होगी, यह मानते हुए उसी के नियमानुसार उन लेखो को पढने से प्रिंसेप का काम आगे चला और उन्होने एकसाथ 17 अक्षरो को खोज निकाला। प्रिंसेप की तरह मिस्टर नॉरिस ने भी इस विषय म कितना ही काम किया और इस लिपि के 7 नये अक्षरो की शोध की। बाकी के थोडे से अक्षरो को जनरल कनिंघम ने पहचान लिया और इस प्रकार खरोष्ठी की सम्पूर्ण वर्णमाला तैयार हो गई।

यह भारतवर्ष की पुरानी से पुरानी लिपियो के ज्ञान प्राप्त करने का सक्षिप्त इतिहास है। उपर्युक्त वर्णन से विदित होगा कि लिपि विषयक शोध मे मिस्टर प्रिंसेप ने बहुत काम किया है। एशियाटिक सोसाइटी की ओर से प्रकाशित 'सैन्टनरी रिव्यू' नामक पुस्तक मे 'एन्श्यण्ट इण्डिअन अलफाबेट' शीर्षक लेख के प्रारम्भ मे इस विषय पर डॉ० हॉर्नली लिखते है कि—

"सोसाइटी का प्राचीन शिलालेखो को पढने और उनका भाषान्तर करने का अत्युपयोगी कार्य 1834 ई० से 1839 ई० तक चला। इस कार्य के साथ सोसाइटी के तत्कालीन सेक्रेटरी, मि० प्रिंसेप का नाम, सदा के लिए सलग्न रहेगा, क्योकि भारत-विषयक प्राचीन-लेखनकला, भाषा और इतिहास सम्बन्धी हमारे अर्वाचीन ज्ञान की आधारभूत इतनी बडी शोध-खोज इसी एक व्यक्ति के पुरुषार्थ से इतने थोडे समय मे हो सकी।"

प्रिंसेप के बाद लगभग तीस वर्ष तक पुरातत्व सशोधन का सूत्र जेम्स फार्गुसन, मॉर्लम किट्टो, एडवर्ड टॉमस, अलेक्ज़ेण्डर कनिंघम, वाल्टर इलियट, मेडोज टेलर, स्टीवेन्सन्, डॉ० भाउदाजी आदि के हाथो मे रहा। इनमे से पहले चार विद्वानो ने उत्तर हिन्दुस्तान मे, इलियट साहब ने दक्षिण भारत मे और पिछले तीन विद्वानो ने पश्चिमी भारत मे काम किया। फार्गुसन साहब ने पुरातन वास्तु-विद्या (Architecture) का ज्ञान प्राप्त करने मे बडा परिश्रम किया और उन्होंने इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इस विषय का उनका अभ्यास इतना बढा-चढा था कि किसी भी इमारत को केवल देखकर वे सहज ही मे उसका समय निश्चित कर देते थे। मजर किट्टो बहुत विद्वान तो नही थे परन्तु उनकी शोधक बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी। जहाँ अन्य अनेक विद्वानो को कुछ जान न पडता था वहाँ वे अपनी गिद्ध जैसी पैनी दृष्टि से कितनी ही बातें खोज निकालते थे। चित्रकला मे वे बहुत निपुण थे। कितने ही स्थानो के चित्र उन्होने अपने हाथ से बनाए थे और प्रकाशित किए थे। उनकी शिल्पकला विषयक इस गम्भीर कुशलता को देखकर सरकार ने उनको बनारस के सस्कृत कॉलेज का भवन बनवाने का काम सौपा। इस कार्य मे उन्होने बहुत परिश्रम किया जिससे उनका स्वास्थ्य गिर गया और अन्त मे इगलैण्ड जाकर वे स्वर्गस्थ हुए। टॉमस साहब ने अपना विशेष ध्यान सिक्को और शिलालेखो पर दिया। उन्होने अत्यन्त परिश्रम करके ई० स० पूर्व 246 से 1554 ई० तक के लगभग 1800 वर्षों के प्राचीन इतिहास की शोध की। जनरल कनिंघम ने प्रिंसेप का अवशिष्ट

कार्य हाथ मे लिया। उन्होंने ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपियो का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। इलियट साहब ने कर्नल मेकेन्जी के संग्रह का संशोधन और संवर्द्धन किया। दक्षिण के चालुक्य वंश का विस्तृत ज्ञान सर्वप्रथम उन्होंने लोगों के सामने प्रस्तुत किया। टेलर साहब ने भारत की मूर्ति निर्माण विद्या का अध्ययन किया और स्टीवेन्सन् ने सिक्कों की शोध-खोज की। पुरातत्व-संशोधन के कार्य मे प्रवीणता प्राप्त करने वाले प्रथम भारतीय विद्वान् डॉक्टर भाउदाजी थे। उन्होने अनेक शिलालेखों को पढ़ा और भारत के प्राचीन इतिहास के ज्ञान में खूब वृद्धि की। इस विषय मे दूसरे नामांकित भारतीय विद्वान् काठियावाड निवासी पण्डित भगवानलाल इन्द्रजी का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने पश्चिम भारत के इतिहास मे अमूल्य वृद्धि की है। उन्होंने अनेक शिलालेखो और ताम्रपत्रों को पढा है परन्तु उनके कार्य का सच्चा स्मारक तो उनके द्वारा उडीसा के खण्डगिरि-उदयगिरि वाली हाथी-गुफा मे सम्राट खारवेल के लेखो को शुद्ध रूप से पढा जाना ही है। बंगाल के विद्वान् डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र का नाम भी इस विषय मे विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य है। उन्होंने नेपाल के साहित्य का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया है।"[1]

इस विवरण से एक चित्र तो काशी के पण्डित का उभरता है, जिसने अपने कौशल से मिथ्या कुञ्जी प्राचीन लिपि को पढने के लिए प्रस्तुत की और वह भी ऐसी कि पहले उस पर सभी को विश्वास हो गया।

दूसरा चित्र उभरता है उस मुद्रा का जो अफगानिस्तान म मिली और उसके सम्बन्ध मे यह धारणा बना ली गई कि इसकी भाषा पहलवी है और लिपि ऐसी होगी जो दायें से बायें लिखी जाती होगी। फलत यह बहुत आवश्यक है कि पहले भाषा का निर्धारण किया जाय, फिर लिपि लेखन की प्रवृत्ति का भी। क्योंकि उसकी लिपि वस्तुत खरोष्ठी थी और उसकी भाषा पालि पहलवी का पीछा विद्वानो ने तब छोडा जब 1838 ई० मे दो बाक्ट्रीअन ग्रीक सिक्को पर पाली लेखों को देखा।

एक तीसरा चित्र यह उभरता है कि मात्र वर्णों की आकृति से लिपि किस भाषा की है यह नही कहा जा सकता। इसके लिए टॉम कोरिएट नामक यात्री की भ्रान्ति का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अशोक लिपि की ग्रीक लिपि से समानता देखकर उसने उसे ग्रीक लेख समझ लिया था।

वस्तुत लिपि के अनुसन्धान म वही वैज्ञानिक प्रक्रिया काम करती है जिसमे ज्ञात से अज्ञात की ओर बढा जाता है। इसी आधार पर कराल स्तम्भ का लेख एव टोपरा वाले दिल्ली के अशोक स्तम्भ पर बीसलदेव के तीन लेख पढे गये। इससे जो प्राचीन लेख थे उनको पढने मे बहुत कठिनाई और परिश्रम हुआ क्योंकि उनके निकट की ज्ञात लिपियाँ थी ही नहीं। अब यहाँ पर प्रिंसेप महोदय ने अनुसन्धान की विशेष सूझ-बूझ का परिचय दिया। उन्होंने सांची स्तूप आदि पर खुदे हुए कितनी ही छापो को तुलनापूर्वक देखा। इन सबमे उन्हे दो अक्षर समान मिले और अनुमान लगाया कि दो अक्षरो वाला शब्द दान हो सकता है और इस अनुमान के आधार पर 'द' और 'न' अक्षरो का निर्धारण हुआ और इस प्रकार ब्राह्मी लिपि का उद्घाटन हो सका। स्पष्ट है कि इस प्रकार लिपि की गाँठ खोलने के लिए तुलना भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है।

1 मुनि जिन विजयजी—पुरातत्त्व संशोधन का पूर्व इतिहास—स्वाहा, वर्ष 1 अंक 2-3, पृ० 27-34

यह तो ब्राह्मी लिपि को पढे जाने के प्रयत्नो की चर्चा हुई। अब अनुसन्धानकर्त्ताओ मे और विद्वानो मे अनुसन्धान-विषयक वैज्ञानिक प्रवृत्ति खूब मिलती है, फिर भी, लिपि विषयक कुछ कठिन समस्याएँ आज भी बनी हुई हैं। भारतवर्ष मे सिन्धुघाटी की लिपि का रहस्य अभी भी नही खुला है। अनेक प्रकार के प्रयत्न हुए हैं, किन्तु, जितने प्रयत्न हुए हैं उतनी ही समस्या उलझी हैं। इसी प्रकार और भी विश्व की कई लिपियाँ हैं जिनका पूरा रहस्य नही खुला। तो प्रश्न यह है कि यदि कोई एकदम ऐसी लिपि सामने आ जाय जिसके सम्बन्ध मे आगे पीछे कोई सहायक परम्परा न मिलती हो तो क्या किया जाय ? इस सम्बन्ध मे डॉ० पी बी पण्डित का 'हिन्दुस्तान टाइम्स वीक्ली' (रविवार, मार्च, 1969) मे प्रकाशित 'क्रेकिंग द कोड' (Cracking the Code) उन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है जिनसे ऐसी लिपि को समझा जा सके जिसकी न तो लेखन प्रणाली का और न उसमे लिखे कथ्य का ज्ञान हो। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसी लिपि की कुंजी पाने मे अनेक कठिनाइयाँ हो सकती हैं। वे कठिनाइयाँ भी ऐसी हो सकती हैं जिन पर पार पाना असम्भव हो। फिर भी, उनके सुझाव हैं कि पहले तो ये निर्धारित किया जाना चाहिए कि जो विविध चिह्न और रेखाकन मिले हैं क्या वे भाषा को व्यक्त करते हैं। यदि यह माना जाय कि वे चिह्न भाषा की लिपि के ही हैं तो प्रश्न यह खडा होता है कि यह किस प्रकार की लेखन प्रणाली है। अर्थात् क्या यह लेखन प्रणाली चित्रात्मक है अथवा शब्दात्मक (logographic) है या वर्णात्मक (alphabetic)। यद्यपि आज कुछ लिपियाँ अक्षरात्मक (Syllabic) भी हैं पर यह अक्षरता (Syllable) वर्ण से ही जुडी मिलती हैं क्योकि दोनों ही ध्वनिमूलक हैं।

चित्रलिपि शब्दलिपि मे तभी परिणत होती है जब एक चित्र कई भावो या वस्तुओ का अर्थ देने लगता है। तब एक चित्राकार या चित्रलिपि का एक-एक चित्र एक उच्चरित शब्द (logo) का स्थान ले लेता है। डॉ० पण्डित ने अंग्रेजी का स्टार शब्द लिया है। 'स्टार' का चित्र जब तक केवल स्टार का ही ज्ञान कराता है तब तक वह चित्रलिपि का अंश है। इसके बाद 'स्टार' का उपयोग केवल तारे के लिए ही नही, आकाश के द्युतिमान सभी तारो और तारिकाओ के लिए होने लगता है या उसका अर्थ चमकदार या शिरोमणि वस्तुओ के लिए होने लगे तो वह भावचित्रलिपि (ideograph) का रूप ग्रहण कर लेता है। अब यदि 'स्टार' की चित्राकृति और उसकी चित्रलिपि और भाव चित्रलिपि को कोई शब्द मिल गया है—जैसे स्टार, तब यह शब्द हो गया। भावलिपि का एक अग होकर अब उसने चित्र रूप के साथ शब्द रूप मे भी सम्बद्धता प्राप्त कर ली, यही इस शब्द ध्वनि की लिपि या शब्दमूलक चित्रलिपि (logograph) कहलाती है।[1]

अब शब्द का अर्थ अपने ध्वनि-चित्र से किसी सीमा तक स्वतन्त्र हो चला क्योकि 'शुद्ध स्टार ध्वनि' के लिए तो उसका ध्वनि-चित्र आयेगा ही, सम्भवतः 'स्टार' की समवर्ती

1 'Histories of writing system indicate that the Pictorial scripts develop into logographic scripts where a picture gets a phonetic value corresponding to its pronunciation · then it can be used for all other items which have similar pronunciation '
(Pandit P B (Dr.)—Cracking the Code—Hindustan Times Weekly, Sunday, March 30, 1969)

ध्वनि 'स्टार' के लिए भी प्रयोग मे आ सकेगा और परसर्ग रूप मे गैंग्स्टर (gangster) में गैंग के साथ भी जुड जायेगा।

अब स्थिति यह हो गयी कि—

वस्तु → वस्तु-चित्र → चित्रलिपि → भावचित्रलिपि → चित्र शब्दित → शब्दात्मक चित्र → शब्द-प्रतीक → ध्वनिवर्ती शब्द-प्रतीक।

ध्वनिवर्ती शब्द प्रतीक वाली लिपि मे शब्दो की ध्वनि से उनमे 'मोरफीम' का ज्ञान होने लगता है तथा इन मारफीमो के अनुसार लिपि-प्रतीको मे विकार हो जाता है। यहाँ आकर वह प्रक्रिया जग उठती है जो शब्द प्रतीको की ध्वनिमूलक वर्णमाला की ओर जाने मे प्रवृत करती है। 'स्टार' में एक मोरफीम है अत शब्द-प्रतीक ज्यो का त्यो रहेगा। पर बहुवचन 'स्टार्स' मे 'स' मोरफीम बढा, अत कोई विकार 'स्टार' मारफीम मे 'स' का द्योतन करने के लिए बढाना पडेगा। 'स' यहाँ मोरफीम भी है और एक वर्णात्मक अकेली ध्वनि भी। ऐ-ली-फैंट में तीन मोरफीम हैं अत शब्दलिपि भी तीन योग दिखाने लगेगी। इसीलिए इस अवस्था पर पहुँच कर ध्वनिवर्ती शब्द-प्रतीक, प्रतीक मे ध्वनि-द्योतक चिह्नो को नियोजित करने का प्रयत्न करेगा—ध्वनिवर्ती शब्द-प्रतीक → ध्वनिवर्ती शब्द प्रतीकगत ध्वनि प्रतीक → ध्वनि-प्रतीक अक्षर → ध्वनि प्रतीक वर्ण। चित्रलिपि से वर्णात्मक लिपि तक के विकास का यह क्रम सम्भावित है और स्थूल है।

विद्वानों ने Pictorial Art से Pictograph, Pictograph से Ideograph, Ideograph से logograph तक का विकास तो स्थूलत ठीक अथवा सहज माना है। उससे आगे ध्वनि की ओर लिपि का सक्रमण उतना स्वाभाविक नही। कुछ विद्वानो की राय मे यह सम्भव भी नही।

पाडुलिपि विज्ञान की दृष्टि से तो वे प्रक्रियाएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं, जिनसे ये विकार होते हैं और लिपि का विकास होता है। यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि हमने विकास-प्रक्रिया मे जहाँ → (तीर) दिया है, वहाँ बीच मे और भी कई विकास-चरण हो सकते हैं। मोहनजोदडो की सी स्थिति भी हो सकती है जिसमे चित्रलिपि और ध्वनिलिपि दोनो ही प्रयुक्त हो। यह भी ध्यान देने योग्य है कि जब 'स्टार' मे 'स्टार्स' तक भाषा पहुँचती हैं, तब 'एक और बहुत' का भेद करने की शक्ति उसमे आ जाती है। साथ ही शब्दों मे चिह्नो द्वारा अन्य सम्बन्धो को बताने की क्षमता भी आ जानी चाहिये। व्यजन और स्वरो के भेद अक्षरात्मक लिपि मे प्रस्तुत होने लगने हैं।

शब्द चिह्नो से व्याकरण-सम्बन्धो को जानने के लिए डॉ॰ पण्डित का निम्न उद्धरण एक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है :

सम्भवत एक या अधिक मोरफीमो (morphemes) से बने शब्द सकेत-चिह्नो की सख्याओ के आधार पर सबसे अधिक प्रयुक्त समुच्चय हैं। कोई चाहे तो प्रत्यय उपसर्ग-परसर्ग आदि को भी उनके स्थान और वितरण के आवर्तन से ढूंढ सकता है। मान लीजिए नीचे दिये सोलह वाक्यो में से वर्णमाला का प्रत्येक वर्ण एक मोरफीम है तो इस भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध मे कोई क्या बता सकता है (तब भी जबकि वाक्यो के अर्थ विदित

नहीं हैं) ।[1]

1 AXZ	2 AXYZ	3 BX	4 CZ
5 CYZ	6 DX	7 EX	8 FZ
9 GZ	10 A	11 B	12 C
13 D	14 E	15 F	16 G

यह कहा जा सकता है कि A B C D E F G तो नाम धातुयें है XYZ परसर्ग हैं। XYZ का स्थानगत मूल्य ऐसा है कि वे अपने-अपने निजी क्रम को सुरक्षित रखते हैं। अन्त मे Z आता है और Y X के बाद आती है। X धातु नाम के तुरन्त बाद आता है।[2]

तात्पर्य यह है कि उपलब्ध सामग्री का इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिये जिससे कि यह विदित हो सके कि कितने चिह्न स्वतन्त्र रूप से भी प्रयोग मे आये और कितने चिह्न ऐसे हैं जो किसी न किसी अन्य चिह्न से जुडकर आये है—और ये ऐसे चिह्नो से जुडे मिलते हैं, जो बिना किसी चिह्न के भी प्रयुक्त हुए हैं। इससे यह अनुमान *होता है कि जो चिह्न स्वतन्त्र रूप से आये हैं वे 'Stems', संज्ञानाम या क्रियानाम हैं* और जो इनसे जुडकर आते हैं वे उपसर्ग-प्रत्यय हैं। उसी लिपि के चिह्नो की पारस्परिक तुलना से वाक्य के रूप का अनुमान लगाया जा सकता है।

किन्तु इससे भाषा का उद्भव नही हो सकता, न लिपि के चिह्नो के सम्बन्ध मे ही कहा जा सकता है कि वे क्या शब्द हैं, या किस ध्वनि के प्रतीक हैं। प्रिंसेप ने ब्राह्मी के 'द' और 'न' अक्षरो को समझ लिया था, क्योकि वह उनकी भाषा से परिचित था, और उन लेखो के अभिप्राय को भी समझता था।

किन्तु मोहनजोदडो की लिपि की भाषा का कुछ भी ज्ञान नही, अत लिपि को ठीक-ठीक नही उद्घाटित किया जा सका है। लिपि जहाँ मिली हैं (1) उसकी पृष्ठभूमि, इतिहास, परम्परा, युग, संस्कृति आदि की सम्भावनाओ के आधार पर, तथा (2) अन्य ज्ञात लिपियो से तुलना करके विकल्पात्मक अनुमान खडे किये जाते हैं।

सिन्धुघाटी की लिपि के विषय मे उक्त दोनो बातो के सम्बन्ध मे न तो प्रामाणिक आधार है, न मत हैं क्योकि

पहला, पृष्ठभूमि, इतिहास, परम्परा आदि की दृष्टि से एक ओर यह माना गया कि यह आर्यों के भारत मे आने से पूर्व की संस्कृति की लिपि है। आय पूर्व भारत मे द्रविड थे अत यह द्रविड सम लिपि है और द्रविड-सम भाषा की प्रतीक है।

1 'The most frequent groups are possibly words consisting of one or more morphemes according to the number of signs One can also deduct the affixes-suffixes, prefixes etc by their positions and frequency distribution Suppose, in the following data of sixteen sentences, each letter of the alphabet is a morpheme, what could one say about the grammar of the language (even of the meanings of the sentences are not known)"

[वही, मार्च 30, 1969]

2. One could say that the letters A, B, C, D, E, F, G are stems and the XY & Z are suffixes The positional values of X, Y and Z are such that they maintain their respective order, Z occurs finally, Y occurs after X, X occurs immediately after the stem

[वही, मार्च 30, 1969]

दूसरा विकल्प यह रहा कि आर्यों से पूर्व या 4000 ई० पू० यहाँ सुमेर लोग निवास करते थे और यह उन्ही की लिपि है।

तीसरा विकल्प यह है कि इस क्षेत्र के निवासी आर्य या उन्ही की एक शाखा के 'असुर' थे। यह उन्ही की भाषा और लिपि है।

इन तीनो परिकल्पनाओं के आधार पर विविध भाषाओ की लिपियो की तुलना करते हुए उनके प्रमाणो से भी अपने-अपने मत की पुष्टि की गयी है।

अब जी आर हटर[1] महोदय ने 'द स्क्रिप्ट ऑव हड़प्पा एण्ड मोहनजोदडो एण्ड इट्स कनॅक्शन विद अदर स्क्रिप्ट्स' मे बताया है कि—

"बहुत-से चिह्न प्राचीन मिस्र की महान लिपि से उल्लेखनीय समता रखते हैं। सभी एन्थ्रोपो मारफिक चिह्न मिस्री समता वाले हैं, और वे यथार्थत ठीक उसी रूप के हैं और यह रोचक बात है कि इन एन्थ्रोपो मारफिक चिह्नो से दूर की भी समता रखने वाले चिह्न सुमेरियन या प्रोटो-एलामाइट लिपि मे नही मिलते। दूसरी ओर हमारे बहुत-से चिह्न ऐसे हैं जो प्रोटो-एलामाइट और जेमदेत नस्न की पाटियों के चिह्नों से हू-ब-हू मिलते हैं, और जिनकी मिस्री मोरफोग्राफिक समकक्षता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इससे कोई भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि यह मान्यता बलवती ठहरती है कि हमारी लिपि कुछ तो मिस्र से ली गयी है और कुछ मेसोपोटामिया से। किंबहुना, एक अच्छे अनुपात मे ऐसे चिह्न भी हैं जो तीनो में समान हैं, जैसे-वृक्ष, मछली, चिड़िया आदि के चिह्न। किन्तु ऐसा होना सम-आकस्मिक (Concidental) है और अनिवार्य भी है, *क्योंकि लिपि की प्रकृति चित्रात्मक है।*

फिर वे आगे कहते हैं कि प्रोटो-एलामाइट से और भी साम्य है अतः हमने मिस्री चिह्न ही उधार लिए हैं।

और आगे वे यह सुझाव भी प्रस्तुत करते हैं कि हो सकता है कि मिस्री, प्रोटो-एलामाइट और सिन्धुघाटी की लिपियों की जनक या मूल एक चौथी ही भाषा-लिपि हों, जो इनसे पूर्ववर्ती हो।

अब ये सभी परिकल्पनाएँ (हाइपोथीसीस) ही हैं। अभी तक भी हम सिन्धुघाटी की लिपि पढ सके हो, ऐसा नहीं लगता।

अभी हाल मे फिर प्रयत्न हुए हैं और फिनिश दल तथा रूसी दल ने सिन्धु लिपि *और सिन्धु भाषा को समझने का प्रयत्न किया है। कम्प्यूटर का भी उपयोग किया गया है* और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह द्रविडो-मुख भाषा और तद्नुकूल लिपि है। साथ ही दो भारतीय विद्वानो ने भी नये प्रयत्न किये हैं। एक है श्री कृष्णराव, दूसरे हैं डॉ० फतेहसिंह। इन दोनो का ही मन्तव्य है कि सिंधुघाटी की लिपि ब्राह्मी का पूर्वरूप एव भाषा वेदपूर्वी सस्कृत ही है। यूनीवर्सिटी ऑफ कैम्ब्रिज की फैकल्टी ऑव ओरियण्टल स्टडीज के एफ आर अल्लचिन ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के एक अक मे एक पत्र मे, जहाँ पाश्चात्य प्रयत्नो को रचनात्मक (constructive) प्रयत्न बताया है और भारतीय प्रयत्नो को अत प्रज्ञाजन्य (intuitive), अत मे उसने लिखा है कि—

1 Hunter, G R —The Script of Hadappa and Mohan jodaro and its connection with other Scripts P 45–47

'In the mean while let us recognise that while so many new decipherments are appearing they cannot all be right, and are more likely all to be wrong."

इतना विवेचन 'सिंधुघाटी लिपि' के सम्बन्ध मे करने की इसलिए आवश्यकता हुई कि यह जाना जा सके कि किसी अज्ञात लिपि को पढने मे कितनी समस्याएँ निहित रहती हैं और उन सबके रहत भी किसी और महत्त्वपूर्ण बात का अभाव रहने से अज्ञात लिपि को ठीक ठीक जानने की प्रक्रिया असफल हो जाती है। सिंधुघाटी सभ्यता के सम्बन्ध मे जितने भी विकल्प रखे गये हैं वे सभी इतिहास से न तो पुष्ट ही हैं न सिद्ध ही हैं।

यथा—पहला विकल्प यह है कि यह सभ्यता आर्यों के आगमन से पूर्व की द्रविड सभ्यता है। आर्यों के आगमन से पूर्व द्रविड सारे भारतवर्ष मे बसे हुए थे। अब आर्यों के आगमन का सिद्धान्त तथा द्रविडो का आर्यों मे भिन्न रक्त या नस्ल का होने का नृतात्विक सिद्धान्त, ये दोनो ही पूर्णत सिद्धप्रमेय नही माने जा सकते, न अकाट्य प्रमाणो से पुष्ट हैं।[1] इस सम्बन्ध मे एक अन्तर बहुत स्पष्ट दिखाई पडता है, मूलत यह सिद्धान्त विदेशियो के द्वारा ही प्रतिपादित हुए थे, और मूलत सिन्धुघाटी को द्रविड सभ्यता के अवशेष बताने वाले भी अधिकाशत विदेशी ही हैं, और भारतीयो का झुकाव अभेद की स्वीकृति पर निर्भर करता है। इसी अप्रामाणिक अन्तर के कारण द्रविड भाषा, द्रविड-लिपि और आर्य भाषा तथा असुर भाषा का विकल्प उठा है।

सिंधु लिपि मे मिस्र की चित्रलिपि तथा सुमेर की लिपि के साथ ब्राह्मी लिपि के साम्य भी हैं। इससे कल्पना की गयी कि मिस्र और सुमेर मे उधार लिये गय शब्द और वर्ण हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय ने यह सुझाव दिया है कि जहाँ तक एक से दूसरे के द्वारा उधार लेने का प्रश्न है निम्नलिखित ऐतिहासिक परम्पराएँ इसमे हमारी सहायता कर सकती हैं—

(अ) प्राचीन मिस्र की सभ्यता के निर्माता लोग पश्चिमी एशिया से मिस्र को गये थे।

(आ) यूनानी लेखकों के अनुसार फानेशियन्स, जो कि प्राचीन काल के महान् सामुद्रिक यात्रा-दक्ष और सस्कृति प्रसारक लोग थे, त्यर (TYR) में उपनिवेश बनाकर रहत थे जो कि पश्चिमी एशिया का बड़ा बन्दरगाह था।

(इ) सुमेरियन लोग स्वय भी समुद्र के मार्ग से बाहर से आकर सुमेरिया मे बसे थे।

(ई) पुरानी ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुसार, जो कि पुराणों और महाकाव्यों में दी हुई हैं आर्य जातियाँ उत्तर-पश्चिमी भारत से उत्तर की ओर और

1 The use of Aryan and Dravadian as racial terms is unknown to scientific students of Anthropology (Nilkantha Shastri, cultural contacts between Aryan & Dravadians P 2) There is no Dravadian race and no Aryan race (A. L. Bashem · Bulletin of the Institute of Historical research II (1963) Madras.
वाहा पृ० ८० पर उद्धृत

पश्चिम की ओर आर्य जातियाँ गयी थी ।[1]

इन परिस्थितियो मे इस तथ्य के सम्बन्ध मे असम्भावना नहीं मानी जा सकती है कि या तो आर्य लोग या उनके असुर नाम के बन्धुओं ने सिन्धुघाटी की लिपि का निर्माण किया। वे ही उसे पश्चिमी एशिया और मिस्र मे ले गये। इस प्रकार ससार के उन भागो मे लिपि के विकास को प्रोत्साहित किया ।[2]

डॉ० राजबली पाडेय का सुझाव ऐतिहासिक तर्कमत्ता के अनुकूल है। निश्चय ही इस लिपि की उद्भावना भारत मे हुई और यहीं से सुमेर और मिस्र को गयी, वहाँ इस लिपि का और विकास हुआ। पर इस सिद्धान्त से भी भाषा और लिपि के उद्घाटन मे यथार्थ सहायता नही मिल पाती ।

सिन्धु-लिपि दायें से बायें खरोष्ठी या फारसी लिपि की भाँति लिखी गयी है, या बायें से दायें, रोमन और नागरी लिपि की भाति। इस सम्बन्ध मे भी द्वंध है—एक कहता है दायें से बायें, दूसरा कहता है बायें से दायें। यह समस्या एक समय ब्राह्मी के सम्बन्ध मे भी उठी थी। ब्राह्मी की एक शैली दायें से बायें लिखने की भी थी, अवश्य कुछ अवशेष अब भी मिलते हैं।

ब्यूह्लर ने ब्राह्मी को दाहिने से बाए लिखने का जो प्रमाण दिया है वह अशोक के येरगुडी (करनूल, मद्रास) लेख तथा एरण के एक मुद्रा-लेख पर आधारित है। कनिंघम ने मध्य प्रदेश के जबलपुर से उस सिक्के का पता लगाया था जिस पर ब्राह्मी मे मुद्रा-लेख दाहिने से बाए लिखा है। इसे एक आकस्मिक घटना मान सकते है और टकसाल के साचा-निर्माता की भूल से ऐसा हो गया होगा। इसी तरह अशोक के लेख में लिखने का क्रम उलटा मिलता है। येरगुडी के लेख मे पहली पक्ति ठीक ढग से बाँए से दाहिने लिखी है और दूसरी पक्ति दाहिने से बाँए। तीसरी बाँए से दाहिने तथा चौथी दाहिने से बाँए। इससे स्पष्ट है कि लेख अकित करने वाला वास्तविक रूप मे ब्राह्मी लिखना जानता था।

1 As regards the question of borrowing by one from the others, the following historical tradition will help us —

(i) The authors of ancient Egyptian civilisation migrated from Western Asia to Egypt

(Maspeor—The Dawn of civilisation : Egypt & chaldea, p. 45, Passing of the Empire, VIII., Smith, Ancient Egyptians, P. 24)

(ii) The Phonecians, the great sea-faring and culture spreading people of ancient times, were colonists in TYR, the great sea-port of Western Asia, according to the Great writers

(Herodouts, II, 44)

(iii) The Summerians themselves came to Sumeria from outside through seas.

(Wolley, C. L.—The Summerians, 189)

(iv) The Aryans Tribes, according to the ancient historical, tradition recorded in the Puranas and Epics migrated from N. W. India towards the north and the west.

(F. E. Pargiter—Ancient Indo-Historical Traditions, XXV)

2. Under the circumstances, there is no impossibility about the fact that either the Aryans or their cousins the Asuras invented the Indus Valley script and carried it to Western Asia and Egypt and thus inspired the evolution of scripts in these parts of the World

(Pandey, R. B.—Indian Paleography, P. 34)

पर एक नयी प्रणाली (दाहिने से बाँए) का उसी लेख मे समावेश करना चाहता था। इसलिए उल्टे क्रम (दाहिने से बाँए) का भी उसने उपयोग किया। किन्तु इस कृत्रिम रूप के आधार पर कोई गम्भीर सिद्धान्त स्थिर करना युक्तिसगत न होगा।[1]

ब्राह्मी को, दिल्ली के अशोक स्तम्भ पर अकित ब्राह्मी को, एक व्यक्ति ने यूनानी लिपि माना था, और उस ब्राह्मी लेख को अलेक्जेंडर की विजय का लेख माना था। काशी के ब्राह्मण ने एक मनगढ़न्त भाषा और उसकी लिपि बतायी, किसी ने उनको तन्त्राक्षर बताया; एक जगह किसी ने पहलवी माना, और भी पक्ष प्रस्तुत हुए, पर प्रत्येक लेख की स्थिति और उनका परिवेश, उनका स्थानीय इतिहास तथा अन्य विवरणो की ठीक जानकारी हुई और तब तुलना से वे अक्षर ठीक-ठीक पढे जा सके हैं।

पर सिन्धुघाटी की सभ्यता विषयक विविध समस्याएँ अभी समस्याएँ ही बनी हुई हैं। यह सभ्यता भी केवल सिन्धुघाटी तक सीमित नहीं थी, अब तो मध्य प्रदेश और राजस्थान मे भी इसके गढ भूमि-गर्भ मे गर्भित मिले हैं। लगता यह है कि महान् जल-प्लावन से पूर्व की यह सस्कृति-सभ्यता थी। पानी के साथ मिट्टी बह आयी और उसमे ये नगर दब गये। पर ये सभी कल्पनाएँ हैं और अधिक उत्खनन से कही कोई ऐसी कुँजी मिलेगी जो इसका रहस्य खोल देगी। तो पाडुलिपि-विज्ञान के जिज्ञासु के लिए उन अडचनो, कठिनाइयो और अवरोधो को समझने की आवश्यकता है जिनके कारण किसी अज्ञात लिपि का उद्घाटन सम्भव नही हो पाता।

वे अड़चनें हैं

(1) किसी सास्कृतिक परम्परा का न होना। ऐसी परम्परा प्राप्त होनी चाहिये जिसमे विशेष लिपि को बिठाया जा सके।
(2) ठीक इतिहास का अभाव तथा इतिहास की विस्तृत जानकारी का अभाव या विद्यमान ऐतिहासिक ज्ञान मे अनास्था।
(3) अयथार्थ और अप्रामाणिक पूर्वाग्रहो का होना।
(4) तुलना से समस्या का और जटिल होना।
(5) लिपि-विषयक प्रत्येक समस्या के सम्बन्ध मे भ्रम होना।
(6) लिपि मे लिखी भाषा का ठीक ज्ञान न होना, यथा—प्राकृत के स्थान पर पहलवी और प्राकृत के स्थान पर सस्कृत भाषा समझकर किये गये प्रयत्न विफल हो गये थे।

ऊपर हम 'स्वाहा' से लिये गये उद्धरण मे ब्राह्मी लिपि पढने के प्रयत्नो की सामान्य रूप-रेखा पढ चुके हैं। यहाँ महामहोपाध्याय गौरीशकर हीराचन्द ओझा से भी इस सम्बन्ध मे एक उद्धरण दिया जाता है, इससे ब्राह्मी लिपि के पढने के प्रयत्नो का अच्छा ज्ञान हो सकेगा।

बगाल एशियाटिक सोसाइटी के सग्रह मे देहली और इलाहाबाद के स्तम्भो तथा खडगिरि के चट्टान पर खुदे हुए लेखो की छापें आ गई थी परन्तु विल्फर्ड का यत्न निष्फल होने से अनेक वर्षो तक उन लेखो के पढ़ने का उद्योग न हुआ। उन लेखों का आशय जानने की जिज्ञासा रहने के कारण जेम्स प्रिन्सेप ने ई० स० 1834-35 मे इलाहाबाद,

1. उपाध्याय, वासुदेव—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० 249।

रधिया और मथिया के स्तभो पर के लेखों की छापें मगवाई और उनको देहली के लेख से मिलाकर यह जानना चाहा कि उनमें कोई शब्द एक-सा है या नही। इस प्रकार उन चारो लेखो को पास-पास रखकर मिलाने से तुरन्त ही यह पाया गया कि ये चारो लेख एक ही हैं। इस बात से प्रिन्सेप का उत्साह बढा और उसे अपनी जिज्ञासा पूर्ण होने की दृढ आशा बधी। फिर इलाहाबाद के स्तभ के लेख से भिन्न-भिन्न आकृति के अक्षरो को अलग-अलग छाटने पर यह विदित हो गया कि गुप्ताक्षरो के समान उनमे भी कितने अक्षरो के साथ स्वरों की मात्राओ के पृथक्-पृथक् पांच चिह्न लगे हुए हैं, जो एकत्रित कर प्रकट किये गये।[1] इससे अनेक विद्वानो को उक्त अक्षरो के यूनानी होने का जो भ्रम था[2] वह दूर हो गया। स्वरो के चिह्नो को पहिचानने के बाद मि प्रिन्सेप ने अक्षरो के पहिचानने का उद्योग करना शुरू किया और उक्त लेख के प्रत्येक अक्षर को गुप्तलिपि से मिलाना और जो मिलता गया उसको वर्णमाला के कमवार रखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार बहुत-से अक्षर पहिचान मे आ गये।

पादरी जेम्स स्टिवेन्सन् ने भी प्रिन्सेप की भाति इसी शोध मे लग कर 'क', 'ज', 'प' और 'ब' अक्षरो[3] को पहिचाना और इन अक्षरो की सहायता से लेखो को पढकर उनका अनुवाद करने का उद्योग किया गया परन्तु कुछ तो अक्षरो के पहिचानने मे भूल हो जाने, कुछ वर्णमाला पूरी ज्ञात न होने[4] और कुछ उन लेखो की भाषा को सस्कृत मानकर उसी भाषा के नियमानुसार पढ़ने से वह उद्योग निष्फल हुआ। इससे भी प्रिन्सेप को निराशा न हुई। ई० स० 1836 मे प्रसिद्ध विद्वान लॅसन् ने एक बैक्ट्रिअन् ग्रीक सिक्के पर इन्ही अक्षरो मे अगॅथॉक्लिस का नाम पढा। ई० स० 1837 मे मि प्रिन्सेप ने साची के स्तूपो से सम्बन्ध रखने वाले स्तम्भो आदि पर खुदे हुए कई एक छोटे-छोटे लेखो की छापें एकत्र कर उन्हे देखा तो उनके अन्त के दो अक्षर एक-से दिखाई दिये और उनके पहिले प्राय: 'स' अक्षर पाया गया जिसको प्राकृत भाषा के सम्बन्ध कारक के एक वचन का प्रत्यय (संस्कृत 'स्य' से) मानकर यह अनुमान किया कि ये सब लेख अलग-अलग पुरुषो के दान प्रकट करते होगे और अत के दोनो अक्षर, जो पढ़े नही और जिनमे से

1 जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, जिल्द 3, पृ० 7, प्लेट 5।

2 अशोक के लेखो की लिपि मामूली देखने वाले को अग्रेजी या ग्रीक लिपि का भ्रम उत्पन्न करा दे, ऐसी है। टॉम कोरिअट् नामक मुसाफिर ने अशोक के देहली के स्तम्भ के लेख को देखकर एल ह्विटकर को एक पत्र मे लिखा कि "मैं इस देश (हिन्दुस्तान) के देली (देहली) नामक शहर मे आया जहाँ पर 'अलेक्जेंडर दी ग्रेट' (सिकन्दर) ने हिन्दुस्तान के राजा पोरस को हराया और अपनी विजय की यादगार मे उसने एक बृहत् स्तम्भ खडा करवाया जो अब तक वहाँ विद्यमान है" (केरस् वॉयेजिज एड ट्रेवल्स, जि 9 पृष्ठ 423 क आ स. रि जि 1 पृ० 163) इस तरह जब टॉम कोरिअट ने अशोक के लेख वाले स्तम्भ को बादशाह सिकदर का खडा करवाया हुआ मान लिया तो उस पर के लेख के पढ़े न जाने तक दूसरे यूरोपिअन् यात्री आदि का उसकी लिपि को ग्रीक मान लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पादरी एडवर्ड टेरी ने लिखा है कि टॉम कोरिअट ने मुझसे कहा कि मैंने देली (देहली) में ग्रीक लेख वाला एक बहुत बडा पाषाण का स्तम्भ देखा जो "अलेक्जेंडर दी ग्रेट' ने उस प्रसिद्ध विजय की यादगार के निमित्त उस समय वहाँ पर खडा करवाया था" (क आ स रि. जि 1, पृ० 163-64) इसी तरह दूसरे लेखकों ने उस लेख को ग्रीक लेख मान लिया था।

3. जर्नल ऑफ दी एशियाटिक् सोसायटी ऑफ बंगाल, जि० 3, पृ० 485।

4. 'न' को 'र' पढ़ लिया था और 'द' को पहिचाना न था।

पहिले के साथ 'ा' की मात्रा और दूसरे के साथ अनुस्वार लगा है उनमें से पहिला अक्षर 'दा' और दूसरा 'न' (दान) ही होगा । इस अनुमान के अनुसार 'द' और 'न' के पहिचाने जाने पर वर्णमाला सम्पूर्ण हो गई और देहली, इलाहाबाद, साँची, मथिया, रधिया, गिरनार, धौली आदि के लेख सुगमतापूर्वक पढ लिए गये । इससे यह भी निश्चय हो गया कि उनकी भाषा, जो पहिले संस्कृत मान ली गई थी वह अनुमान ठीक न था, वरन उनकी भाषा उक्त स्थानो की प्रचलित देशी (प्राकृत) भाषा थी । इस प्रकार प्रिन्सेप आदि विद्वानो के उद्योग से ब्राह्मी अक्षरो के पढे जाने से पिछले समय के सब लेखो को पढ़ना सुगम हो गया क्योंकि भारतवर्ष की समस्त प्राचीन लिपियो का मूल यही ब्राह्मी लिपि है ।[1]

ब्राह्मी वर्णमाला

जिस 'ब्राह्मी वर्णमाला' के उद्घाटन का रोचक इतिहास ऊपर दिया गया है, उसे पढने मे आज विशेष कठिनाई नही होती । प्रिंसेप आदि के प्रयत्नों ने वह वर्णमाला हमारे लिए हस्तामूलकवत कर दी है । वह वर्णमाला कैसी है, इसे बताने के लिए नीचे उसका पूरा रूप दे रहे हैं :—

अशोककालीन सामान्य ब्राह्मी लिपि की वर्णमाला यह है :

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ अं

मात्रा

क ख ग घ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

य र ल व

श ष स ह

त थ द ध न

प फ ब भ म

1 भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 39–40 ।

(भारतीय साहित्य-जनवरी, 1959)

इस अशोक लिपि से विकसित होकर भारत की विविध लिपियाँ बनी है। इन लिपियो की आधुनिक वर्णमाला से तुलनात्मक रूप बताने के लिए प० उदयशकर शास्त्री ने एक चार्ट बनाया है, वह यहाँ उद्धृत किया जाता है—

भारत मे लिपि-विचार

श्री गोपाल नारायण बहुरा जी ने लिपि के सम्बन्ध मे जो टिप्पणियाँ भेजी हैं, उनमे पहले लिपि विषयक प्राचीन उल्लेखो की चर्चा की गयी है। वे लिखते हैं :

"बौद्धग्रन्थ 'ललितविस्तर'[1] के दसवें अध्याय मे 64 लिपियो के नाम आये हैं। 1–ब्राह्मी, 2–खरोष्ठी, 3–पुष्करसारी, 4–अगलिपि, 5–बगलिपि, 6–मगधलिपि, 7–मागरयलिपि, 8–मनुष्यलिपि, 9–अगुलीय लिपि, 10–शकारिलिपि, 11–ब्रह्मवल्ली, 12–द्राविड, 13–कनारि, 14–दक्षिण, 15–उग्र, 16–सख्या लिपि, 17–अनुलोम, 18–ऊर्ध्वध्वनु, 19–दरदलिपि, 20–खास्यलिपि, 21–चीनी, 22–हूण, 23–मध्याक्षर-विस्तर लिपि, 24–पुष्पलिपि, 25–देवलिपि, 26–नाग लिपि, 27–यक्षलिपि, 28–गन्धर्व-लिपि, 29–किन्नरलिपि, 30–महोरगलिपि, 31–असुरलिपि, 32–गरुडलिपि, 33–मृगचक्र लिपि, 34–चक्रलिपि, 35–वायुमरुलिपि, 36–भौमदेवलिपि, 37–अन्तरिक्षदेवलिपि, 38–उत्तरकुरुद्वीपलिपि, 39–अपरगौडादिलिपि, 40–पूर्वविदेहलिपि, 41–उत्क्षेपलिपि, 42–निक्षेपलिपि, 43–विक्षेपलिपि, 44–प्रक्षेपलिपि, 45–सागर लिपि 46–ब्रजलिपि, 47–लेख प्रतिलेख लिपि, 48–अनुद्रुतलिपि, 49–शास्त्रावर्तलिपि, 50–गणावर्तलिपि, 51–उत्क्षेपावर्त, 52–विक्षेपावर्त, 53–पादलिखितलिपि, 54–द्विरुत्तरपदसन्धिलिखित लिपि, 55–दशोत्तरपदसधिलिखित लिपि, 56–अध्याहारिणी लिपि, 57–सर्वरुतसग्रहणी लिपि, 58–विद्यानुलोमलिपि, 59–विमिश्रितलिपि, 60–ऋषितपस्तप्तलिपि, 61–धरणी-प्रेक्षजालिपि, 62–सर्वौषधनिष्यन्दलिपि, 63–सर्वसारसग्रहणी लिपि, 64–सर्वभूतरुद्ग्रहणी लिपि।

उक्त लिपियो के नाम पढने से ही ज्ञात हो जायेगा कि इनमें से बहुत-से नाम तो लिपि-द्योतक न होकर लेखन प्रकार के हैं, कितने ही कल्पित लगते हैं और कितने हो नाम पुनरावृत्त भी हैं।

किन्तु डॉ० राजबली पाडेय इस मत को मान्यता नही देते। उन्होने इन चौसठ लिपियों को वर्गीकृत करके अपनी व्याख्या दी है। इन लिपियो पर डॉ० पाण्डेय की पूरी टिप्पणी यहाँ उद्धृत की जाती हैं। वे लिखते हैं कि :

"ऊपर की सूची मे भारतीय तथा विदेशी उन लिपियों के नाम हैं जिनसे उस काल मे, जबकि ये पक्तियाँ लिखी गयी थीं, भारतीय परिचित थे या जिनकी कल्पना उन्होंने की थी। पूरी सूची मे से केवल दो ही लिपियाँ ऐसी हैं जिन्हें साक्षात प्रमाण के आधार

1 मूल 'ललितविस्तर' ग्रन्थ संस्कृत में है इसमें बुद्ध का चरित्र वर्णित है। इसके रचना-काल का ठीक ठीक पता नहीं चलता—परन्तु इसका चीनी भाषा में अनुवाद 308 ई० में हुआ था। डॉ० राजबली पांडेय ने इतना और बताया है कि यह कृति अपने चीनी अनुवाद से कम से कम एक या दो शताब्दी पूर्व की तो होनी ही चाहिये।

(पांडे, राजबली—इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० 26)

पर पहचाना जा सकता है। ये दो लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी हैं। चीनी विश्वकोप फा-वन-सु-लिन (रचना काल 668 ई०) इस प्रसंग मे हमारी सहायता करता है। इसके अनुसार लेखन का आविष्कार तीन दैवी शक्तियो ने किया था, इनमे पहला देवता या फन (ब्रह्मा) जिसने ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया, जो बाये से दाये लिखी जाती है, दूसरी दैवी शक्ति थी किया-लू (खरोष्ठ) जिसने खरोष्ठी का आविष्कार किया, जो दाँये से बाँये लिखी जाती है, तीसरी और सबसे कम महत्त्वपूर्ण दैवी शक्ति थी त्साम-की (Tsam-ki) जिसके द्वारा आविष्कृत लिपि ऊपर से नीचे की ओर लिखी जाती है। यही विश्व कोप हमे आगे बताता है कि पहले दो देवता भारत मे उत्पन्न हुए थे और तीसरा चीन मे...... ।'

सूक्ष्मता से विचार करने पर अधिकांश लिपियाँ (ललितविस्तर मे बतायी गयी) निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित की जा सकती हैं, कुछ तो फिर भी ऐसी रह जाती हैं जिन्हें पहिचानना और परिभाषित करना कठिन ही है

1 भारत मे सबसे अधिक प्रचलित लिपि **ब्राह्मी**। यह लिपि की अकारादिक (alphabetic) प्रणाली थी।

2. वह लेखन प्रणाली जो भारत के उत्तर-पश्चिम तक ही सीमित रही **खरोष्ठी**। इसमें अकारादिक वर्णमाला तो ब्राह्मी के समान थी पर लिपि भिन्न रही।

3 भारत मे ज्ञात विदेशी लिपियाँ

(क) यवनाली (यवनानी)—यूनानी (ग्रीक) वाणिज्य व्यवसाय के माध्यम से भारत इससे परिचित था। यह भारत-बाख्त्री और कुषाण सिक्को पर भी अंकित मिलती है।

(ख) दरदलिपि . (दरद लोगो की लिपि)

(ग) खस्यालिपि (खसों–शकों की लिपि)

(घ) चीना लिपि (चीनी लिपि)

(च) हूण लिपि (हूणो की लिपि)

(छ) असुर लिपि (असुरो की लिपि, जो कि पश्चिम ऐशिया मे आर्यों की शाखा के ही थे।)

(ज) उत्तर कुरुद्वीप लिपि (उत्तर कुरु, हिमालय, उत्तर के क्षेत्र की लिपि)

(झ) सागर-लिपि (समुद्री क्षेत्रो की लिपि)

4 भारत की प्रादेशिक लिपियाँ आधुनिक प्रादेशिक लिपियो की भाँति पूर्वकाल मे ब्राह्मी के साथ साथ ऐसी प्रादेशिक लिपियाँ भी रही होंगी जो या तो ब्राह्मी का ही रूपान्तर हो, या उससे ही विकसित या व्युत्पन्न हो या पुरा-ब्राह्मी या तत्कालीन किसी अन्य स्वतन्त्र लिपि से व्युत्पन्न न हो। ब्राह्मी के रूपान्तरो को छोड कर उक्त सभी कालकवलित हो गयी। फिर भी नीचे लिखे नामो मे कुछ की स्मृति अवशिष्ट है

(क) पुखरसारीय (पुष्करसारीय) अधिक सम्भावना यह है कि यह पश्चिमी गाधार मे प्रचलित रही हो। जिसकी राजधानी पुष्करावती थी।

(ख) पहारइय (उत्तर पहाडी क्षेत्र की लिपि)

(ग) अग लिपि (अग उ०पू० बिहार की लिपि)
(घ) बग लिपि (बगाल मे प्रचलित लिपि)
(च) मगध लिपि (मगध मे प्रचलित लिपि)
(छ) द्रविड लिपि (दमिलि) (द्रविड प्रदेश की लिपि)
(ज) कनारी लिपि (कनारी क्षेत्र की लिपि)
(झ) दक्षिण लिपि (दखन (दक्षिण) की लिपि)
(ट) अपर-गौड़ाद्रिड-लिपि (पश्चिमी गौड की लिपि)
(ठ) पूर्व विदेह लिपि (पूर्व विदेह की लिपि)

5. जनजातियों की (Tribal) लिपिया :

(क) गंधर्व लिपि (गधर्वों की लिपि, ये हिमालय की जन-जाति हैं)।
(ख) पौलिंदी (पुलिंदो की विंध्यक्षेत्र के लोगो की)
(ग) उग्रलिपि (उग्र लोगो की लिपि)
(घ) नागलिपि (नागो की लिपि)
(च) यक्षलिपि [यक्षो (हिमालय की एक जाति) की]
(छ) किन्नरलिपि (किन्नरो, हिमालय की एक जाति की लिपि)
(ज) गरुडलिपि (गरुडो की लिपि)

6. साम्प्रदायिक लिपियाँ·

(क) महेसरी (महेस्सरी माहेश्वरी, शैवो मे प्रचलित एक लिपि)
(ख) भौमदेव लिपि (भूमि के देवता (ब्राह्मण) द्वारा प्रयुक्त लिपि)

7 चित्ररेखान्वित लिपियाँ

(क) मंगल्य लिपि (एक मगलकारी लिपि)
(ख) मनुष्य लिपि (एक ऐसी लिपि जिसमे मानव-आकृतियों का उपयोग हो)
(ग) आंगुलीय लिपि (अगुलियो के से आकार वाली लिपि)
(घ) ऊर्ध्व धनु लिपि (चढे हुए धनुष के से आकार वाली लिपि)
(च) पुष्पलिपि (पुष्पांकित लिपि)
(छ) मृगचक्र लिपि (वह लिपि जिसमें पशुओ के चक्रो का उपयोग किया गया हो।)
(ज) चक्र लिपि (चक्राकार रूप वाली लिपि)
(झ) वज्र लिपि (वज्र के समरूप वाली लिपि)

8. स्मरणोपकरी (Mnemonic) लिपि

(क) अकलिपि (या संख्या लिपि)
(ख) गणित लिपि (गणित के माध्यम वाली लिपि)

9. उभारी या खोदी लिपि :

(क) आदश या आयस लिपि (वाच्यार्थत कुतरी हुई (bitten) अर्थात् छेनी से खोदी हुई)

10 शैली-परक लिपियाँ

(क) उत्क्षेप लिपि (ऊपर की ओर उभार कर (उछालकर) लिखी गयी लिपि)
(ख) निक्षेप लिपि (नीचे की ओर बढ़ा कर लिखी गयी लिपि)
(ग) विक्षेप लिपि (सब ओर से लवित लिपि)
(घ) प्रक्षेप लिपि (एक ओर विशेष सवर्द्धित लिपि)
(च) मध्यक्षर विस्तार लिपि (वह लिपि जिसमे मध्य-अक्षर को विशेष सम्वर्द्धित किया गया हो।)

11 सक्रमण-स्थिति द्योतक लिपि :

विमिश्रित लिपि (चित्ररेखान्वित, अक्षर (Syllabics) तथा वर्ण से विमिश्रित लिपि)।

12. त्वरा लेखन

(क) अनुद्रुत लिपि (शीघ्रगति से लिखने की लिपि या त्वरा लेखन की लिपि)

13. पुस्तको के लिए विशिष्ट शैली ˙

शास्त्रावर्त (परिनिष्ठित कृतियो की लिपि)

14. हिसाब-किताब की विशिष्ट शैली ˙

(क) गणावर्त (गणित मिश्रित कोई लिपि)

15. दैवी या काल्पनिक ˙

(क) देवलिपि (देवताओ की लिपि)
(ख) महोरग लिपि (सर्पों (उरगो) की लिपि)
(ग) वायुमरु लिपि (हवाओ की लिपि)
(घ) अन्तरिक्ष-देव लिपि (आकाश के देवताओ की लिपि)

दैवी या काल्पनिक लिपियो को छोड कर शेष भेद या रूप भारत के विविध भागो की लिपियो मे, पडौसी देशो की लिपियो मे, प्रादेशिक लिपियो मे और अन्य चित्र-रेखा न्वयी या आलकारिक लेखन मे कही न कही मिल ही जाते हैं।[1]

इस लेखक ने मोहनजोदडो और हडप्पा की लिपि को विमिश्रित लिपि माना है जिसमे संक्रमण सूचक चित्ररेखक (pictographs), भावचित्ररेखक (ideographs) तथा ध्वनि-त्रिह्नक (अक्षर) रूप मिलेजुले मिलते हैं।[2]

किन्तु अठारह लिपियो का उल्लेख कई प्रमाणो मे मिलता है। इस सम्बन्ध मे हम पुन: श्री बहुरा जी की टिप्पणी उद्धृत करते हैं ˙

वर्णक समुच्चय मे मध्यकालीन अट्ठारह लिपियो के नाम इस प्रकार हैं ˙—

1. उड्डी (उडिया), 2. कीरी, 3. चणक्की, 4. जक्खा (यक्ष लिपि), 5 जवणी (यावनी ग्रीक लिपि), 6 तुरक्की (तुर्की), 7. द्राविडी, 8 नडि, नागरी (ई०सं० की

1. Pandey, Rajbali—Indian Palaeography, P. 25-28.
2. Ibid, P 29

8वी शताब्दी के बाद मे विकसित) 9 निमित्री (ज्योतिष सम्बन्धी), 10. पारसी, 11. मूयलिवि, मालविणी (मालव प्रदेशीय लिपि), 12 मूलदेवी (चौरशास्त्र के प्रणेता मूलदेव प्रणीत सकेत लिपि), 13. रक्खशी (राक्षसी), 14 लाडलि (लाट प्रदेशीय), 15. सिंघविया (सिंधी), 16 हंसलिपि (Arrow headed alphabets) के नाम तो लावण्य-समयकृत 'विमलप्रबन्ध' मे मिलते है और इनसे जूनी (प्राचीन) लिपियो के नाम, 17. जवणालिया अथवा जवणनिया और 18. दामिलि और है।

'पन्नवणा सूत्र' की प्राचीन प्रति मे 18 लिपियों के नाम इस प्रकार हैं :—1. बंभी, 2 जवणालि, 3 दोसापुरिया, 4. खरोट्ठी, 5. पुक्खरसारिया, 6. भोगवइया, 7. पहाराइया, 8 उपग्रतरिक्खिया, 9. अक्खरपिट्ठिया, 10. तेवणइया (वेवणइया) 11. गिलिगहइया, 12 अकलिपि, 13 गणितलिपि, 14. गधव्व लिपि, 15 आदस (आयस) लिपि, 16. माहेसरी, 17 दमिली, 18. पोलिंदी।

'जैन समवायाग सूत्र' की रचना अशोक से पूर्व हुई मानी जाती है। इसमे दी हुई अट्ठारह लिपियो की सूची मे ब्राह्मी और खरोष्ठी के अतिरिक्त जिन लिपियो के नाम दिए गए हैं उनमे लिखा हुआ कोई शिलालेख प्राप्त नही हुआ है। सम्भवत वे सभी लुप्तप्राय हो गई होगी और उनका स्थान ब्राह्मी ने ही ले लिया होगा।

इसी प्रकार 'विशेपावश्यक सूत्र' की गाथा 464 की टीका मे भी 18 लिपियो के नाम गिनाये गए हैं—1 हसलिपि, 2. मुअलिपि, 3. जक्खीतट लिपि, 4. रक्खी अथवा बोधघा, 5 उड्डी, 6 जवणी, 7. तुरुक्की, 8 कीरी, 9. दविडी, 10. सिंधविया, 11. मालविणी, 12. नडि, 13 नागरि, 14 लाडलिपि, 15 पारोसी वा बोधघा, 16. तहअनिमित्तीय लिपि, 17 चाणक्की, 18. मूलदेवी।

'समवायागसूत्र' और 'विशेपावश्यक' टीका मे आयी हुई 18 लिपियो के नामो मे बडा अन्तर है। 'समवायाग' मे ब्राह्मी और खरोष्ठी के नाम आते हैं परन्तु विशेपावश्यक टीका मे एशिया और भारत के प्रदेशो के नामो पर आधारित तथा कतिपय प्रसिद्ध पुरुषो की नामाश्रित लिपियो के नाम देखने को मिलते हैं, यथा—तुरुक्की, सिंधविया, दविडी, मालविणी, पारसी ये देशो के नाम पर है और बाणक्की, मूलदेवी आदि व्यक्ति विशेष द्वारा निर्मित हैं। रक्खसी और पारसी दोनो के पर्याय बोधघा दिए हैं। ये दोनो एक ही थी क्या ? समवायागसून वाली सूची स्पष्ट है।

इनमे कुछ तो शुद्ध साकेतिक लिपियाँ हैं जो अमुक-अमुक वर्णों का सूचन करती हैं और कुछ एक ही लिपि के वर्णों मे क्रम-परिवर्तन करके स्वरूप-ग्रहण करती हैं, यथा—चाणक्की और मूलदेवी लिपियाँ नागरी के वर्णों मे परिवर्तन करके ही उत्पन्न की गयी हैं। वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र' मे परिगणित 64 कलाओ मे ऐसी लिपियो का भी उल्लेख आता हैं और इनको 'म्लेच्छित विकल्प' की सज्ञा दी गयी है। जब शुद्ध शब्द के अक्षरो मे विकल्प या फेरफार करके उसे अस्पष्ट अर्थ वाला बना दिया जाता है तो वह 'म्लेच्छित विकल्प' कहलाता है, यथा—'क', 'स', 'थ' और 'द' से 'क्ष' तक के अक्षरो को ह्रस्व और दीर्घ तथा अनुस्वार और विसर्ग, इन सबको उल्टा क्रम करके अन्त मे क्ष लगाकर लिखने से दुर्बोध्य 'चाणक्यी' लिपि बन जाती है।

अ क, ख ग, घ ङ, च ट, त प, य श, इनको लस्न अर्थात् अ की जगह क, ख के स्थान पर ग रखने तथा शेष को यथावत् रखने मे मूलदेवीय रूप हो जाता है।

गूढ़ लेख-ग्रह् 9-ग्रइउऋलृएऐओग्रौ, नयन-2 दीर्घ, वसु 8-कखगघङ चछज, षडानन 6—झयटठडढ, सागर 7-णतथदधनप, मुनि 7-फवभमयरल, ज्वलनाग 5-वशषसह, तु कम्बुग—विसर्ग-ग्रनुस्वार। इस मुञ्जों से लिखा गूढ़ लेख कहलाता है — "ग्रहनयनवसुसमेत षडाननख्यानि सागरा मुनय । ज्वलनांग तु कम्बुग दुर्लिखित गूढ लेख्यामिदम् ॥ यथा—

वसु	1=क्+ग्रह 1 नयन=ग्रा=क+ग्र+ग्रा=का		
मुनि	4=म्+ग्रह 1 ग्र=म + ग्र	=म	
सागर	4=द्+ग्रह 6 = द + ए	=दे	
ज्वलनाग	1=व+ग्रह 1 = व+ ग्र	=व	
		= कामदेव	

एव "प्रकारा ग्रन्येऽपि द्रष्टव्याः"

इसी प्रकार ग्रक पल्लवी, शून्यपल्लवी ग्रौर रेखापल्लवी लिपियाँ भी होती थी। ग्रकपल्लवी मे पहला ग्रक वर्ण का द्योतक, दूसरा उस वर्ग के ग्रक्षर का ग्रौर तीसरा मात्रा का द्योतक होता है। ग्र पहला वर्ग है, सभी स्वर इसक ग्रक्षर हैं। क, च, ट, त, प, य ग्रौर श ये ग्रन्य वर्ग हैं। इन वर्गों के ग्रक ये होगे 1=ग्र वर्ग-स्वर वर्ग, 2=क वर्ग, 3=च वर्ग, 4=ट वर्ग, 5=त वग, 6=प वर्ग तथा 7=यरलव एव 8=शषसह। ग्रक पल्लवी मे लेख यो लिखा जायेगा—

212	651	537	741
का	म	दे	व

शून्याको मे हल्की ग्रौर गहरी शून्य से लघु ग्रौर गुरु का सकेत किया जाता है, इसी प्रकार रेखाको मे हल्की गहरी ग्रौर बडी छोटी रेखाग्रो से सकेत बनाए जाते है।

कितनी ही प्राचीन ताडपत्रीय ग्रौर कागज पर लिखी प्रतियो म ग्रक्षरात्मक ग्रक भी पाए जाते हैं, जैसे-रोमन लिपि मे १० (10)के लिए X, ५०(50) के लिए L, १०० (100)के लिए C ग्रक्षरो का प्रयोग किया जाता [है। जैसे दस, बीस तीस ग्रादि दशक सख्याग्रो के सूचक ग्रक्षर लिखे जाते है, परन्तु शून्य के स्थान पर शून्य ही चलता है जैसे—

लृं=10, थ=20, ला=30, प्त=40, 0=50, थुं=6०, थूं=70 0=80,0=90,
0 0 0 0 0

सु=100, सू=200, स्ता=300, स्ति=400, स्तो=500, स्त=600, स्त =700
0 0 0 0 0 0 0
0 0 0 0 0 0 0

इत्याद।

हम देखते है कि इन सख्याग्रो को पडी पक्ति मे न लिख कर ऊपर-नीचे खडी पक्ति मे लिखा जाता है। कुछ ग्रको के स्थान पर दहाई मे वे ग्रक ही ग्रपने रूप मे लिखे जाते हैं ग्रौर कुछ के लिए ग्रन्य ग्रक्षर नियत हैं, यथा—लृं=11, लृं=12, लृं=13, परतु,
1 2 3

14 के लिए लृं लिखा जायगा। इसी प्रकार लृं=15, लृं=16, लृ=17, लृं=18,
एक लृ फ़ु र्या ग्रा

सं=19 इत्यादि।

हमारे बचपन मे चटशालाएँ चलती थी। चटशालाएं सम्भवत चेट्टिशाला का रूपान्तर हैं। चेट्टि शब्द शिष्य का वाचक है। चटशाला के बडे छात्र या अध्यापक को जोशीजी कहते थे। मानीटर को 'वरचट्टी' कहा जाता था। उन दिनो पहले एक पटरे पर गेरू या लाल मिट्टी बिछा कर लकडी के 'वरते' से अक्षर लिखना सिखाया जाता था। फिर लकडी की पाटी पर मुल्तानी पोत कर नेजे (सरकण्डे) की कलम और गोदवाली काली स्याही से सुलेख लिखाया जाता था। इसको 'अक्षर जमाना' कहते थे। पहले वर्ण-माला फिर गणित पाटी आदि तो लिखाते ही थे परन्तु बडे छात्रो को सिद्धा' अर्थात् कातन्त्र सूत्र 'सिद्धो वर्णा' लिखाते थे—पर साथ ही, हमे याद है कि एक 'दातासी' लिपि भी लिखाई जाती थी। इसको जानने वाला सबसे चतुर छात्र समझा जाता था-स्वर तो वही रहते हैं परन्तु 32 व्यजनो के लिए ये अक्षर होते थ

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
श्री दा	ता	घ	न	कौ	स	मा	वो	वा	ल

11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24
म	हि	प	गो	घ	टी	आ	ई	पू	छ	ज	डा	थ	ढा

25	26	27	28	29	30	31	32	इति दातासी।
उ	च	री	य	ठ	ण	झ	फू	

इसका दूसरा सूत्र इस प्रकार है--

दाता धण कोस भाव, बाला मह खग घटा।
आशा पीठ जडे पण्डे, चय रिच्छ थन झफा।।
इति दातासी।

वर्ण विपर्यय द्वारा लिखी जाने वाली एक सहदेवी विधि भी है, जिसका क्रम इस प्रकार है --

अप। फब। मम। कच। खछ। गज। घझ। ङञ।
टत। ठथ। डद। ढध। णन। हय। शव। रस। लप।।

इति सहदेवी

लिपि

व्यावहारिक समस्याए

यहाँ तक हमने ऐतिहासिक दृष्टि से लिपि के स्वरूप पर विचार किया है। साथ ही विविध लिपियों की वर्णमालाओं पर भी प्रकाश डाला है। पांडुलिपि-विज्ञान के अध्येता और अभ्यासी को तो आज विविध ग्रन्थागारों मे उपलब्ध ग्रन्थो का उपयोग करना पडता है। इन ग्रन्थो मे देवनागरी के ही कुछ अक्षरो के ऐसे रूप मिलते हैं कि उन्हें पढना कठिन होता है। इस दृष्टि से ऐसे कुछ अक्षरो का ज्ञान यहाँ करा देना उपयुक्त प्रतीत होता है।

एक अनुसन्धानकर्ता गुजरात के ग्रन्थागारो के ग्रन्थो का उपयोग करने गये तो उन्हे एक प्रतिष्ठित आचार्य ने ऐसे ही विशिष्ट अक्षरो की एक अक्षरावली दी थी और उस अक्षरावली के कारण उन्हे वहाँ के ग्रन्थो को पढने मे कठिनाई नही हुई। वह अक्षरावली[1]

1. सत्येन्द्र (डॉ०)—अनुसन्धान, पृ० 111।

नीचे दी जाती है

उ ऊ ओ औ छ ज झ

ड ढ भ ल श स ह ख

(क= के, (के=कै, (का=को, (को=कौ, कु, कू

सयुक्त वण

= ज्ज, = ड्ड, = क्क, = ञ्झ,

= ड्ड, = भ, = थ= द = द्ध, = ध,

= ल्ल = ज्ज = त

= श्र

= क्य, = ख्य, = ज्य, = ध्य,

इस अक्षरावली पर दृष्टि डालने से एक बात तो यह विदित होती है कि 'उ ऊ ओ औ' चारो स्वरो मे 'मूल स्वर' का रूप एक है, उ ऊ मे भी और 'ओ औ' मे भी वह है ३ इसमे शिरोरेखा देकर 'उ' बनाया गया है। इसी मे 'ऊ' की मात्रा लगाकर 'ऊ' बनाया गया है। यह 'ऊ' की मात्रा है–'' और यह अशोककालीन ब्राह्मी की 'ऊ' की मात्रा का ही अवशेष है जो आज तक चला आ रहा है। ओ औ मे 2 की रेखा को 3 की भाँति वृत्तावित या घुण्डीयुक्त कर दिया गया है। फिर 3 पर शिरोरेखा मे भी अशोक लिपि की परम्परा मिलती है। दोनो ओर '–' यह रेखा लगाने से 'ओ' बनता है, ये 'ओ' की मात्राएँ है। 'ओ' की मात्रा मे भी एक रेखा (ऊ) की मात्रा के सिर पर चढाई गयी है। ये ब्राह्मी के अवशेष हैं। यही प्रवृत्ति कु–कू मे भी मिलती है। के कै, को कौ मे बगला लिपि की मात्राओ से सहायता ली गई है।

अब यहाँ कुछ विस्तार से राजस्थान के ग्रन्थो मे मिलने वाली अक्षरावली या वर्णमाला पर विस्तार से वैज्ञानिक विश्लेषणपूर्वक विचार डॉ हीरालाल माहेश्वरी के शब्दों मे दिये जाते हैं राजस्थानी की और राजस्थान मे उपलब्ध प्रतियो के विशेष सन्दर्भ मे उनकी वर्णमाला विषयक ज्ञातव्य बातें निम्नलिखित है—

1. (क) राजस्थान मे उपलब्ध ग्रन्थो मे प्रयोग मे आयी देवनागरी की वर्णमाला की कुछ विशेषताएँ कहीं-कहीं मिलती है। उन्हें हम इन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

(अ) विवादास्पद वर्ण

(आ) भ्रान्त वर्ण

(इ) प्रमाद से लिखे गए वर्ण

(ई) विशिष्ट वर्ण चिह्न, उनका प्रयोग करना अथवा न करना तथा

(उ) उदात्त-अनुदात्त-ध्वनि वर्ण

पहले प्रत्येक के एकाध उदाहरण देकर इनको स्पष्ट करना है :—

(अ) विवादास्पद (Controversial) वर्णों के उदाहरण

1— थ > छ / छ > थ

थ > छ (सं. 1887 पोह सुदि 1 को लिखे गए बीकानेर परवाने से) अन्य परवानों मे भी ऐसे ही रूप दोनो के मिलते हैं, सं. 1907 तक।

प्रयोग के उदाहरण

थाप > छाप / छेक > थेक

था > छा / छड़ी > थड़ी

थो > छो / छुणछुणो > थुणथुणो

2— र > द । द > र ।

द।र।र। र द ८ (ये रूप सभी प्रतियों और परवानों में)

र द

चवरा > चवदा । चवदा > चवरा
(4) (14)

3—थ > ब । ब > थ । (ब)

थोबड़ो > बोबड़ो ।

(आ)

1—छ > ब । ब > छ

छुरी > बुरी । (परमारी छानी छुरी) बंद > छंद ।
(परमारी बुरी) पद्धडिया पद्धड़िया छंद ।

छाप > बाप > मैं तो म्हारे छाप का ।
मैं तो म्हारे बाप का ।।

2—ट > ढ ।

वट वट गया दवांणी (प्रज्ञानी पृथक्–पृथक् हो गए) (मिल-मिलाप में रमकर)

वढ वढ गया दवांणी (प्रज्ञानी कह वढ गए)

3—भ > म ।

भरेडी > मरेडी

4—स > म ।

सिसियर > मिसियर

(चन्द्रमा) (काला, काले वर्ण का, काले वर्ण के समूह का)

5—छ > घ ।

छमछम करती ग्राई ।

घमघम करती ग्राई ।

6—च > व ।

चांदणो > वांदणो

7—ज > त ।

जाण्यो तेरो जत ।

जाण्यो तेरो तत ।

ज ज (ज) त त (त)

8—ण्य > ण ।

ण्य ण्य (ण्य)

जाण्यो पण ग्राण्यो नही → (जाना किन्तु लाया नहीं)

जाणो पण ग्राणो नही → (जानते हो किन्तु लाते नही)

9—त > ट ।

तूटेगो > टूटेगो

त त (त) ट ट (ट)

10—घ > ध ।

घण जो या काई मिलै । (स्त्रियों को देखने से क्या मिलता है)

धण जों या काई मिलै । (ग्रधिक (ग्रातुरता) दिखाने से क्या मिलता है)

11—न > त ।

न न त (न)

नातो तेरै नाम रो । (तेरे नाम का नाता है)

तातो तेरै नाम रो । (तेरे नाम का प्रेमी हूँ)

12—प > म ।

प प म (प)

पड़ै पड ताल समदा पारी । (समुद्रों के पार तक खबर होती है)

मड़ै मड़ ताल समदा पारी (सरोवरों, समुद्रो के पार तक लाशें ही लाशें हैं ।)

13–फ > क। फ फ फ / फ

फर फरडाटो भायो
कर करडाटो भायो

14–य > म

जय कुंण जाणै।
जम कुण जाणै।

15–म > स।

मान निहोरा कित रह्या।
सान निहोरा कित रह्या।

16–ह > ड। ह . ह . ह / ह

17–ड > द।

हुडूकियो > डदूकियो
डेल्ह > देल्ह (सुप्रसिद्ध कवि का नाम)

(ब) भ्रामक वर्ण

1— त्र > न्न । त्र > त्र
त्रपत > न्त्रपत । न्त्रपत > त्रपत

2—हलन्त् 'र' के लिए दो ग्रक्षरो के बीच "—" चिह्न भी लिखा मिलता है (अनेक प्रतियों मे)। सत्रहवीं शताब्दी की प्रतियो में अपेक्षाकृत अधिक।

उदाहरणार्थ

धार्‍या > धा–या
मार्‍या > मा–या

इससे ये भ्रम हो सकते हैं –

(अ) सम्भवत धा और या को मिलाया गया है (धार्‍या > धा-या)।
(ब) सम्भवत इन दोनो के बीच कोई अक्षर, मात्रादि छूट गया है।
(स) सम्भवत. इसके पश्चात् शब्द समूह या ओल (पंक्ति) छूट गई है।
इसको कोई चिह्न-विशेष न समझ कर र का हलन्त रूप (–) समझना चाहिए। यह (–) अन्तिम अक्षर के साथ जुड़े हुए रूप मे मिलती है, पृथक् नही।

(स) प्रमाद से लिखे गए वर्ण

इस शीर्षक के अन्तर्गत उल्लिखित (अ) विवादास्पद (Controversial) और

(आ) भ्रामक (Confusing) दोनो वर्ण भी सम्मिलित हैं। अब यहाँ प्रमादी लेखन से क्या परिणाम होते हैं और क्या कठिनाइयाँ खडी होती हैं, उन्हें देखना है। पहले मात्राओ पर ध्यान जाता है :

(1) मात्रा :

1— ा > ी । का की
का > की । का > की
(ा > ी)

2—(क) उ > अः
(ख) ओ > आ आ
(क) द्म > घ
मात्रा (ा > उ)
(ख) कामोदरी > कामादरी
↓
कामादरी कामादरी

कामादरी

द्रष्टव्य है कि अनक हस्तलिखित प्रतियो मे दो मात्राएँ बगाली लिपि की भाँति लगी मिलती है। यह प्रवृत्ति 19वी शताब्दी तक की प्रतियो म पाई जाती है। दोनो मात्राएँ न० (1) मे द्रष्टव्य है। यह प्रवृत्ति बीकानेर क 'दरबार पुस्तकालय' मे सुरक्षित ग्रन्थो मे विशेष मिली हैं।

3— उ 7 अ
ए > ऐ । ऐ > ए

4— ओ>औ।औ > ओ ॅ > ॆ

प्रतीत होता है कि यह गुरुमुखी के प्रभाव का परिणाम है और यह प्रवृत्ति 18वी शताब्दी और उससे आगे लिखे ग्रन्थो मे अधिक मिलती है।

अब हम इन वर्णों म मिलन वाले वैशिष्ट्य को ले सकते हैं :

(2) वर्ण।

क > फ।

ष > प। द्रष्टव्य है कि राजस्थानी मे 'ख' वर्ण 19वी शताब्दी तक की प्रतियो मे नहीं पाया जाता। बदले मे 'ष' ही पाया जाता है। इसके अपवाद ये हैं : 1 सस्कृत शब्द मे 'ख' भी मिलता है, 2. ब्राह्मण प्रतिलिपिकारो ने दोनो का प्रयोग किया है।

ग > म । स्याही की अधिकता, पन्ने का फटना, स्याही का फैलना तथा लिखे हुए पर लिखने के कारण कुछ का कुछ पढ़ना मिलता है । इससे अर्थ का अनर्थ बहुत हुआ है ।

घ > व । ध ध / न

झ > मु या मु > झ । फ > पु । पु > फ ।

वगला लिपि के अनुसार लिखित 'उ' मे यथा

झम > मुम । यहाँ भ मे ु (उ) की मात्रा मिलायी गयी है, इससे 'भ' 'झ' लगने लगा है ।

ट > ठ । ठ > ट ।

ड > उ । उ > ड ।

द > व । व > द द द / द - द द / व

ष > त्त (द्वित्व युक्त त्)

लव > त्तत

व > न । न न / व न न / न

स > थ्य

श > प्त । त्त (त्र)

द्रष्टव्य है कि इस वर्ग के अन्तर्गत जो उदाहरण मिलते हैं, वे अनेक हैं और प्रत्येक लिपिकार क अनुसार बदलते, घटते बढते रहते हैं । 'मक्षिका स्थाने मक्षिका पात' के सिद्धान्त-पालन करने वाले मामूली पढे लिखे लिपिकार ऐसी भूलें किया करते हैं ।

(द) विशिष्ट वर्ण-चिह्न

य और व के नीचे बिन्दी लगाने की प्रथा राजस्थान में बहुत पुराने काल से है । इनको क्रमश य और व लिखा जाता है । पुराने ढग की पाठशालाओ म वर्णमाला सिखाते समय ववा तर्क स वीदली तथा 'ययियो पेटक' और 'ययियो वीदक' बताया जाता था । ववा तले स वीदली अर्थात् 'व' के तले बिन्दी (व) । ययियो पेटक अर्थात् य शुद्ध । ययिया वौदक अर्थात् य के नीचे बिन्दी (य) । 17 वी शताब्दी तक य य दो पृथक ध्वनियाँ थीं, इसके सकेत रूप मे प्रमाण मिलते हैं । उसके पश्चात् शब्द के आदि के य को तो य और बीच के य को य करके लिखा जाता रहा । अठारहवी शताब्दी और उसके बाद की प्रतियो मे प्रत्येक य' को य करके ही लिखा जाने लगा चाहे आदि म हो या मध्य मे या अन्त मे । य (य) और (य) के बीच ध्वनि (yeh, yes को yeh जैसे बोलते हैं) रही थी । इसी प्रकार व और व मे अन्तर है । व को W और व को V की सी ध्वनियाँ मान सकते

हैं । तात्पर्य यह है कि प्राचीन लिपि मे बिन्दी लगाई जाती थी जो अर्थ भेद स्पष्ट करने का प्रयास था । अठारहवी शताब्दी से (य, य्) की भाँति व व को भी व करके लिखा जाने लगा ।

इनसे फायदा यह है कि एक तो व और य का निश्चित पता चल जाता है, अन्यथा व को प, य को म या प आदि-आदि समझने की भ्राँति हो सकती है । दूसरे यह पता लग जाता है कि या तो रचना, अथवा लिपिकार, राजस्थानी है, और सामान्यतया जो भूले राजस्थानी लिपिकार करता है, वे सम्बन्धित प्रति मे भी होगी ।

ड और ड पृथक् ध्वनियाँ है । कही-कही दोनों के लिए केवल 'ड' ही लिखा मिलता है । पहचान यह है कि 'ड' आदि मे नही आता । इसके अतिरिक्त जो भ्राँति हो सकती है, उसका निराकरण अन्य उपायो से होगा ।

चन्द्र-बिन्दु का प्रयोग कही भी नही होता । जहाँ चन्द्र बिन्दु जैसा प्रयोग होता है, निश्चित समझना चाहिए कि या तो यह छूटे हुए अश को द्योतित करने का (ँ) चिह्न है, *अथवा बडी 'ई' की मात्रा (हजारा प्रतियो मे मुझे तो एक भी चन्द्र बिन्दु का उदाहरण* नही मिला ।) ध्यातव्य है कि गुजराती लिपि मे चन्द्र-बिन्दु नही है । भाषा-शास्त्रीय और सास्कृतिक दृष्टियो से राजस्थान का उससे विशेष सम्बध होने के कारण भी ऐसा हुआ लगता है ।

क्ष को ध्य लिखा जाता है । उन्नीसवी शताब्दी स क्ष' भी लिखा मिलने लगता है किन्तु यह ध्वनि सस्कृत शब्दो के अतिरिक्त राजस्थानी म नही है । ङ नही है । ध्यातव्य है कि ङ को 'ड' करके लिखा जाता है इसको 'ड' समझना चाहिए 'ङ' नही ।

'ञ' को पाठशालाओ मे ता 'नदियो खाँडो चाँद' करके पढाया जाता था । खडित चन्द्राकार होने से इसको ऐसा कहा गया । केवल बारहखडी काव्य में ही 'ञ' आया है । इसी प्रकार 'ङ' भी बारहखडी काव्य म प्रयुक्त हुआ है । अन्य स्थानों पर ये दो (ङ और ञ) नही आते । ज्ञ को सदा ग्य करके लिखा जाता है ।

विराम चिह्नों के लिए चार बातें देखने मे आई है—(,) कोमा का प्रयोग नही होता, केवल पूर्ण विराम का होता है । (2) पूर्ण विराम या तो (1) की भाँति लिखा जाता है अथवा (3) विसर्ग की भाँति ( ) या (4) कुछ स्थान छोड दिया जाता है । विराम चिह्न रूप म विसर्ग अक्षर से ठीक जुडती हुई न लगाकर कुछ जगह छोडकर लगाई जाती है, यथा 'जाणो चाहिजें काम करणो चाहिजें' आदि । इसी प्रकार कुछ न लगाकर रिक्त स्थान छोड़ने का तात्पर्य भी पूर्ण विराम है, यथा 'जाणो चाहिजें=काम करणो चाहिजें' । रेखाकित स्थान पर पूर्ण विराम मानना चाहिए ।

छूटे हुए अक्षर और मात्रादि, तथा जुडवे सकेत (–) के लिए ये बातें द्रष्टव्य हैं—

छूटा हुआ अक्षर दाएँ, बाएं हाशिये मे, मात्रादि भी हाशिये मे लिखी जाती है । किस हाशिये मे कौन सा अक्षर और मात्रादि लिखा जाये इसका सामान्य नियम यह है कि यदि आधे से पूर्व तक कोई अक्षरादि छूट गया है, तो बाएँ मे और बाद मे कोई अक्षरादि छूट गया है तो दाएँ मे लिखा जाता है । इसका चिह्न ‸ अथवा / अथवा L है ।

अन्तिम को आधा प या = न समझना चाहिए । यदि अर्ध या पूर्ण पक्ति छूट गई है, तो वह प्राय ऊपर के स्थान पर या नीचे के स्थान पर लिखी जाती है । मूल लिखावट में दो स्थानो पर ‸‸ चिह्न देकर ऊपर या नीचे (ओ) या (वो) लिखकर छूटी हुई पक्ति

लिखते हैं। यह पंक्ति प्रधान बाएँ हाशिये से कुछ हटकर दाहिनी ओर होती है, ताकि पाठक को आसानी से पता चल जाए (ओ अर्थात् ओली-Live, और वो अर्थात् वोली > ओली।)

लिखते समय यदि शब्द तो पूरा लिखा गया किन्तु मात्रा छूट गई या स्थान नही रहा तो वह बाँए या दाएँ हाशिये मे लिखी जाएगी। आधे वाला नियम यहाँ भी लागू होगा। इससे कभी-कभी बडा भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

इस सम्बन्ध मे तीसरी स्थिति यह है कि यदि आधा शब्द लिखा गया और एक या अधिक उसके अक्षर लिखे जाने से रह गए तो लिपिकार हाशिये मे एक चिह्न (ʃ) देता है, इसको आ (ा) या पूर्ण विराम (।) समझना चाहिए। यह सदैव दाएँ हाशिए मे ही होगा। उदाहरणार्थ एक शब्द 'प्रकरण' को लें। लिखते समय पूर्व पंक्ति मे प्रक तक *लिखा गया क्योंकि बाद मे हाशिया आ गया था।* इसको यो *लिखा जाएगा—प्रक* | । रण। भूल से इसको अकारण न समझना चाहिए। (हाशिया)

विद्वानो ने उपर्युक्त चारो वर्गों वाली अनेक भूले की है। पाठ को हडबडी में पढने, प्रतिप्रकृति को ठीक से न समझने आदि-आदि के कारण ऐसी भूलेँ हुई है। एक अत्यन्त मनोरजक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। डॉ. सियाराम तिवारी ने अपने शोध प्रबन्ध 'मध्यकालीन हिन्दी खण्ड काव्य' मे रामलता कृत रुक्मणी-मगल का परिचय दिया है। उस मूल प्रति मे पन्नो का व्यतिक्रम था जो डॉ० तिवारी के ध्यान मे नही आया। ध्यान मे न आने का कारण यह था कि 'मगल' मे छन्द सख्या क्रम से न होकर रागो के अन्तर्गत पृथक-पृथक है। क्रम से यदि सख्या होती तो वे सगति बैठा लेते। इस प्रति को क्रमानुसार (अरेन्ज) न करके उसी रूप मे उन्होने लिखा है। इस कारण उनका यह समूचा अश सर्वथा गलत और भ्रांतिपूर्ण हो गया है।

(ई) उदात्त-अनुदात्त ध्वनियो से सम्बन्धित कोई चिह्न नही है, केवल प्रसग, अर्थ और अनुभव ज्ञान से ही सहायता मिल सकती है। कही-कही तो यह भी सभव नही है। एक उदाहरण यह है, शब्द है 'साड' यह साड भी हो सकता है और सा'ड भी। सा'-ड का तात्पर्य ऊँटनी है। जहाँ अनक पशुओ की नामावली आदि हो, वहाँ बडी भ्रांति की संभावना है, क्योंकि उदात्त और अनुदात्त शब्द के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी प्रकार धन और ध'न है। धन अर्थात् सम्पत्ति और ध'न (ध'ण) अर्थात् पत्नी।

उपसहार

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व एक बात की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। गुजरात के पुस्तकालयो/ग्रथागारो के ग्रथो को पढ़ने के लिए एक अक्षरावली एक विद्वान ने शोध छात्र को दी थी। प्रश्न यह है कि वह उन्हे कहाँ से उपलब्ध हुई थी? फिर डा० माहेश्वरी ने जो विविध अक्षर-रूपो को उद्धृत कर उदाहरणपूर्वक हस्तलेखो को पढने की अडचनो की ओर सकेत किया है, उसके लिए उन्हे सामग्री किसने दी? दोनो का उत्तर है कि 'स्वानुभव' से। इन दो उदाहरणो से मिले इस निष्कर्ष के अनुसार पाडुलिपि विज्ञानविद् को चाहिये कि वह अन्य क्षेत्रो मे पाडुलिपियो को देखकर उनके आधार पर ऐसी ही क्षेत्रीय लिपि-मालाएँ तैयार कराये। ये स्वय उसके उपयोग मे आ सकेंगी तथा अन्य अनुसंधित्सुओं को भी पाडुलिपियों की शोध मे सहायक हो सकेंगी।

विविध क्षेत्रीय वर्णमालाओं में समस्या शोधक रूप प्रस्तुत हो जाने पर तुलनात्मक आधार पर आगे के चरण को प्रस्तुत कर सकना सम्भव होगा। इस प्रकार किसी भी एक लिपि के व्यवहार क्षेत्र की समस्त समस्याएँ एक स्थान पर मिल सकेंगी और उनके समाधान का मार्ग भी तुलनात्मक पद्धति से प्रशस्त हो सकेगा।

□□□

अध्याय **6**

पाठालोचन

'लिपि' की समस्या के पश्चात् 'पाठ' आता है। प्रत्येक ग्रन्थ का मूल लेखक जो लिखता है वह मूल पाठ होता है। मूल पाठ—स्वय लेखक के हाथ का लिखा हुआ पाठ बहुत महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान वस्तु होती है। यदि किसी भी हस्तलेखागार मे किसी भी ग्रथ का मूल पाठ सुरक्षित है तो उस ग्रथागार की प्रतिष्ठा और गौरव बहुत बढ़ जाता है। ऐसी प्रति का मूल्य वस्तुत रुपये-पैसो मे नही आँका जा सकता। अत ऐसे ग्रथ पर आगाराध्यक्ष को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

मूल-पाठ के उपयोग

मूल-पाठ के कितने ही उपयोग हैं। कुछ उपयोग निम्नलिखित प्रकार के हैं :

1—लेखक की लिपि लेखन शैली का पता चलता है जिससे उसको लिखते समय की स्थिति और अभ्यास का भी ज्ञान हो जाता है।

2—उसकी अपनी वर्तनी-विषयक नीति का पता चलता है।

3—ग्रथ-सघटन सम्पादन म मूल-पाठ आदर्श का काम दे सकता है। वस्तुत पाठालोचन-विज्ञान इस मूलपाठ की खोज करने वाला विज्ञान ही है।

4—मूल पाठ से लेखक की शब्दार्थ-विषयक-प्रतिभा का शुद्ध ज्ञान होता है।

5—मूलपाठ से अन्य उपलब्ध पाठो को मिलाने से पाठान्तरो और पाठभेदो मे लिपि, वर्तनी और शब्दार्थ के रूपान्तर मे होने वाली प्रक्रिया का पता चल जाता है, इस प्रक्रिया का ज्ञान अन्य पाठालोचनो म बहुत सहायक हो सकता है।

6—मूलपाठ के कागज, स्याही, पृष्ठाकन, तिथिलेखन, चित्र, हाशिया, हड़ताल उपयोग, आकार ग्रथन आदि से बहुत-सी ऐतिहासिक बातें विदित हो सकती हैं या उनकी पुष्टि अपुष्टि हो सकती है। कागज-स्याही आदि के अलग-अलग इतिहास मे भी ये बातें उपयोगी हैं।

लिपिक का सर्जन

अत हस्तलेखाधिकारी को अपेक्षित है कि वह इनके सबध मे सामान्य वैज्ञानिक और ऐतिहासिक सूचनाएँ अपने पास रखे। ये सूचनाएँ उसके स्वय के लिए भी उपयोगी और मार्ग दर्शक हो सकती हैं। किन्तु सभी हस्तलेख मूलपाठ म नही होते है। वे तो मूलपाठ के वश की आगे की कई पीढ़ियो से आगे के हो सकते है। मूलपाठ से आरभ मे जितनी प्रतिलिपियाँ तैय्यार हुई वे सभी मूलपाठ के वश की प्रथम स्थानीय सतानें मानी जा सकती हैं। मूल पाठ से ही मान लीजिये तीन लिपिक प्रतिलिपि प्रस्तुत करते हैं—

वह इस प्रकार पहला लिपिक — 3 प्रतियाँ
दूसरा लिपिक — 2 प्रतियाँ
तीसरा लिपिक — 4 प्रतियाँ

अब यह स्पष्ट है कि प्रत्येक लिपिक अपनी ही पद्धति से प्रतिलिपि प्रस्तुत करेगा। हम इस सम्बन्ध मे 'अनुसधान' मे जो लिख चुके हैं उसे भी उद्धृत करना समीचीन समझते हैं :

पाठ की अशुद्धि और लिपिक

"प्राचीनकाल मे प्रेस के अभाव मे ग्रथो को लिपिक द्वारा लिखवा-लिखवा कर पढने वालों के लिए प्रस्तुत किया जाता था। फल यह होता था कि लिपिक की कितनी ही प्रकार की अयोग्यताओं के कारण पाठ अशुद्ध हो जाता था, यथा लिपिक मे रचयिता की लिपि को ठीक-ठीक पढने की योग्यता न हो तो पाठ अशुद्ध हो जायगा। सभी लेखकों के हस्तलेख सुन्दर नही होते, यदि लिपिक बुद्धिमान न हुआ और ग्रथ के विषय से अपरिचित हुआ अथवा उसका शब्दकोष बहुत सीमित हुआ तो वह किसी शब्द को कुछ का कुछ लिख सकता है।

शब्द विकार काल्पनिक

'राम' को राय पढ़ लेना या 'राय' को राम पढ़ लेना असभव नही। र और व(र व) को 'ख' समझा जा सकता है। ऐसे एक नही अनेक स्थल किसी भी हस्तलिखित ग्रथ को पढने में आते हैं, जहाँ किंचित् असावधानी के कारण कुछ का कुछ पढा जा सकता है और फलत लिपिक भ्रम से कुछ का कुछ लिख सकता है। इस भ्रम की परपरा लिपिक से लिपिक तक चलते चलते किसी मूल शब्द में भयकर विकार पैदा कर देती है, परिणामत काव्य के अर्थ ही कुछ के कुछ हो जाते हैं, उदाहरणार्थ—

लेखक ने लिखा	— राम
पहले लिपिक ने पढा	— राय
दूसरे ने इसे पढा	— राच (लिखने मे य की शीर्ष रेखा कुछ हटा ली तो य' को 'च' पढ़ लिया गया।)
तीसरे ने इसे पढ़ा	— सच (उसे लगा कि र और 'आ' के डडे के बीच 'स' बनाने वाली रेखा भूल से छूट गई है।
चौथे न इसे पढा	— सत्र ('च' लिपिक की शैली के कारण च=त्र पढ़ा जा सकता है।)
पाँचवे ने इसे पढा	— रुच ('स' को जल्दी मे रु के रूप म लिखा या पढा जा सकता है।)

इस शब्द के विकार का यह एक काल्पनिक इतिहास दिया गया है पर होता ऐसा ही है, इसमे सदेह नही। इसके कुछ यथार्थ उदाहरण भी यहाँ दिये जाते हैं

शब्द-विकार—यथार्थ उदाहरण

'पद्मावत'—मे "होइ लगा जेंवनार सुमारा—पाठ' मा. प्र गुप्त
— ' होइ लगा जेंवनार पसाहा—पाठ आ. शुक्ल

एक ने 'ससारा' पढा, दूसरे ने 'पसारा'।

'मानस' के एक पाठ मे एक स्थान पर 'सुसारा' है, बाबू श्यामसुन्दर दास के पाठ में 'सुआरा' है।

'काव्य निर्णय' (भिखारीदास) मे एक चरण है :

"प्रहट करै ताही करन" चरबन फेरबदार

इसे एक ने लिखा	च रबन के खदार
दूसरे ने	चिरियन फं र बदार
तीसरे ने	चरवदन फे खदार
चौथे ने	चखन फँरबदार

प्रमाद का परिणाम

लिपिक पुष्पिकाओ मे यही कहता है कि "मक्षिका स्थाने मक्षिका पात" किया गया है, "जैसा देखा है वैसा ही लिखा है" पर ऊपर के उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि लिपिक ऐसा करता नही या कर नही पाता। जो रचयिता ने लिखा होता है उसे पढकर ही तो लिपिक लिखेगा और पढने एव लिखने दोनो मे अज्ञान और प्रमाद से कुछ का कुछ परिणाम हो जाता है। ऊपर दिये गये उदाहरण लिपिक के प्रभाव के उदाहरण हैं। यह प्रमाद 'दृष्टि-कोण' कहा जा सकता है। पर एक अन्य प्रकार का प्रमाद हो सकता है, इस प्रमाद को 'लोपक प्रमाद' कह सकते हैं। इसमे लिपिक किसी शब्द को या वाक्य के किसी अश को ही छोड जाता है।

छूट और भूल और आगम और अन्य विकार

उदाहरणार्थ, लिपिक सरवर का 'सवर' भी लिख सकता है। वह 'र' लिखना ही भूल गया। बिन्दु, चन्द्र बिन्दु तथा नीचे ऊपर की मात्राओ को भूलने के कितने ही उदाहरण मिल सकते हैं। कभी-कभी लिपिक प्रमाद मे किसी अक्षर का आगम भी कर सकता है। एक ही अक्षर को दो बार लिख सकता है।

कभी लिपिक रचनाकार से अपने को अधिक योग्य समझ कर या किसी शब्द के अर्थ को ठीक न समझ कर अज्ञान मे अपनी बुद्धि से कोई अन्यार्थक शब्द अथवा वाक्य-समूह[1] रख देता है। 'छरहटा' लिपिक को जचा नही तो उसने 'चिरहटा' कर दिया, अथवा 'चिर हटा' को 'छर हटा'। अभी कुछ वर्ष पूर्व जायसी के पाठ को लेकर इन दो शब्दो पर विवाद हुआ था। इसी प्रकार कही उसने सूर के पद मे 'हटरी' शब्द देखा, वह इससे परिचित नही था उसे 'ह री' (अर्थात् अरी हट) कर दिया। ऐसी ही भूल 'आखत ले' को 'आख तले' करने और बाद मे उसे 'आँग तले' करने मे भी है।

ऐसे लिपिकार के प्रमादो के कारण पाठ में बड़े गभीर विकार हो जाते हैं।

1 ऐसे ही लिपिको के लिए डॉ० टैसीटरी ने यह लिखा था कि मैं 'वचनिका' की इन तेरह प्रतियो का वशवृक्ष नहीं बना सका क्योकि एक तो प्रतिया बहुत अधिक मिलती हैं, दूसरे 'In the peculiar Conditions under which bardic works are handed down, subject to every sort of alternations by the Copyists who generaly are bards themselves and often think themselves authorrzed to modefy or improve any text they Copy to suit their tastes or ignorance as the case may be'. (वचनिका, भूमिका, पृ० 9 'लिपि समस्या' शीर्षक अध्याय में डा० हीरालाल माहेश्वरी ने भी कुछ ऐसी ही बातों की ओर ध्यान आकर्षित कराया है।

मुनि पुण्यविजय[1] जी ने (क) हस्तलिखित ग्रंथों में आने वाले ऐसे अक्षरों की सूची दी है जिसमें परस्पर समानता के कारण लिपिकार एक के स्थान पर दूसरा अक्षर लिख जाता है, वह सूची यहाँ उद्धृत करना उपयोगी रहेगा—

क का क् लिखा जा सकता है ।

ख का र ष स्व ,,	त्त तू ,,
ग ,, रा ,,	छ ,, द्व, द्ध, द्र
ध ,, घ, व, थ, प्य	प्र ,, ग्ग, ग्ज
घ ,, वु ठ, ध	द्र ,, उ
छ ,, ब ,, ,,	वु ,, धु
ज ,, झ ,,	घ ,, थ, थ, घ
झ ,, ज ,, ,,	ज्ज ,, ब्ब, द्य
ट ,, ठ द	सू, स्त, स्व, म्
उ ,, र, म	स्थ ,, च्छ
त ,, ब	कृ ,, क्ष
ष ,, व	त्व ,, ष, न
न ,, त, व	प्रा ,, या ,,
नु ,, तु	टा ,, य
प ,, ए, य	त्र ,, थ
फ ,, पु	एय ,, णा, एम
भ ,, स, म	था ,, थ्य
म ,, फ	पा ,, प्य
म ,, स, रा, ग,	सा ,, स्य
व ,, ब, त	पा ,, ष्य
ह ,, इ	ढ्क, ट्ट द्द
	त्त ,, म्न
	च्च ,, थ
	द्द ,, द्द द्द
	ई ,, हें
	ए ,, प, प

1. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ॰ 78 ।

ऐ „ पे ये
क्ष „ क्र, कु, ख
प्त „ पृ, पृ
सु „ मु
ष्ठ „ ष्व, ष्ट, ष्ट, ब्द
त्म „ त्स, त्ता, त्य
क क्त न्न्द

(ख) मुनिजी[1] ने लिपिकार की भ्रान्तियों से शब्दरूपों के परस्पर भ्रान्त लेखन की एक सूची दी है। यह सूचियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं—

1. प्रभाव प्रमाद से प्रसव लिखा जा सकता है
2. स्तवन „ सूचन „ „
3. यच्च „ यथा „ „
4. प्रत्यक्षतोवगम्या प्रत्यक्ष बोधगम्या
5. नद्यां „ तथा
6. नव „ तव
7. तदा „ तथा „ „
8 पर्वतस्स „ पवन्नस्स „ „
9. जीवसालिम्मी कृत „ जीवमारमीकृत
10. परिवुड्ढि „ परितुट्ठि
11. नचैव तदेव
12 अरिदारिणा „ अरिवारिणी या अविदारिणी
13 दोहल क्खेविया „ दो हल कवे दिया

कभी-कभी लिपिक अक्षर ही नहीं 'शब्द' भी छोड जाता है, दूसरा लिपिक इस कमी का अनुभव करता है, क्योंकि छद मे कुछ गडबड दिखायी पडती है, अर्थ में भी बाधा पडती है, तो वह अपने अनुमान से कोई शब्द वहाँ रख देता है।

लिपिक के कारण वंश-वृक्ष

लिपिक की लिखने की दक्षता की कोटि, उसकी लिखावट का रूप कि वह 'अ' या 'अ' लिखता है 'प' या 'ख' लिखता है, शिरोरेखाएँ लगाता है या नहीं, भ और म मे, 'प' और 'य' मे अन्तर करता है या नही—ये सभी बातें लिपिकार की प्राकृति-प्रवृत्ति से सबद्ध हैं। इसी प्रकार से प्रत्येक अक्षर के लेखन के साथ उसकी अपनी प्रकृति जुडी हुई हैं जिससे प्रत्येक लिपिकार की प्रति अपनी अपनी विशेषताओं से युक्त होने के कारण दूसरे लिपिक से भिन्न होगी। अत वशवृक्ष मे प्रथम-स्थानीय सतानें ही तीन लिपिको के माध्यम से तीन वर्गों मे विभाजित हो जायेंगी। इन प्रथम स्थानीय प्रतियों से फिर अन्य लिपिकार प्रतिलिपियाँ तैयार करेंगे और एक के बाद दूसरी से प्रतिलिपियाँ तैयार होती चली जायेंगी। इस प्रकार एक ग्रथ का वशवृक्ष बढता जाता है। इसके लिए उदाहरणार्थ एक वशवृक्ष का रूप यहाँ दिया जाता है।

1 भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला, पृ० 79।
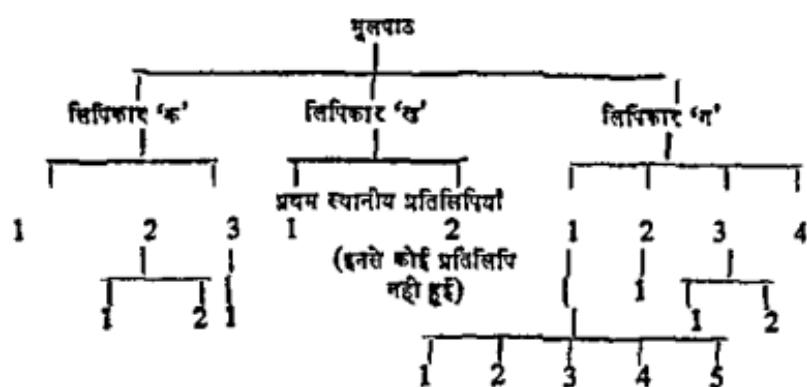
इस प्रकार वंश-वृक्ष बढ़ता जायगा। प्रत्येक पाठ में कुछ वैशिष्ट्य मिलेगा ही। यह वैशिष्ट्य ही प्रत्येक प्रति का निजी व्यक्तित्व है। यह तो प्रतिलिपि की सामान्य सृजन का निर्माण-प्रक्रिया है।

पाठालोचन की आवश्यकता

पाठालोचन की हमें आवश्यकता तब पड़ती है, जब हस्तलेखागार में एक प्रति उपलब्ध होती है, पर वह 'मूलपाठ' वाली नहीं—वह प्रतिलिपि है निम्नलिखित वर्ग की—

(4) 2–3–1–5–2

अर्थात् चौथी पीढ़ी की दूसरी शाखा की 3 प्रतियों में से पहली प्रति की पाँचवीं प्रति की दूसरी प्रति। इसे यहाँ दिए वंशवृक्ष से समझा जा सकता है :

मूल पाठ

पहली पीढ़ी 1
2
दूसरी पीढ़ी
3
तीसरी पीढ़ी
4 : चौथी पीढ़ी 4
2 : पहली शाखा दूसरी शाखा तीसरी शाखा
3 : 1 2 3 4
तीसरी प्रति
1 पहली प्रति दूसरी प्रति
5 : 1 2 3 4 5
पाँचवीं प्रति
2. 1 2 3
दूसरी प्रति
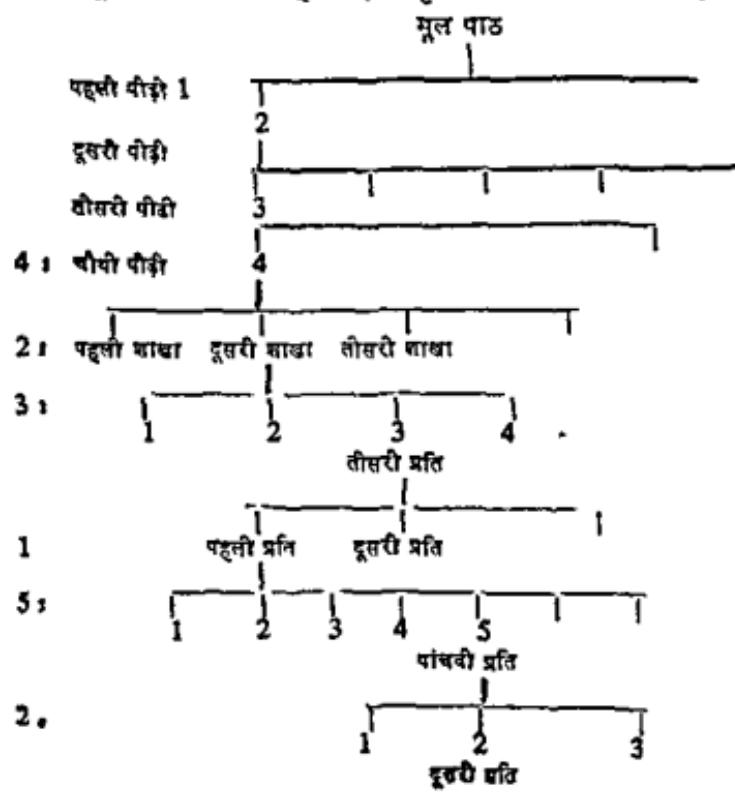
अब हस्तलेखागाराध्यक्ष या पाडुलिपि-विज्ञानवेत्ता इस प्राप्त प्रति का क्या करेगा ? यह स्पष्ट है कि इस ग्रथ के पूरे वशवृक्ष में प्रत्येक प्रति का महत्त्व है , क्योकि प्रत्येक प्रति एक कडी का काम करती है ।

प्रक्षेप या क्षेपक

ऊपर हमने प्रतिलिपिकार के प्रमाद से हुए पाठान्तरो का उल्लेख किया है और उनमे वर्तनी और शब्द-भेदों की ही चर्चा की है । पर प्राचीन ग्रथो मे प्रक्षेपो और छूटो के कारण भी विकार आता है .

प्राचीन ग्रथो मे 'प्रक्षेपो' का या 'क्षेपकों' का समावेश प्रचुर मात्रा मे हो जाता है । कुछ काव्यो को एक नये नाम से पुकारा जाने लगा है । उन्हे आज 'विकसन-शील' काव्य कहा जाने लगा है, यह बताने के लिए कि मूल रूप मे छोटे काव्य को बाद के कवियो ने या पाठको ने या कथावाचको ने अपनी ओर से कुछ जोड-जोड कर उस वाक्य को विशाल बना दिया है ।

'महाभारत' के विद्वान् अध्येता यह मानते हैं कि मूल रूप मे यह काफी छोटा था।

'पृथ्वीराज रासो' के सम्बन्ध मे भी यह झगडा है । उसके तीन सस्करण विद्वानो न ढूंढ निकाले हैं, कुछ की धारणा है कि 'लघु' सस्करण मूल रहा होगा, बाद मे उसमे अन्य बहुत-सी सामग्री जुडती गयी । इस प्रणाली से उसका आधुनिक वृहद् रूप खडा हुआ ।

हमारे यहाँ कुछ ग्रथो का उपयोग 'कथा' कहने के लिए होता रहा है । तुलसी का 'रामचरित मानस' इसका एक उदाहरण है । कथाकार को कथा कहते समय कोई प्रसग ऐसा विदित हुआ, जो और विस्तार चाहता है, तो उसने 'स्वय' की रचना कर डाली और अपनी प्रति म उसे जोड दिया । मानस मे 'गगावतरण' का प्रसग ऐसा ही प्रक्षेप या क्षेपक माना जाता है ।

प्रक्षिप्त या क्षेपक के कारण

इन प्रक्षेपो का पाँच कारणा से किसी काव्य मे समावेश हो जाता है .—

(1) किसी कवि (अथवा कथाकार) द्वारा अपने उपयोग के लिए, ऐसे स्थलो को जोड देना, जा उसे उपयोगी प्रतीत होते हैं, यह उपयोगिता दो रूपो मे हो सकती है —

(क) किसी विशेष प्रकरण को और अधिक पल्लवित करने के लिए, तथा–

(ख) कवि का अपना कोई स्वतन्त्र कृतित्व जो उसके पाठ्य ग्रन्थ के किसी अश से सम्बन्धित हो और जो उसे लगे कि मूल कवि की कृति म जुडकर उसे प्रसन्नता प्रदान करेगा ।

(2) एक ही विषय के भिन्न भिन्न स्वतन्त्र कृतित्वो को किसी अन्य व्यक्ति द्वारा एक मे यथा सन्दर्भ सम्पादित कर देना । कुछ कवि इस बात को स्वय लिख देते हैं, कुछ चुप बने रहते हैं । जैसे–'गोयम' ने चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' मे अपने द्वारा किये परिवर्द्धन का उल्लेख कर दिया है ।* गोयम या गोतम 'स्वय' ऐसा उल्लेख

* 'नंददास की अनेकार्थ मजरी और 'नाम' मजरी मे 'रामहरि' ने जो अश जोडा है, उसका उल्लेख कर दिया है। यथा, बीस ऊपरें एक सो नददास जू कीस और दोहरा 'रामहरि कीने है जु नवीन म ६५ अनेकार्थ ध्वनि मंजरी।

नहीं करता तो प्रक्षिप्तांश किसके रचे हैं, यह समस्या बनी रहती, जैसी कि 'रामचरितमानस' के गंगावतरणादि के सम्बन्ध में बनी हुई है।

(3) कभी कभी कवि के अधूरे काव्य को उसी कवि के पुत्र या शिष्य पूरा करते हैं या उसमें आगे कुछ परिवर्द्धन करते है, और कभी-कभी पूर्व कृतित्व को भी संशोधित कर देते हैं।

(4) किसी बिखरी सामग्री को एक व्यवस्था में रखते समय बीच की लुप्त कड़ियों को जोड़ने के प्रयत्न भी कविगण करते हैं, और ये कड़ियाँ या तो व्यवस्था करने वाला कवि अपने कौशल से जोड देता है, जैसे कुशललाभ ने लोक प्रचलित 'ढोला मारू रा दूहा' के दोहे को लेकर उन्हें एक व्यवस्था में बाधा और कथा-पूर्ति के लिए बीच-बीच में चौपाई द्वारा अपना कृतित्व दिया। इस प्रकार पूरक कृतित्व के रूप में वह एक अन्य कृति में अपने कृतित्व का समावेश करता है या फिर वह किसी अन्य कवि से उपयोग सामग्री ले लेता है और अपनी पाठ्य-कृति में जोड देता है।

(5) मुक्तकों के संग्रह ग्रन्थों में समान-भाव के मुक्तक अन्य कवियों के भी स्थान पा लें तो आश्चर्य नहीं। ऐसे संग्रहों में नाम छाप भी बदल दी जाती है। 'सूरसागर' में ऐसे पद मिलते हैं जो किसी अन्य कवि के हो सकते हैं। यह नाम छाप की अदला-बदली कभी-कभी लोक-क्षेत्र में अत्यन्त लोकप्रिय कवियों के साथ हो जाती है। कबीर, मीरा, सूर, तुलसी की छाप गायक चाहे जिस पद में लगा देता है।

फलत. पाठानुसधान का धर्म है कि ऐसे प्रक्षेपों या क्षेपकों को वैज्ञानिक प्रणाली से पहचाने और उन्हें निकाल कर प्रामाणिक मूल प्रस्तुत करे। यह वैज्ञानिक प्रणाली से होना चाहिये, स्वेच्छा या अवैज्ञानिक ढंग से नहीं। अवैज्ञानिक ढंग से स्वेच्छ या जैनोडोटस जैसे विद्वान ने होमर की कृति का सम्पादन करते समय बहुत-सा अंश निकाल दिया था। उसकी दृष्टि में वह अंश प्रक्षिप्त था, जबकि आगे के विद्वानों ने वैज्ञानिक पद्धति से पाया कि वे अंश प्रक्षिप्त नहीं थे।[1]

छूट :

प्रक्षेपों की भांति ही काव्य में 'छूट' भी हो सकती है। प्रतिलिपिकार कभी तो प्रमाद में कोई पंक्ति, शब्द या अक्षर छोड जाता है पर कभी वह प्रतिलिपि किसी विशेष दृष्टि से करता है और कुछ अंशों को अपने लिए अनावश्यक समझ कर छोड देता है।

पाठालोचन का यह कार्य भी होता है कि ऐसी छूटों की भी प्रामाणिक मूल पाठ की प्रतिष्ठा करके वह पूर्ति करे।

अप्रामाणिक कृतियाँ :

यहीं यह बताना भी आवश्यक है कि कभी-कभी ऐसी कृतियाँ भी मिल जाती हैं जो पूरी की पूरी अप्रामाणिक होती हैं। उस ग्रन्थ का रचयिता, जो कवि उस ग्रन्थ में बताया गया है, यथार्थत वह उसका कर्त्ता नहीं होता। इस छल का उद्घाटन पाठालोचन ही कर सकता है।

1. Smith, William, (Ed)—Dictionary of Greek and Roman Biography and Mythology, p 510–512.

अत. स्पष्ट है कि पाठालोचन अथवा पाठानुसधान एक महत्त्वपूर्ण अनुसधान है। किसी भी अन्य अनुसन्धान से इसका महत्त्व कम नहीं माना जा सकता। इस अनुसधान मे उन सभी मन शक्तियो का उपयोग करना पडता है जो किसी भी अन्य अनुसधान मे उपयोग मे लायी जाती है।

पाठालोचन मे शब्द और अर्थ का महत्त्व

पाठालोचन का सम्बन्ध शब्द तथा अर्थ दोनो से होता है अत इसे केवल भाषा-वैज्ञानिक विषय ही नही माना जा सकता, साहित्यिक भी माना जा सकता है। डॉ० किशोरीलाल ने अपने एक निबन्ध मे इसी सम्बन्ध मे यो विचार प्रकट किये हैं

"इस दृष्टि से सम्पादन की दो सरणियो का उपयोग हो रहा है– (1) वैज्ञानिक-सम्पादन, और (2) साहित्यिक सम्पादन।

वैज्ञानिक एव साहित्यिक प्रक्रिया मे मूलत अन्तर न होते हुए भी आज का *वैज्ञानिक सम्पादक शब्द को अधिक महत्त्व देता है और साहित्यिक सम्पादक अर्थ को।* इसमे सन्देह नही कि शब्द और अर्थ की सत्ता परस्पर असपृक्त नही है फिर भी अर्थ को मूलत ग्रहण किये बिना प्राचीन हिन्दी काव्यो का सम्पादन सर्वथा निर्भ्रान्त नही। इन्ही सब कारणो से शब्द की तुलना मे अर्थ की महत्ता स्वीकार करनी पडती है। आज अधिकतर पाठ-सम्पादन मे जो भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे अर्थ न समझने के कारण।"[1]

डॉ० किशोरीलाल जी ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे समीचीन है, पर किसी सीमा तक ही। ठीक पाठ न होने से ठीक अर्थ पर भी नही पहुँचा जा सकता। डॉ० किशोरी लाल जी ने अपने निबन्ध मे जो उदाहरण दिये हैं, वे गलत अर्थ से गलत शब्द तक पहुँचन के हैं। उदाहरणार्थ, 'आँख तले' जिसने पाठ दिया, उसकी समझ मे 'आखतले' नही जमा, उसे लगा कि 'आँख' की ही गलती से 'आख' लिख दिया गया है। 'आख' का कोई अर्थ नही होता, ऐसा उसने माना। क्योकि पाठ सम्पादक या लिपिक ने अर्थ को महत्त्व दिया उसने 'आख' को 'आख' कर दिया। अब आप अर्थ को महत्त्व देकर 'आखत ले' कर रहे हैं, तो भ्रांत पाठ वाले की परिपाटी मे ही खडे हैं। यथार्थ यह है कि 'आँख' और 'आख' *शब्द रूप से अर्थ ठीक नही बैठता। आपने उसके रूप की नयी सम्भावना देखी।* 'तले' का 'त' आख से मिलाया और 'ले' को स्वतन्त्र शब्द के रूप मे स्वीकार किया। 'आँख तले' शब्द रूप के स्थान पर 'आखत ले' रूप जैसे ही खडा हुआ, अर्थ ठीक लगने लगा। शब्द रूप 'आख+तले' नही 'आखत+ले' है। जब हम शब्द का रूप 'आखत ले' ग्रहण करेंगे तभी ठीक अर्थ पर पहुँच सकेंगे। शब्द ही ठीक नही होगा तो अर्थ कैसे ठीक हो सकता है। शब्द से ही अर्थ की ओर बढा जाता है। अत आवश्यक यह है कि वैज्ञानिक प्रणाली से ठीक या यथार्थ शब्द पर पहुँचा जाय, क्योकि शुद्ध शब्द ही शुद्ध या समीचीन अर्थ दे सकता है। वस्तुतः ग्रन्थ से अर्थ प्राप्त करने का एक अलग ही विज्ञान है। उक्त उदाहरण को ही ले तो 'आख (आँख) + तले 'आखत+ले' और 'आ+ख+तले' ये तीन रूप एक शब्द के बनते है, तो इसमे से किस रूप को पाठ के लिए मान्य किया जाय ? यहाँ अर्थ ही सहायक हो सकता है।

1. लाल, किशोरी — प्राचीन हिन्दी काव्य पाठ एव अर्थ विवेचन, सम्मेलन पत्रिका (चैत्र-भाद्रपद, शक 1892), पृ० 177।

अत. यह मानना ही होगा कि वैज्ञानिक विधि से पाठ-निर्धारण मे भी अर्थ का महत्त्व है। हाँ, पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रणाली मे शब्दो का महत्त्व स्वय सिद्ध है।

पाडुलिपि-विज्ञान और पाठालोचन

इस दृष्टि से यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि हस्तलेखवेत्ता को 'पाठालोचन' का ऐसा ज्ञान हो कि वह किसी प्रति का महत्त्व आँकने या अँकवाने मे कुछ दखल रख सके।

पाठालोचन की प्रक्रिया से अवगत होने पर और कागज, लिपि, वर्तनी तथा स्याही के मूल्याकन की पृष्ठभूमि पर तथा विषय की परम्परा के परिप्रेक्ष्य मे वह उस ग्रन्थ पर सरसरा मत निधारित कर सकता है। यह मत उम प्रति के उपयोगकर्त्ताओ और अनुसधित्सुओ को 'अनुसधेय धारणा' (Hypothesis) के रूप मे सहायक हो सकता है।

स्पष्ट है कि पाठालोचन का ज्ञान पाडुलिपि-विज्ञानवेत्ता को पाठालोचन की दृष्टि से नही करना, वरन् इसलिए करना है कि उस ज्ञान से ग्रन्थ की उस प्रति का मूल्य आँकने मे कुछ सहायता मिल सकती है, और वह उसके आधार पर उस ग्रन्थ-विषयक बहुत-सी भ्रान्तियो से भी बच सकता है। पाठालोचन वास्तविक पाठ तक पहुँचने की वैज्ञानिक प्रक्रिया है और पाठ 'ग्रन्थ' का ही एक अग है, और वह ग्रन्थ उसके पास है, अत अपने ग्रन्थ के अन्य अवयवो के ज्ञान की भाँति ही इसका ज्ञान भी अपेक्षित है।

पाठालोचन–प्रणालियाँ

पाठालोचन की एक सामान्य प्रणाली होनी है। सम्पादक पुस्तक का सम्पादन करते समय जो प्रति उस उपलब्ध हुई है, उसी पर निर्भर रह कर, अपने सम्पादित ग्रन्थ मे वह उन दोषो को दूर कर देता है, जिन्हे वह दोष समझता है। इसे 'स्वेच्छया पाठ-निर्धारण-प्रणाली' का नाम दे सकते हैं।

दूसरी प्रणाली को 'तुलनात्मक-स्वेच्छया-सम्पादनार्थ पाठ निर्धारण' की प्रणाली कह सकते हैं। सम्पादक को दो प्रतियाँ मिल गयी। उसने दोनो की तुलना की, दोनों मे पाठ-भेद मिला, *तो जो उसे किसी भी कारण से कुछ अच्छा पाठ लगा, वह उसने मान लिया।* ऐसे सम्पादनो मे वह पाठान्तर देने की आवश्यकता नही समझता। हा जहाँ वह देखता है कि उसे दोनो पाठ अच्छे लग रहे हैं वहाँ वह नीचे या मूलपाठ मे ही कोष्ठको मे दूसरा पाठ *भी दे देता है।*

इसी प्रणाली का एक रूप यह भी मिलता है कि ऐसे विद्वान् को कई ग्रन्थ मिल गये तब भी पाठ-निर्धारण का उसका सिद्धान्त तो वही रहता है कि स्वेच्छया जिस पाठ को *ठीक समझता है,* उसे मूल मे दे देता है। *इस स्वेच्छया पाठ-निर्धारण मे* उसकी *ज्ञानगरिमा* का योगदान तो अवश्य रहता है, एक पार स्वेच्छया स्वीकार कर वह उसे ही प्रामाणिक घोषित करता है-इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वह कवि-विषयक अपने पाण्डित्य का *सहारा लेता है,* और *कवि की भाषा सम्बन्धी विशेषताओ की भी दुहाई देता है।* किन्तु यथार्थत इस सम्पादन मे पाठ के निर्धारण मे वस्तुत अपनी रुचि को ही महत्त्व देता है, फिर उसे ही कवि का कर्त्तृत्व मान कर वह उसे सिद्ध करने के लिए कवि के तत्सम्बन्धी वैशिष्ट्य का सिद्ध करता है। अपनी इस प्रणाली की चर्चा *वह भूमिका मे कर देता है।* **हाँ, जब उसे** दो प्रतियो के पाठो मे यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि किसमे

ऐसा श्रेष्ठतम भाव है, जो कवि को अपेक्षित रहा होगा, अथवा जब वह समझता है कि दोनों हों या दोनो मे से कोई भी पाठ कविसम्मत हो सकता है, क्योंकि उत्कृष्टता मे उसे दोनो एक-दूसरे से कम नहीं लगते तब वह एक पाठ के साथ दूसरा पाठ विकल्प मे दे देता है। इसे वह पाठान्तर की तरह पाद टिप्पणी के रूप मे भी दे सकता है।

इसी प्रणाली का आगे का चरण वह होता है जिसमे पाठालोचनकार को दो से अधिक हस्तलिखित प्रतियाँ मिल जाती हैं। इन समस्त प्रतियो के पाठो मे से वह उस पाठ को ग्रहण कर लेता है जो उसे अपनी दृष्टि से सर्वोत्तम लगता है। अब वह अन्य प्रतियो के सभी पाठो को पाठान्तर के रूप मे पद के नीचे दे देता है।[1]

वैज्ञानिक चरण

और अब वह चरण आता है जिसे वैज्ञानिक चरण कह सकते हैं। इस चरण की प्रणाली मे कई हस्तलेखों की तुलना की जाती है। अब तुलनात्मक आधार पर प्रायः प्रत्येक प्रति मे मिलने वाली त्रुटियो में साम्य वैषम्य देखा जाता है। इसके परिणाम के आधार पर इन समस्त हस्तलेखो का एक वंशवृक्ष तैयार किया जाता है और कृति का आदर्श पाठ

1 "स्वेच्छया पाठ निर्धारण का ऐसा ही रोचक वृत्तांत होमर काव्य के पाठ-निर्धारण के सम्बन्ध में मिलता है। यह माना जाता है कि जेनोडोटस ने व्यवस्थित आलोचना (पाठालोचन) की नींव रखी थी। उसने कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए थे (1) समस्त ग्रंथ के परिप्रेक्ष्य मे जो सामग्री विरुद्ध हैं अथवा अनावश्यक है, उसे निकाल दिया जाय। (2) कवि की प्रतिभा की दृष्टि से जो सामग्री अयोग्य लगे उसे भी अस्वीकार कर देना चाहिए। इन सिद्धान्तो के आधार पर अपने ढंग से उसने लम्बे प्रघटको को काट फेंका, अन्यों को स्वेच्छया परिवर्तित कर दिया तथा इधर-उधर रख दिया। संक्षेप में, यह सब उसने उसी प्रकार किया जिस प्रकार वह अपनी कृति में करता। उसके बाद के गम्भीर आलोचकों को इस प्रणाली से बहुत धक्का लगा।"

—विलियम स्मिथ—डिक्शनरी ऑफ ग्रीक एण्ड रोमन बायोग्राफी एण्ड माइथालोजी, पृ० 510

स्वेच्छया पाठ-निर्धारण का यही परिणाम होना है। जेनेडोटस का समय सिकन्दर महान् के बाद पडता है।

होमर के साथ एक और बात भी थी। होमर का सम्पूर्ण काव्य पहले कंठस्थ ही था। पीजिस्ट्रेटस के समय से होमर काव्य लिपिबद्ध किया गया। पाठालोचन की समस्या वस्तुतः जैनोडोटस के समय से ही खडी हुई। इस समय तक होमर का काव्य अध्ययन और चर्चा का विषय बन गया था। एन सी थाइडीज के समय में ही होमर का काव्य पाठशालाओं मे अनिवार्यतः पढ़ाया जाने लगा था। इसी समय के लगभग समाज मे दो वर्ग हो गए थे—एक वर्ग उसके काव्य में नैतिकता के रूप में असंतुष्ट था, दूसरा उसे रूपक मान कर उसका पोषक था। इस स्थिति में भी होमर-काव्य के लिखित रूपों की माँग बढी। सिकन्दर महान् तो इस काव्य ग्रन्थ को एक राजसी सुन्दर पेटिका मे सदा अपने साथ रखता था। अतः कितने ही हस्तलेख इस काव्य के प्रस्तुत किये गए। तब अलेक्जेंड्रिया में आलोचकों का दल खड़ा हुआ और पाठालोचनात्मक संस्करण होमर-काव्य के प्रस्तुत किए जाने लगे। यही से वैज्ञानिक पाठालोचन प्रणाली का भी जन्म माना जा सकता है। पर सभी देशों की आरम्भिक कृतियाँ कंठस्थ रहती हैं। भारत मे भी वेद कंठस्थ रखे जाते थे और इनका इतना महत्त्व था कि कंठस्थ स्थिति में ही यहाँ के ऋषियों ने कई प्रकार के पाठो का आविष्कार किया और इन पाठों की प्रणालियो मे वेदों की वर्ण शब्द संरचना सबकी विकृति से रक्षा की तथा परम्परा से भी रक्षा की। वेद मंत्र थे और यह धारणा इस काल में प्रबल थी कि किंचित् भी विकृत उच्चारण से कुछ का कुछ परिणाम हो सकता है। अतः वेदों की पाठ-शुद्धि पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया।

या मूल पाठ निर्धारित किया जाता है ।[1]

यहाँ से वैज्ञानिक पाठालोचन का आरम्भ माना जा सकता है। आज पाठालोचन एक अलग विज्ञान का रूप ग्रहण कर रहा है । यह भी हुआ है कि पाठालोचन को भाषा-विज्ञान या भाषिकी का एक अंग माना जाने लगा है, साहित्य का नहीं, जैसाकि इससे पहले माना जाता था ।

पाठालोचन अथवा पाठानुसंधान की प्रक्रिया

(क) ग्रन्थ संग्रह .

किसी एक ग्रन्थ का पाठालोचन करने के लिए यह अपेक्षित है कि पहले उस ग्रन्थ की प्रकाशित तथा हस्तलेख में प्राप्त प्रतियाँ एकत्र करली जायँ । इसके लिए पहले तो उनके प्राप्ति-स्थलों का ज्ञान करना होगा । कहाँ-कहाँ इस ग्रन्थ की प्रतियाँ उपलब्ध हैं । यह कोई साधारण कार्य नहीं है । सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए लिखा-पढ़ी से, मित्रों के द्वारा, यात्रा करके, सरकारी माध्यम से एक जाल-सा बिछा लेना होगा । प० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'सूरसागर' विषयक सामग्री का जो लेखा-जोखा दिया है, उसे पढ़कर इसकी गरिमा को समझा जा सकता है ।[2]

ऐसी सूचना के साथ-साथ ही उन ग्रन्थों को प्राप्त करने के भी यत्न करने होंगे। कहीं से ये ग्रन्थ आपको उधार मिल जायेंगे, जिनसे काम लेकर आप लौटा सकेंगे । कहीं से इन ग्रन्थों की किसी सुलेखक से प्रतिलिपि करानी पड़ेगी, कहीं से इनके फोटो चित्र तथा माइक्रोफिल्म मँगानी होगी । इस प्रकार ग्रन्थों का संग्रह किया जायगा ।

(ख) तुलना

अब इन ग्रन्थों के पाठ की पारस्परिक तुलना करनी होगी । इसके लिए—

(1) पहले इन्हें कालक्रमानुसार सजा लेना होगा, तथा (2) प्रत्येक ग्रन्थ को एक संकेत नाम देना होगा ।

1. The chief task in dealing with several MSS of the same work is to investigate their mutual relations, especially in the matter of mistakes in which they agree and to construct a geneological table, to establish the text of the archetype, or original, from which they are derived

—The New Universal Encyclopaedia (Vol 10), p 5499

किन्तु यह वंशवृक्ष (geneological table) प्रस्तुत करना बहुत कठिन कार्य है और कभी-कभी तो असम्भव ही जाता है । इनके लिए टेसीटरी महोदय का यह कथन पठनीय है । वे 'वचनिका' का पाठ-निर्धारण करते समय लिखते है–

"I have tried hard to trace the ped gree of eaeh of these thirteen MSS and ascertain the degree of their depending on the archetype and one another and have been unsuccessful. The reason of the failure is to be sought partly in the great number of MSS in existence and partly in the peculiar conditions under which bardic works are handed down, subject to every sort of alterations by the copyists who generally are bards themselves and often think themselves authorized to modify or, as they would say, improve any text they copy, to suit their tastes or ignorance as the case may be'.

—टेसीटरी—वचनिका (भूमिका), पृ० 9

यह एक दृष्टि से अत्यन्त विशिष्ट स्थिति है, जिसमें इतनी अधिक प्रतियों के उपलब्ध होने के कारण भी वंशवृक्ष बनाने में सफलता नहीं मिल सकी ।

2. चतुर्वेदी, जवाहर लाल— पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० 119–132 ।

सकेत नाम देने से ग्रन्थ के पाठ-सकेत देने मे सुविधा होती है, स्थान कम घिरता है और समय की बचत भी होती है ।

'सकेत प्रणाली'—सकेत देने की कई प्रणालियाँ हो सकती हैं, जैसे- (क) क्रमाक–सभी आधार-ग्रन्थो को सूची-बद्ध करके उन्हे जो क्रमाक दिये गये हो उन्हे ही 'ग्रन्थ' सकेत मान लिया जाय–यथा (1) महावनवाली प्रति, (2) आगरावाली प्रति, आदि । अब इनका विवरण देने की आवश्यकता नही रही कवल सकेत' सख्या लिख देने से काम चल जायगा । प्रति सख्या (2) सदा आगरा वाली प्रति समझी जायगी । यह आवश्यक है कि सूची-बद्ध करते समय प्रत्येक 'सकेत' के साथ ग्रन्थ का विवरण भी दिया जाय । जिससे उस सख्या के ग्रन्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो सके । उदाहरणार्थ–हम 'पृथ्वीराज रासो' की एक प्रति का परिचय उद्धृत करते है —

क्रमाक-1—यह प्रति प्रसिद्ध जैन विद्वान मुनि जिनविजय के सग्रह की है । यह 'रासो' के सबसे छोटे पाठ की एकमात्र अन्य प्राप्त प्रति है, और उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी 'धा०' है । इस प्रति के लिए मुनि जी को जब मैंने लिखा, वह थी अगरचन्दजी नाहटा के पास थी । कदाचित् प्रति की जीर्णता के ध्यान से नाहटा जी ने मूल प्रति न भेजकर उसकी एक फोटोस्टेट कापी मुझे भेज दी । इस बहुमूल्य प्रति के उपयोग के लिए मैं मुनिजी का अत्यन्त आभारी हूँ । प्रस्तुत कार्य के लिए इसी फोटोस्टेट कापी का उपयोग किया गया है । मूल प्रति मैंने 1956 के जून मे डॉ० दशरथ शर्मा के पास दिल्ली मे देखी थी । फोटोस्टेट होने के कारण यह कापी प्रति की एक वास्तविक प्रतिकृति है ।

इस प्रति के प्रारम्भ के दो पन्ने नहीं हैं, शेप सभी हैं । इसमे भी खण्ड-विभाजन और छन्दो की क्रम सख्या नही है । इसमे वार्ताओ के रूप मे इस प्रकार के सकेत भी प्राय नही दिये हुए है जैसे 'धा०' मे हैं । प्रारम्भ के दो पन्ने न होने के कारण इसकी निश्चित छन्द सख्या कितनी थी, यह नही कहा जा सकता है, किन्तु इन त्रुटित दो पत्रो मे से प्रथम पृष्ठ-रचना के नाम का रहा होगा, जैसा अनिवार्य रूप से मिलता है, और शेप तीन पृष्ठ ही रचना के पाठ के रहे होंगे । तीसरे पत्र के प्रारम्भ मे जो छन्द आता है वह 'धा०' मे 17 है, जिसका कुछ अश पूर्ववर्तीय द्वितीय पत्र पर रहा होगा और 'धा०' की तुलना मे इसमे 30-31 प्रतिशत रूपक अधिक है । इसलिए 'धा०' के 16 रूपको के स्थान पर इसके प्रथम दो पत्रो मे 20-21 रूपक रहे होने चाहिय । फलत इन निकले हुए दो पत्रो मे 20 छन्द मान लेने पर प्रति की कुल छन्द सख्या 552 ठहरती है । यह प्रति अत्यन्त सुलिखित है और उपर्युक्त दो पत्रों के अतिरिक्त पूर्णत सुरक्षित भी है । इसका आकार 6 25"×3" और इसकी पुष्पिका इस प्रकार है ।

'इति श्री कविचद विरचिते प्रथीराज रासु सम्पूर्ण । पण्डित श्री दान कुशल गणि । गणि श्री राजकुशल । गणि श्री देव कुशल । गणि धर्म कुशल । मुनि भाव कुशल लषित । मुनि उदय कुशल । मुनि मान कुशल । स० 1697 वर्ष पोप सुदि अष्टम्यां तिथौ गुरु वासरे मोहनपूरे ।"

यह एक काफी सुरक्षित पाठ-परम्परा की प्रति लगती है, क्योंकि इसमें पाठ-त्रुटियाँ बहुत कम हैं, और अनेक स्थाना पर एकमात्र इसी मे ऐसा पाठ मिलता है जो बहिरग और अन्तरग सभी सम्भावनाओ की दृष्टि से मान्य हो सकता है । फिर भी श्री नरोत्तमदास स्वामी ने कहा है कि इसका 'पाठ बहुत ही अशुद्ध और भ्रष्ट है ।' उन्होने यह धारणा इस

प्रति के सम्बन्ध मे कैसे बनाई है, यह उन्होने नही लिखा है। किन्तु इस प्रकार की धारणा के दो कारण सम्भव प्रतीत होते हैं, एक तो यह कि इसमे वर्त्तनी-विषयक कुछ ऐसी विशिष्ट प्रवृत्तियां मिलती हैं जिनके कारण शब्दावली और भाषा का रूप विकृत हुआ लगता है, दूसरे यह कि इसका पाठ अनेक स्थलो पर अपनी सुरक्षित प्राचीनता के कारण दुर्बोध हो गया है, और उन स्थलो पर अन्य प्रतियो मे बाद का प्रक्षिप्त किन्तु सुबोध पाठ मिलता है। कही-कही पर ये दोनो कारण एकसाथ इकट्ठा होकर पाठक को और भी अधिक उलझा देते हैं।

वर्त्तनी सम्बन्धी इसकी सबसे अधिक उलझन मे डालने वाली प्रवृत्तियाँ आवश्यक उदाहरणो के साथ निम्नलिखित हैं —

(1) इसमे 'इ' की मात्रा का अपना सामान्य प्रयोग तो है ही, 'अइ' के लिए भी उसका प्रयोग प्राय हुआ है, यथा

गुन तेज प्रताप ति वणि 'कहि' । दिन पच प्रजत न अन्त लहइ ।
(मो॰ 95 51-52)

ब्रह्म वेद नहि चपि अलप युधिष्ठिर 'बोलि' ।
जु सायर (सायर) जल 'तजि' मेर मरजादह डोलइ । (मो॰ 224 3-4)
रहि गय उर झपेव उरह मि (मइ) अवर न बुझइ ।
मुउ न जीवइ कोइ मोहि परमपर 'सूझि' । (मो॰ 545 3-4)
किरणाटी राणी कि' (कइ) आवासि राजा विदा मागन गयु । (मो॰ 122 अ)
'पछि' (पछइ) राजा परमारि आवासि विदा मागन गयु । (मो॰ 123 अ)
'पछि' (पछइ) राजा परमारि सुपुली विदा मागन गयु। (मो॰ 124अ)
'पछि' (पछइ) राजा वाघेली के अवास विदा मांगन गयु। (मो॰ 125अ)
तुलना कीजिये—
'पछइ' राजा कछवाही 'कइ' आवासि विदा मागन गयु। (मो॰ 125अ)
मनु अकाल टडीअ शघन 'पवि' (पव्वइ) छूटि प्रवाह । (मो॰ 234 2)
तिन 'मि' (मइ) दसि 'सि (सइ) अरि दलन 'उप्परि' (उप्पारइ) गज दत ।
(मो॰ 438 2)
तिन 'मि' (मइ) कवि गन पज सिहि (सइहि) भाप भाय दिठउ काज ।
विन 'मि' (मइ) दिवगति देवन समह तिन महि पुहु प्रथीराज । (मो॰ 439)
जे कछु साध मन 'मि' (मइ) भइ सब ईछा रस दीन्ह । (मो॰ 513 2)
'असमि' (असमइ) सोइ मग्गु सुकवि नृपति 'विचार' (विचारइ) सब ।
(मो॰ 530 2)

इस प्रवृत्ति की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि कही-कही 'इ' की मात्रा को 'अइ' के रूप मे पढा गया है—

तम 'सरवगइ' (सरवगि) सू केवि राज गुरू राज सम । (मो॰ 402·3)

(2) 'इ' की मात्रा का प्रयोग पुन ऐ' के लिए भी हुआ मिलता है, यथा ऊपर मो॰ 122अ, 123अ, 124अ तथा 125अ के उद्धरणा मे आए हुए 'कि' की तुलना कीजिए—

पछइ राजा भटिआनी कै आवासि विदा मागन गयु । (मो॰ 127अ)

भरी भोज 'भाजि' (भाजइ) नही सारि भागि ।
भरि मल मानै नही लौह लागै । (मो॰ 327 19-20)
सुनि त पग चहुआन कु मुप जपि इह 'विन' (वैन) ।
बोल सूर सामत सब कहु एकठु शेन (सैन) । (मो॰ 229)
जल बिन भट सुभट मो करि अपहि भुज 'विन' (वैन) ।
परमतत्त्व सूझि (सूझइ) नृपति मगि मगि फरमानन (फरमानेन) ' (मो॰ 547)
'ति' (तै) रापु हीदुग्रान गज गोरी गाहतु ।
'तै' रापु जालोर चपि चालूक बाहतु ।
'तै' रापु पगुरु भीम भटी दि' (दै) मथु ।
'तै' रापु रणथभ राय जादव 'सि' (सइ) हिथु । (मो॰ 308·1–4)
भये तोमर मतिहीन कराय किली 'ति' (तै) ढिली । (मो॰ 33 4)
'ति' (तै) जीतु गजनु गजि अपार हमीरह ।
'ति' (तै) जीतु चालुक विहरि सनाह सरीरह ।
'ति' (तै) पहुपग मू गहुँ इदु जिम गहि सू रहह ।
'ति' (तै) गोरीय दल दहु वारि कट जिन वन दहह ।
तुव तु ग तेग तब उचमत तिं (तै) तो पाशन मिलयु । (मो॰ 424 1–5)
भरे देव दानव जिम 'विर' (वैर) चीतु । (मो॰ 454, 45)

इस प्रवृत्ति की पुष्टि भी इस प्रकार होती है कि कहीं-कही पर 'इ' की मात्रा को 'ऐ' के रूप म पढा गया है, यथा—

विद्वजन 'बोलै' (बोलि) दिन घरहु आज । (मो॰ 40 54)

(3) कहीं कही 'इ' की मात्रा का प्रयोग 'अय' के लिए भी हुआ मिलता है, यथा—

'किमास'	(मो॰ 73 4)
वही	(मो॰ 77 1)
वही	(मो॰ 82·2)
वही	(मो॰ 99 2)
वही	(मो॰ 101 2)
वही	(मो॰ 105·1)
वही	(मो॰ 108·3)
वही	(मो॰ 116 1)
वही	(मो॰ 121·1)
वही	(मो॰ 548·3)

तुलना कीजिए—

मा मत्री 'कयमास' काम अया देवी विइदा गति । (मो॰ 74 4)
हि (हइ) 'कयमास' कहूँ कोइ जानहुँ । (मो॰ 98·4)

(4) 'इ' की मात्रा का प्रयोग 'ए' की मात्रा के लिए भी हुआ है, यथा—

दुहु राय रपत ति रत 'उठि'।
बिहुरे जन पावस श्रम उठे। (मो० 314 5-6)

नीय देह दिपि विरपि ससान।
जिते मोह मज्जा लगये 'ग्रासमानि'। (मो० 498 35-36)

शकु ने मरने जनगे विहाने।
वजे दहु दुभिदे विभू 'मनि। (मो० 498 39-40)

इस प्रवृत्ति की पुष्टि भी कही कहो इ की मात्रा के 'ए की मात्रा के रूप मे पढ़े गए होने से होती है, यथा—

पिनि गडु नृप ग्रधनिसा सम दासी 'सूरिग्रात' (सुरिग्राति)।
देव घरह जल धन ग्रनिल कहिग चद कवि प्रात॥ (मो० 87)

पहिचानु जयचद इहत ढिलीसुर पेयँ।
नहिन चदु उनुहारि दुसह दारुण तब दिपँ। (मो० 223 1-2)

गहीय चदु रह गजने जाहाँ सजन जु 'नरेंद'।
कबहूँ नयन निरपहूँ मनहु रवि ग्ररविंद। (मो० 474)

(5) 'इयइ' या 'इयँ' के स्थान पर प्राय 'ईइ' लिखा गया है, यथा—

सोइ एको बान सभरि घनी बीउ बान नह 'सघीइ'।
धारिग्रार गक लग मोगरीग्र एक बार नृप ढुकीयँ। (मो० 544 5-6)

हम बोल रिहि कलि ग्रतिर देहि स्वामि 'पारथीइ' (पारथयइ)।
ग्ररि ग्रसीइ लप को ग्रगमि परणि राय 'सारथीइ' (सारथियइ)।
(मो० 305 5-6)

मगल वार हि मरन की ते पति सधि तन 'पडीइ' (पडियइ)।
जेत चढि युध कमधज सू मरन सब मुप 'मडीह' (मडियइ)।
(मो० 309 5-6)

क्षिनु इक दरहि 'विलबिइ' (विलबियइ) कवि न करि मनु मदु।
(मो० 488·2)

सह सहाव दर 'दिपीइ' (दिपियइ) सु कछू भूमि पर मिछ। (मो० 479·2)

सीरताज साहि 'सोभीइ' (सोभियइ) सुदेसि। (मो० 492 17)

'सुनीइ' (सुनियइ) पुन्य सम मभ्क राज। (मो० 52·5)

(6) 'इयउ' के स्थान पर प्राय 'ईऊ' लिखा मिलता है—

इम जपिचद 'विरदीउ' (विरदियउ) सु प्रथीराज उनिहारि एहि।
(मो० 189-6, 190 6)

इम जपि चद विरदीउ' (विरदियउ) पट न कोस चहुवान गयु।
(मो० 335 6)

इम जपि चंद 'विरदीउ' (विरदियउ) दस कोस चहुग्रांन गउ ।

(मो० 343·7)

जिम सेत वज 'साजीउ' (साजियउ) पय । (मो० 492·24)

(7) 'उ' की मात्रा का प्रयोग प्राय 'अउ' के लिए हुआ है, यथा—

तव ही दास कर हय सुवय सुनाययूउ ।

बानावलि वि दहू वांन रोस रिस 'दाहयु' ।

मनहू नागपति पतिन अप 'जगाइयु' । (मो० 80 2–4)

पायक धनू धर कोटि गनि असी सहस हयमत अहू ।

पगुर किहि सामत सुइ जु जीवत ग्रहि प्रथीराज 'कु । (मो० 230 5–6)

निकट सुनि सुरतांन थांम दिसि उच हय 'सु ' (सउ)

जस अवसर सनु सचि अछि लुटीय न करीय 'भू' (भउ) । (मो० 533 3–4)

'सु' (सउ) बरस राज तप अत किन । (मो० 21 की अन्तिम अर्द्धाली)

'सु' (सउ) उपरि 'सु' (सउ) सहस दीह अगनित लप दहू । (मो० 283 2)

वन (उ) ज राडि पहिलि दिवसि 'शु' (शउ) मिं सात निवटिया । (मो० 298 6)

(8) कभी-कभी 'उ' की मात्रा से 'ओ' की मात्रा का भी काम लिया गया है—

निशपल पच घटीए दोई 'धायु' ।

आखेटकन्नसे नृप आयो । (मा० 92 3–4)

(9) और कभी-कभी 'उ' की मात्रा से 'औ' की मात्रा का काम लिया गया है—

कवि देषन कवि कु मन 'रत्तु'

स्याम नयन वन (उ) जि पहुत्तो । (मो० 176·1-2)

इसकी पुष्टि एकाध स्थान पर 'उ' के स्थान पर 'ओ' की मात्रा मिलने से भी होती है—

प्रात राउ सप्रापतिग जाहा दर दव 'अनाप' ।

गयन करि दरबार जिहि सात सहस अस भूप ।। (मो० 214)

(10) इसी प्रकार कहीं-कहीं 'उ' वर्ण का प्रयोग 'ओ' के लिए हुआ मिलता है—

तुलत जू तुज तराजून्ह गोप ।

मनु घन मभि तडितह 'उप' । (मो० 161·27–28)

गग जल जिमन धर हलि 'उजे' ।

पगरे राय राठुर फाजे । (मो० 284·15–16)

प्रति की वर्त्तनी-सम्बन्धी ऐसी ही प्रवृत्तियों का यहाँ उल्लेख किया गया है जो हिन्दी की प्रतियों में प्राय नहीं मिलती हैं, और इसीलिए हिन्दी पाठक को ऐसा लग सकता है कि ये प्रतिलिपिकार की अयोग्यता के कारण हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। नारायणदास तथा रत्नरंग रचित 'छिताई वार्त्ता' की भी एक प्रति में, जो इस प्रति के कुछ पूर्व की है, वर्त्तनी-सम्बन्धी ये सारी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, यद्यपि ये परिमाण में कम हैं, पश्चिमी

राजस्थानी तथा गुजराती की इस समय की प्रतियो मे तो ये प्रवृत्तियाँ प्रचुरता से पाई जाती हैं। फलत वर्त्तनी-सम्बन्धी इन प्रवृत्तियो का परिहार करके ही प्रति के पाठ पर विचार करना उचित होगा और इस प्रकार के परिहार के अनन्तर मो० का पाठ किसी भी प्रति से बुरा नही रहता है, वरन् वह प्राय प्राचीनतर और इसलिए कभी-कभी दुर्बोध भी प्रमाणित होता है, यह सम्पादित पाठ और पाठातरो पर दृष्टि डालने पर स्वत स्पष्ट हो जायगा।[1]

'अत इस प्रति को हम '।' मानेंगे और जहाँ-जहाँ इस प्रति का उल्लेख करेंगे—'।' का ही उल्लेख करेंगे।"

यदि इस समस्त कथन का विश्लेषण किया जाय तो विदित होगा कि इसके परिचय मे निम्न बातें दी गई हैं—

(क) प्रति के प्राप्ति स्थान एवं उसके स्वामी का परिचय—

(ख) प्रति की दशा (1) पूरी है या अधूरी है या कुछ पृष्ठ नही हैं, या फटे हैं या कीट-भक्षित हैं ? (2) पृष्ठ मे पक्तियो की और शब्दो की सख्या, (3) स्याही कैसी, एक रग की या दो की, (4) कागज कैसा, (5) सचित्र या सादा ? कितने चित्र ?

(ग) छन्द सख्या-पृष्ठगत तथा कुल ग्रन्थ मे कुछ त्रुटित पत्र हो तो उनके सम्बन्ध मे भी अनुमान।

(घ) लेख की प्रवृत्ति—सुलेख, कुलेख, स्पष्ट आदि।

(ङ) आकार—फुट तथा इच मे।

(च) प्राप्ति के उपाय।

(छ) पुष्पिका।

(ज) ग्रथ आदि का इतिहास।

(झ) पाठ-परम्परा तथा पाठ-विषयक उल्लेखनीय बातें। वर्तनी भेद के उदाहरणो के साथ।

(न) इस शोध की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व।

ग्रन्थो का यह क्रम 'कालक्रमानुसार' भी रखा जा सकता है, पर नाम उसका क्रमाक ही बनायेगा। हाँ, यदि एक ही सन् या सवत् मे एक ही प्रति मिलती है, और पूरी सूची-भर मे ऐसी ही स्थिति हो तो सन् या सवत् को भी 'सकेत' माना जा सकता है : *यथा, सन् 1762 वाली प्रति आदि।*

प्रतिलिपिकार-प्रणाली

ग्रन्थो के नाम सकेत 'अका' मे न रखकर ग्रन्थ के प्रतिलिपिकार के नाम के पहले अक्षर के आधार पर रखे जा सकते हैं जैसे 'बीसलदेव रास' की एक प्रति का सकेत 'प' उसके प्रतिलिपिकार 'पण्डित सीहा' के प्रथम अक्षर के आधार पर रखा गया है।

स्थान सकेत प्रणाली

ग्रन्थ की प्रतिलिपि अथवा रचना के स्थान का उल्लेख ग्रन्थ की पुष्पिका मे हो तो

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०)—पृथ्वीराज रासउ, पृ० 5-9।

उसके नाम के प्रथम अक्षर के आधार पर भी 'सकेत' बनाया जा सकता है। पृथ्वीराज रासो की एक प्रति को मो०' सकेत इसलिए दिया गया है कि उसकी पुष्पिका मे स्थान का उल्लेख है कि स० 1697 वष पोष सुदि अष्टमी तिथो गुरुवासरे मोहनपूरे।

पाठ-साम्य के समूह की प्रणाली

समस्त प्रतियों का वर्गीकरण पाठ-साम्य के आधार पर किया जा सकता है। इस वर्गीकरण का नाम भी उक्त प्रणालियो से दिया जा सकता है, फिर ग्रन्थाक भी। जैसे 'पद्मावत' के सभी आधार ग्रन्थो को पाँच पाठ साम्य समूहो मे बाँट दिया गया और नाम रखा— प्र०' प्रथम समूह का, 'द्वि' द्वितीय समूह का, पचम' पाँचवें समूह का। अब प्रथम समूह म दो ग्रन्थ हैं तो उनके सकेत होगे 'प्र० 1' तथा प्र० 2'।

पत्र सख्या प्रणाली

जब ग्रन्थ से और कोई सूचना नही मिलती जिसके आधार पर सकेत निर्धारित किया जा सकें तो पत्रो की सख्या को ही आधार बनाया जा सकता है।

एक प्रति आठ पत्रो म ही पूरी हुई है, केवल इसी आधार पर इसे 'आ०' कहा गया है।

अन्य प्रणाली

(क) डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने एक अन्य प्रणाली का उपयोग किया है जिसे उन्होने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

'इस प्रति की पुष्पिका भी स्पष्टत अपर्याप्त थी। किन्तु इसको देखने पर ज्ञात हुआ कि इसके कुछ पत्रे एक प्रति के थे और शेष पत्रे दूसरी प्रति के थे दोनो प्रतियाँ खडित थी और उन्हे मिलाकर एक पुस्तक पूरी कर दी गई थी—यही कारण है कि 19वीं सख्या के इसमे दो पत्रे हैं। इसी पुनरुद्धार के आधार पर इस प्रति का सकेत 'पु०' रख लिया गया है।[1]

(ख) मूल पुष्पिका नष्ट हो गयी, पर ग्रन्थ स्वामी ने किसी अन्य ग्रन्थ से वह पुष्पिका लिखकर जोड दी, तो स्वामी के नाम से ही ग्रन्थ का सकेत दे दिया है।

(ग) ऊपर की प्रणालियो का बिना अनुगमन किये अनुसधानकर्त्ता स्वय अपनी कल्पना से या याजना से कोई भी सकेत ग्रन्थ को दे सकता है।

पाठ-प्रतियाँ

ग्रन्थो के 'सकेत-नाम' निधारित हो जाने पर उनमे से प्रत्येक के एक एक छन्द को क्रमश एक-एक कागज पर लिख लिया जाना चाहिये। प्रत्यक छन्द की प्रत्येक पक्ति को भी क्रमाक दे देना चाहिये, तथा छन्द का भी क्रमाक (वह अक जो उसके लिए ग्रन्थ मे दिया हो) देना चाहिये। यथा–

।0।

पडियउ पहुतउ सातमई मास (1)
देव कह थान करी अरदास (2)
तपीय सन्यासीय तप करह (3)

1 गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०)—बीसलदेव रास, पृ० 5

प्रत्येक पत्र इतना बडा होना चाहिये कि पूरा छद लिखने के बाद उसमे आवश्यक टिप्पणियाँ देने के लिए स्थान रहे ।

इन प्रतिलेखो को सावधानी से उस ग्रन्थ-मूल से फिर मिला लेना चाहिए ।

पाठ-तुलना

इसके उपरात प्रत्येक छद की समस्त प्रतियो के रूपो से तुलना की जानी चाहिए । इसमे ये बातें देखनी होगी ।

(क) इस छद के चरण सभी प्रतियो मे एकसे हैं अर्थात् यदि एक में पूरा छद चार चरणो मे है तो शेष सभी मे भी वह चार चरण वाला ही है ।

अथवा

एक मे चरण सख्या कुछ, दूसरे मे कुछ आदि ।

(ख) यदि किसी-किसी प्रति मे कम चरण हैं तो किस प्रति मे कौनसा चरण नही है ।

(ग) यदि किसी मे अधिक चरण है तो कौनसा चरण अधिक है ।

(घ) फिर क्रमश प्रत्येक चरण की तुलना—

क्या चरण के सभी शब्द प्रत्येक प्रति मे समान है अथवा शब्दो मे क्रम-भेद है ?

किस प्रति मे किस चरण मे कहाँ-कहाँ वर्तनी-भेद है ?

किस-किस प्रति मे इस चरण मे कहाँ कहाँ अलग-अलग शब्द हैं ?

जैसे बीसलदेव की एक प्रति मे 102 छद का 6ठा चरण है—"ऊँचा तो धरि-धरि वार" । यह चरण एक अन्य प्रति मे है–

'धरि धरि तोरण मगल ध्यारि' ।

इसी प्रकार चरण प्रति चरण, शब्द प्रति शब्द तुलना करके प्रत्येक शब्द के पाठों के अन्तरो की सूची प्रस्तुत करनी चाहिए । प्रत्येक परिवर्तित चरण की सूची, प्रत्येक लोप की सूची, प्रत्येक अधिक चरण (आगम) की सूची बनायी जानी चाहिए ।

साथ ही प्रत्येक प्रति मे चरण की छन्द-शास्त्रीय सगति भी देखी जानी चाहिए ।

इसके अनन्तर उक्त आधारो पर तीन 'सम्बन्धो' की दृष्टि से तुलना करनी होगी–प्रतिलिपि सम्बन्ध से, प्रक्षेप सम्बन्ध से, पाठान्तर सम्बन्ध से ।

प्रामाणिक पाठ के निर्धारण मे प्रतियो के प्रतिलिपि सम्बन्ध की महत्ता स्वयसिद्ध है, क्योकि इसीसे हमे उन सीढियों का पता लग सकता है जिनके आधार पर मूल प्रामाणिक पाठ का अनुसन्धान किया जा सकता है । प्रतिलिपि सम्बन्धो की तुलना से ही हमे विदित होता है कि किस प्रति की पूर्वज कौनसी प्रति है । इस प्रकार समस्त प्रतिलिपित ग्रन्थो का एक वश-वृक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है । वश-वृक्ष बनाने के लिए समस्त प्रतियो के पाठों का गहन अध्ययन अपेक्षित होता है तभी हम उन प्रतियो के पूर्वजो की कल्पना भी कर सकते हैं जो हमे शोध मे प्राप्त हुई हैं । ऐसे कल्पित पूर्वज को वश-वृक्ष मे (×) गुणन के चिह्न से बताया जा सकता है । इससे प्रतियो के परस्पर सम्बन्ध ही नही विदित होते वरन् प्रामाणिकता की दृष्टि से महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है । इसी प्रकार प्रक्षेपो की तुलना की जा सकती है । इनके भी परस्पर सम्बन्धो का वश-वृक्ष दिया जा सकता है ।

पाठान्तर सम्बन्ध की तुलना सभी ग्रन्थो मे नही हो सकती, क्योंकि कुछ ग्रन्थ तो ऐसे मिलते हैं जिनमे लिपिकार हाशिये मे किसी शब्द का पाठान्तर लिख देता है। पद्मावत की प्रतियो मे ऐसे पाठान्तर मिले थे। पर अन्य बहुत-से ग्रन्थो म पाठान्तर नही लिखे होते। यदि प्रतिलिपियों मे पाठान्तर मिलते हैं तो उनकी तुलना से भी मूल पाठ के अनुसधान मे सहायता ली जा सकती है।

इन तीन सम्बन्धो के द्वारा तुलनापूर्वक जब सबसे अधिक प्रामाणिक पाठ वाली प्रति निर्धारित कर ली जाय तो उसके पाठ को आधार मान सकते हैं, या मूल पाठ मान सकते हैं, किन्तु उसे अभी प्रामाणिक पाठ नही कह सकते।

प्रामाणिक पाठ पाने के लिये यह आवश्यक है कि उक्त पाठ-सम्बन्धो को विवेचना करके पाठसम्पादन के सिद्धान्त निर्धारित कर लिये जायें। इसम हमे यह देखना होगा कि जिन प्रतियों के पाठ मिश्रण से बने हैं वे प्रामाणिक पाठ नही दे सकते, जिन प्रतियो की परम्परा पर दूसरो का प्रभाव कम से कम पडा है, वे ही प्रामाणिक मानी जानी चाहिये।

प्रामाणिकता के लिए विविध पाठान्तरो की तुलना अपेक्षित है। तुलनापूर्वक विवेचना करके 'शब्द' और 'चरण' के रूप को निधारित करना होगा।

इसमे यह देखना होगा कि यदि कम विकृत पाठ किसी प्राचीन पीढ़ी का है तो वह अतिविकृत बाद की पीढी मे अधिक प्रामाणिक होगा।

इसके साथ ही यह स्पष्ट है कि यदि कोई एक पाठ कुछ स्वतन्त्र पाठ-परम्पराओ मे समान मिलता है तो वह निस्सदेह प्रामाणिक होगा। इसी प्रकार अन्य स्वतन्त्र परम्पराओ या कम प्रमाणित परम्पराओ क पाठों का सापेक्षिक महत्त्व स्थापित किया जा सकता है।

क्योकि कुछ अश तो ऐसा हो सकता है जो सभी स्वतन्त्र और कम प्रभावित परम्पराओ मे समान मिले, कुछ ऐसा अश होगा जा सबमें समान रूप से प्राप्त नही, तब तुलना से जिनको दूसरी कोटि का प्रमाण माना है उन पर निर्भर करना होगा। हमे दूसरी कोटि के पाठ को पूर्णत प्रामाणिक बनाने क लिए 'शप समस्त बाह्य और अन्तरग सम्भावनाओं के साक्ष्य से ही पाठ-निर्णय करना चाहिए।"

इसे डॉ० माताप्रसाद गुप्त[1] के 'बीसलदेव रास' की भूमिका मे दी गयी प्रक्रिया के एक अश के उद्धरण से समझाया जा सकता है। डॉ० गुप्त ने विविध प्रतिलिपि-सम्बन्धो का भली प्रकार विवेचन करके उन प्रतियो के पाठ-सम्बन्धो को एक 'वश-वृक्ष' से प्रस्तुत किया है जो आगे के पृष्ठ पर दिखाया गया है।

इस वृक्ष से स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक मूल ग्रन्थ से प्रतियों की तीन स्वतन्त्र परम्पराएँ चलीं। इसमे प० समूह की प्रतियाँ बहुत पहली पीढ़ी की हैं, तीसरी-चौथी पीढी की ही हैं और इस पर 'म' के किसी पूर्वज का सम्भवत पाँचवी पीढी पूर्व की प्रति का प्रभाव 'पं' समूह के पूर्व की दूसरी पीढ़ी के पूर्व की प्रति पर पडा है, और कोई नही पडा हैं। 'म' समूह पर 'स' समूह की दूसरी-तीसरी पीढी पूर्व के प्रभाव पडे हैं, अन्यथा वह दूसरी स्वतन्त्र धारा है। 'स' तीसरी स्वतन्त्र धारा है। अतः निष्कर्ष निकाले गये कि—

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०) तथा नाहटा, अगर चद—बीसलदेव रास, (भूमिका), पृ० 47।
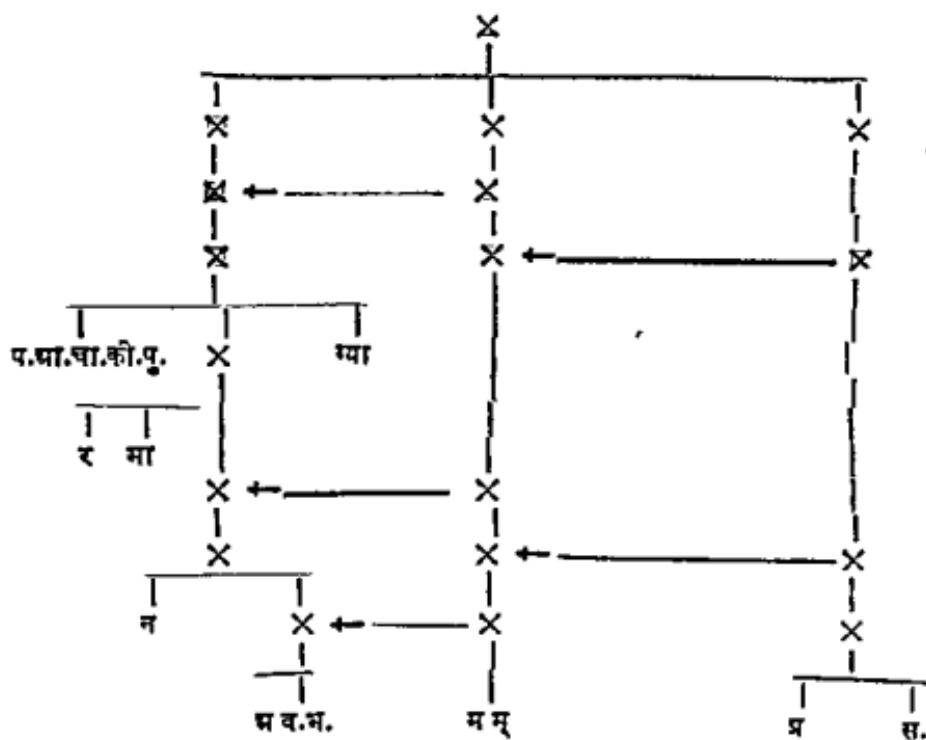
उक्त चित्र मे × गुणा का चिह्न यह बताता है कि यह प्रति प्राप्त नही हुई है किन्तु उपलब्ध प्रतियो के माध्यम से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐसी प्रति होनी चाहिए।

← तीर का यह चिह्न यह बताता है कि तीर शीर्ष जिस प्रति की ओर है उस पर उस प्रति का प्रभाव है, जिससे तीर आरम्भ होता है।

(1) प समूह का पाठ 'स' समूह का अथवा उसके किसी पूर्वज का ऋणी नही है। इसलिए इन दोनो समूहो का जिनम प० आ० चा० की० पु० तथा 'या' प्रतियाँ आती हैं, पाठ-साम्य मात्र पाठ की प्रामाणिकता के लिए साधारणत प्रामाणिक माना जाना चाहिये।

(2) जिन विषयो मे म० प० तथा स० तीनो समूहा मे पाठ-साम्य हैं, उनकी प्रामाणिकता स्वत सिद्ध मानी जानी चाहिये।

(3) जिन विषयो मे म० तथा प० समूह एकमत हो और स० भिन्न हो, अथवा म० तथा स० समूह एकमत हो, और प० समूह भिन्न हो, उन विषयो मे शेष समस्त बाह्य और अन्तरग सम्भावनाओ के साम्य से ही पाठ-निर्णय करना चाहिये।

बाह्य और अन्तरंग सम्भावनाए

पाठ की प्रामाणिकता की कसौटी बाह्य और अन्तरग सम्भावनाएँ हैं। सदिग्ध स्थलो के शब्दों या चरणो की प्रामाणिकता के लिए अन्तरग साक्ष्य तो मिलता है वैसे ही शब्द अथवा चरणो की ग्रन्थ के अन्दर आवृत्ति के द्वारा" 'अन्यत्र कहाँ,' किस-किस स्थान

और रूप में प्रयोग मिलता है। इस प्रयोग की आवृत्ति की साख्यिकी (Statistics) प्रामाणिकता को पुष्ट करती है।

'अर्थ' की समीचीनता की उद्भावना भी प्रामाणिकता को पुष्ट करती है। इसे हम डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के कुछ उद्धरणों से स्पष्ट करेंगे। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने पद्मावत की टीका की भूमिका में प्रचुर तुलनात्मक विवेचना से यह सिद्ध किया है कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त का वैज्ञानिक विधि से संशोधित पाठ शुक्ल जी के पाठ से समीचीन है। उसमें एक स्थान पर एक उदाहरण यों दिया हुआ है—

(34) शुक्लजी—जीभा खोलि राग सौं मढ़े। लेजिम घालि एराकन्हि चढे।

शिरेफ ने कुछ संदेह के साथ पहली अर्द्धाली का अर्थ किया है—तोपो ने कुछ संगति के साथ अपना मुँह खोला। वस्तुत यह जायसी की अतिक्लिष्ट पंक्ति थी जिसका मूल पाठ इस प्रकार था—

गुप्तजी—जेबा खोलि राग सौं मढे।

इसमे जेबा, खोल, राग तीनो पारिभाषिक शब्द हैं। शाह की सेना के सरदारों के लिए कहा गया है कि वे जिरहबख्तर (जेबा), झिलमिल टोप (खोल) और टाँगो के कवच (राग) से ढके थे। 512/4 मे भी 'राग' मूलपाठ को बदलकर 'सजे' कर दिया गया।[1]

इसमे 'जेबा,' खोलि' 'राग' ये पारिभाषिक शब्द हैं। अत इस विषय के बाह्य प्रमाण से इसकी पुष्टि होती है, और 'शुक्ल' जी के पाठ की अपेक्षा इस वैज्ञानिक विधि से प्राप्त पाठ की समीचीनता सिद्ध होती है।

पाठानुसधान मे भ्रम से अथवा संशोधन शास्त्र के नियमो के पालन मे असावधानी से अभीष्ट पाठ और अर्थ नही मिल सकता। इसे समझाने के लिए डॉ० अग्रवाल ने अपनी ही एक भ्रांति का उल्लेख यों किया है

"इस प्रकार की एक भ्रान्ति का मैं सविशेष उल्लेख करना चाहता हूँ क्योकि वह इस बात का अच्छा नमूना है कि कवि के मूल पाठ के निश्चय करने में संशोधन शास्त्र के नियमों के पालन की कितनी आवश्यकता है और उसकी थोडी अवहेलना से भी कवि के अभीष्ट अर्थ को हम किस तरह खो बैठते हैं। 152/4 का शुक्ल जी का पाठ इस प्रकार है—

मास डाडि मन मथनी गाढ़ी। हिये चोट बिनु फूट न साढ़ी।।

माताप्रसाद जी को डाडि के स्थान पर वेध धौठ, बैठ, धोइठा, दूध, दहि, दधि, दवाल, डोड इतने पाठान्तर मिले। सम्भव है और प्रतियों म अभी और भी भिन्न पाठ मिलें। मनर शरीफ की प्रति मे मोड पाठ है। गुप्त जी को इनमे से किसी पाठ से सन्तोष नही हुआ। अतएव उन्होंने अर्थ की आवश्यकता के अनुसार अपने मन से 'दहेडि' इस पाठ का सुझाव दिया, पर उसके आगे प्रश्न चिह्न लगा दिया—स्वास दहेंडि (?) मन मथनी गाढ़ी। हिये चोट बिनु फूट न साढ़ी। मैंने इस प्रश्न चिह्न पर उचित ध्यान न ठहरा कर सांस दही की हाडी है, मन दृढ मथानी है' ऐसा अर्थ कर डाला। प्रसगवश श्री अम्बाप्रसाद सुमन के साथ इस पक्ति पर पुन विचार करते हुए इसके प्रत्येक पाठान्तर को जब मैं देखने लगा तो 'दवाल' शब्द पर ध्यान गया। 'श्री सुमन' जी ने सुनते ही कहा कि

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ)—पद्मावत (प्राक्कथन), पृ० 19।

ग्रलीगढ की बोली मे द्वाली चमड़े की डोरी या तस्मे को कहते हैं। कोश देखने से ज्ञात हुग्रा कि फारसी मे दवाल या दुवाल रकाब के तस्मे को कहते है (स्टाइनगास फारसी कोश पृ 539)। क्रुक ने दुग्रालि, दुग्राल का ग्रर्थ चमड़े की बग्घी, हल ग्रादि बाँधने का तस्मा किया है (ए रूरल एण्ड एग्रीकल्चरल ग्लासरी, पृ. 91)। जियाउद्दीन बरनी न तारीखे फिरोजशाही मे ग्रलाउद्दीनकालीन वस्त्रो के विवरण म बुरदा नामक वस्त्र को 'दवाले लाल' ग्रर्थात् लाल डोरियो का धारीधार कपडा लिखा है (सैयद ग्रतहर ग्रब्बास रिजवी, खिलजी कालीन भारत, पृ 82, तारीखे फिराजशाही का हिन्दी ग्रनुवाद)। इन ग्रर्थों पर विचार करने से मुझे निश्चय हो गया कि प्रस्तुत प्रसग मे डोरी का वाचक दुग्राल शब्द नितात क्लिष्ट पाठ था, ग्रौर वही कविकृत मूल पाठ था। पद्मावत की एक ही हस्तलिखित प्रति मे ग्रभी तक यह शुद्ध पाठ प्राप्त हुग्रा है (गोपालचन्द जी की फारसी लिपि की प्रति जो बहुत सुलिखित है—यही गुप्त जी की 'च ।' प्रति है)। सम्भव है भविष्य म किसी ग्रौर ग्रच्छी प्रति मे भी यह पाठ मिल जावे। रामपुर की प्रति का पाठ इस समय विदित नहीं है। इस प्रकार इस पक्ति का कविकृत पाठ यह हुग्रा—

सास दुग्रालि मन मथनी गाढी। हिए चोट बिनु फूट न साढी॥

सास दुग्राली या डोरी है। शुक्लजी न 'डाडि' पाठान्तर को प्रसगवश डोरी ग्रर्थ म ही लिया है पर डाडि पाठ किसी प्रति म नही मिला। मूल पाठ दुग्रालि होने मे सन्देह नही। सास का ठीक उपमान डोरी ही हो सकती है दहेंडि नही।[1]

इसमे डॉ ग्रग्रवाल न एक 'बाह्य' सम्भावना से 'दुग्रालि' पाठ को प्रामाणिक सिद्ध किया है। डॉ. गुप्त ने ग्रन्थो म प्राप्त किसी पाठान्तर को ठीक नही माना, ग्रौर 'दहेडि' की कल्पना 'ग्रर्थ-न्यास' के ग्राधार पर की। यह प्रयत्न पाठालोचन के सिद्धान्त के ग्रधिक ग्रनुकूल नहीं।

पाठ की प्रामाणिकता की दृष्टि से 'शब्दो को तत्कालीन 'रूप' ग्रौर 'ग्रर्थों' स भी पुष्ट करने की ग्रावश्यकता है। जैसे 'पद्मावत' के ग्रनेक शब्दो के ग्रर्थ 'ग्राईने ग्रकबरी' के *द्वारा पुष्ट होत हैं। इसी प्रकार से ग्रन्य समकालीन कवियो की शब्दावली ग्रथवा तत्कालीन* नाममालाग्रो से 'शब्दो' की पुष्टि की जा सकती है।

पाठ सिद्धान्त निर्धारित हो जाने के बाद, जिसका पूर्ण विवेचन ऊपर लिखे ढग से ग्रारम्भ मे किया जाना चाहिये, एक पृष्ठ पर एक छन्द रहना चाहिये ग्रौर उसके नीचे जितने भी पाठान्तर मिलते हैं वे सभी दे दिये जाने चाहिये। पाठान्तर किस किस प्रति के क्या-क्या हैं, इसका भी सकेत रहना चाहिये। डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'पृथ्वीराज रासउ' से एक उदाहरण लेकर इस बात को भी स्पष्ट किया जा सकता है।

साटिका— [1]छन्त या[2]मद गध प्राण * लुब्धा[3] ग्रालि भूरि[4] ग्राच्छादिता[5]। (1)

गुजाहार ग्रधार[1] सार गुन या[2] रुंजा पया[3] भासिता। (2)

ग्रग्रे या[1] स्तुति कुंडला[2] करि नव[3] तु डीर[4] × उद्धारया[5] ×।(3)

मोय पातु गणेस सेस सफल[1] प्रिथिराज काव्ये हित[2]। (4)

पाठान्तर— × चिह्नित शब्द धा मे नही है।

* चिह्नित शब्द ना मे नही है।

1 ग्रग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ)—पद्मावत (प्राक्कथन), पृ० 26।

(1) 1. मो मे यहाँ 'पुन' है, जो अन्य किसी प्रति मे नही है। 2 धा या, मो जा शेष मे 'जा'। 3. मो रागुरु वाश, धा गधरसिका, स राग रुचय म अ घ्राण (घ्रान-म) लुब्धा, ना–लुब्धा। 4 मो भार, ना अ. भौर स भूर म. भौर। 5 म अाच्छादित ।

(2) 1 मो आधार, स आधार, ना म अ विहार (तुल० अगले छन्द का चरण।)। 2 मो गुनीजा, धा गुनीजा, म. गुनया, ना अ. गुणजा। 3 मो भ्रच पया धा रुजा पिया, अ रुजा पया, ना रजा पया भ्रभा पया।

(3) 1 धा म या, शेप मे 'जा'। 2 मो सुत कुडल। 3, मा नवु धा नव ना. णव, अ फ करा, म करि, स करु। 4 मो. थुडीर, अ तुढीर म जुदीर, ना थुदीर 15 मा उदारव।

(4) 1 मो. स. सेस सफल (शेष सफल–मो.) धा सतत फल, अ ना सेवित फल। 2. मो काव्यहित, म स, काव्य कृत।[1]

इसमे ऊपर प्रामाणिक पाठ दिया हुआ है। नीचे 'पाठान्तर' शीर्षक स मूल प्रामाणिक पाठ के शब्दा स भिन्न शब्द रूपो का उल्लेख किया गया है, और साथ मे प्रति सकेत दिया गया है 'धा' ना' 'मो' 'स' 'ब. 'अ' 'फ'– ये अक्षर प्रतियो के सकेताक्षर है।

प्रामाणिक पाठ निर्धारित करन म बहुत सी सामग्री 'प्रक्षेप' के रूप म अलग निकल जायगी। उस सामग्री का ग्रन्थ म 'परिशिष्ट रूप म, उसके पाठ का भी यथासम्भव प्रामाणिक बनाकर दे देना चाहिए। इस प्रकार उस समस्त सामग्री को सजा देने म सिद्धान्त यह है कि 'पाठालोचक' को वैज्ञानिक कसौटी मे यदि काई त्रुटि रह गयी हो तो विद्वान पाठक अपनी कसौटी मे समस्त सामग्री को स्वय जांच कर सके। अनुसधानकर्त्ता का और कोई आग्रह नही होता, अतएव भूलचूक के लिए वह स्वय समस्त सामग्री और समस्त प्रक्रिया को विज्ञ पाठक के समक्ष रख देता है।

पाठानुसधान की वैज्ञानिक प्रक्रिया के सम्बन्ध म एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि 'अर्थ-न्यास' का पाठालोचन म क्या महत्त्व है?

यो तो यह सत्य है कि किसी भी कृति का पाठ उसका अर्थ प्राप्त करन के लिए ही किया जाता है किन्तु पाठ स अपेक्षित अर्थ नही पाया जा सकता, एस अर्थ को प्रामाणिक भी नही माना जा सकता। पाठालाचन का महत्त्व ही इसी अर्थ के लिए है पर यथार्थ यह है कि पाठालाचन प्रक्रिया म 'अर्थ' का विशेष महत्त्व नही हा सकता। वह सहायक अवश्य है। 'शब्द' के अर्थ का ज्ञान अध्ययन परिमाण-सापेक्ष्य है। यदि क' का ज्ञान बहुत सीमित है तो कभी कभी वह एक क्षेत्र म बहुप्रचलित शब्द का अर्थ भी नहीं जानगा और अर्थ को दृष्टि म रखेगा तो अपन सीमित ज्ञान से त्रुटिपूर्ण सशोधन कर देगा। जैसे यदि कोई ब्रज मे प्रचलित 'हटरी' से परिचित नही है ता वह सूरसागर म इस शब्द को 'हट री (हटरी) कर सकता है, क्योंकि उसकी दृष्टि म 'हटरी' कोई शब्द ही नही। पाठालोचनकार भी शब्दो के समस्त अर्थो से परिचित होगा, विशेषत कृतिकालीन समय स यह सम्भव नही। अत पाठ विज्ञान मे जो रूप निर्धारित हो उस ही रखना चाहिये, क्योंकि कोई ऐसा शब्द हो सकता

[1] गुप्त, माताप्रसाद (डॉ.)—पृथ्वीराज रासउ, पृ० 3।

है, *जिसका अर्थ आगे ज्ञान-वर्द्धन के साथ प्राप्त हो।* जैसे सास दुमालि के उदाहरण से सिद्ध है।

एक प्रश्न यह उठता है कि यदि किसी ग्रन्थ की अन्य प्रतियाँ न मिलती हों, केवल एक ही प्रति उपलब्ध हो, और वह लेखक के हाथ की प्रति न हो तो क्या उसका भी सम्पादन हो सकता है? *सामान्य पाठालोचक कहेगा कि नहीं हो सकता।*

किन्तु मैं समझता हूँ कि उसका भी सम्पादन या पाठालोचन हो सकता है। ऐसे ग्रन्थ के सम्पादन के लिए यह आवश्यक है कि आन्तरिक बाह्य साक्ष्य से यह जाना जाय कि ग्रन्थ का रचना काल क्या था, ग्रन्थ कहाँ लिखा गया? क्या एक ही स्थान पर लिखा गया? या, कवि घूमता फिरता रहा, अत ग्रन्थ का कुछ अंश कहीं लिखा गया, कुछ कहीं फलत कागज बदला, स्याही बदली। जिस स्थान पर कवि रहता था, वहाँ का वातावरण कैसा था? किस प्रकार की भाषा उस क्षेत्र में बोली जाती थी। ऐसे कवि कौनसे हैं जिनसे उसके रचयिता का परिचय था। उसके क्षेत्र में और काल में कौनसे ग्रन्थ लिखे गये और उनकी भाषा तथा शब्दावली कैसी थी? आदि बातों का सम्यक पता लगाये। ये बाह्य साक्ष्य इस पाठालोचन के लिए महत्वपूर्ण हैं।

किन्तु ऐसे पाठालोचन के लिए बाह्य साक्ष्य से अधिक महत्त्वपूर्ण है अन्तरंग का ज्ञान कुछ ऐसी ही प्रक्रियाओं से पाठ के उद्घाटन में काम लेना होता है जिनका उपयोग इतिहास-पुरातत्वान्वेषी शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों के पाठ के उद्घाटन के लिए करते हैं।

इसमें 'अर्थ-न्यास' को अवश्य महत्त्व देना होगा क्योंकि उसी का अनुमान सम्पूर्ण ग्रन्थ के अध्ययन के उपरान्त लगाया जा सकता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का सम्यक् अध्ययन करने में *शब्दावली और वाक्य-पद्धति का भी संशोधक को इतना परिचय हो जाता है कि वह* संदिग्ध अथवा त्रुटित स्थलों की पूर्ति प्राय उपयुक्त शब्द या वाक्य से कर सकता है। ऐसे अनुमान को सदा कोष्ठकों ( ) में बन्द करके रखना चाहिये। इन कोष्ठकों से यह पता चल सकेगा कि ये स्थल संपादक के सुझाव हैं।

ऐसे पाठ निर्धारण में सांख्यिकी (Statistics) का भी उपयोग हो सकता है। शब्दों के कई रूप मिलते हों उनमें कौनसा रूप लेखक का अपना प्रामाणिक हो सकता है इसकी कसौटी सांख्यिकी द्वारा आवृत्ति निर्धारित करके की जा सकती है। सांख्यिकी से ऐसे शब्दों के विविध रूपों की आवृत्तियाँ (Frequencies) देखी जा सकती हैं।

जिस ग्रन्थ का सम्पादन किया जा रहा है, उसकी भाषा का व्याकरण भी बना लेना चाहिये। इसके द्वारा वाक्य रचना के प्रामाणिक आदर्श स्वरूप की परिकल्पना हो सकती है। यदि इसके रचयिता की कोई अन्य कृति मिलती हो तो उससे तुलनापूर्वक इस ग्रन्थ के पाठ के कितने ही संदिग्ध स्थलों को प्रामाणिक बनाया जा सकता है।

ऐसे ग्रन्थों में शब्दानुक्रमणिका देना उपयोगी रहता है।

पाठानुसंधान (Textual Creticism) भाषा-विज्ञान (Linguistics) का महत्त्वपूर्ण अंग है। अब इसके सिद्धान्त वैज्ञानिक हो गये हैं। ऊपर उसी वैज्ञानिक पद्धति पर कुछ प्रकाश डाला गया है।

इस वैज्ञानिक पद्धति के प्रचलन से पूर्व हमें पाठ सम्पादन के कई प्रकार मिलते हैं।

एक पद्धति तो सामान्य पद्धति थी—किसी ग्रन्थ को एक प्रति मिली, उसके ही आधार पर 'प्रेस-कापी' तैयार कर दी गई। हस्तलिखित ग्रन्थों में शब्द शब्द में अन्तर नहीं

किया जाता था । एक शीर्ष रेखा से शब्द शब्द को जोडकर लिखा जाता था, यथा—

मागेचलेबहुरिरघुराई
ऋष्यमूकपर्वतनियराई

इस पद्धति का सम्पादक जो अधिक से अधिक कर सकता है वह यह है कि अपनी बुद्धि का उपयोग करके चरण बन्ध को तोडकर शब्द-बन्ध से पाडुलिपि प्रस्तुत कर दे । यह शब्द 'ब ध वह अपने शब्दार्थ ज्ञान के आधार पर ही करता था । स्पष्ट है कि ऐसे सम्पादन का कोई वैज्ञानिक महत्त्व नही । पर किसी अच्छी प्रति का ऐसा पाठ भी प्रकाशित हो जाय तो यह महत्त्व ता उसका है ही कि एक अच्छा ग्रन्थ प्रकाश मे आया ।

दूसरी पद्धति को पाठान्तर पद्धति कह सकते हैं । पाठ सशोधक एकाधिक ग्रन्थ एकत्र कर लेता है । उन ग्रन्थो म से सरसरे अध्ययन के उपरान्त जो अर्थ आदि की कसौटी पर ठीक प्रतीत हुआ, उसे मूल पाठ मान लिया और नीचे पाद टिप्पणियो मे अन्य ग्रन्थो से पाठान्तर दे दिये । वैज्ञानिक पाठालोचन पाठान्तर देने का भी क्रम रहता, इस पद्धति मे वैसा नही होता ।

तीसरी पद्धति को भाषा आदर्श पद्धति कह सकते हैं । इस पद्धति मे जिस ग्रन्थ का सपादन करना है उसकी वर्तनी के रूपो का निधारण और व्याकरण विषयक नियमो का निर्धारण उस ग्रन्थ का अध्ययन करके और उस कृति की और उस काल की अन्य रचनाओ से तुलनापूर्वक कर लिया जाता है । इस प्रकार उस ग्रन्थ की भाषा का आदर्श रूप खडा कर लिया जाता है और उसी के आधार पर पाठ का सशोधन प्रस्तुत कर दिया जाता है ।

इन पद्धतियो का वैज्ञानिक पद्धति के समक्ष क्या मूल्य हो सकता है, सहज ही समझा जा सकता है ।

पाठ-निर्माण

पाठ का पुनर्निर्माण, वह भी प्रामाणिक निर्माण, भी पाठालोचन का ही एक पक्ष है । एजरटन महोदय ने पञ्चतन्त्र के पाठ का पुनर्निर्माण किया था । पाठ निर्माण मे उनका कार्य आदर्श कार्य माना गया है ।

एजरटन महोदय ने 'पचतत्र पुनर्निर्मिति नामक ग्रन्थ मे विविध क्षेत्रो से प्राप्त पचतत्र के विविध रूपो को लेकर उनमे पाये जाने वाले अन्तरो और भेदो को दृष्टि मे रख कर उसके 'मूलरूप का निर्माण करने का प्रयत्न किया । पचतत्र के विविध रूपान्तरो मे कहानियो म आगम, लोप और विपयय मिलते हैं । प्रथम प्रश्न यही उपस्थित हाता है कि तब पचतत्र का मूलरूप क्या रहा होगा और उसमे कौन कौनसी कहानियाँ थी और वे किस क्रम म रही होगी । यह माना जाता है कि विश्व म लोकप्रियता की दृष्टि से बाइबिल के बाद पचतत्र का स्थान है । इसी कारण पचतत्र के कितने ही सस्करण मिलते हैं । उनम अन्तर है—अत पचतत्र के मूलरूप का निर्माण करने की समस्या भी 'पाठालोचन' के अन्दर ही आती है ।

इसके लिए एजरटन[1] महोदय ने वशवृक्ष बनाया । वह इस प्रकार है

वशवृक्ष

प्राचीनतर पचतत्र के सस्करणो के आतरिक सबध दिखाने के लिए ।
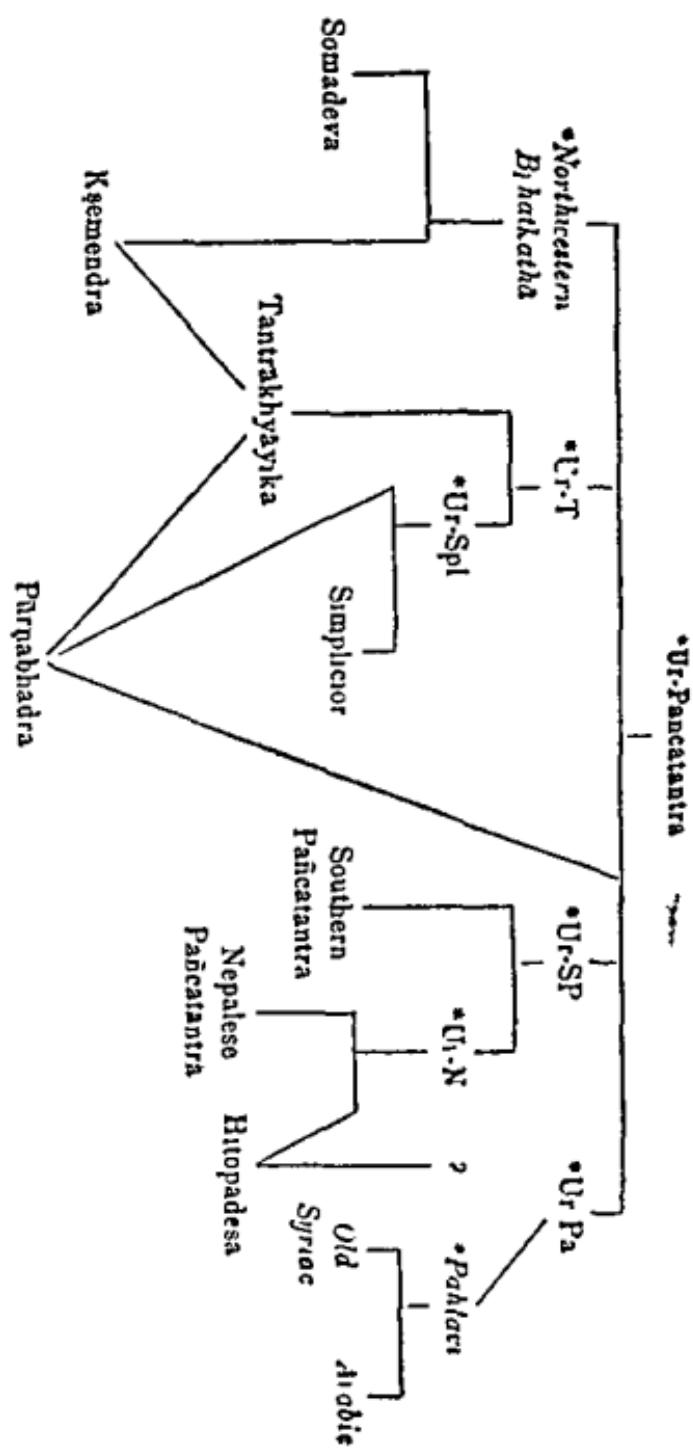
1 Edgerton Franklin--The Panchatantra Reconstructed Vol II, p 48.

एजरटन महोदय ने 'पचतत्र' के पुनर्निर्माण मे जिस प्रक्रिया का पालन किया है, उसकी चर्चा उन्होंने खण्ड 2 के तृतीय अध्याय मे की है ।

उनकी एक स्थापना यह है कि मूल (पचतत्र) के सम्बन्ध मे उस समय सब कुछ

भी नहीं कहा जा सकता जब तक कि यह निर्धारित न हो जाय कि कौनसे संस्करण द्वितीय स्थानीय रूप मे परस्पर अन्तरत: सम्बन्धित हैं।

दो संस्करणो मे द्वितीय स्थानीय आन्तरिक सम्बन्ध (Secondary interrelationship) से यह अभिप्राय है कि मूल पचतत्र से बाद के और उससे तुलना मे द्वितीय स्थानीय (Secondary) प्रति की सर्वमान्य (Common) मूलाधार (Archetype) ग्रन्थ की प्रति से पूर्णत या अशत उनकी उद्भावना (Descent) या अवतीर्णता की स्थिति इस उद्भावना या अवतीर्णता को सिद्ध करने के तीन ही मार्ग है :

एक–यह प्रमाण (सबूत) कि उन सस्करणो मे ऐसी सामग्री और बातें प्रचुर मात्रा म हैं *, जो मूल ग्रन्थ मे हा सकती है। दो या अधिक सस्करणो मे वह महत्त्वपूर्ण सामग्री और वे विशिष्ट बातें ऐसे रूप मे और इतनी मात्रा मे मिलती है कि यह सम्भावना की जा सकती है कि यह सामग्री मूल से ही अवतीर्ण की गयी है, और उन सभी सस्करणो मे वे ऐसे स्थानो पर नियोजित है जिन पर स्वतन्त्र रूप से उनके नियोजन की कल्पना नही की जा सकती। यदि प्रत्येक सस्करण स्वतन्त्र रूप से तैयार किया गया है, और वह किसी अन्य ग्रन्थ से अवतीर्ण नही हुआ है तो यह कैसे माना जा सकता है कि उनमे दी गई कहानियाँ एक ही क्रम म और एक जैसे स्थलों पर ही नियोजित होगी *, ऐसा हो नही सकता। अत यदि कुछ प्रतियो या सस्करणो म कहानियो का समावश एक जैसे क्रम और स्थलो पर मिले तो यह मानना ही पडेगा कि उनका सम्बन्ध किसी मूल स्रोत से है ।

दूसरे—यह प्रमाण कि कितने ही सस्करणो या प्रतियो या रूपो मे परस्पर बहुत छोटी-छोटी महत्त्वपूर्ण बातो म साम्य नियमितता भाषागत रूप-विधान मे मिलता है। साथ ही यह साक्ष्य भी कि साम्य प्रचुर मात्रा मे है और ऐसा है जिसे सयोग मात्र नही माना जा सकता। ऐसे अवतरणो का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित होता है ।

तीसरा–प्रमाण (सबूत) कुछ दुर्बल बैठता है। वह प्रमाण यह है कि जो रूप या सस्करण हमारे समक्ष है वे एक वृहद् पूर्ण सस्करण के अश हैं, और वह सस्करण सर्व-सामान्य मूल का ही है ।

एजरटन महोदय इन तीन कसौटियो मे से पहली दो को अधिक प्रामाणिक मानते हैं, यदि इन तीनो से विविध प्रतियो का अन्तर सम्बन्ध सिद्ध नही होता तो यह मानना होगा कि वे मूल पचतत्र की स्वतन्त्र शाखाएँ हैं, जो एक-दूसरे से सम्बन्धित नही ।

तब उन्होने यह प्रश्न उठाया है कि यह कैसे माना जाय कि मूल मे कोई 'पचतत्र' था भी, क्योकि कहानियाँ लोक प्रचलित हो सकती हैं *, जिन्हे सकलित करके सग्रहकर्त्ताओ ने यह रूप दे दिया। उन्होने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि पचतत्र के जितने भी हस्तलिखित ग्रन्थ मिलते हैं उनमे (1) वे सभी कहानियाँ समान रूप से विन्यस्त हैं, जिन्हें मूल माना जा सकता है। (2) और यह महत्वपूर्ण है कि वे सभी संस्करणो मे एक ही क्रम मे हैं तथा (3) अधिकाशत कथा (Frame Story) समान हैं। (4) गर्भित कथाएँ अधिकाश संस्करणो मे समान-स्थलो पर ही गुथी हुई मिलती हैं। इन चारो बातो से सिद्ध होता है कि पचतंत्रो मे कहानियो के सग्रह का यह विशिष्ट विन्यास एक दैवयोग मात्र या सयोग-मात्र नही हो सकता। इस कसौटी से वे कहानिया अलग छँट जाती हैं जो इन विविध सस्करणो के सग्रह कर्त्ताओं ने अपनी रुचि से कहीं अन्यत्र से लेकर सम्मिलित करदी हैं।

इन समस्त कसौटियों से अधिक प्रामाणिक कसौटी है सभी मूल कहानियों की भाषा और मुहावरे का साम्य । स्पष्ट है कि तब तक इतने संस्करणों में भाषा-साम्य नहीं हो सकता, जब तक कि वे किसी एक मूल से प्रतिलिपि मूल संस्करण में प्रतिलिपि रूप में प्रस्तुत न किये गये हों ।

इन कसौटियों से यह तो सिद्ध हो जाता है कि एक मूल ग्रन्थ अवश्य था ।

यह भी है कि—(1) जो बातें सभी संस्करणों या ग्रन्थों में समान हैं, वे मूल में होनी चाहिये ।

(2) यदि कुछ बातें किन्हीं एक दो पुस्तकों में छूट भी हों तो, उनका कोई महत्त्व नहीं ।

(3) कुछ अत्यन्त सूक्ष्म बातें यदि स्वतन्त्र संस्करणों की अपेक्षाकृत कम संख्या में समान रूप से मिलती हों, तब भी उन्हें अनिवार्यतः मूल का नहीं माना जा सकता ।

(4) कुछ स्वतन्त्र संस्करणों में यदि अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण बातें समान रूप से मिलती हैं तो यह अधिक सम्भावना है कि वे मूल से ही आयी हैं । इनके सम्बन्ध में यह धारणा समीचीन नहीं मानी जा सकती कि इनका समावेश यों ही स्वतन्त्र रूप से हो गया है, क्योंकि ये अन्य स्वतन्त्र संस्करणों में नहीं मिलती । वरन् यह मानना अधिक संगत होगा कि ऐसी विशिष्ट महत्त्वपूर्ण बातें अन्यों में छोड़ दी गई हैं ।

(5) यदि पूरी की पूरी कहानियाँ कितनी ही स्वतन्त्र प्रतियों में समानरूपेण समाविष्ट मिलती हैं, और वे भी प्रायः सभी में एक ही जैसे स्थलों पर, तो वे भी मूल से आयी माननी होंगी । यदि ऐसी बड़ी कहानियाँ स्वतन्त्र रूप से कहीं किसी कहानी में जोड़ी गयी होंगी तो उसकी स्थिति बिल्कुल भिन्न होगी । प्रथम स्थिति में कहानी जहाँ स्वाभाविक रूप से अपने स्थान पर जुड़ी समीचीन प्रतीत होगी, वहाँ दूसरी स्थिति में वह थेगरी (Patch) जैसी लगेगी । एजरटन से ये कुछ प्रमुख बातें हमने यहाँ दी हैं । जो बातें पंचतन्त्र के पाठ के पुनर्निर्माण के लिए दी गयी हैं, वे किसी भी ग्रन्थ के पुनर्निर्माण में, उस ग्रन्थ के रूप और विषय के अनुसार उचित संशोधन-पूर्वक उपयोग में लायी जा सकती हैं । पूर्व में दी गई पाठालोचन-प्रक्रिया भी ऐसे पाठालोचन में उपयोग में लानी ही पड़ेगी, क्योंकि एजरटन ने भी भाषा (Verbal) पक्ष को पूरा महत्त्व दिया है ।

पाठालोचन या पाठ की पुनर्रचना या पुनर्निर्माण में कुछ और पक्ष भी हैं, उन पक्षों के लिए ठोस वैज्ञानिक पद्धति स्थापित हो चुकी है । इनमें से कुछ का उल्लेख संक्षेप में डॉ० छोटे लाल शर्मा ने अपने निबन्ध 'हिन्दी पाठ शोधन विज्ञान' में संक्षेप में यों किया है

"कवि विशेष की व्यक्तिगत भाषा (Ideobet) को समझने-परखने के और भी तरीके हैं—

(1) हर्डन की सांख्यिकीय पद्धति—हर्डन प्रयोगावृत्ति को शैली का प्रधान लक्षण स्वीकार करता है । उसका कहना है कि जब दो लेखकों में एक ही प्रकार की प्रयोगावृत्ति दीख पड़ती है तो उसकी शक्ति और क्षमता की पुष्टि की सम्भावना बढ़ जाती है । उसकी यह सहज स्वीकृति है कि भाषा में नियम और आकस्मिकता दोनों ही तत्त्व काम करते हैं यहाँ तक कि शब्दों के चुनाव में भी आकस्मिकता का आग्रह रहता है । यह आकस्मिकता समसामयिक लेखकों की तुलना के अनन्तर ग्रन्थ-विशेष की आकस्मिक प्रयोगावृत्ति से स्पष्ट होती है जो पाठ-शोध में ही नहीं रचनाओं के कालक्रमिक निर्णय एवं

पाठ प्रामाणिकता आदि मे विशेष सफल एव उपादेय सिद्ध होती है ।

(2) तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक पद्धति–उक्त पद्धति म छन्द पर विशेष विचार किया जाता है । परिणामत भाषाओ के पारिवारिक सबधो का निर्धारण होता है और लुप्तप्राय भाषाओ के उच्चार या आनुमानिक पुनरुद्धार प्रयोगवादी स्वन वैज्ञानिकों ने छद निर्माण की व्याख्या अनुतान की अभिरचना के आधार पर की है जो उस भाषा के बोलने वाले प्रयोग मे लाते हैं । छदो का अध्ययन तीन रूपो म किया जाता है (1) लेख वैज्ञानिक (2) सगीतात्मक, और (3) ध्वनिक । लेख विज्ञान म ठीक ठीक ध्वनियो एव अनुतानो का प्रयोग सगीतात्मक रूप मे होता है । सगीतात्मक अध्ययन मे छद सगीत की लय के सदृश होता है जिसका ज्ञापन सगीत चिह्नक के द्वारा हो सकता है । यह पद्य के आत्म परकतालोचन के झुकाव को समृद्ध करता है । ध्वनिक अध्ययन स्वराघात, प्रबलता तथा सधि को विभक्त करता है और अर्थ पर कोई ध्यान नही देता है । यह पद्य की ध्वनि का अनुक्रम स्वीकार करता है और अर्थ तथा शब्द एव वाक्याश सीमा (Boundary) के लिए परेशान नही होता है । इस प्रकार भाषा के खण्डेतर पुन निर्माण के अन तर खण्डीय पुनर्निर्माण सरल हो जाते हैं क्योकि खडेतर ध्वनि विस्तार खण्डीय ध्वनियो के सयोग के नियामक होते हैं । त्रुटियाँ प्राय विपरीत दिशा से पुनर्निर्माण के कारण होती हैं ।

(3) सकल्पनात्मक पद्धति–उक्त पद्धति म अभिव्यजना की इकाइयो को पायतिक रूप म सक्षिप्त किया जाता है और तब तक-सगत प्रमेयो का सरलीकरण प्रारम्भ होता है जो कहानी के अभिप्राय-परिगणन मे सहायक होते हैं जिसके सहारे कथ्य की तुलना की जाती है । काव्य म ये परिवेश के ग्रहण के तरीके को बताते हैं जिससे कविता का निर्माण होता है । इस प्रकार पाठ के सक्षिप्तीकरण से अलकरण कोटि, निर्माण कला एव् रचनाकार की वैयक्तिक शैली स्पष्ट हो जाती है । यह पद्धति सूक्ष्म सरचनात्मक सन्नाम्य पद्धति से अनेक रूपो म भिन्न है । सूक्ष्म सरचना एक धारणा मात्र है जो भाषा विशष के वाक्यो की प्रजनक होती है । व्याकरण का सरलता से इसकी प्रकृति एव अवयवो का निर्धारण होता है । सकल्पनात्मक प्रतिमान भावानयन है जो एक ही विषय से सम्बद्ध एक या अनेक वाक्यो के सक्षिप्तीकरण से उत्पन्न होता है । सूक्ष्म सरचना म हर शब्द की कैफियत तलाश करनी होती है लकिन सकल्पनात्मक प्रतिमान परिवर्त्य सम्बधो के सक्षिप्तीकरण का उद्धरण मात्र है । फिर सूक्ष्म सरचना मे भावानयन क्रमश नही होता है, जबकि सकल्पनात्मक म क्रमश होता है ।

इन तीनो पद्धतियो के योग से कथ्य एव भाषा दोनो का पुन निर्माण प्रामाणिक रूप से सभव है और विकृतियो का निराकरण अत्यन्त सरल एव सफल ।[1]

□ □ □
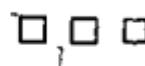
1. शर्मा, छोटेलाल (डा०)—हिन्दी पाठ शोधन विज्ञान—विश्वभारती पत्रिका (खण्ड 13, अङ्क 4), पृ० 330 ।

अध्याय 7

काल निर्धारण

पाण्डुलिपि प्राप्त होने पर पहली समस्या तो उसे पढ़ने की होती है। इसका अर्थ है लिपि का उद्घाटन'। इस पर पहले 'लिपि समस्या' वाले अध्याय मे चर्चा हो चुकी है।

दूसरी समस्या उस पाडुलिपि के काल निर्धारण की होती है । प्रश्न यह है कि काल-निधारण की समस्या खडी क्या और कैसे हाती है ?

हम जो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती है उन्हे 'काल' की दृष्टि से दो वर्गों में रखा जा सकता है

एक वर्ग उन पाण्डुलिपियो का है जिनमे 'काल-सकेत दिया हुआ है।

दूसरा वर्ग उनका है जिनमे काल-सकेत का पूर्णत अभाव है।

'काल-सकेत' से समस्या

सामान्यत यह कहा जा सकता है कि जिस पाण्डुलिपि मे काल-सकेत है, उसके सम्बन्ध मे तो कोई समस्या उठनी ही नहीं चाहिये। किन्तु वास्तव मे काल-सकेत के कारण अनेक कठिनाइयाँ और समस्याएँ उठ खडी होती हैं और कोई-कोई समस्या तो ऐसी होती है कि सुलझने का नाम ही नही लेती। उदाहरणार्थ-पृथ्वीराज रासो मे सवतो का उल्लेख है। उनको लेकर विवाद आज तक चला है।

'काल-संकेत' के प्रकार

वस्तुत समस्या स्वय 'काल सकेत' मे ही अन्तर्मुक्त होती है, क्योकि 'काल-सकेत' के प्रकार भिन्न भिन्न पाण्डुलिपियो मे भिन्न भिन्न होते हैं। इसीलिए काल सकेत के प्रकारो से परिचित होना आवश्यक हो जाता है।

'काल सकेत' का पहला प्रकार हमे अशोक के शिलालेखो मे मिलता है। वह इस रूप मे है

द्वादसवसामि सितेन मया इद आजापित

इसमे अशोक ने बताया है कि मैंने यह लेख अपने राज्याभिषेक के 12वें वर्ष मे प्रकाशित कराया।

अन्य लेखो मे मया', 'मेरे द्वारा' या 'मैंने' के स्थान पर 'देवना प्रिय' या 'प्रियदर्शी' आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है, पर प्राय सभी 'काल-सकेतो' का प्रकार यही हैं कि काल गणना अपने अभिषेक वर्ष से बतायी गयी है, यथा—राज्याभिषेक के आठवें/इक्कीसवें वर्ष मे लिखाया, आदि।

अत 'काल सकेत' का पहला प्रकार यह हुआ कि अभिलेख लिखाने वाला राजा

काल-गणना के लिए अपने राज्याभिषेक के वर्ष का उल्लेख कर देता है।[1] इस प्रकार को 'राज्यवर्ष' नाम दे सकते हैं।

अशोक के लेखो मे केवल राज्याभिषेक के 'वर्ष' का आठवाँ, बारहवाँ, बीसवाँ वर्ष आदि दिया हुआ है। शुंगो के शिलालेखो मे भी राज्यवर्ष' ही दिया गया है।

आन्ध्रो के शिलालेखो मे 'काल-सकेत' मे कुछ विस्तार आया है। उदाहरणार्थ : गौतमी पुत्र सातकर्णि के एक लेख मे काल-सकेत यो है —

"सबछरे, १०+८ कस परवे २ दिवसे"

इसका अर्थ हुआ कि 18वें वर्ष मे वर्षा ऋतु के दूसरे पाख का पहला दिन।

यहाँ 18वा वर्ष गौतमी पुत्र सातकर्णि के राजत्व-काल का है।

इसमे केवल राज्याभिषेक से वर्ष-गणना का ही उल्लेख नही वरन् ऋतु पक्ष तथा दिन या तिथि का भी उल्लेख है।

'सबच्छर' / सवत्सर शब्द वर्ष के लिए आया है। इस समय भी राज्य वर्ष का ही उल्लेख मिलता है, यो तिथि-विषयक अन्य ब्यौरे इसमे हैं। ऋतुओ का उल्लेख है, मास का नही।

पाख (पक्ष) का उल्लेख है, प्रथम या द्वितीय पाख का। दिवस का भी उल्लेख है।

तब महाराष्ट्र के क्षहरात और उज्जयिनी के महाक्षत्रपो के शिलालेख आते हैं। इन्होने ही पहले ऋतु के स्थान पर मास का उल्लेख किया "बसे 40+2 बैशाख मासे"

इन्होंने ही पहले मास के बहुल (कृष्ण) या शुद्ध (शुक्ल) पक्ष का सन्दर्भ देते हुए तिथि दी "वर्ष द्विपचाशे 50+2 फगुण बहुलस द्वितीय वारे।" इस उद्धरण मे 'वार' शब्द का भी पहले-पहल प्रयोग हुआ है, दिवस आदि के लिए, 'मार्ग शीर्ष बहुल प्रतिपदा' मे 'प्रतिपदा' या 'पडवा' तिथि है, कृष्ण अथवा बहुल पक्ष की। इनके किसी-किसी शिलालेख मे तो नक्षत्र का मुहूर्त तक दे दिया गया है, यथा .—

बैशाख शुद्धे पचम-धन्य तिथौ रोहिणी नक्षत्र मुहूर्ते"

पहले इन्ही के शिलालेखो मे नियमित सवत् वर्ष का उल्लेख हुआ, और उसके साथ राज्यवर्ष का उल्लेख भी कभी-कभी किया गया, यथा :

श्री धरवर्मणा . ....स्वराज्याभि वृद्धि करे वैजयिके सवतत्सरे त्रयोदशमे।

श्रावण वहुलस्य दशमी दिवस पूर्वक मेत....20+1 अर्थात् श्रीधरवर्मा के विजयी एव समृद्धिशाली तेरहवें राज्य वर्ष मे और 201 वें (सवत्) मे श्रावण मास के कृष्णपक्ष की दशमी के दिन....' विद्वानो का मत है कि राज्यवर्ष के अतिरिक्त जो वर्ष 201 दिया गया है वह शक सवत् ही है। यह द्रष्टव्य है कि 'शक' या 'शाके' शब्द का उपयोग नही किया गया, केवल 'वर्ष या सवत्सरे' से काम चलाया गया है।

1. अशोक के अभिलेख प्राचीनतम अभिलेख हैं। बस एक शिलालेख ही ऐसा प्राप्त हुआ है जो अशोक से पूर्व का माना जाता है। यह लेख अजमेर के अजायबघर में रखा हुआ है और बदली से प्राप्त हुआ था। इसमे भी दो पक्तियो में काल सकेत है। एक पक्ति मे 'वीराय भगवत' और दूसरी में 'चतुरासीति बस'। निष्कर्षत यह वीर या महावीर के निर्वाण के चौरासीवें वर्ष में लिखा गया। अशोक पूर्व का लेख ओझाजी द्वारा विशिष्ट बताया गया है क्योंकि यह वीर-निर्वाण से काल-गणना देता है।

सवत् के लेख के साथ 'शक' शब्द सवत् 500 के शिलालेखो से जुडा हुआ मिलता है। शक सवत् जिस घटना से आरम्भ हुआ वह 78 ई० मे घटी। वह थी चष्टण द्वारा अवन्ति की विजय। इसी विजय के उपलक्ष्य मे अवन्ति मे 78 ई० मे यह सवत् आरम्भ हुआ जिसे आरम्भ मे बिना नाम के काम मे लिया गया। इसके बाद 500 वें वर्ष से शक या शाके शब्द का प्रयोग नियमित रूप से होने लगा। शक स० 500 से 1263 तक के शिलालेखो मे वर्ष के साथ नीचे लिखी शब्दावली का प्रयोग किया गया :

(1) शकनृपति राज्याभिषेक सवत्सर
(2) शकनृपति सवत्सर
(3) शकनृप सवत्सर
(4) शकनृपकाल
(5) शक-सवत
(6) शक
(7) शाक[1]

स्पष्ट है कि आरम्भ मे 'राज्य वर्ष' के रूप मे इसे शकनृपति के राज्याभिषेक का सवत् माना गया। उस राज्याभिषेक का अभिप्राय शको की विजय के उपरान्त हुए अभिषेक से था। इसी शक सवत् के साथ शालिवाहन शब्द भी जुड गया और यह 'शाके शालिवाहन' कहलाने लगा। इस प्रकार यह दक्षिण तथा उत्तर मे लोक-प्रिय हो गया। शिलालेखों मे सबसे पहले हमें नियमित सवत् के रूप म शक सवत् का ही उल्लेख मिलता है। अत 'काल सकेत' की एक प्रणाली तो राजा के शिलालेख यानी राजा द्वारा लिखाये गये शिलालेख के लिखे जाने के समय का उल्लेख उसी के राज्य के वर्ष के उल्लेख की प्रणाली मे मिलता है। तब, नियमित सवत् देने की परिपाटी से दूसरे प्रकार का 'काल-सकेत' हमे मिलता है।

इन काल सकेतो से भी कुछ समस्याएँ प्रस्तुत होती हैं जिनमे से पहली समस्या राजा के अपने राज्य वर्ष के निर्धारण की है। अशोक के 8वें वर्ष मे कोई शिलालेख लिखा गया तो अशोक के सन्दर्भ मे तो उसके राज्यकाल के 8 वें वर्ष का ज्ञान इस शिलालेख से हमे उपलब्ध हो जाता है किन्तु इतिहास के कालक्रम मे किसी राजा का राज्य वर्ष किस प्रकार से अपने स्थान पर बिठाया जायेगा, यह समस्या खडी होती है। यह समस्या तब कुछ कठिन हो सकती है जब वह राजा कोई ऐसा राजा हो जिसके राज्यारोहण का वर्ष कही से भी उपलब्ध न होता हो। यथार्थ मे ऐसे काल-सकेत से ठीक-ठीक काल निर्धारण ऐसी स्थिति मे तभी हो सकता है कि जब राजा के राज्यारोहण-काल का ज्ञान हमें सन् सवत् की उस प्रणाली मे उपलब्ध हो सके जिसे हम अपने सामान्य इतिहास मे काम मे लाते हैं। जैसे, आधुनिक इतिहास मे हम ई० सन् का उपयोग करते हैं और उसी के आधार पर ई० सन् के पूर्व की घटनाओ को भी (ई० पू० द्वारा) द्योतित करते हैं।

जब 'काल-सकेत' दूसरी प्रणाली से दिया गया हो जिसमे किसी नियमित सवत् का निर्देश हो तो समस्या यह उपस्थित होती है कि उसे उस कालक्रम मे किस प्रकार यथा-स्थान बिठाया जाय जिसका उपयोग हम वर्तमान समय मे इतिहास मे करते हैं। जैसे—

1 Pandey, Rajbali-Indian Palaeography, p 191.

काल निर्धारण

अशोक के काल से पूर्व का लिखा जो एक शिलालेख अजमेर के बडली ग्राम मे मिला उसमे 'वीराय भगवत' पहली पक्ति है और दूसरी पक्ति 'चतुराशि बसे' है, जिसका अर्थ हुआ कि महावीर स्वामी के निर्वाण के 84वें वर्ष म । अब 84वें वर्ष का उल्लेख तो ऐसी घटना की ओर सकेत करता है जो एक प्रसिद्ध महापुरुष से जुडी हुई है, जिसके सम्बन्ध मे उनके धर्म के अनुयायी जैन धर्मावलम्बियो ने निर्भ्रान्त रूप से 'महावीर सवत्' या 'वीर निर्वाण सवत्' की गणना सुरक्षित रखी है। जैन लेखक अपने ग्रन्थो म निर्वाण सवत् का उल्लेख करते रहे हैं। श्वेताम्बर जैन मेरुतुङ्ग सूरि ने 'विचार श्रेणी' मे बताया है कि 'महावीर सवत्' और विक्रम स० म 470 वर्षों का अन्तर आता है। इस गणना से महावीर सवत् का आरम्भ 527 ई० पू० म हुआ, क्योकि विक्रम सवत् का आरम्भ 57 ई० पू० मे होता है और 470 वर्ष का अन्तर होने से 57 + 470 = 527 ई० पू० महावीर का निर्वाण सवत् हुआ। इस विधि से 3 सवतो का पारस्परिक समन्वय हमे प्राप्त हो जाता है। विक्रम सवत् का 'वीर निर्वाण सवत् से और दोनो का परस्पर 'ई० सन् से। यदि 'वीर निर्वाण' के वष का ज्ञान सदिग्ध हो तो इस प्रकार का 'काल-सकेत' किसी निर्णय पर नही पहुँच सकेगा। यह स्थिति किसी छोटे और अज्ञात राजा के राज्यारोहण काल की हो सकती है क्योकि उसे जानने के कोई पक्के प्रमाण हमारे पास नही हैं, वही स्थिति कुछ ऐसे कम प्रचलित अन्य सवतो के सम्बन्ध मे भी हो सकती है। इसमे कोई सन्देह नही कि किसी एक राजा के राज्यारोहण के सन्दर्भ से काल के सकेत से अधिक उपयोगी काल-निर्धारण की दृष्टि से नियमित सवत् का उल्लेख होता है। यो मूलत यह नियमित सवत् भी किसी घटना से सम्बद्ध रहता है हम देख चुके हैं कि 'शक सवत्' शक नृपति के राज्यारोहण के काल का सकेत करता है, 'वीर सवत्' का सम्बन्ध महावीर निर्वाण से है किन्तु 'शक सवत्' नियमित हो गया क्योकि यह सर्वजन मान्य हो गया है।

ऊपर काल निर्धारण विषयक दो पद्धतियो का उल्लेख किया गया है—(1) राज्यारोहण के काल के आधार पर, तथा (2) नियमित सवत् के उल्लेख से।[1] किन्तु ऐसे लेख भी हो सकते हैं जिनमे न राज्यारोहण से वर्ष की गणना दी गई हो, न नियमित सवत् का ही उल्लेख हो। ऐसी दशा मे लेखो म सदर्भित समकालीन राजाओ या व्यक्तियो के आधार पर काल निर्धारण किया जाता है, यथा—अशोक के तेरहवें शिलालेख मे अनेक समकालीन विदेशी शासको के नाम आये हैं। यदि उनकी तिथियाँ प्राप्त हो तो अशोक की तिथि पाई जा सकती है। यूनानी राजा अतियोकास द्वितीय का उल्लेख है। इनकी तिथि ज्ञात है। ये ई० पू० 261–46 तक पश्चिमी एशिया के शासक थे। द्वितीय टॉलेमी का भी उल्लेख है जो उत्तरी अफ्रीका म ई० पू० 282–40 तक शासक था। इन समकालीन शासको की तिथियो के आधार पर अशोक के राज्यारोहण का वर्ष ई० पू० 270 निकाला गया है।

1. नियमित सवत् का उल्लेख कुषाण नरेशो के समय म मिलता है। आरम्भ के संवत् वर्षों म संवत् का नाम नहीं दिया गया, पर यह निर्धारित हो चुका है कि वह शक-सवत् है जो 78 ई० स आरम्भ हुआ। इससे आगे द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय से गुप्तो के लेखो में जो वर्षों का निर्देश है वह भी राज्य-वर्ष का न होकर गुप्त-सवत् के वर्ष का है। यथा—भानुगुप्त का एरण स्तम्भ का लेख, इसमें 191वा वर्ष का उल्लेख किया गया है, यह 191वा गुप्त सवत् है।

हर्षवर्धन की तिथियाँ [हर्ष-सवत् की सूचक हैं] [illegible] भी हर्ष-संवत् है।

इस प्रकार से तिथि निर्धारण करने मे भी कठिनाइयाँ आती हैं · एक तो यह कठिनाई ठीक पाठ न पढ़े जाने से खडी होती है । गलत पाठ से गलत निष्कर्ष निकलेगा । 'हाथी गुफा' के लेख मे एक वाक्य यो पढा गया—"पनतरिय सन वस सते राज मुरिय काले ।" स्तेन कोनो ने इसका अर्थ दिया 'मौर्य काल के 165वें वर्ष मे ।' इसी के आधार पर उन्होने यह निष्कर्ष भी निकाला कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक सवत् चलाया था जो मौर्य-सवत् (मुरिय काले) कहा गया । अब कुछ विद्वान् इस पाठ को ही स्वीकार नही करते । उनकी दृष्टि मे ठीक पाठ है–"पानतरीय सत सहसेहि, मुखिय कल वोच्छिन ।" इसमे वर्ष या सवत् या काल का कोई सकेत नही । अब यह सिद्ध-सा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने कोई मौर्य-सवत् नही चलाया था ।

किन्तु किसी न किसी 'काल-सकेत' से कुछ न कुछ सहायता तो मिलती ही है, और समकालिता एव ज्ञात सवत् की पद्धति मे सन्तोपजनक रूप मे नियमित सवत् मे काल-निर्धारित किया जा सकता है ।

पर काल निर्धारित करने मे यथार्थ कठिनाई तब आती है, जब कोई काल सकेत रचना मे न दिया गया हो । अधिकाश प्राचीन साहित्य मे काल सकेत नही रहते । वैदिक साहित्य का काल-निर्धारण कैसे किया जाय । इतिहास के लिए यह करना तो होगा ही । इस प्रकार की समस्या के लिए वर्ण्य विपय म मिलने वाले उन सकेतो या उल्लेखो का सहारा लिया जाता है, जिनमे काल की ओर किसी भी प्रकार से इगित करने की क्षमता होती है । अब इस प्रकार से काल निर्धारण करने की प्रक्रिया को हम पाणिनि के उदाहरण से समझ सकते हैं

पाणिनि की अष्टाध्यायी एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ से उसकी रचना का 'काल-सकेत' नही मिलता । अत अष्टाध्यायी मे जो सामग्री उपलब्ध है उसी के आधार पर समय का अनुमान विद्वानो ने किया है । ये अनुमान कितने भिन्न है, यह इसी से जाना जा सकता है कि एक विद्वान ने उसे 400 ई० पू० माना । गोल्डस्टुकर ने अष्टाध्यायी के अध्ययन के उपरान्त यह निर्धारित किया कि पाणिनि यास्क के बाद हुआ और बुद्ध से पूर्व था, क्योकि अष्टाध्यायी से विदित होता है कि वह बुद्ध से परिचित नही था । आर० जी० भाडारकर यह मानते हैं कि पाणिनि दक्षिण भारत से अपरिचित थे, अत इनकी दृष्टि मे पाणिनि 7-8वीं शताब्दी ई० पू० मे ही थे । 'पाठक' महोदय पाणिनि को महावीर स्वामी से कुछ पूर्व 'सातवी' शताब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण मे मानते है । डी० आर० भाडार-कर ने पहले सातवी शताब्दी मे माना, बाद मे छठी शताब्दी ई० पू० के मध्य सिद्ध किया । चार पेंटियर पाणिनि को 550 ई० पू० मे विद्यमान मानते है, बाद मे इन्होने 500 ई०पू० को अधिक समीचीन माना । ह्वीर्यालक ने 350 ई० पू० का ही माना है । वेवर ने अष्टाध्यायी के एक सूत्र के भ्रमात्मक अर्थ के आधार पर पाणिनि को सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त का वताया ।

ये सभी अनुमान अष्टाध्यायी की सामग्री पर ही खडे किये गए है । ऐसे अध्ययन का एक पक्ष तो यह होता है कि पाणिनि किन बातो से अपरिचित था, जैसे—गोल्डस्टुकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पाणिनि आरण्यक, उपनिषद्, प्रातिशाख्य, वाजसनेयी सहिता, शतपथ ब्राह्मण, अथर्ववेद तथा पड्दर्शनो से परिचित नहीं थे । अतः निष्कर्ष निकला कि

जिन बातों से वह परिचित नही वह उन बातों से पूर्व हुआ। तो वह उपनिषद् युग से पूर्व रहे होंगे।

इसका दूसरा पक्ष है कि वह किनसे परिचित था, यथा—ऋग्वेद, सामवेद और कृष्णयजुर्वेद से परिचित थे। फलतः जिनसे परिचित थे उनकी समयावधि के बाद और जिनसे अपरिचित उनके लोक प्रचलित होने के काल से पूर्व पाणिनि विद्यमान रहे अर्थात् 400 ई० पू०।

अब गोल्डस्टुकर के इस निष्कर्ष को अमान्य करने के लिए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अष्टाध्यायी से ही यह बताया है कि (1) पाणिनि, 'उपनिषद्' शब्द से परिचित थे, पाणिनि महाभारत से भी परिचित थे, वे श्लोक और श्लोककारों का उल्लेख करते हैं, 'नटसूत्र, शिशु क्रन्दीय, यमसभीय, इन्द्रजननीय जैसे सस्कृत के महानकाव्यों का भी ज्ञान रखते थे।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अष्टाध्यायी के भौगोलिक उल्लेखों से इस तर्क को भी अमान्य कर दिया है कि पाणिनि 'दक्षिण' से अपरिचित थे। अन्तरयन देश, अश्मक, एवं कलिंग अष्टाध्यायी मे आये हैं।

मस्करी परिव्राजको के उल्लेख मे मखली गोसाल से परिचित थे। (पाणिनि) मखली गोसाल बुद्ध के समकालीन थे। अतः इस सन्दर्भ से और कुमारश्रमण और निर्वाण जैसे शब्दों के अष्टाध्यायी मे आने से बौद्ध-धर्म से उन्हे अपरिचित नही माना जा सकता।

श्रविष्ठा (या धनिष्ठा) को नक्षत्र-व्यूह में प्रथम स्थान देकर पाणिनि ने यह सिद्ध कर दिया है कि उनकी कालावधि की निम्नस्थ तिथि 400 ई० पू० हो सकती है।

पाणिनि ने लिपि, लिपिकार, यवनानी लिपि तथा 'ग्रन्थ' शब्द का उपयोग किया है। यवनानी लिपि से कुछ विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला था कि भारत मे यवनो से परिचय सिकन्दर के आक्रमण से हुआ, अतः अष्टाध्यायी मे 'यवनानी लिपि' का आना यह सिद्ध करता है कि पाणिनि सिकन्दर के बाद हुए। पर यह 'यवनानी' शब्द आयोनियन (Ionian) ग्रीस निवासियों के लिए आया है, जिनसे भारत का सम्बन्ध सिकन्दर से बहुत पहले था।

यहाँ काल-निर्धारण मे अन्तरग साक्ष्य का मूल्य बताने के लिए पाणिनि के सम्बन्ध मे यह स्थूल चर्चा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के ग्रंथ India as Known to Panini (पाणिनि कालीन भारत) के आधार पर की गई है। विस्तार के लिए यही ग्रंथ देखे।

यहाँ हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि किस ग्रंथ या ग्रंथकार के समय निर्धारण मे उसके ग्रंथ मे आयी सामग्री के आधार पर भी निर्भर किया जा सकता है। उसके ग्रन्थ के अध्ययन से एक ओर तो यह ज्ञात होता है कि वह किन बातो से परिचित नही था।[1] तथा दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि वह किन बातो से परिचित था।[2]

1. जैसे रुद्रट का समय निर्धारित करते हुए काणे महोदय ने बताया कि "वह ध्वनि-सिद्धान्त से पूर्णत अपरिचित है।" अतः ध्वनिकार का समकालिक था या उससे कुछ पूर्व

2 काणे महोदय ने बताया है कि रुद्रट की भामह और उद्भट मे बहुत निकटता है। रुद्रट ने भामह, दंडी एवं उद्भट से अधिक अलकारों की चर्चा की है और इनकी प्रणाली भी वैज्ञानिक है। किसी बात के विकास के चरणों के अनुमान को भी एक प्रमाण माना जा सकता है।

फिर यह आवश्यक होता है कि इन दोनो की सप्रमाण[1] व्याख्या करके और उनके ऐतिहासिक काल के सन्दर्भ से उस कवि की समयावधि की ऊपरी काल सीमा और निचली काल सीमा सावधानीपूर्वक निर्धारित की जाय। इस सम्बन्ध मे प्रचलित अनुश्रुतियो की भी परीक्षा की जानी चाहिये। प्राचीन साहित्य, ग्रंथ, हस्तलेख आदि के सम्बन्ध मे इस 'अन्तरग साक्ष्य' की काल गत परिणति की प्रक्रिया का बहुत सहारा लेना पडा है।

यह बात ध्यान में रखने की है कि अन्तरग साक्ष्य या अन्तरग सगत कथनो की कालगत परिणति प्रामाणिक और निर्भ्रान्त रूप से स्थापित की जाय, जैसे –'श्राविष्ठा' का आदि नक्षत्र के रूप मे उल्लेख सिद्ध करता है। अत तर्क और प्रमाण प्रबल होने चाहिए, उदाहरणार्थ—यवनानी लिपि विषयक तर्क की आयोनियनो से भारत का सम्बन्ध सिकन्दर से पूर्व से था, प्रबल और पुष्ट तर्क माना जा सकता है।

दुर्बल और असगत तर्क आगे के विद्वानो द्वारा काट दिये जाते हैं। दूसरे प्रबल तर्क देकर काल निर्धारण करने का प्रयत्न निरन्तर होता रहता है। जैसे—साहित्यदर्पण की भूमिका मे काणे[2] महादय ने लिखा है कि—Attempts are made to fix the age of both भामह and दण्डी by reference to parallel passages from early writers and it is argued that they are later than these poets Unless the very words are quoted I am not at all disposed to attach the slightest weight to parallelism of thought There is no monopoly in the realm of thought as was observed by the ध्वनिकार(iv. II सवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसामा)। काणे महादय न यहाँ यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि केवल विचार-साम्य काल निर्धारण मे सहायक नही, समान वाक्यावली अवश्य प्रमाण बन सकती है पर केवल शब्दावली साम्य ही पर्याप्त नही, सन्दर्भगत अभिप्राय-साम्य भी हो तो प्रमाण अच्छा माना जा सकता है।

काल-सकेतो के रूप

काल निर्धारण मे ऐसे लेखको और ग्रन्थो के सम्बन्ध मे तो कठिनाई आती ही है, जिनके काल के सम्बन्ध म कोई उल्लेख प्राप्त नही होता, किन्तु जहाँ काल-सकेत दिया गया है वहाँ भी यथार्थ काल निर्धारण म जटिल कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। ऊपर 'शिलालेखो' के काल सन्दर्भ मे हमने यह देखा था कि एक लेख म 'मुरिय' पढ़ा गया और उसका अर्थ लगाया गया 'मौर्य सवत्' जबकि कुछ विद्वान यह मानते थे कि यह पाठ गलत है, गलत पढ़ कर गलत अर्थ किया गया, अत मौर्य सवत् की धारणा निराधार है। किन्तु शिलालेखो मे 'अक' भी कभी-कभी ठीक नही पढ़े जाते, इससे काल निर्धारण सदोष हो

1 प्रमाण के लिए बाह्य साम्य का उपयोग किया जाता है। काणे ने रुद्रट के सम्बन्ध म बताया है कि इनकी शताब्दी के आगे के कितने ही लेखको ने रुद्रट का उल्लेख किया है: राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में काकु वक्रोक्तिनाम शब्दालंकारो मिति रुद्रट'। रुद्रट के एक छन्द को भी उद्धृत किया है। प्रती हरिदुराज ने बिना नामोल्लेख किए उसके छद उद्धृत किए हैं। धनिक की 'दश रूपावलोकन टीका म उद्धृत है। लोचन म भी उल्लेख है। मम्मट ने रुद्रट का नाम लेकर आलोचना की है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि रुद्रट 800-850 ई. के बीच हुए।

2. Kane, P. V -Sahityadarpan (Introduction), p. 37

जाता है।[1]

हम यहाँ यह देखेंगे कि ग्रन्थादि मे 'काल-संकेत' किस-किस प्रकार से दिये गए हैं ? और उनके सम्बन्ध मे क्या-क्या समस्याएँ खडी हुई हैं ?

इतिहास से हमे विदित होता है कि सबसे पहले शिलालेख मे जो अजमेर के पास बडली ग्राम मे मिला था,

1 अशोक से पूर्व मे वीर सवत् (महावीर निर्वाण सवत्) का उल्लेख दिया।
2. अशोक के अभिलेखों मे राज्य-वर्ष का उल्लेख है।
3 आगे शको के समय मे राज्य-वर्ष के साथ 'शक सवत्' का वर्ष दिया गया, हाँ, वर्ष संख्या के साथ 'शक' का नाम सवत् के साथ नही लगाया गया। बाद में 'शक' नाम दिया गया।
4. वर्ष या सवत्सर के साथ पहले ऋतुओं का उल्लेख, एव उनके पाखो का उल्लेख होने लगा। इसके साथ ही तिथि, मुहूर्त को भी स्थान मिलने लगा।
5 बाद मे ऋतुओ के स्थान पर महीनो का उल्लेख होने लगा। महीनो का उल्लेख करते हुए दोनो पाखों को भी बताया गया है। शुक्ल या शुद्ध और बहुल या कृष्णपक्ष भी दिया गया।
6 इसी समय नक्षत्र (यथा—रोहिणी) का समावेश भी कहीं-कही किया गया।
7. वर्ष सख्या अको मे ही दी जाती थी पर किसी-किसी शिलालेख मे शब्दों के अक बताये गए है।
8 हिन्दी के एक कवि 'सबलश्याम' ने अपने ग्रन्थ का रचना-काल यो दिया है :

सवत सत्रह सै सोरह दस, कवि दिन तिथि रजनीस वेद रस।
माघ पुनीत मकर गत भानू
असित पक्ष ऋतु शिशिर समानू।

कवि ने इसमे सवत् दिया है : सत्रह सौ सोरह दस

$$1716 + 10 = 1726$$

यह विक्रम सवत् है, क्योकि हिन्दी मे सामान्यतः इसी सवत् का उल्लेख हुआ है। सवत् का नामोल्लेख न होने पर भी हम इसे विक्रम सवत् कह सकते है।

कवि ने तब दिन का उल्लेख किया है : 'कवि दिन' का उल्लेख भी अद्भुत है। कवि दिन=शुक्रवार।

तिथि अको मे न लिखकर शब्दो मे बतायी गयी है :

रजनीस	:	चन्द्रमा 1+
वेद	:	4+
रस	:	6+=11

अर्थात् एकादशी।

1. देखिए—गुरु गुणा के पूर्वज का शिलालेख, शोध पत्रिका (वर्ष 22, अङ्क 1), सन् 1971 में श्री गोविन्द अग्रवाल का निबन्ध—'बोसा (बीकानेर) इतिहास के कुछ संदिग्ध स्थल।'

ददरेवा ग्राम मे प्राप्त विद्यमान 'जैतसी' का शिलालेख

(जान कवि ने क्यामखा रासो [सम्वत् 1273] मे क्यामखानी चौहानो की वशावली प्रस्तुत की है उसमे गोगाजी व जैतसी का भी उल्लेख है। अत इसके आधार पर जैतसी गोगाजी के वशज हैं।) —माघ सुदि १४ चद्रवार, (सम्वत् १३७३)

माघ महीने के असित पक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष मे ऋतु शिशिर, तथा—

भानु मकर के – यह पवित्र संयोग

इसमे कवि ने ऋतु का भी उल्लेख किया है और महीने का भी।

स्पष्ट है कि यह कवि सामान्य परिपाटी से अपने को भिन्न सिद्ध करने के प्रयत्न मे है।

काल सकेत की सामान्य पद्धति यह है कि यदि कवि शब्दो मे काल-सकेत देता है तो वह सवत् को शब्दाको मे रखता है, तिथि को नही। इस कवि ने तिथि को शब्दाको मे रखा है जो क्रमश 1,4,6 होता है। अत. तीनो को जोडकर (11) तिथि निकाली गयी। पर सवत् को अकों मे दिया है, उसे भी वैशिष्ट्य के साथ - सत्रह सै सोरह+दस। यहाँ भी सवत् जोड के प्राप्त होता है—सवत् सत्रह सै छब्बीस = 1726।

इस बात मे भी यह अनोखा है कि इसमे महीना भी दिया गया है और ऋतु भी साथ है। यह पद्धति किसी-किसी अभिलेख मे भी मिलती है।

काल–सकेत की यह एक जटिल पद्धति मानी जा सकती है।

सामान्य पद्धति

अब हम देखेंगे कि सामान्य पद्धति क्या होती है सामान्य पद्धति मे सवत् अको मे किन्तु अक्षरो मे दिया जायगा। 1726 को अक्षरो मे 'सत्रह सै छब्बीस' लिखा जायगा। कही-कही पाडुलिपियो मे सवत् को अक्षरो मे देकर उसी के साथ अको मे भी लिख दिया गया है, यथा 'सत्रह सै छब्बीस १७२६' तिथि भी अको मे अक्षरो के द्वारा अर्थात् ग्यारस (११)।

सामान्य रूप से सवत् और तिथि के साथ दिन का, महीने का और पक्ष का उल्लेख भी किया जाता है।

इस रूप के अतिरिक्त जो कुछ भी वैशिष्ट्य लाया जाता है, वह कवि-कौशल माना जायेगा।

यह सन् सवत् रचना के काल के लिये ही नही दिया जाता, इससे लिपि-काल भी द्योतित किया जाता है, लिपिकर्त्ता भी अपना वैशिष्ट्य दिखा सकता है।

कठिनाइयाँ

अब कुछ यथार्थ कठिनाइयो के उदाहरणो से यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कठिनाई का मूल कारण क्या है ?

	पुष्पिका	सवत् पर टिप्पणियाँ
१	*बीसल देव रासो की एक प्रति मे रचना-तिथि यो दी गई है :* *बारह सै बहोत्तराहा मँझारि,* *जेठ बदी नवमी बुधिवारि।* *नाल्ह रसाइण आरम्भइ।* *शारदा तुठी ब्रह्म कुमारि।* *कासमीरां मुख मडनी।*	१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'बारह सै बहोत्तराहा' का अर्थ 1212 किया है। बहोत्तर द्वादशोत्तर का रूपान्तर है। 2. बहोत्तर को बहत्तर (72) का रूपान्तर क्यो न माना जाय। लाला सीताराम ऐसा ही मानते हैं।

रास प्रगासो बीसल दे राइ ।

2 एक अन्य प्रति मे यो हैं—
सवत सह्स सतिहुत्तरई जाणि ।
नल्ह् कवीसरि वही अमृतवाणि ।
गुण गुथ्यउ चउह्वाण का ।
सुकुलपक्ष पचमी श्रावणमास ।
रोहिणी नक्षत्र सीहामणउ ।
सौ दिन गिणि जोइसी जोउइ रास ।

3 इस पाठ से सवत् सत्तहुत्तर अर्थात् 1077 निकलता है ।

3 एक अन्य प्रति मे—
सवत तेर सतोत्तरइ जाणि
सुक पचमी नइ श्रावण मास,
हस्त नक्षत्र रविवार सु

4 इसमे 1377 सवत् आता है ।

5 इसका एक अर्थ हो सकता है सतोत्तरह्=शत उत्तर एकसौ तेर=13 अर्थात् 1013

4 एक अन्य मे—
सवत सहस तिहुत्तर जाणि
नाल्ह कवीसरि सरसिय वाणि

6 इससे सवत् 1073 निकलता है ।

5 डॉ० गुप्त ने एक अन्य प्रति के आधार पर एक सवत् 1309 और बताया है । उन्होंने इस प्रति को 'अ० स०' नाम दिया है ।

वीसलदेव रास के रचना काल के सम्बन्ध म कठिनाइयो का एक कारण तो यह है कि विविध उपलब्ध पाडुलिपियो मे सवत् विषयक पक्तियो मे पाठ-भेद है । पाँच प्रकार के पाठ-भेद ऊपर बताये गये है । इतने सवतो मे से वास्तविक सवत कौन सा है, इसे पाठालोचन के सिद्धान्त से भी निर्धारित नही किया जा सका । बहुत बड़े विद्वान पाठालोचक डॉ० गुप्त ने टिप्पणी म दिय पूर्व सवत् को नही लिया शेप छ को लेकर किसी निर्णय पर न पहुँच सकने के कारण व्यग्यात्मक टिप्पणी दी है जो पठनीय है "चैत्रादि और कार्तिकादि, दो प्रकार के वर्षों के अनुसार इन छ की बारह तिथियाँ बन जाती हैं और यदि 'गत' और 'वर्तमान' सवत् लिये जायें तो उपर्युक्त से कुल चौबीस तिथियाँ होती हैं' । डॉ० गुप्त ने पाठ भेद की कठिनाई का समाधान निकालने की बजाय तद्विपयक कठिनाइयो और बढा के प्रस्तुत कर दी हैं । स्पष्ट है कि पाठालोचन के सिद्धान्त से किसी एक पाठ को वे प्रामाणिक नहीं मान सके । किन्तु यह भी सच है कि काल-निर्धारण मे आने वाली कठिनाइयों की ओर भी ठीक सकेत किया है सवत् का आरम्भ कही चैत्रादि से माना जाता है तो कही कार्तिकादि से–अत ठीक ठीक तिथि निर्धारण के समय इस तथ्य को भी ध्यान मे रखना पड़ता है । दूसरे सवत् का उल्लेख 'गत' के लिये भी होता है, और 'वर्तमान' के लिये भी होता है यथार्थ तिथि निर्धारण मे इस तथ्य को भी ध्यान मे रखना होता है । अत काल निर्धारण मे ये भी यथार्थ कठिनाइयाँ मानी जा सकती हैं ।

पाठ-भेदो से उत्पन्न कठिनाई के बाद एक कठिनाई उचित अर्थ विषयक भी दिखाई पड़ती है । मान लीजिये कि एक ही पाठ 'बारह् सै बहोत्तराहा मझारि' ही मिलता तो

भी कठिनाई थी कि 'बहोत्तराहा' का अर्थ आचार्य शुक्ल की भाँति 1212 किया जाय या 12 से 72 (1272) किया जाय। आचार्य शुक्ल ने 1212 के साथ तिथि को पञ्चाग से पुष्ट कर लिया है, क्योकि कवि ने केवल सवत् ही नही दिया वरन् महीना जेठ, पक्ष वदी (कृष्ण पक्ष), तिथि नवमी और दिन बुधवार भी दिया है। 1212 को प्रामाणिक मानने के लिय यह विस्तृत विवरण पचाग सिद्ध हो तो सवत् भी सिद्ध माना जा सकता था। पर पाठ भेदो के कारण यह सिद्ध सवत् भी अप्रामाणिक कोटि मे पहुँच गया।

अत अर्थान्तर की कठिनाई पचाग के प्रमाण से दूर होते होते, पाठान्तर के झमेले से निरर्थक हो गई।

पाठ दोष की कठिनाई हस्तलेखो मे बहुत मिलती है, यथा—

"सवत् श्रुति शुभ नागशशि, कृष्णा कार्तिक मास
रामरसा तिथि भूमि सुत वासर कीन्ह प्रकास[1]

यहाँ टिप्पणी यह दी गई है कि "शुभ के स्थान पर जुग किये बिना कोई अर्थ नही बैठता।" अत 'शुभ' पाठ-दोष का परिणाम है। पाठ-दोष' को दूर करने का वैज्ञानिक साधन, पाठालोचन ही है, पर जहाँ मात्र ग्रन्थ विवरण लिये गये हो वहाँ दोष की ओर इगित कर देना भी महत्त्वपूर्ण माना जायगा, 'शुभ' के स्थान पर 'जुग' रखने का परामर्श पाठालोचन क अभाव म अच्छा परामर्श माना जा सकता है। इस कवि की प्रकृति भी 'अको को शब्दो मे देने की हैं इसीलिये तिथि तक भी राम=3 एव रसा=1 (=13=त्रयोदशी) अकाना वामतो गति से बतायी है।

पाठ दोष का यह रूप उस स्थिति का द्योतक है जिसमे मूल पाठ से प्रति प्रस्तुत करने मे दोष आ जाता है।

'पाठ-दोष' के लिये 'भ्रान्त पठन' मूल कारण होता है। एक और उदाहरण तेरहवें खोज विवरण[2] से दिया जाता है—

किन्तु लिपिकारो ने प्रतिलिपि में ऐसी भयकर भूलें की हैं कि ग्रन्थारम्भ का समय एकादश सवत् समय और पाठ निराधार हो गया है, जिसका अर्थ होगा 11+60=71 जा निरर्थक है। पहला शब्द एकादश' नही है, यह 'सत्रहसं होना चाहिये अर्थात् 1700 +60=1760, जो समाप्ति काल के पद्य से सिद्ध हो जाता है

'गय जो विक्रम वीर विताय। सत्रह सै अरू साठि गिनाय"

ऐसे ही एक लिपिकार ने साठि' का 'आठि' करके ५२ वर्ष का अन्तर कर दिया है। फिर भी यह तो बहुत ही आश्चर्यजनक है कि दो भिन्न भिन्न लिपिकारो ने सत्रह सै' को एकादश' कैसे पढ लिया ? अवश्य ही यह दोष उस प्रति मे रहा होगा, जिससे इन दोनो ने प्रतिलिप की है।

अथवा यह विदित होता है कि इस प्रकार 'सत्रह सै' को 'एक दश' लिखने वाले दो व्यक्तियो मे से एक ने दूसरे से प्रतिलिपि की तभी एक के भ्रान्त पाठ को दूसरे ने भी

1 त्रयोदश त्रैवार्षिक विवरण, पृ० 28।
2 वही, पृ० 86।

दे दिया। एक कारण यह भी हो सकता है कि मूल की लेखन-पद्धति कुछ ऐसी हो कि 'सत्रह सै', 'एकादश' पढा गया। 'साठ का आठ' भी भ्रान्त वाचना पर निर्भर करता है।

इसी प्रकार एक पाठ मे है .

सोलह सै बालीस मे सवत अवधारू
चैतमास शुभ पछ पुण्य नवमी भृगुवारू।

इसमे चालीस का ही 'बालीस' हो गया है। एक अन्य पाठ से 'चालीस' की पुष्टि होती है। स्पष्ट है कि यह 'बालीस' बयालीस (42) नहीं है।[1]

यह 'पाठ-दोप' या भ्रान्त वाचना कभी-कभी इतनी विकृत हो सकती है कि उसका मूल कल्पित कर सकना इतना सरल नही हो सकता जितना कि बालीस को चालीस रूप मे शुद्ध बना लेना।

ऐसा एक उदाहरण यह है—

री भव वक्र सोनाणइ नदु जुत
करी सम्य (समय) जानी,
अप्रसाढ सी सीत सुम पचमी
सनी को वासर मानी।

इस काल द्योतक पद्य का प्रथम चरण इतना भ्रष्ट है कि इसका मूल रूप निर्धारित करना कठिन ही प्रतीत होता है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने जो कल्पना से रूप प्रस्तुत किया है वह उनकी विद्वता और पाडित्य से ही सिद्ध हो सका है। उन्होने सुझाव दिया है कि इसका मूल पाठ यह हो सकता है—

"विधि भव वक्त्र सुनाग इन्दुजुत करी समय जानी" और इसका अर्थ किया है .

विधि वक्त्र	:	4
भव वक्त्र	:	5
नाग	:	8
इदु	:	1

अतः सवत् हुआ 1854

हमने यह देखा कि पुष्पिकाओ मे सवत् का उल्लेख होता था और यह सवत् विक्रम सवत् था। ऊपर के सभी उदाहरण विक्रम सवत् के द्योतक हैं, किन्तु ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं, जैसे ये हैं :

संमत सत्रह से ऐकानवे होई
एगारह सै सन पैंतालिस सोई
अगहन मास पछ अजीआरा
तीरथ तीरोदसी सुकर सँवारा।

इसमें 'अजीआरा' का रूप तो 'उजियारा' अर्थात् शुक्ल : उज्वल पक्ष है 'तीरथ'

1. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का अठारहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृ० 18।

गलत छपा है यह 'तिथि' है। 'तीरोदसी' त्रयोदशी का विकृत रूप है। किन्तु जो विशेष रूप से द्रष्टव्य है वह यह है कि इसमे सवत् 1791 दिया गया है और सन् 1145 दिया गया है। एक पुष्पिका इस प्रकार है

> "सन बारह सै असी है, सवत देहु बताय
> ओनइस सै ओनतीस मे सो लिखि कहे उ बुझाय।"[1]

यहाँ कवि ने सन् बताया 1280 और उसका सवत् भी बताया है 1929। सवत् तो विक्रमी है सन् है फसली। ऊपर भी सन् से फसली सन् ही अभिप्रेत है।

अब जायसी के उल्लेखो को लीजिये। वे 'आखिरी कलाम' मे लिखते हैं—

> 'मा अवतार मोर नव सदी
> तीस बरिख कवि ऊपर बदी।"
>
> × × ×
>
> सन् नव सै सैतालिस अहै।
> कथा आरम्भ बैन कवि कहै

जायसी[2] ने सन् का उल्लेख किया है। यह सन् है हिजरी तो स्पष्ट है कि हिन्दी रचनाओ मे हिजरी सन् का भी उल्लेख है और 'फसली' सन् का भी।

भारत के अभिलेखो और ग्रन्थो म दो या तीन सवत् या सन् ही नही आय, कितने ही सवतो सनो का उल्लेख हुआ है। इसलिए उन्हे अपन प्रचलित ईस्वी सन् और विक्रमी नियमित सवतो म उन्ह बिठान मे कठिनाई होती है।

विविध सन्-सवत्

हम यहाँ पहले उन सवतो का विवरण दे रहे है जो हमे भारत मे शिलालेखो और अभिलेखो मे मिले है। यह हम देख चुके है कि पहले बडली के शिलालेख म 'वीर सवत्' का उपयोग हुआ। यह शिलालेख महावीर क निर्वाण से 84 वें वर्ष मे लिखा गया था। इस एक अपवाद को छोड कर बाद मे शिलालेखो और अन्य लेखो में 'वीर सवत्' का उपयोग नही हुआ, हाँ, जैन ग्रन्थो म इसका उपयोग आगे चलकर हुआ है।

फिर अशोक के शिलालेखो म और आगे राज्य-वर्ष का उल्लेख हुआ है।

नियमित सवत्

सबसे पहले जो नियमित सवत् अभिलेखो के उपयोग मे आया वह वस्तुत 'शक सवत्' था।

शक-सवत्

शक सवत् अपने 500 वें वर्ष तक प्राय बिना 'शक' शब्द के मात्र 'वर्ष' या कभी-कभी मात्र 'सवत्सरे' शब्द से अभिहित किया जाता रहा।

1 अठारहवॉ त्रैवार्षिक विवरण, पृ० 124।

2 जायसी लिखित पद्मावत' के रचनाकाल के सम्बन्ध मे भी मतभेद हैं, पाठ भेद से कोई इसे 'सन् नव सै सत्ताइस अहै' मानते हैं, विद्वानो मे इसका अच्छा विवाद रहा है।

शक 500 वें वर्ष से 1262 वें वर्ष के बीच इसके साथ 'शक' शब्द लगने लगा, जिसका अभिप्राय यह था कि 'शकनृपति के राज्यारोहण के समय मे'।

शाके शालिवाहने

फिर चौदहवीं शताब्दी मे शक के साथ शालिवाहन और जोडा जाने लगा। 'शाके-शालिवहन-सवत्' वही शक-संवत् था, पर नाम उसे शालिवाहन का और दे दिया गया।

शक-सवत् विक्रम सवत् से 135 वर्ष उपरान्त अर्थात् 78 ई० मे स्थापित हुआ। इस प्रकार विक्रम स० से 135 वर्ष का अन्तर शक-सवत् मे है और ईस्वी सन् से 78 वर्ष का।

पूर्वकालीन शक-सवत्

यह विदित होता है कि शको ने अपने प्रथम भारत-विजय के उपलक्ष्य मे 71 या 61 ई० पू० मे एक सवत् चलाया था। इसे पूर्वकालीन शक-सवत् कह सकते हैं। विम कडफिस का राज्य-काल इसी सवत् के 191 वें वर्ष मे समाप्त हुआ था। यह सवत् उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ क्षेत्र मे उपयोग मे आया था। बाद का शक-सवत् पहले दक्षिण मे आरम्भ हुआ फिर समस्त भारत मे प्रचलित हुआ। जैसा ऊपर बताया जा चुका है यह 78 व ईस्वी सवत् मे आरम्भ हुआ था।

कुषाण-संवत्

(यही कनिष्क सवत् भी कहलाता है)

इसकी स्थापना सम्राट् कनिष्क ने ही की थी। यह सवत् कुछ इस तरह लिखा जाता था + महाराजस्य देवपुत्रस्य कणिष्कस्य सवत्सरे 10 ग्रि 2दि9।" इसका अर्थ था कि महाराजा देव पुत्र कनिष्क के सवत्सर 10 की ग्रीष्म ऋतु के दूसरे पास के नवमे दिन या नवमी तिथि को।

कनिष्क ने यह सवत् ई० 120 मे चलाया था। इसका प्रचलन प्राय कनिष्क के वंशजो मे ही रहा। 100 वर्ष के लगभग ही यह प्रचलित रहा होगा। इसके बाद उमी क्षेत्र मे पूर्वकालीन शक-सवत् का प्रचार हो गया।

कृत, मालव तथा विक्रम सवत्

कृत मालव तथा विक्रम सवत् नाम से जो सवत् चलता है वह राजस्थान और मध्य-प्रदेश मे सवत् 282 से उपयोग मे आता मिलता है।

ये नाम तो तीन हैं पहले 'कृत-सवत्' का उपयोग मिलता है, बाद मे इसे मालव कहा जाने लगा और उसके भी बाद इसी को 'विक्रम-सवत्' भी कहा गया। आज विद्वान इस तथ्य को कि कृत, मालव तथा विक्रम-सवत् एक सवत् के ही नाम हैं निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं। इन नामो के कुछ उदाहरण इस प्रकार है

1 'कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्वय शीतयों 200+80+2 चैत्र पूर्णमास्याम्''।[1]

2 श्री मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते। कष्ट्यधिके प्राप्ते समाशत चतुष्टये। दिने

1 Pandey, R.B —Indian Palaeography, P 199.

ग्राम्बोज शुक्लस्य पचमयामथ सत्कृते ।[1] इसमे कृत को मालवगण का सवत् बताया गया है ।

3 मालवकालाच्छरदां षट्त्रिंशत्-सयुते ष्वतीतेषु । नवसु शतेषु मघाविह ।[2]
इसमें केवल मालव-काल का उल्लेख हुआ है ।

४ विक्रम सवत्सर 1103 फाल्गुन शुक्ल पक्ष तृतीया ।

इसमे केवल 'विक्रम-सवत्' का उल्लेख है । 1103 के बाद विक्रम नाम का ही विशेष प्रचार रहा और प्राय समस्त उत्तरी भारत मे यह सवत् प्रचलित हो गया (बगाल को छोड कर) ।

यह सवत् 57 ई० पू० मे प्रारम्भ हुआ था इसमे 135 जोड देने से शक-सवत् मिल जाता है ।

विक्रम-सवत् के सम्बन्ध में ये बातें ध्यान मे रखने योग्य हैं

1. उत्तर मे इस सवत् का प्रारम्भ चैत्रादि है । चैत्र के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से यह चलता है ।

2. यह उत्तर मे पूर्णिमान्त है—पूर्णिमा को समाप्त माना जाता है ।

3 दक्षिण मे यह कार्तिकादि है । कार्तिक के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है और 'ग्रमान्त' हैं, ग्रमावस्या को समाप्त हुआ माना जाता है ।

गुप्त सवत् तथा वलभी सवत्

विद्वानो का निष्कर्ष है कि गुप्त-सवत् चन्द्रगुप्त-प्रथम द्वारा चलाया गया होगा । इसका प्रारम्भ 319 ई० में हुआ । यह चैत्रादि सवत् है और चैत्र के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है । इसका उल्लेख 'गतवर्ष' के रूप मे होता है, जहाँ 'वर्तमान' वर्ष का उल्लेख है, वहाँ एक वर्ष अधिक गिनना होगा ।

वलभी (सौराष्ट्र) के राजाओ ने गुप्त-सवत् को ही अपना लिया था पर उन्होने अपनी राजधानी 'वलभी' के नाम पर इस सवत् का नाम 'गुप्त' से बदल कर 'वलभी' सवत् कर दिया था, क्योंकि वलभी सवत् भी 319 ई० मे प्रारम्भ हुआ, अत गुप्त और वलभी मे कोई अन्तर नहीं ।

हर्ष-सवत्

यह सवत् श्री हर्ष ने चलाया था । श्री हर्ष भारत का अन्तिम सम्राट माना जाता है । अलबेरूनी ने बताया कि एक काश्मीरी पचाग के आधार पर हर्ष विक्रमादित्य से 664 वर्ष बाद हुआ । इस दृष्टि से हर्ष-सवत् 599 ई० मे प्रारम्भ हुआ । हर्ष-सवत उत्तरी भारत मे ही नहीं नेपाल में भी चला और लगभग 300 वर्ष तक चलता रहा ।

ये कुछ सवत् अभिलेखो और शिलालेखो, ताम्रपत्रो आदि के आधार पर प्रामणिक हैं । इन्हे प्रमुख सवत् कहा जा सकता है । इनका ऐतिहासिक हस्तलेखो के काल निर्धारण मे सहायक माना जा सकता है ।

पर, भारत मे और कितने ही संवत् प्रचलित हैं जिनका ज्ञान होना इसलिये भी

1 वही, पृ० 200 ।
2 वही, पृ० 201 ।

श्रावश्यक है कि पाडुलिपि विज्ञानार्थी को न जाने कब किस सन् सवत् से साक्षात्कार हो जाय।

सप्तर्षि संवत्

लौकिक-काल, लौकिक-सवत्, शास्त्र-सवत् पहाडी-सवत् या कच्चा-सवत्। ये सप्तर्षि-सवत् के ही विविध नाम है

सप्तर्षि-सवत् काश्मीर मे प्रचलित रहा है। पहले पजाब मे भी था। इसे सप्तर्षि-सवत् सप्तर्षि (सातो तारो के विख्यात मडल) की चाल के श्राधार पर कहा गया है। ये सप्तर्षि 27 नक्षत्रो मे से प्रत्येक पर 100 वर्ष रुकते हैं। इस प्रकार 2700 वर्षों मे ये एक चक्र पूरा करते है। यह चक्र काल्पनिक ही बताया गया है। फिर नया चक्र प्रारम्भ करते हैं। इस सवत् को लिखते समय 100 वर्ष पूरे होने पर शताब्दी का अक छोड देते हैं, फिर 1 से प्रारम्भ कर देते है। इस सवत् का प्रारम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से होता है और इसके महीने पूर्णिमात होते हैं, ठीक वैस ही जैसे कि उत्तरी भारत में विक्रम सवत् के होते हैं।

इसका अन्य सवतों मे सम्बन्ध इस प्रकार है

शक से—शताब्दी के अक रहित सप्तर्षि सवत् मे 46 जोडने से शताब्दी के अक-रहित शक (गत) सवत् मिलता है। 81 जोडने से चैत्रादि विक्रम (गत), 25 जोडने से कलियुग (गत), और 24 या 25 जोडने से ई०स० आता है।

कलियुग-सवत्[1]

भारत युद्ध-सवत् एव युधिष्ठिर-सवत् भी यही है :

यह सामान्यत ज्योतिष ग्रन्थो मे लिखा जाता है, पर कभी-कभी शिलालेखों पर भी मिलता है।

इसका आरम्भ ई०पू० 3102 से माना जाता है।
चैत्रादि गत विक्रम-सवत् मे 3044 जोडने से,
गत शक-सवत् मे 3179 जोडने से,
और ईसवी सन् मे 3101 जोडने से
गत कलियुग सवत् आता है।

बुद्ध-निर्वाण-सवत्

बुद्ध-निर्वाण के वर्ष पर बहुत मत-भेद हैं। प० गौरीशकर हीराचन्द ओझाजी 487 ई०पू० मे अधिक सम्भव मानते हैं। अत बुद्ध-निर्वाण-सवत् का प्रारम्भ 487 ई०पू० से माना जा सकता है। बुद्ध-निर्वाण-सवत् का उल्लेख करने वाले शिलालेखादि सख्या मे बहुत कम मिले हैं।

बार्हस्पत्य-सवत्सर

ये दो प्रकार के मिलते हैं: एक 12 वर्ष का दूसरा 60 वर्ष का।

1 कलियुग सवत् भारत युद्ध की समाप्ति का द्योतक है और युधिष्ठिर के राज्यारोहण का भी। अत इसे भारत-युद्ध-सवत् एव युधिष्ठिर-सवत् कहते हैं। कलियुग नाम से यह न समझना चाहिये कि इसी सवत् से कलि आरम्भ हुआ। कलियुग कुछ वर्ष पूर्व आरम्भ हो चुका था।

बारह वर्ष का

ईसवी सन् की सातवी शताब्दी से पूर्व इस सवत् का उल्लेख मिलता है। बृहस्पति की गति के आधार पर इसका 12 वर्ष का चक्र चलता है। इसके वर्ष महीनो के नाम चैत्र, वैशाखादि पर ही होते हैं पर बहुधा उनके पहले 'महा' शब्द लगा दिया जाता है, जैसे–महाचैत्र, महाफाल्गुन आदि। अस्त होने के उपरान्त जिस राशि पर बृहस्पति का उदय होता है, उस राशि या नक्षत्र पर ही उस वर्ष का नाम 'महा' लगा कर बताया जाता है।

साठ (60) वर्ष का

दूसरा सवत्सर 60 वर्ष के चक्र का है। बृहस्पति एक राशि पर एक वर्ष के 361 दिन, 2 घडी और 5 पल ठहरता है। इसके 60 वर्षों मे से प्रत्येक को एक विशेष नाम दिया जाता है। इन साठ वर्षों के ये नाम है

1 प्रभव, 2 विभव, 3. शुक्ल, 4 प्रमोद, 5 प्रजापति, 6 अगिरा, 7 श्रीमुख, 8 भाव, 9 युवा, 10 धाता, 11 ईश्वर, 12. बहुधाय, 13 प्रमाथी, 14 विक्रम, 15. वृष, 16 चित्रभानु 17 सुभानु 18 तारण, 19. पार्थिव, 20 व्यय, 21. सर्वजित 22 सर्वधारी, 23 विरोधी, 24 विकृति, 25 खर, 26 नन्दन, 27 विजय, 28 जय, 29 मन्मथ 30, दुर्मुख, 31 हेमलब, 32 विलबी, 33 विकारी, 34 शार्वरी, 35 प्लव, 36. शुभकृत, 37 शोभन, 38 क्रोधी, 39. विश्वावसु, 40. पराभव, 41. प्लवन, 42 कीलक, 43 सौम्य, 44 साधारण, 45 विरोधकृत, 46 परिधावी, 47 प्रमादी, 48 आनन्द, 49 राक्षस 50. अनल, 51 पिंगल, 52 कालयुक्त, 53 सिद्धार्थी, 54 रौद्र, 55 दुर्मति, 56 दुदुभी, 57 रुधिरोद्गारी, 58 रक्ताक्ष, 59 क्रोधन और 60 क्षय।

इस सवत्सर का उपयोग दक्षिण मे ही अधिक हुआ है उत्तरी भारत मे बहुत कम।

बार्हस्पत्य-सवत् का नाम निकालने की विधि वाराहमिहिर ने यो बतायी है—

जिस शक सवत् का बार्हस्पत्य वर्ष नाम मालूम करना इष्ट हो उसका गत शक सवत् लेकर उसको 11 से गुणित करो, गुणनफल को चौगुना करो, उसमे 8589 जोड दो जो जोड आये उसमे 3750 से भाग दो, भजनफल को इष्ट गत शक सवत् मे जोड दो जो जोड मिले उसमे 60 का भाग दो, भाग देने के बाद जो शेष रहे उस सख्या को यह उक्त प्रभवादि सूची मे जो नाम क्रमात् आये वही उस इष्ट गत शक सवत् का बार्हस्पत्य-वर्ष का नाम होगा।

दक्षिण बार्हस्पत्य सवत्सर का नाम यो निकाला जा सकता है कि 38 गत शक सवत् मे 12 जोडो और योगफल मे 60 का भाग दो-जो शेष बचे उस सख्या का वर्ष नाम अभीष्ट वर्ष नाम है या इष्ट गत कलियुग-सवत् मे उक्त नियमानुसार पहले 12 जोडो, फिर 60 का भाग दो-जो शेष बचे उसी सख्या का प्रभवादि क्रम से नाम बार्हस्पत्य-वर्ष का अभीष्ट नाम होगा।

ग्रह परिवृत्ति-संवत्सर

यह भी 'चक्र आश्रित' संवत् है। इसमे 90 वर्ष का चक्र रहता है। 90 वर्ष पूरे होने पर पुन. 1 से आरम्भ होता है। इसमे भी शताब्दियो की सख्या नहीं दी जाती, केवल वर्ष सख्या ही रहती है, इसका आरम्भ ई० पूर्व 24 से हुआ माना जाता है।

इस सवत् को निकालने की विधि—

1 वर्तमान कलियुग सवत् मे 72 जोड कर 90 का भाग देने पर जो शेष रहे वह सख्या ही इस सवत्सर का वर्तमान वर्ष होगा ।

2 वर्तमान शक सवत् मे 11 जोड कर 90 का भाग दीजिये । जो शेष बचे उसी सख्या वाला इस सवत्सर का वर्तमान वर्ष होगा ।

हिजरी सन्

यह सन् मुसलमानो मे चलने वाला सन् है । मुसलमानो के भारत मे आने पर यह भारत मे भी चलने लगा ।

इसका आरम्भ 15 जुलाई 622 ई० तथा सवत् 679 श्रावण शुक्ला 2, विक्रमी की शाम से माना जाता है, क्योंकि इसी दिन पैगम्बर मुहम्मद साहब ने मक्का छोडा था, इस छोडने को ही अरबी मे हिजरह' कहा जाता है । इसकी स्मृति का सन् हुआ हिजरी सन् । इस सन् की प्रत्येक तारीख सायकाल से आरम्भ होकर दूसरे दिन सायकाल तक चलती है । प्रत्येक महीने के 'चन्द्र दर्शन' से महीने का आरम्भ माना जाता है, अत. यह चन्द्र वर्ष है ।

इसके 12 महिनो के नाम ये हैं 1–मुहर्रम, 2–सफर, 3–रबी उल् अव्वल, 4–रबी उल आखिर या रबी उस्सानी, 5 जमादि उल् अव्वल, 6–जमादिउल आखिर या जमादि उस्सानी, 7–रजब, 8–शाबान, 9–रमजान, 10–शव्वाल, 11–जिल्काद और 12–जिलहिज्ज । म० भ० ओझा जी ने बताया है कि 100 सौर वर्षों मे 3 चन्द्र वर्ष 24 दिन और 9 घडी बढ जाती हैं । ऐसी दशा मे ईसवी सन् (या विक्रम सवत्) और हिजरी सन् का परस्पर कोई निश्चित अतर नही रहता, वह बदलता रहता है । उसका निश्चय गणित से ही होता है[1] ।

'शाहूर' सन् या 'सूर' सन् या 'अरबी' सन्

इसका आरम्भ 15 मई, 1344 ई० तदनुसार ज्येष्ठ शुक्ल 2,1401 विक्रमी से जबकि सूर्य मृगशिर नक्षत्र पर आया था, 1 मुहर्रम हिजरी सन् 745 से हुआ था । इसके महीनो के नाम हिजरी सन् के महीनो के नाम पर ही हैं । पर, इसका वर्ष सौर वर्ष होता है, हिजरी की तरह चन्द्र नही । जिस दिन सूर्य मृगशिर नक्षत्र पर आता है, 'मृगेरवि'; उसी दिन से इसका नया वर्ष आरम्भ होता है, अतः इसे 'मृग-साल' भी कहा जाता है ।

इस सन् मे 599–600 मिलाने से ईसवी सन् मिलता है, और 656–657 जोडने से विक्रम सवत् मिलता है । इस सन् के वर्ष अको की बजाय अक द्योतक अरबी शब्दों मे लिखे जाते हैं । यह सन् मराठी मे काम मे लाया जाता था । मराठी मे अकों के द्योतक अरबी शब्दो मे कुछ विकार अवश्य आ गया है, जो भाषा-वैज्ञानिक-प्रक्रिया मे स्वाभाविक है । नीचे अको मे लिये अरबी शब्द दिये जा रहे हैं और कोष्ठक मे मराठी रूप । यह मराठी रूप ओझाजी ने मोलेसेवर्थ के मराठी अग्रेजी कोश से दिये हैं .

1–अहद् (अहदे, इहदे)
2–अश्ना (इसन्ने)
3–सलासह (सल्लीस)
4–अखा

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 190

5–खम्मा (खम्मस)
6–सित्त (सिन ऽ=सित्त)
7–सवा (सब्वा)
8–समानिया (सम्मान)
9–तसग्रा (तिस्सा)
10–अशर
11–अहद् अशर
12–अस्ना (इसने) अशर
13 सलासह् (सल्लास) अशर
14–अरबा अशर
20–अशरीन्
30–सलासीन (सल्लासीन)
40–अरबईन्
50–खमूसीन्
60–सित्तीन (सित्तैन)
70–सबीन् (सब्बैन)
80–समानीन (सम्मानीन)
90–तिसईन (तिस्सैन)
100–माया (मया)
200–मग्रतीन (मयातैन)
300–सलास माया (सल्लास माया)
400–अरबा माया
1000–अलफ् (अलफ)
10000–अशर अलफ्

इन अंक-सूचक शब्दों म सन् लिखने से पहिले शब्द से इकाई, दूसरे से दहाई, तीसरे स सैंकड़ा और चौथे से हजार बतलाये जाते हैं जैसे कि 1313 के लिए 'सलासो अश्रो सलास माया व अलफ'[1] लिखा जायेगा।

फसली सन्

यह सन् अकबर ने चलाया। फसली शब्द से ही विदित होता है कि इसका 'फसल' से सम्बन्ध है। 'रबी' और 'खरीफ' फसलों का हासिल निर्धारित महीनों मे मिल सके इनके लिये इस हिजरी सन् 971 म अकबर न आरम्भ किया। हिजरी 971 वि० स० 1620 मे और ईस्वी 1563 म पड़ा। इस फसली सन् म वर्ष तो हिजरी के रखे गये पर वर्ष सौर (चान्द्रसौर) वर्ष के बराबर कर दिया गया। महीने भी सौर (या चन्द्रसौर) म न के माने गय।

यह सन् अब तक भी कुछ न कुछ प्रचलित है, पर अलग-अलग क्षेत्र मे इसका आरम्भ अलग अलग माना जाता है, यथा

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 191।

पजाब, उत्तर प्रदेश तथा बगाल मे इसका आरम्भ आश्विन, कृष्णा 1 (पूर्णिमान्त) से, अत इस सन् मे 592–93 जोडने से ईसवी सन् और 649–50 जोडने से विक्रम सं० मिल जाता है।

दक्षिण मे यह सवत् कुछ बाद मे प्रचलित हुआ। इससे उत्तरी और दक्षिणी फसली 'सनो' मे सवा दो वर्ष का अन्तर हो गया—दक्षिण के फसली सन् से विक्रम-सवत् जानने के लिये उसमे 647–48 जोडने होगे और ईसवी सन् के लिये 590–91 जोडने होगे

सवतो का सम्बन्ध

सन्	प्रचलित	प्रारम्भ	मास और वर्ष सौर	विक्रम स० निकालना	ईसवी सन् निकालना
1	2	3	4	5	6
विलायती सन्	उडीसा तथा बगाल के कुछ भागो मे	सौर आश्विन अर्थात् कन्या सक्राति। जिस दिन संक्रान्ति का प्रवेश उसी दिन पहला दिन	मासक्रम चैत्रादि	649–50 जाडने से	592–93 जोडने से
अमली सन्	उडीसा के व्यापारियो मे एव कचहरियो मे	भाद्रपद शुक्ला 12 से			
बगाली सन् या बगालाब्द बगीब्द	बगाल मे	सौर वैशाख, मेष सक्रान्तिसे सक्रान्ति प्रवेश के दूसरे दिन से	महीने सौर (अतः पाख, एव तिथि नही)	650–51 जोडने से	593–94 जोडने से
	चिटगाँव मे	बगाली सन् से 45 वर्ष पीछे		695–96 जोडने से	638–39 जोडने से
इलाही सन्	अकबर ने हिजरी सन् के स्थान पर प्रचलित किया	अकबर के राज्यारोहण की तिथि 2 रबी उस्सानी हिजरी 963 से 25 दिन पीछे ईरानी वर्ष के पहिले महीने	ईरानी ईरानी महीनो के अनुसार इस सन् के महीनों के नाम 1–फरवरदीन 2–उर्दिवहिश्त, 3–खुर्दाद, 4–तीर,	1912 जोडने से	1555–56 जोडने से

1	2	3	4	5	6
		फरवरदीन के पहले दिन से, तद्नुसार 11 मार्च 1556 ई० / चैत्र कृष्णा ग्रमावस स० 1612 से ।	5–ग्रमरदाद, 6–शहरेवर, 7–मेहर, 8–ग्रावाँ (ग्रावान्), 9–ग्राजर (ग्रादर), 10–दे, 11–बहमन, 12–ग्रस्फदिग्रारमद् ईरानी सन् के ग्रनुसार दिनो के ग्रक नही होते शब्दो में उनके नाम दिये जाते हैं । सख्या क्रम से नाम ये हैं 1–ग्रहुर्मज्द, 2–बहमन, 3–उर्दिबहिश्त, 4–शहरेवर, 5–स्पदारमद्, 6–खुर्दाद, 7–मुरदाद (ग्रमरदाद), 8–देपाहर, 9–ग्राजर (ग्रादर), 10–ग्रावा (ग्रावान्), 11–खुरशेद्, 12–माह (म्होर), 13–तीर, 14–गोश, 15–देपमेहर, 16–मेहर, 17–सरोश, 18–रश्नह, 19–फरवरदीन, 20–बेहराम, 21–राम, 22–गोवाद, 23–देपदीन, 24–दीन, 25–ग्रर्द (ग्राशीश्वग): ग्रास्ताद्, 27–ग्रास्मान्, 28–जमिग्राद, 29–मेहरेस्पद, 30–ग्रनेरा, 31–रोज, 32–शव । इनमे से 30 तो ईरानियों के दिनों (तारीखों) के ही हैं ग्रौर ग्रन्तिम दो नये रखे गये हैं ।[1]		

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० 193 ।

1	2	3	4	5	6
कलचुरी सवत् या चेदिसंवत् त्रैकूटक	1 किसने चलाया अज्ञात । 2 दक्षिण गुजरात कोंकण, मध्य-प्रदेश के शिला-लेखों में । 3 चालुक्य, गुर्जर, सद्रक, कलचुरी, त्रैकूटक वंश के राजाओं के हैं । ई सन् 1207 के बाद इसका प्रचलन बन्द ।	26 अगस्त 249 ई० तदनुसार आश्विन शुक्ल 1, स० 306 से आरम्भ		305-6 जोडने से गत चैत्रादि विक्रम स०	248-49 जोडने से
भाटिक (भट्टीक) सवत्	जैसलमेर ।	भाटी राजाओं के पूर्वज भट्टिक द्वारा ।		680-81 जोडने से	623-24 जोडने से
कोल्लम (कोलम्ब) या परशुराम सवत्	मलाबार से कन्या-कुमारी एव तिन्ने-वेल्लि	उत्तरी मलाबार मे कन्या सक्राति सौर आश्विन से प्रारम्भ । दक्षिणी मलाबार मे सिंह-सक्रान्ति सौर भाद्रपद से ।	वर्ष सौर महिनो के नाम सक्रांति-नाम से या चैत्रादि नाम से वर्तमान संवत्		824-25 जोडने से
नेवार (नेपाल) संवत्	नेपाल मे प्रचलित	20 अक्टूबर 879 ई तदनुसार कार्तिक शु. 1 936 वि सं (चैत्रादि) से		गत नेपाल स मे 935-36 जोडने से 2	गत मे 878-79 जोडने से

सवतो और सनों का यह विवरण सक्षेप मे दिया गया है। हस्तलेखो मे विविध सवतो और सनो का उपयोग मिलता है। उन सवतो के परिज्ञान से ऐतिहासिक कालक्रम मे उन्हें बिठाने मे सहायता मिलती है, इससे काल-निर्णय की समस्या का समाधान भी एक सीमा तक होता है। इस परिज्ञान की इतिहासकार को तो आवश्यकता है ही, पाडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिये भी है, और कुछ उससे अधिक ही है, क्योकि यह परिज्ञान पाडुलिपि-विज्ञानार्थी की प्रारम्भिक आवश्यकता है, जबकि इतिहासकार के लिये भी सामग्री प्रदान करने वाला यह विज्ञानार्थी ही है।

सन्-सवद् को निरपेक्ष कालक्रम (Absolute chronology) माना जाता है, फिर प्रत्येक सन् या सवत् अपने आप मे एक अलग इकाई की तरह राज्य-काल गणना की ही तरह काल-क्रम को ठीक बिठाने मे अपने आप मे सक्षम नही है। अशोक के राज्यारोहण के आठवें या बारहवें वर्ष का ऐतिहासिक कालक्रम मे क्या महत्त्व या अर्थ है। मान लीजिये अशोक कोई राजा 'क' है, जिसके सम्बन्ध मे हमें यह ज्ञात ही नही कि वह कब गद्दी पर बैठा। इस 'क' के राज्य वर्ष का ठीक ऐतिहासिक काल-निर्धारण तभी सम्भव है जब हमे किसी प्रकार की अपनी परिचित काल-क्रम की शृखला, जैसे ई० सन् या वि० स० मे 'क' के राज्यारोहण का वर्ष विदित हो, अत· किसी अन्य साधन से अशोक का ऐतिहासिक काल-निर्धारण करना होगा। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, अशोक ने तेरहवें शिलालेख मे समसामयिक कुछ विदेशी राजाओ के नाम लिये हैं जैसे-यूनानी राजा आंतिआकस द्वितीय का उल्लेख है और उत्तरी अफ्रीका के शासक द्वितीय टालेमी का भी है। टालेमी का शासन-काल ई० पू० 288–47 था। डॉ० वासुदेव उपाध्याय[1] ने बताया है कि 'इस तिथि 282 मे से 12 वर्ष (अभिषेक के 8वें वर्ष मे तेरहवां लेख खोदा गया तथा अशोक अपने अभिषेक से चार वर्ष पूर्व सिहासनारूढ हुआ था) घटा देने में ई० पू० 270 वष अशोक के शासक होने की तिथि निश्चित हो जाती है।[2] अत· अशोक 'क' के समकालीन 'ख', 'ग' की निर्धारित तिथि के आधार पर 'क' के राज्यारोहण की तिथि निर्धारित की जा सकी।

इसी प्रकार विविध सवतो मे भी परस्पर के सम्बन्ध का सूत्र जहाँ उपलब्ध हो जायगा वहाँ एक को दूसरे मे परिणत करके परिचित या ख्यात कालक्रम-शृखला बैठाकर सार्थक काल-निर्णय किया जा सकता है।

यथा 'लक्ष्मणसेन सवत्' के निर्धारण मे ऐसे उल्लेखो से सहायता मिलती है जैसे 'स्मृति तत्वामृत' तथा 'नरपतिजय चर्या टीका' नामक हस्तलिखित ग्रन्थों मे मिले हैं। पहली मे पुष्पिका मे ल० स० 505 शाके 1546' और दूसरी में 'शाके 1536 ल'

1. उपाध्याय, वासुदेव (डॉ०) प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० 210
2. सी एम डफ ने 'द क्रोनोलाजी ऑव इंडियन हिस्ट्री' में इस सम्बन्ध में यों लिखा है "Among his Contemporaries were Antiokhos II of Syria (B C. 260-247), Ptolemy Philadelphos (285-247). Antigonos gonatos of Makedonia (278 242), Magas of kyrene (d 258), and Alexander of eperios (between 262 and 258), who have been identified with the kings mentioned in his thirteenth edict. Senart has come to somewhat different conclusions regarding Asoka's initial date Taking the synchronism of the greek kings as the basis of his calculation, he fixes Asoka's accession in B. C. 273 and his coronation in 269.

स० 494 लिखा है। लक्ष्मणसेन के एक सवत् के समकालीन समकक्ष दूसरे शक-सवत् का उल्लेख है। इससे दोनो का अन्तर विदित हो जाता है और हम जान जाते हैं कि यदि लक्ष्मणसेन सवत् मे 1041 जोड दिये जायें तो शक सवत् मिल जायेगा। शक सवत् से अन्य सवतो और सन् के वर्ष ज्ञात हो सकेंगे। फलत किसी अन्य सवत् से सम्बन्ध होता है, तो काल-चक्र मे यथास्थान बिठाने मे सहायता मिलती है।

कुछ ऐसे सन् या सवत् भी हैं, जिनसे किसी अज्ञात सवत् का सम्बन्ध ज्ञात हो जाय तब भी काल क्रम में ठीक स्थान जानना कठिन रहता है और इसके लिये विशेष गणित का सहारा लेना पडता है। जैसे हिजरी सन् से संवत् विदित भी हो जाय तब भी गणित की विशेष सहायता लेनी पडती है क्योंकि इसके महीना और वर्षों का मान बदलता रहता है क्योंकि यह शुद्ध चान्द्र-वर्ष है। पचागों मे यदि इस सवत् का भी उल्लेख हो तो उसकी सहायता से भी इसको काल क्रम मे ठीक स्थान या काल जाना जा सकता है।

सवत्-काल जानना

भारत मे काल-सकेत विषयक कुछ बातें ऊपर बतायी जा चुकी हैं। अब तक हम देख चुके हैं कि पहले राज्यवर्ष का उल्लेख और उस वर्ष का विवरण अक्षरो मे दिया गया, बाद मे अक्षरो और अको दोनो मे, और फिर अको मे ही। बाद मे ऋतुओं के भी उल्लेख हुए—ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त, ये तीन ऋतुएं बतायी गईं, उनके पाख (पक्ष) और उनके दिन भी दिये गये। आगे महीनों का उल्लेख भी हुआ। राज्य-वर्ष से भिन्न एक सवत् का और उल्लेख किया जाने लगा। नियमित सवत् के प्रचार से राज्य-वर्ष के उल्लेख की प्रथा धीरे-धीरे उठ गई, सवत् के साथ महीने, शुक्ल या कृष्ण पक्ष, तिथि और बार या दिन को भी बताया जाने लगा।

इतने विस्तृत विवरण के साथ और भी बातें दी जाने लगी—जैसे-राशि, सक्रान्ति, नक्षत्र, योग, करण, लग्न, मुहूर्त आदि।

इस सम्बन्ध मे यह जानना आवश्यक है कि भारत मे दो प्रकार के वर्ष चलते हैं सौर या चान्द्र।

वर्ष का आरम्भ कार्तिकादि, चैत्रादि ही नही होता, आषाढादि और श्रावणादि भी होता है।

सौर वर्ष राशियो के अनुसार बारह महीनो मे विभाजित होता है, क्योंकि एक राशि पर सूर्य एक महीने रहता है, तब दूसरी राशि में सक्रमण करता है, इसलिये वह दिन सक्रान्ति कहलाता है, जिस राशि मे प्रवेश करता है उसी की सक्रान्ति मानी जाती है, उसी दिन से सूर्य का नया महीना आरम्भ होता है।

बारह राशियाँ इस प्रकार हैं :

1, मेष, [मेष राशि से सौर वर्ष आरम्भ होता है, यह मेष राशि का महीना बगाल मे बैशाख और तमिलभाषी क्षेत्र मे चैत्र (या चित्तिरइ) कहलाता है] । 2 वृष, 3 मिथुन, 4 कर्क, 5. सिंह, 6 कन्या, 7. तुला, 8 वृश्चिक, 9 धनुष, 10 मकर, 11. कुम्भ तथा 12 मीन। मेष से मीन तक सूर्य की राशि यात्रा भी आरम्भ से अन्त तक एक वर्ष मे होती है। पजाब तथा तमिलभाषी क्षेत्रों मे सौर माह का आरम्भ उसी दिन से माना जाता है जिस दिन सक्रान्ति होती है, पर बंगाल मे संक्रान्ति के दूसरे दिन से महीने

का आरम्भ होता है। सौर माह राशियो के नाम से होता है। सौर माह मे तिथियाँ 1 से चलकर महीने के अन्तिम दिन तक की गिनती मे व्यक्त की जाती हैं। सौर माह, 29, 30, 31 या 32 दिन का होना है, अतः इसकी तिथियाँ एक से चलकर 29, 30, 31, 32 तक चली जाती हैं। चान्द्र वर्ष मे ऐसा नही होता। उसमे महीना पहले दो पाखो मे बाँटा जाता है। कृष्णपक्ष और शुक्ल पक्ष वदी या सुदी ये दो पाख प्राय: 15+15 तिथियो के होते हैं। ये प्रतिपदा से अमावस होकर द्वितीया (दौज), तृतीया (तीज), चतुर्थी (चौथ), पचमी (पाँचे), षष्ठी (छठ), सप्तमी (सातें), अष्टमी (आठें), नवमी (नौमी), दशमी (दसमी), एकादशी (ग्यारस), द्वादशी (बारस), त्रयोदशी (तेरस) चतुर्दशी (चौदस), पूर्णिमा (15) और अमावस्या (30) तक चलती है। ये सभी तिथियाँ कहलाती हैं और 15 तक की गिनती मे होती है। उत्तरी भारत मे चान्द्रवर्ष का मास पूर्णिमान्त माना जाता है क्योकि पूर्णिमा को समाप्त होता है और कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होता है। नर्मदा के दक्षिण के क्षेत्र मे चान्द्रवर्ष का महीना अमान्त होता है और शुक्ल पक्ष (सुदी) की प्रतिपदा से आरम्भ होता है।

चान्द्रवर्ष के महीने उन नक्षत्रो के नाम पर रखे गये हैं जिन पर चन्द्रमा पूर्णकलाओ से युक्त होता है, यानी पूर्णिमा के दिन से नक्षत्र और महिनो के नाम इस प्रकार हैं·

1 चित्रा-चैत्र (चैत)
2 विशाखा-वैशाख (वैसाख)
3. ज्येष्ठा-ज्येष्ठ (जेठ)
4. अषाढा-आषाढ़ (असाढ़)
5. श्रवण-श्रावण (सावन)
6. भद्रा-भाद्रपद (भादो)
7. अश्विनी-आश्विन (या आश्वयुज)=(क्वार)
8. कृतिका-कार्तिक (कातिक)
9. मृगशिरा-मार्गशीर्ष (आग्रहायन-अगहन)
   ('अग्रहायन' सबसे आगे का 'अयन'—यह नाम सभवतः इसलिये पड़ा कि बहुत प्राचीन काल मे वर्ष का आरम्भ चैत्र से न होकर 'मार्ग शीर्ष' से होता था—अतः यह सबसे पहला या अगला महिना था)।
10. पुष्य-पौष (पूस या फूस)
11. मघा-माघ
12. फाल्गु-फाल्गुण

काल-सकेतो में कभी-कभी 'योगो' का उल्लेख भी मिलता है। 'योग' सूर्य और चन्द्रमा की गति की ज्योतिष्कीय सगति को कहा जाता है। ऐसे योग ज्योतिष के अनुसार 27 होते हैं। इन्हे भी नाम दिया गया है। अतः नाम से 27 योग ये हैं—1. विष्कंभ, 2. प्रीति, 3. आयुष्मत, 4. सौभाग्य, 5. शोमन, 6. अतिगंड, 7. सुकर्मन, 8. धृति, 9. शूल, 10. गण्ड, 11. वृद्धि, 12. ध्रुव, 13. व्याघात, 14. हर्षण, 15. वज्र, 16. सिद्धि या असृग्ज, 17. व्यतीपात, 18. वरीयस, 19. परिघ, 20. शिव, 21. सिद्ध, 22. साध्य, 23. शुभ, 24. शुक्ल, 25. ब्रह्मन्, 26. ऐन्द्र तथा 27. वैधृति।

'योग' की भाँति ही करण' का भी उल्लेख होता है। करण तिथि के अर्धांश को कहते हैं, और इनके भी विशिष्ट नाम रखे गये हैं पहले सात करण होते हैं जिनके नाम है 1 बव, 2 बालव, 3. कौलव, 4 तैतिल, 5 गर, 6 वणिज एवं 7. विष्टि (भाद्र या कल्याण)। ये सात चक्र के रूप मे आठ बार प्रयोग मे आते हैं और इस प्रकार 56 अर्द्ध तिथियो का काम देते हैं। ये 56 अर्द्ध तिथियाँ सुदी प्रतिपदा से लेकर बदी 14 (चौदस) तक पूरी होती है। अब चार अर्द्ध तिथियाँ शेष रहती हैं, बदी का चौदस से सुदी प्रतिपदा तक की—इन करणो के नाम है 8 शकुनि, 9 चतुष्पद, 10 किंस्तुघ्न और 11. नाग। काल सकेतो म कभी कभी करण का नाम भी आ जाता है, जैसे 1210 विक्रमी के अजमेर के शिलालेख म।

भारतीय कालगणना के आधार सीधे और सपाट न होकर जटिल हैं। इससे काल-निर्णय मे अनेक अड़चनें पड़ती है

पहले, तो यह जानना ही कठिन होता है कि वह सवत् कार्तिकादि, चैत्रादि, आषाढादि या श्रावणादि है,

दूसरे—अमान्त है या पूर्णिमान्त है। फिर,

तीसरे—ये वर्ष कभी वतमान (या प्रवर्तमान) रूप मे कभी गत विगत या अतीत रूप मे लिखे जाते हैं। इनकी ओर पहले 'बीसलदेव रासो' के काल-निर्णय के सम्बन्ध मे डॉ० माताप्रसाद गुप्त का उद्धरण देकर ध्यान आकर्षित कर दिया जा चुका है।

इन सबसे बढ कर कठिनाई होती है इस तथ्य से कि तिथि लिखते समय लेखक से गणना मे भी भूल हो जाती है।

यह त्रुटि उस गणक या ज्योतिषी के द्वारा की जा सकती है जो लेख लिखने वाले को बताता है। उसका गणित का ज्ञान या ज्योतिष का ज्ञान सदोष हो सकता है। पत्रो या पचागो मे भी दोष पाये जाते हैं। आज भी कभी-कभी वाराणसी और उज्जैन पचागो मे तिथि के आरम्भ मे ही अन्तर मिलता है, जिससे विवाद खडे हो जाते हैं और यह विवाद पत्रो (पचागो) मे भी प्रकट हो उठता है। जब आज भी यह मौलिक त्रुटि हो सकती है, तब पूर्व-काल मे तो और भी अधिक सम्भव थी। गावो, नगरो की बात छोडिये कभी-कभी तो राजदरबारो मे भी अयोग्य ज्योतिषीयो के होने का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। कलचुरि 'रत्नदेव द्वितीय' के सन् 1128 ई० के सर्रो लेख से यह सूचना मिलती है कि दरबार मे ज्योतिषियो से ठीक गणित ही नही होती थी और वे 'ग्रहण' का समय ठीक निर्धारित नही कर पाते थे। तब पद्मनाभ नाम के ज्योतिषी ने बीज-सस्कार किया' जिससे तिथियो का ठीक निर्धारण हो सका। राजा ने पद्मनाभ को पुरस्कृत किया, अतः ज्योतिषीयो से भी भूल हो सकती है। ऐसी दशा मे काल सकेत सदोष हो जायेंगे।

इससे किसी लेख या अभिलेख का काल-निर्धारण कठिन हो जाता है और यह आवश्यक हो जाता है कि दिये हुए काल सकेत को परीक्षा के उपरान्त ही सही माना जाय। जैसा ऊपर बताया जा चुका है विविध ज्योतिष केन्द्रो के बने पचागो और पत्रो में अलग अलग प्रकार से गणना होने के कारण तिथियो का मान अलग-अलग हो जाता है। इससे दी हुई तिथि की परीक्षा से भी सन्तोष नही हो पाता, वह तिथि एक पचाग से ठीक और दूसरे से, गलत सिद्ध होती है। इससे परीक्षक को विविध पचागो की भिन्नता म

सगत तिथि के अनुसन्धान के आधार का निर्णय करने या कराने की योग्यता भी होनी चाहिये । वैसे आधुनिक ज्योतिषी एल० डी० स्वामीकन्नुपिल्ले की 'इण्डियन ऐफिमेरीज' से भी सहायता ली जा सकती है ।

शब्द मे काल-सख्या

यह भी हम पहले देख चुके हैं कि भारत मे शब्दो मे अको को लिखने की प्रणाली रही है । इस प्रणाली से भी काल निर्णय मे कठिनाइयाँ खडी हो जाती है । यह कठिनाई तब पैदा होती है जब जो शब्द अक के लिए दिया गया है, उससे दो दो सख्याएँ प्राप्त होती हैं जैसे सागर या समुद्र से दो सख्याएँ मिलती हैं 4 भी और 7 भी । एक तो कठिनाई यही है कि सागर शब्द से 4 का अक लिया जाय या 7 का । पर कभी कवि दोनो को ग्रहण करता है, जैसे—

'अष्ट-सागर-पयोनिधि-चन्द्र' यह जगदुर्लभ की कृति उद्धव चमत्कार का रचना-काल है । इसमे सागर' भी है और इसी का पर्याय पयोनिधि' है । क्या दोनो स्थानो के अक 4-4 समझे जायें, या7–7मानें जायें या किसी एक का 4 और दूसरे का 7, इस प्रकार इतने सवत् बन सकते हैं :

1448
1778
1748
1478

'नेत्र सम युग चन्द्र' से होगा 1+2=युग,=3, पुन 3 (नेत्र) । इसमे युग को '4' भी माना जा सकता है और नेत्र को '2' भी ।

वस्तुत ऐसे दो या तीन अक बतलाने वाले शब्दो मे व्यक्त सवत् को ठीक-ठीक निकालने मे अलघ्य कठिनाई भी हो सकती है । तभी उक्त सदर्भ से डी० सी० सरकार[1] ने यह टिप्पणी की है :

"Indeed it would have been difficult to determine the date of the composition of the work, inspite of the years in both the eras being quoted"

उक्त पुस्तक मे ये सवत् अकों मे भी साथ-साथ दिये गये हैं, अत कठिनाई हल हो जाती है । किन्तु यदि अको मे सवत् न होता तो उसे तिथि और दिन और पक्ष (शुक्ल या कृष्ण) तथा महीने के साथ पचागो म या 'इण्डियन एफीमेरीज' से निकाला जा सकता था ।

अक जब शब्दो मे दिये जाते है, या अन्यथा भी, भारतीय लेखन मे, 'अकाना वामतो गति' की प्रणाली अपनायी जाती रही है अर्थात् अक उलटे लिखे जाते हैं, मानो लिखना है '1233' तो '3 3 2 1' लिखा जायगा और शब्दो मे 'नेत्र राम पक्ष चन्द्र'–(नेत्र) 3, (राम) 3, (पक्ष) 2, (चन्द्र) 1, जैसे रूप मे लिखा जायगा किन्तु यह देखा गया है कि इस पद्धति का अनुकरण भी बहुधा नहीं किया गया है । कितनी ही पुष्पिकाओं (Calophones)

1. Sircar, D C – Indian Epigraphy, p. 229

मे सन् सवद् सीधी गति से ही दे दिया गया है । इससे भी कठिनाई उपस्थित हो जाती है ।

यथा सवत् 13 सैतालीसै समै माहा तीज सुद ताम ।।
सखहीयो पोहता सरग हाथापूरै हाम ।[1]

या

सतरै सै पचानवें कोतुक उत्तम वास ।
वद पथ आठमवार रवि कीनौ ग्रन्थ प्रगास ।।[2]

या

सवत् सत्रह सै वरप ता ऊपरि चौबीस ।।
सुकल पुष्य कातिक विषै दसमी सुन रजनीस ।।[3]

या

सवत सत्रहसै गये वर्ष दशोत्तर श्रौर ।
भादव सुदि एकादशी गुरुवार सिर भौर ।।[4]

या

सवत् सोलह् सोलोतरै श्राषतीज दीवस मनपरै ।।
जोडी जैसलमेर मझार वांच्या सुख पामे ससार ।।[5]

या

श्रष्टादस वत्तीस मे । वदि दसमी मधुमास ।
करी दीन विरदावली । या अनुरागी दास ।।[6]

या

समत पनरे सै पीचौतरै पुनम फागुण मास ।।
पच सहेली वरणवी कवि छीहल परगास ।।[7]

या

बदि चैतह् साठै बरस तिथि चौदिसिगुरुवार ।
बधे कवित्त सुवित्त परि कु भल मेर मझारि ।।[8]

या

समत उगणी श्रौर बतीसा ।।
चौदह् भादू दीत को वासा ।।

1. मेनारिया, मोतीलाल—राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग) पृ० 2।
2. वही, पृ० 10।
3. वही, पृ० 22।
4. वही, पृ० 36।
5. वही, पृ० 37।
6. वही, पृ० 45।
7. वही, पृ० 50।
8. वही, पृ० 53।

उत्तम पुला रो पक्ष बुद होई ।
लिख्यौ प्रतीति कर आनो सोई ।[1]

अथवा

माघ सुदी तिथि पूरना पग पुष्प अरु गुरुवार
गिनि अठारह सै वरस पुनि तीस सवत सार ॥[2]

अब हम यहाँ डी० सी० सरकार की 'इण्डियन ऐपीग्राफी' से एक राजवश के लेखो म दिये गये उनके राज्यारोहण (Regnal) सवत् का ऐतिहासिक कालक्रम मे सगत स्थान निर्धारण करने की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए पूरी गवेषणा को सक्षेप मे दे रहे हैं, साथ ही प्रक्रिया को समझाने के लिए टिप्पणियाँ भी दी जा रही हैं । यह हम इसलिए कर रहे हैं कि इस एक उदाहरण से सीधी और जटिल तथा परिस्थितिपरक साक्षियो का एक-साथ ज्ञान हो सकेगा ।

प्रश्न 'भौमकार-सवत्' से सम्बन्धित है । भौमकार वश ने 200 वर्षों के लगभग उडीसा मे राज्य किया । इनके लेखो तथा इनके अधीनस्थ राज्यो के लेखो मे इस सवत् का उल्लेख मिलता है ।

डी.सी सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
1. भौमकार राजाओ का सवत् इस वश के प्रथम राजा के राज्यारोहण काल से ही आरम्भ हुआ होगा । इस वश के अठारह राजाओ ने लगभग दो शताब्दी उडीसा पर राज्य किया । धर्म महादेवी सम्भवत इस वश की अन्तिम शासिका थी जिसका राज्य भौमकार सवत् के 200वें वर्ष के लगभग समाप्त हो गया ।	1 यह पहली स्थापनाएँ हैं जो इस वश के शिलालेखो एव अन्य लेखो से मिले सवतो के आधार पर विद्वान इतिहासकार ने की हैं । इसी राजवश के मिले सवतो के तारतम्य को मिलाकर इतनी स्थापना तो की ही जा सकती थी । प्रश्न अब यह है कि दो-सौ वर्ष यह सवत् चला । ये 200 वर्ष हमारे आधुनिक ऐतिहासिक कालक्रम के मानक मे ई० सन् मे कहाँ रखे जा सकते हैं ?
2. एकमात्र अभिलेख-विज्ञान (पेलियोग्राफी) ही की सहायता से काल-निर्णय किया जा सकता था सो कीलहार्न ने दण्डी महादेवी की गजम प्लेटो का काल अभिलेख लिपि-विज्ञान के आधार पर तेरहवीं शताब्दी ई० के लगभग माना है । इन प्लेटो मे एक में भौमकार सवत् 180 वर्ष पड़ा है ।	2 कीलहार्न का अनुमान लिपि की विशेषता के आधार पर था, पर सरकार ने ऐतिहासिक घटनाक्रम देकर उसे असम्भव सिद्ध कर दिया है–फलत. ऐतिहासिक घटनाक्रम यदि निश्चित है तो उसके विरुद्ध कोई अनुमान नहीं माना जा सकता ।

4. वही, पृ० 79 ।
5. वही, पृ० 108 ।

डी सी. सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
सरकार कीलहार्न के इस अनुमान को काट करते हैं-इसके लिए वे गगवश के अनन्तवर्मन कोडगवा की पुरी-कटक क्षेत्र की विजय का उल्लेख करते हैं। इस गग राजा का समय 1078-1147 (47) ई० निश्चित है, अत उडीसा के पुरी कटक क्षेत्र पर गगवश का अधिकार 12 वी शती के प्रथम चरण मे हो गया था। तब भौमकार इस क्षेत्र मे 13वी शती तक कैसे विद्यमान रह सकते हैं ? दूसरे, उक्त गगराजा ने पुरी कटक को सोमवशियो से छीना था या जीता था। अत भौमकारो का शासन इस क्षेत्र पर उन सोमवशियो से भी पूर्व रहा होगा, जो गगवश से पूव पुरी-कटक क्षेत्र पर शासन कर रहे थे। अतः कीलहार्न का अनुमान इन ऐतिहासिक घटनाओ से कट जाता है। फलत भौमकारो का समय 1100 ई० से पूर्व होगा।	सरकार ने इन ऐतिहासिक घटनाओ का उल्लेख किया है — 1. गग राजा की विजय 1078 2 इस राजा ने सोमवशियो 1147 से जीता ई के बीच इससे यह निष्कर्ष भी निकाला कि गग-वश की विजय से पूर्व तो भौमकार वश का राज्य होगा ही, वरन् वह सोमवश के शासन से भी पूव होगा।
2 बी–इसी प्रसग मे सरकार यह भी कहते है कि भौमकारो न अपन लेखों मे सदा अक प्रतीको (numeral symbols) का उपयोग किया है, सख्या (Figure) का नही। इस तथ्य से यही सिद्ध होता है कि उनका 1000 ई० के बाद राज्य नही चला।	कीलहार्न के अनुमान के आधार को सरकार ने अभिलेख-लिपि विज्ञान से भी काटा है—अक प्रतीको का प्रयोग 1000 ई० तक रहा। बाद मे सख्या का प्रयोग होने लगा। अत सिद्ध है कि लेखो मे 'सख्या' का प्रयोग प्रचलित होने से पूर्व, यानी 1000 ई० से पूर्व के भौमकारो के लेख हैं, क्योकि उनमे अक-प्रतीक हैं। अत भौमकार भी 1000 ई० से पूर्व हुए। इस प्रकार सरकार ने भौमकारो के काल की निचली सीमा भी निर्धारित कर दी। अभिलेख-लिपि-विज्ञान अक्षरो के

डी सी सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
	रूपो तथा लेखन वैशिष्टयो के आधार पर काल-निर्धारण मे सहायक होता है—जब कोई अन्य साधन न हो तो इसे आधार माना जा सकता है।
3 फिर सरकार ने सिल्वियन लेवी का सुझाव दिया है कि चीनी स्रोतो मे जिस महायानी बौद्ध राजा का नाम मिलता है जो बु–चग्र (ग्रोड-उडीसा) का राजा था ग्रौर जिसने स्व हस्ताक्षरयुक्त एक पाडुलिपि चीनी *सम्राट को 795 ई० मे भिजवाई थी* वह भौमकार वश का राजा शुभाकर प्रथम था। चीनी मे इस राजा के नाम का अनुवाद यो दिया है भाग्यशाली सम्राट जो वही करता है जो सुकृत्य है सिंह इस चीनी विवरण के आधार पर लेवी ने शुभाकर प्रथम को वह राजा माना है ग्रौर इसका मूल नाम शुभकरसिंह (या केसरिन) होगा यह कल्पना की है। ग्रार० सी० मजूमदार ने चीनी विवरण के ग्राधार पर उक्त शुभाकर प्रथम के पिता को वह राजा माना है जिसने 795 ई० मे पुस्तक भेजी थी– इसका नाम था शिवकर प्रथम उन्मत्त सिंह '। इन ग्राधारो पर भौमकार वश के राज्य की दो शताब्दियाँ 750–950 ई० या 775–975 ई० के बीच स्थिर होती हैं।—	3 उसमे सरकार ने उन साक्षियो का उल्लेख किया है जो विदेश से मिली हैं ग्रौर समसामयिक है। चीनी मे भारतीय भौमकारो के किसी राजा के नाम का जो ग्रर्थ दिया है उससे एक विद्वान् ने एक राजा के, दूसरे ने दूसरे के नाम को तद्वत् स्वीकार किया है। चीनी मे इस घटना का सन् दिया हुग्रा है जिससे ई० सन् हमे विदित हो जाता है ग्रौर उक्त रूप मे काल-निर्णय सम्भव हो जाता है।
4 भाडारकर ने भी इनका काल निणय किया इस ग्राधार पर कि भौमकार-सवत् ग्रौर 606 ई० वाल 'हर्ष सवत् को एक माना जाय। इस गणना से भौमकार 606–806 ई० म हुए। सरकार की ग्रालोचना है कि ग्रभिलेख	4 सरकार ने भाडारकर की लिपि-पठन की भूल बताकर लिपि विज्ञान के उस महत्त्व को ग्रौर सिद्ध किया है, जिससे यह काल निणय मे सहायक होता है।

डी सी. सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
लिपि-विज्ञान से भौमकारो का समय बाद का बैठता है। सरकार ने यह भी दिखाया है कि भाडारकर ने 100 और 200 के जो प्रतीक इन लेखो मे आये हैं उन्हे पढने म भूल कर दी है–लु–100 और लू–200। ये 'लु' को 'लू' पढ गये हैं।	
5 अब सरकार महोदय एक अन्य ज्ञात काल से इस अज्ञात की गुत्थी सुलझाना चाहते हैं। इसके लिए इन्होने धृतिपुर और वजुलवक के भज राजाओ का आधार लिया है, उनमे से रणभज को सोमवशी सम्राट् महाशिव गुप्त ययाति प्रथम (970–1000 ई०) का समकालीन सिद्ध किया है और उधर पृथ्वी महादेवी उपनाम त्रिभुवन महादेवी द्वितीय को उक्त सोमवशी सम्राट् की पुत्री बताया है। इस भौमकर शती के लेखो का एक सवत् 158 है। यह भौमकर सवत् है। पृथ्वी महादेवी के बौड(Baud) प्लेट का सवत् 158 और उसके पिता सोमवशी महाशिवगुप्त ययाति प्रथम का अपने राज्य के नवम् वर्ष का दान–लेख सरकार ने प्राय एक ही समय के माने हैं। यह नवम् राज्य वर्ष सन् 978 ई० मे पडता है। अत भौमकार सवत् का आरम्भ इसमे से 158 पृथ्वी महादेवी के लेख का वर्ष घटा देने से 820 ई० आता है। यही सन् अनुमानत. भौमकार संवत् के आरम्भ का सन् हो सकता है, इसके बाद नहीं।	ये समस्त तर्क और युक्तियाँ ज्ञात सन् सवतो के समसामयिक सववो की स्थापना कर उनसे भौमकारो के सवत् का सम्बन्ध बिठाकर इस अज्ञात सवत् के आरम्भ को ज्ञात करने के लिए दिये गये हैं। इसमे कोई सन्देह नहीं कि कई ज्ञात सम्बन्धो की सन्धि बिठाकर अज्ञात की समस्या हल करने की पद्धति महत्त्वपूर्ण है।
6 अन्त में, सरकार ने शत्रु भज के लेख में आये विस्तृत तिथि-विवरण को	6 उक्त ऐतिहासिक घटना और राज्य-कालों के साम्यो से जो वर्ष मिलता है

डी. सी. सरकार का विवरण	टिप्पणियाँ
लिया है। इसमे भौमकार वश सवत् 198 के साथ यह विवरण भी दिया है : विषुव-सक्रान्ति, रविवार, पचमी, मृगशिरा नक्षत्र। अब इन सबकी पचाग मे खोज करने पर उस काल मे 23 मार्च, 1029 ई० को ही उक्त तिथि बैठती है। इस गणना से भौम-कर-सवत् 831 ई० से आरम्भ हुआ।	उसमे और इसमे 11 वर्ष का अन्तर है। यह अन्तिम ज्योतिषीय प्रमाण अधिक अकाट्य लगता है, क्योकि जो विवरण तिथि का लेख मे है उस विवरण की तिथि एक-एक शताब्दी मे दो-चार ही हो सकती हैं, अत यह निष्कर्ष प्रामाणिक माना जा सकता है।

इस एक उदाहरण मे विस्तारपूर्वक हमने उस पद्धति का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है, जिससे अज्ञात तक पहुँचने के प्रयत्न किये जाते हैं। ये समस्त प्रयत्न अन्तिम को छोड कर बाह्य साक्ष्यो और प्रमाणो पर ही निर्भर करते हैं।

अब हमे यह देखना है कि जहाँ किसी भी प्रकार के सन्-सवत् का उल्लेख न हो वहाँ काल-निर्णय या निर्धारण की पद्धति क्या अपनायी जाती है।

साक्ष्य : बाह्य अन्तरग

ऐसे लेखपत्र या ग्रन्थ का काल-निर्णय करने मे जिन बातो का आश्रय लेना पडता है उनमे से कुछ ये हैं :

1. बाह्य साक्ष्य :

   क–बाह्य उल्लेख—अन्य कवियो द्वारा उल्लेख
   ख–अनुश्रुतियो–कवि-विषयक लोक-प्रचलित अनुश्रुतियाँ
   ग–ऐतिहासिक घटनाएँ
   घ–सामाजिक परिस्थितियाँ
   ङ–सास्कृतिक-उपादान

2. अन्तरग साक्ष्य :

   क–अन्तरग साक्ष्य का स्थूल पक्ष
   1. लिपि
   2. कागज–लिप्यासन
   3. स्याही
   4. लेखन-पद्धति
   5. अलकरण
   6. अन्य

   ख–अन्तरग साक्ष्य : सूक्ष्म पक्ष
   1. विषयवस्तु से
   2. ग्रन्थ मे आये उल्लेखों से

(क) ऐतिहासिक उल्लेख
(ख) कवियो-ग्रन्थकारो के उल्लेख
(ग) समय-वर्णन
(घ) सांस्कृतिक बातें
(ङ) सामाजिक परिवेश
3 भाषा वैशिष्ट्य से
(क) व्याकरणगत
(ख) शब्दगत
(ग) मुहावरागत

3 वैज्ञानिक
क–प्राप्ति-स्थान की भूमि का परीक्षण
ख–वृक्ष परीक्षण
ग–कोयले से
आदि

वाह्य साक्ष्य

जब किसी ग्रथ मे रचना-काल न दिया गया हो तो इसके निर्णय के लिए बाह्य साक्ष्य महत्त्वपूर्ण रहता है।

इसका एक रूप तो यह होता है कि सन्दर्भ ग्रन्थ मे देखा जाय। ऐसी पुस्तकें और सन्दर्भ ग्रन्थ मिलते हैं जिनमे कवि और इनके ग्रन्थो का विवरण दिया होता है, उदाहरणार्थ, 'भक्तमाल और उसकी टीकाओ' मे कितने ही भक्त कवियो के उल्लेख हैं। उनकी सामग्री मे आये सकेतो से कवि या उसकी कृति के काल-निर्धारण मे सहायता मिल सकती है। अन्य साक्षियो और प्रमाणो के अभाव मे कम से कम 'भक्तमाल' मे आये उल्लेख से काल-निर्धारण की दृष्टि से निचली सीमा तो मिल ही जाती है, क्योंकि जिन कवियो का उल्लेख उसमे हुआ है, वे सभी 'भक्तमाल' के रचना-काल से पूर्व ही हो चुके होगे। दूसरे शब्दो मे उनका समय 'भक्तमाल' के रचना काल के बाद नही जा सकता।

किन्तु इस सम्बन्ध मे भी एक बात ध्यान मे रखनी होगी कि 'भक्तमाल' जैसी कृतियो मे, जैसे सभी कृतियो मे सम्भव है प्रक्षिप्ताश या क्षेपक हो, ऐसे अश हो जो बाद मे जोडे गये हो। प्रक्षेपो की विशेष चर्चा पाठालोचन वाले अध्याय मे की गयी है, अत. ऐसे सन्दर्भ ग्रन्थ के उसी अश के ऊपर निर्भर किया जा सकता है जो मूल है, क्षेपक नही। इन सन्दर्भ ग्रन्थो मे ऐसे ग्रन्थ भी हो सकते हैं जो पूरी तरह किसी कवि पर ही लिखे गये हो—जैसे 'तुलसी–चरित' और 'गोसाईं-चरित।'

तुलसी चरित महात्मा रघुवरदास रचित है। ये तुलसी के शिष्य थे। यह ग्रन्थ आकार मे महाभारत के समान कहा गया है और 'गोसाईं चरित' के लेखक बेणी माधव-दास हैं। यह वृहद् ग्रन्थ था जो आज उपलब्ध नहीं। बेणीमाधवदास ने इस 'गोसाईं चरित' से दैनिक पाठ के लिए एक छोटा सस्करण तैयार किया–यह 'मूल गुसाईं चरित' कहलाया, यह उपलब्ध है। बेणीमाधवदास गोस्वामी तुलसीदास के अन्तेवासी थे। इसमे इन्होंने

तुलसीदास की क्रमबद्ध विस्तृत जीवन-कथा दी है और जहाँ-तहाँ सवत् भी यानी काल-सकेत भी दिये हैं। ग्रत तुलसी की जीवन घटनाओ और उनकी विविध कृतियो की तिथियाँ हमे इस ग्रथ से प्राप्त हो जाती है—इससे बडी भारी काल-निर्णय सम्बन्धी समस्या हल होती प्रतीत होती है।

इसमे तुलसी विषयक सवत् निम्न रूप मे दिये गये हैं :

1.	जन्म–स० 1554 (रजिया राजापुर)	
2.	माता की मृत्यु तुलसी जन्म से चौथे दिन ।	
3.	विवाह–स० 1583 मे ।	
4.	पत्नी का शरीर त्याग एव तुलसी को विरक्ति	स० 1589 मे
5	सूरदास तुलसी से मिले और अपना 'सागर' दिखाया	,, 1616 मे
6.	रामगीतावली कृष्णगीतावली का सग्रह	,, 1628 मे
7.	रामचरितमानस का आरम्भ	,, 1631 मे
8.	दोहावली सग्रह	,, 1640 मे
9.	वाल्मीकि रामायण की प्रतिलिपि	,, 1641 मे
10	सतसई रची	,, 1642 मे
11.	मित्र टोडर की मृत्यु	,, 1669 मे
12.	जहागीर मिलने आया	,, 1670 मे
13.	मृत्यु	,, 1680 मे श्रावण श्यामा तीज

किन्तु स्वय ऐसे सभी बहिसाक्ष्यो की प्रामाणिकता भी सबसे पहले परीक्षणीय होती है। 'मूल गुसाई चरित' की प्रामाणिकता की जब ऐसी ही परीक्षा की गई तो विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह 'मूल गुसाई चरित' अप्रामाणिक है। यह क्यो अप्रामाणिक है, इसके लिए डॉ० उदयभानुसिंह[1] ने 14 कारण और तर्क सकलित किये हैं जो इस प्रकार हैं :

'मूल गोसाई चरित' स० 1687 की कार्तिक शुक्ला नवमी को रचा गया ।

'मूल गोसाई चरित' अविश्वसनीय पुस्तक है। इसकी अविश्वसनीयता के मुख्य कारण हैं :

1. यह पुस्तक ऐसे अलौकिक चमत्कारो से भरी पड़ी है जिन पर विश्वास करना किसी विवेकशील के लिए असम्भव है।

2. इसमे कहा गया है कि तुलसी के बाल्यकाल मे उनके भरणपोषण की चिन्ता चुनिया, पार्वती, शिव और नरहर्यानंद ने की। स्पष्ट है कि तुलसी जीविका के विषय में निश्चित रहे। इसके विपरीत, कवि के स्वर मे स्वर मिलाकर यह भी कह दिया गया है कि उस बालक का द्वार-द्वार डोलना हृदय-विदारक था। ये परस्पर विरोधिनी उक्तियाँ असगत हैं।

3. इसके अनुसार एक प्रेत ने तुलसी को हनुमान का दर्शन करा कर राम दर्शन

1. सिंह, उदयभानु (डॉ०)—तुलसी काव्य मीमांसा, पृ० 23-25।

का मार्ग प्रशस्त किया। किन्तु अन्तस्साक्ष्य से सिद्ध है कि तुलसी भूतप्रेत पूजा के विरोधी हैं।[2]

4 इसमे 'विनय पत्रिका' को 'रामविनयावली' नाम दिया गया है। कोई ऐसी प्रति नही मिलती जिसमे यह नाम उपलब्ध हो। हाँ, रामगीतावली नाम अवश्य पाया जाता है।

5 इसके अनुसार गीतावली' (सं० 1616–18) कवि की सर्वप्रथम कृति है। 'कृष्णगीतावली' (सं० 1628), 'कवितावली' (सं० 1628–42), 'रामचरित मानस' (1631–33), 'विनय पत्रिका' (1639), 'रामललानहछू' (1639), 'जानकी मंगल' (1639), 'पार्वती मगल' (1639) और दोहावली (1640) बारह वर्षों के आयाम मे लिखी गयी। स० 1670 मे चार पुस्तको की रचना हुई. 'वरवै रामायण', 'हनुमान बाहुक', 'वैराग्य सदीपनी' तथा 'रामाज्ञा प्रश्न'। इसमे अनेक असगतियाँ अवेक्षणीय हैं। 'गीतावली'-जैसी प्रौढ कृति प्रारम्भिक बतलायी गयी है और 'वैराग्य संदीपनी' एव 'रामाज्ञा-प्रश्न' के सदृश अप्रौढ कृतियाँ अन्तिम। तीस वर्षों (1640–70) तक कवि ने कोई रचना नही की। क्या उसकी प्रतिभा मूर्च्छित हो गई थी ?

6. इसमे 'रजियापुर' (राजापुर) को तुलसी का जन्म स्थान कहा गया है। लेकिन ऐतिहासिक स्रोतो से सिद्ध है कि स० 1813 तक उस स्थान का नाम 'विक्रमपुर' रहा है।

7. इसके अनुसार स० 1616 मे सूरदास ने चित्रकूट पहुँचकर तुलसी को 'सागर' दिखाया और आशीष माँगा। स० 1616 तक तो तुलसी ने एक भी रचना नही की थी। और उनकी कीर्ति 'रामचरित मानस' की रचना (स० 1631) के बाद फैली। उन्हे 'सागर' दिखाने की क्या तुक थी ? यह भी हास्यास्पद लगता है कि वयोवृद्ध, प्रतिष्ठित और अधे सूरदास ने चित्रकूट आकर उन्हे 'सागर' दिखाया।

8. इसमे वर्णित है कि स० 1616 मे मीराबाई ने तुलसी को पत्र लिखा था। मीरा सं० 1603 तक दिवगत हो चुकी थी, 1616 मे उन्होंने पत्र कैसे लिखा ?

9. यद्यपि लेखक ने केशवदास-सम्बन्धी घटनाओ के निश्चित समय का स्पष्ट निर्देश नही किया है तथापि सन्दर्भ से अवगत है कि वे 1643 के लगभग तुलसी से मिले और स० 1650 के लगभग केशव के प्रेत ने तुलसी को घेरा। स्वय केशवदास के अनुसार 'रामचन्द्रिका' का रचना काल स० 1658 है,[2] न कि स० 1643। और, यह गप्प की हद है कि केशव ने रात भर मे 'रामचन्द्रिका' का निर्माण कर डाला–अपने को अप्राकृत कवि सिद्ध करने के लिए। इसके अतिरिक्त स० 1651 के लगभग केशव का प्रेत तुलसी से कैसे मिला ? यह तथ्य निर्विवाद है कि उनका देहान्त सं० 1670 के बाद हुआ। उन्होंने अपनी 'जहागीर-जस-चन्द्रिका' का रचना काल सं० 1669 बतलाया है।[3]

1. दोहावली, 65 ; रामचरितमानस, 2/167।
2. सोरह सै अट्ठावना कातक सुदि बुधवार।
   रामचन्द्र की चन्द्रिका तब लानो अवतार। रामचन्द्रिका, 1/6
3. सोरह से उनहत्तरा माधव मास विचार। जहाँगीर सक साहि की करी चन्द्रिका चारु॥
   जहाँगीर जस चन्द्रिका, 2.

10 दिल्लीपति (अकबर) और जहाँगीर वाली महत्त्वपूर्ण घटनाओ का इतिहास मे कोई सकेत नही मिलता। अतः वे तथ्य-विरुद्ध हैं।

11 'चरित' के अनुसार टोडर की सम्पत्ति का बँटवारा उनके उत्तराधिकारी पुत्रो के बीच किया गया। परन्तु बँटवारे का पचायतनामा उपलब्ध है। इस 'पचायतनामे' से प्रमाणित है कि यह बँटवारा उनके पुत्र और पोत्रो के बीच हुआ था।[1]

12 इसमे कहा गया है कि तुलसी के शाप के फलस्वरूप हाथी ने गग को कुचल डाला। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि जिस गग को हाथी से कुचलवाया गया था वह औरंगजेब का समकालीन था। औरगजेब स० 1715 मे बादशाह हुआ था। इसलिये स० 1639 मे गग की कथित दुर्घटना सम्भव नही हो सकती।

13. इसके अनुसार नाभादास 'विप्रसत' थे। इस विषय मे कोई साक्ष्य नही है। परम्परा म उनको 'हनुमानवशी' अथवा डोम माना गया है।

14 'चरित' मे उल्लिखित तिथियो मे से तुलसी के जन्म (स० 1554, श्रावण शुक्ला 7, कर्क के बृहस्पति-चन्द्रमा, वृश्चिक के शनि), यज्ञोपवीत (स० 1651,[2] माघ-शुक्ला 5, शुक्रवार), विवाह (स० 1583, ज्येष्ठ शुक्ला 13, गुरुवार), पत्नी निधन (स० 1589, आषाढ कृष्णा 10, बुधवार), मानस-समाप्ति (स० 1633, मार्गशीर्ष शुक्ला 5, मगलवार) और स्वर्गवास (स० 1680, श्रावण कृष्ण 3, शनिवार), की तिथियाँ गणना योग्य हैं। पुरातत्त्व विभाग से जाँच करवा कर डॉ० रामदत्त भारद्वाज ने बतलाया है[3] कि इनमे से केवल यज्ञोपवीत और विवाह की तिथियाँ ही सत्यापित हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने पत्नी-देहान्त की तिथि को भी शुद्ध माना है। शेष चार तिथियाँ किसी भी गणना-प्रणाली से शुद्ध नही उतरती।[4] तुलसी के अंतेवासी की यह अनभिज्ञता 'चरित' की प्रामाणिकता को खडित करती है।"

सख्या 5 मे डॉ० सिंह ने तुलसी की विविध कृतियो के काल को अप्रामाणिक बतलाने के लिये उनकी प्रौढता को आधार बनाया है। यह साहित्यिक तर्क महत्त्वपूर्ण है। 'गीतावली' कवि की प्रारम्भिक कृति नही हो सकती, वह प्रौढ कृति है। डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने अपने शोध प्रबन्ध 'तुलसीदास' मे इन ग्रन्थो के रचनाकाल का निर्धारण वैज्ञानिक विधि से किया है। वह द्रष्टव्य है।

सख्या 7 मे दिया सवत् इसलिये अमान्य बताया गया है कि वह असगत है : सूर तो 'सागर' पूरा कर चुके थे, और तुलसी 1616 तक एक भी रचना नही कर पाये थे—तब सूर जैसे अधे और वृद्ध व्यक्ति का 1616 मे तुलसी जैसे अविख्यात व्यक्ति से आशीष लेने जाने मे सगति नही बैठती।

सख्या 8 मे घटना की असम्भवता के आधार पर अप्रामाणिक बताया गया है। मीरा की मृत्यु 1603 तक हो चुकी थी, 1616 मे पत्र लिखना असम्भव बात है।

सख्या 9 मे अप्रामाणिकता का आधार 'तथ्य-विरोध' है। तथ्य यह है केशव ने

1 पचायतनामे के शब्द हैं—अनंदराम बिन टोडर बिन देवराय व कँधई बिन रामभद्र बिन टोडर मजकूर।

2. यह सवत् 1561 होना चाहिए।

3. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० 48।

4. तुलसीदास, पृ० 47।

रामचन्द्रिका 1658 मे रची। मूल गुसाईं चरित मे 1643 व्यजित होती है। फिर, तथ्य है कि केशव की मृत्यु 1670 के बाद हुई, तब 1651 मे केशवका प्रेत तुलसी से कैसे मिला, यह तथ्य-विरोधी बात है—अतः अमान्य है।

सख्या 14 मे जो सवत् दिये गये हैं उनमे तिथियाँ तथा ग्रन्थ बिस्तार भी हैं जिनसे उनकी परीक्षा 'गणना' द्वारा की जा सकती है। 'पुरातत्त्व विभाग' की गणना से तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त की गणना से कई तिथियाँ अप्रमाण्य हैं, क्योंकि वे सत्यापित नहीं होती। 'गणना' का आधार सबसे अधिक वैज्ञानिक और प्रामाणिक होता है।

इस प्रकार हमने इस एक उदाहरण से देखा है कि 'प्रौढता-द्योतक क्रम की अवहेलना, असगति, असम्भावना, तथ्य विरोध एव 'गणना' से असिद्ध होना कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे प्रामाणिकता अमान्य हो जाती हैं।

ऐसा 'वहि साक्ष्य' यदि प्रामाणिक हो तो बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि वहि साक्ष्य को महत्त्व देते समय उसकी प्रामाणिकता की परीक्षा हो जानी चाहिये। जो प्रामाणिक है, वही महत्त्व का हो सकता है। कितने ही ऐसे कवि या व्यक्ति हो सकते हैं जिनका पता ही बहि साक्ष्य से लगता है। जैसे—उपर्युक्त 'तुलसी चरित' और उसके लेखक का पहला उल्लेख 'शिवसिंह सेंगर' के 'शिवसिंह सरोज' मे मिलता है। पर वह ग्रन्थ उपलब्ध नही हुआ। जो उपलब्ध हुआ वह बनावटी ग्रन्थ है।

इसी प्रकार सस्कृत आचार्य भामह ने दो स्थानो पर एक मेधाविन् का उल्लेख किया है। 'त एत उपमादोषा सप्त मेधाविनोदिताः' (II–40) तथा 'यथासख्यमथोत्प्रेक्षामलकार विदु। सख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित',[1] इनसे विदित होता है कि किसी मेधावी या मेधाविन् ने उपमा के सात दोष बताये हैं, तथा वह 'यथासख्य' अलकार को 'सख्यान' नाम देता है, और उसको अलकार नही कहता। इस उल्लेख से 'मेधाविन्' का नाम सामने आता है जिससे पहले विद्वान् परिचित नहीं थे। तब, भामह के बाद इसकी पुष्टि नेमिसाधु से भी हो जाती है, मेधाविन् या मेधाविरुद्र नाम का आचार्य हुआ है—यह भी अलकारशास्त्र का आचार्य था। भामह के उल्लेख से मेधाविन्' की निचली काल सीमा भी निर्धारित हो जाती है। भामह की कालावधि काणे ने 500 और 600 ई० के बीच दी है। 500 भामह के काल की ऊपरी सीमा और 600 निचली अवधि। 'मेधाविन्' भामह से पूर्व हुए थे।

इस प्रकार बाह्य उल्लेखो से अज्ञात कवि का पता भी चलता है, और उसकी निचली कालावधि भी ज्ञात हो जाती है।

ऐसे प्रसग पाडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिये चुनौती का काम करते हैं कि वह प्रयत्न करे और ऐसे कवि की किसी कृति का उद्घाटन करे।

अनुश्रुति या जन श्रुति

लोक में प्रचलित प्रवादो को एकत्र कर परीक्षापूर्वक प्रामाणिक मान कर उनके आधार पर काल विषयक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। जैसे-यह जनश्रुति कि मीराँ ने तुलसी को पत्र लिखा था, और तुलसी ने भी उत्तर दिया था। यदि यह सत्यापित हो

1. Kane, P.V.—Sahityadarpan (Introduction), P. XIII.

सकता तो दोनो समकालीन हो जाते और कालक्रम मे तुलसी पहले रखे जाते क्योकि वे इतनी ख्याति पा चुके थे कि मीराँ उनसे परामर्श माँग सकी। मीराँ उनसे उम्र मे छोटी सिद्ध होती, पर जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि यह जनश्रुति सत्यापित नही होती। मीराँ तुलसी से पहले ही दिवगत हो चुकी थी। अत जनश्रुति का मूल्य उस समय तक नगण्य है जब तक कि अन्य ठोस आधारो से वह प्रामाणिक न सिद्ध हो जाय। फिर भी, जनश्रुति का सकलन और अध्ययन अपेक्षित तो है ही। उसमे से कभी कभी महत्वपूर्ण खोई कडी मिल सकती है।

इतिहास एवं ऐतिहासिक घटनाएँ

ऐतिहासिक घटनाएँ बाह्य साक्ष्य हैं। इनकी सहायता प्राय किसी अन्त साक्ष्य के सहारे से ली जा सकती है। स्वतन्त्र रूप से भी इतिहास सहायक हो सकता है। जैसे—वामन के सम्बन्ध मे राजतरगिणी मे उल्लेख है कि वह जयापीड का मन्त्री था और ब्यूहलर ने बताया है कि काश्मीरी पडितो मे यह जनश्रुति है कि यह जयापीड का मन्त्री वामन ही 'काव्यालकार-सूत्र' का रचयिता और 'रीति' सम्प्रदाय का प्रवर्तक है। इस ऐतिहासिक आधार पर 'वामन' का काल 800 ई० के लगभग निर्धारित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध का कोई सन्दर्भ हमे वामन की कृति मे नही मिलता। इतिहास का उल्लेख और अनुश्रुति से पुष्टि-ये दो बातें ही इसका आधार हैं। हाँ, अन्य बहि साक्ष्यो से पुष्टि अवश्य होती है। अत किसी भी ऐसे स्वतन्त्र ऐतिहासिक उल्लेख की अन्य विधि से भी पुष्टि की जानी चाहिये।

कवि के अन्त साक्ष्य के सहारे इतिहास या ऐतिहासिक घटना के आधार पर काल-निर्णय करने की दृष्टि से 'भट्टि' को ले सकते हैं।

भट्टि ने 'भट्टि काव्य' म लिखा है कि 'काव्यमिद विहित मया वलाभ्या श्रीधरसेन-नरेन्द्रपालितायाम्"।

इससे प्रकट होता है कि भट्टि ने राजा श्रीधरसेन के आश्रय मे वलभी मे 'भट्टि काव्य' की रचना की, किन्तु रचने का काल नही दिया। अब इनका काल-निर्धारण करने के लिए वलभी के श्रीधरसेन का काल निश्चित करना होगा, और इसके लिये इतिहास से सहायता लेनी होगी। इतिहास से विदित होता है कि 'श्रीधरसेन प्रथम' का कोई लेख नही मिलता। श्रीधरसेन द्वितीय का सबसे पहला लेख वलभी स० 252 का है जो 571 ई० का हुआ। श्रीधरसेन चतुर्थ का अन्तिम लेख वलभी सवत् 332 का मिला है, जो ई० सन् 651 का हुआ। इसी प्रकार श्रीधरसेन क उत्तराधिकारी द्रोणसिंह का लेख वलभी सवत् 183 अर्थात् 502 ई० का मिला है। अत भट्टि का समय 500 से 650 ई० के बीच होना चाहिये। मन्दसौर के सूर्य मन्दिर के शिलालेख का सन् 473 ई० है। इसके लेखक वत्सभट्टि को बी० सी० मजूमदार ने 'भट्टि काव्य' से साम्य के आधार पर भट्टि माना है। तब भट्टि श्रीधरसेन प्रथम के समय मे हुए जो 500 ई० से पहले था।

स्पष्ट है कि श्रीधरसेन नाम के चार राजा हुए, अत समस्या रही कि किस श्रीधरसेन के समय भट्टि हुए. तब 'काव्य साम्य' के आधार पर वत्सभट्टि और 'भट्टि काव्य' रचयिता भट्टि को एक मान कर वत्सभट्टि के 413 ई० के लेख से भट्टि को प्रथम श्रीधरसेन के समय 500 ई० से पहले का मान लिया गया।

'कृति' मे काल का सकेत न होने पर अन्त साक्ष्य के किसी सूत्र को पकड़ कर इतिहास की सहायता से काल-निर्धारण के रोचक उदाहरण मिलते हैं। एक है नाट्य-शास्त्र के काल-निर्णय की समस्या। अनेक विद्वानो ने अपनी तरह से 'नाट्य-शास्त्र' का रचना-काल निर्धारित करने के प्रयत्न किये हैं, पर काणे महोदय ने प्रो॰ सिल्वियन लेवी का एक उदाहरण दिया है कि उन्होने 'नाट्य शास्त्र' मे सम्बोधन सम्बन्धी शब्दो मे 'स्वामी' का आधार लेकर और चष्टन जैसे भारतीय शक शासक के लेख मे चष्टन के लिये 'स्वामी' का उपयोग देखकर, यह सिद्ध किया कि भारतीय नाट्य-कला' का आरम्भ भारतीय शकों के क्षत्रपों के दरबारो से हुआ—अर्थात् विदेशी शक-राज्यों की स्थापना से पूर्व भारतवासी नाटक से अनभिज्ञ थे। नाट्य-शास्त्र मे 'स्वामी' शब्द का सम्बोधन भी शक शासको के दरबारो मे प्रचलित शिष्ट प्रयोगो से लिया गया है। इन क्षत्रपो के राज्यकाल मे ही प्राकृत भाषाओ का स्थान सस्कृत लेने लगी—या, भाषा विषयक प्रवृत्ति का परिवर्तन विदेशी शासन का प्रभाव था जो नाट्य-शास्त्र से विदित होता है। काणे महोदय की यह टिप्पणी इस विषय पर द्रष्टव्य है

"Inspite of the brilliant manner in which the arguments are advanced, and the vigour and confidence with which they are set forth, the theory that the Sanskrit theatre came into existence at the court of the Kshatrapas and that the supplanting of the Prakrits by classical sanskrit was led by the foreign Kshatrapas appears, to say the least, to be an imposing structure built upon very slender foundations"[1]

इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास की सहायता लेते समय भी बहुत सावधानी बरतनी चाहिये। यह भी परीक्षा कर लेनी चाहिये कि कही प्रक्रिया उलटी तो नही। चष्टन के लेख म 'स्वामी' का प्रयोग कहाँ से कैसे आ गया ? क्या यह शक शब्द है ? जब ऐसा नही तो स्पष्ट है कि लेखक या सूत्रधार या शिल्पकार, जिसने चष्टन का लेख तैयार किया या उत्कीर्ण किया वह भारतीय नाट्य-शास्त्र से परिचित था, वही से सम्बोधन के लिये सस्तुत शब्दो मे से 'स्वामी' शब्द को लेकर उसने चष्टन के लिये उसका प्रयोग किया। यह स्थिति अधिक सगत है।

अतः यह भी देखना होगा कि किसी स्थापना के लिये क्या कोई अन्य विकल्प भी है, यदि कोई अन्य विकल्प भी हो तो उसका समाधान भी कर दिया जाना चाहिये।

इतिहास के कारण कवि द्वारा दिये काल सकेत को लेकर सकट या झमेले भी खडे हो सकते, हैं, इसे भी ध्यान मे रखना होगा। इसके लिये 'जायसी' के पद्मावत का उदाहरण महत्त्वपूर्ण है। इसको डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दो मे उनके ग्रन्थ 'पद्मावत' के मूल और सजीवनी भाष्य की भूमिका से उद्धृत किया जा रहा है :

"जायसी कृत दूसरा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उल्लेख पद्मावत मे है। उसमे सूरवशी सम्राट शेरशाह का शाहे वक्त के रूप मे वर्णन किया गया है :

सेरसाहि दिल्ली सुलतानू। चारिउ खड तपइ जस भानू। 13।1

1. Kane, P.V.—Sahityadarpan (Introduction), P. VIII.

जायसी के वर्णन से विदित होता है कि शेरशाह उस समय दिल्ली के सिंहासन पर बैठ चुका था और उसका भाग्योदय चरम सीमा पर पहुँच गया था। हुमायूं के ऊपर शेरशाह की विजय चौसा युद्ध में 26 जून, 1539 को और कन्नौज के युद्ध मे 17 मई, 1540 को हुई। दिल्ली के सुलतान पद पर उसका अभिषेक 26 जनवरी, 1542 को हुआ। जायसी ने पद्मावत के प्रारम्भ मे तिथि का उल्लेख इस प्रकार किया है

सन नौ सै सैंतालिस अहै। कथा आरम बैन कवि कहै ।।24।।

इसका 947 हिजरी 1540 ई० होता है। उस समय शेरशाह हुमायूँ को परास्त करके हिन्दुस्तान का सम्राट बन चुका था, यद्यपि उसका अभिषेक तब तक नही हुआ था। 947 के कई नीचे लिखे पाठान्तर मिलते हैं —

1.	गोपाल चन्द्र जी की तथा माताप्रसाद जी की कुछ प्रतियाँ	927 हि०=1521 ई०
	पद्मावत का अलाउल कृत बगला अनुवाद[1]	927 हि०=1521 ई०
2	भारत कलाभवन काशी की कैंथी प्रति[2]	936 हि०=1530 ई०
3	1109 हि० (1697 ई०) मे लिखित माताप्रसाद की प्रति द्वि० 3	945 हि०=1539 ई०
4.	माताप्रसाद जी की कुछ प्रतियाँ, तथा रामपुर की प्रति	947 हि०=1540 ई०
5.	बिहार शरीफ की प्रति	948 हि०=1542 ई०

927, 936, 945, 947, 948 इन पाँच तिथियो मे हस्तलिखित प्रतियो के साक्ष्य के आधार पर 927 पाठ सबसे अधिक प्रामाणिक जान पडता है। पदमावत की सन् 1801 की लिखी एक अन्य प्रति म भी ग्रन्थ रचना-काल 927 मिला था (खोज रिपोर्ट, 14 वाँ त्रैवार्षिक विवरण, 1929–31, पृ० 62)। 927 पाठ के पक्ष मे एक तर्क यह भी है कि यह अपेक्षाकृत क्लिष्ट पाठ है। विपक्ष मे यही युक्ति है कि शेरशाह के राज्यकाल से इसका मेल नही बैठता। शुक्ल जी ने प्रथम सस्करण मे 947 पाठ रखा था, पर द्वितीय सस्करण मे 927 को ही मान्य समभा क्योकि अलाउल के अनुवाद मे उन्हे यही सन् प्राप्त हुआ था। अवश्य ही यह एक ऐसी साक्षी है जो उस पाठ के पक्ष मे विशेष ध्यान देने के लिये विवश करती है। 927 या 947 की सख्या ऐसी नही जिसके पढने या अर्थ समझने मे रुकावट होती। अतएव उसके भी जब पाठ-भेद हुए तो उसका कुछ सविशेष कारण ऐसा होना चाहिये जो सामान्यतः दूसरे प्रकार के पाठान्तरो मे लागू नहीं होता। मैंने अर्थ करते समय शेरशाह वाली युक्ति पर ध्यान देकर 947 पाठ को समीचीन लिखा था, किन्तु

1. यह अनुवाद 1645-1652 के बीच सुदूर अराकान राज्य के मन्त्री मगन ठाकुर ने अलाउल नामक कवि से कराया था—
सेख मुहम्मद जती। जखने रचिले पुथी।
संख्या सप्तविंश नव शत।
2. सन नौ सै छत्तीस जब रहा।
कथा अरंभहि बएन कवि कहा।
(भारत कला भवन, काशी की कैथी प्रति)

अब प्रतियों की बहुल सम्मति एवं विलष्ट पाठ की युक्ति पर विचार करने से प्रतीत होता है कि 927 मूल पाठ था और जायसी ने पद्मावत का आरम्भ इसी तिथि में अर्थात् 1521 में कर दिया था। ग्रन्थ की समाप्ति कब हुई, कहना कठिन है, किन्तु कवि ने उस काल के इतिहास की कई प्रमुख घटनाओं को स्वयं देखा था। बाबर के राज्य काल का तो स्पष्ट उल्लेख है ही (आखिरी कलाम 8।1)। उसके बाद हुमायूँ का राज्यारोहण (836 हि०) चौसा में शेरशाह द्वारा उसकी हार (945 हि०), कन्नौज में शेरशाह की उस पर पूर्ण विजय (947 हि०), फिर शेरशाह का दिल्ली के सिंहासन पर राज्याभिषेक (948 हि०), ये घटनाएँ उनके जीवन काल में घटीं। मेरे मित्र श्री शम्भुप्रसाद जी बहुगुणा ने मुझे एक बुद्धिमत्तापूर्ण सुझाव दिया है कि पद्मावत के विविध हस्तलेखों की तिथियाँ इन घटनाओं से मेल खाती हैं। हि० 927 में आरम्भ करके अपना काव्य कवि ने कुछ वर्षों में समाप्त कर लिया होगा। उसके बाद उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ समय-समय पर बनती रहीं। भिन्न तिथियों वाले सब सस्करण समय की आवश्यकता के अनुकूल चालू किये गये। 927 वाली कवि लिखित प्रति मूल प्रति थी। 936 वाली प्रति की मूल प्रति हुमायूँ के राज्यारोहण की स्मृति रूप में चालू की गई। हि० 945 वाली प्रति जिसका माताप्रसाद जी गुप्त ने पाठान्तर में उल्लेख किया है, शेरशाह की चौसा युद्ध में हुमायूँ पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त चालू की गई। 947 वाली चौथी प्रति शेरशाह की हुमायू पर कन्नौज विजय की स्मृति का सकेत देती है। पाँचवीं या अन्तिम प्रति 948 हि० की है, जब शेरशाह दिल्ली के तख्त पर बैठ कर राज्य करने लगा था। मूल ग्रन्थ जैसे का तैसा रहा, केवल शाहे वक्त वाला अश उस समय जोड़ा गया। पद्मावत जैसे महाकाव्य की रचना के लिये चार वर्षों का समय लगा होगा। सम्भावना है कि उसके बाद कवि कुछ वर्षों तक जीवित रहा हो। पद्मावत के कारण उसके महान् व्यक्तित्व की कीर्ति फैल गई होगी। शेरशाह के अभ्युदय काल में कवि का बादशाह से साक्षात् मिलन भी बहुत सम्भव है। इस सम्बन्ध में पदमावत का यह दोहा ध्यान आकृष्ट करता है .

दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज।
पातसाहि तुम्ह जग के जग तुम्हार मुहताज ॥13।8–9

दोहे के शब्दों में जो आत्मीयता है और प्रत्यक्ष घटना जैसा चित्र है, वह इंगित करता है कि जैसे वृद्ध कवि ने स्वयं सुलतान के सामने हाथ उठा कर आशीर्वाद दिया हो। इस घटना के बाद ही शाहे वक्त की प्रशसा वाला अश शुरू में जोड़ा गया होगा। रामपुर की प्रति में इस अश का स्थान भी बदला हुआ है। उसमें माताप्रसाद जी के दोहों की सख्या का पूर्वापर क्रम यह है—दो 12, 20 (गुरु महदी ...), 18 (सैयद असरफ.......), 19 (उन्ह घर रतन.....) 13, 14, 15, 16, 17, 21 अर्थात् शेरशाह वाले पाँच दोहों को गुरु-परम्परा के वर्णन के बाद रखा गया है। इससे अनुमान होता है कि बाद में बढ़ाए हुए इस अश का ठीक स्थान कहाँ हो, इस बारे में प्रतियों की कम से कम एक परम्परा में विकल्प अवश्य था।"[1]

इस उद्धरण से काल-निर्णय में झमेले के लिये तीन कारण सामने आते हैं, पहला पाठ-भेद–5 पाठ-भेद मिले। पाठालोचन से भी इस सम्बन्ध में अन्तिम अकाट्य निर्णय

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ०)—पद्मावत, पृ० 45–47।

नही किया जा सका। यो 927 हिजरी का पक्ष डॉ० अग्रवाल को भी भारी लगता है। कारण यही है कि यह कई प्रतियो मे है।

दूसरा—काल-सकेत मे केवल सन् का उल्लेख है, विस्तृत तिथि-विवरण—तिथि, दिन, महीना, पक्ष नही दिया गया, अत गणना और पचाग से शुद्ध 'काल' की परीक्षा नही हो सकती।

तीसरा कारण है, ऐतिहासिक उल्लेख :

'सेरसाहि दिल्ली सुलतानू
चारिउ खड तपइ जस भानू ।।"

यह शेरशाह का दिल्ली का सुलतान होना ऐतिहासिक काल-क्रम म 927, 936, 945 हिजरी से मेल नही खाता। 947 कुछ ठीक बैठता है। पर "तपे जस भानू" तो 948 हि० मे ही सम्भव था। इस ऐतिहासिक घटना ने 927 से असगत होकर यथार्थ झमेला खडा कर दिया है।

इसके समाधान मे ही यह अनुमान प्रस्तुत करना पडा कि जायसी ने पद्मावत की रचना आरम्भ तो 927 हिजरी मे की, केवल 'शाहेवक्त' विषयक पक्तियाँ सन् 948 हि० मे लिखीं।

सन् के विविध पाठ-भेदो को विविध ऐतिहासिक घटनाओ का स्मारक मानने की कल्पना भी इतिहास की पृष्ठभूमि से सगति बिठाने की दृष्टि से रोचक है। प्रामाणिक कितनी हैं, यह कहना कठिन है।

सामाजिक परिस्थितियाँ एव सास्कृतिक उल्लेख

यह पक्ष भी उभयाश्रित है। अतरग से उपलब्ध सामाजिक एव सास्कृतिक सामग्री की सगति बाह्य साक्ष्य से बिठाकर काल-निर्णय मे सहायता ली जाती है। बाह्य साक्ष्य काल-निर्धारण मे प्रमुख रहता है अत. इसे बाह्य साक्ष्य मे रखा जा सकता है।

यह भी तथ्य है कि सामाजिक और सास्कृतिक आधार को काल-क्रम निर्धारण मे उपयोगी बनाने के लिए उनका स्वय का काल-क्रम किसी अन्य आधार से, वह अधिकाशत ऐतिहासिक हो सकता है, सुनिश्चित करना होगा।

यह भी ध्यान मे रखना होगा कि सामाजिक और सांस्कृतिक सामग्री को बिल्कुल अलग अलग करके नहीं देखा जा सकता। दोनो का इतना अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है कि दोनो को एक मान कर चलना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

सास्कृतिक एव सामाजिक साक्ष्य से काल-निर्धारण का उदाहरण डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'बसन्त विलास और उसकी भाषा' शीर्षक पुस्तक से मिलता है।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त से पूर्व 'बसन्त विलास' के काल-निर्णय का प्रयत्न प्रो० डब्ल्यू० नारमन ब्राउन और उनसे पूर्व श्री कान्तिलाल बी० व्यास कर चुके थे। इन दोनो ने भाषा को आधार मान कर ऊपरली और निचली काल सीमाएँ निर्धारित की थीं—वे थी 1400–1424 के बीच।

इसका खडन और अपने मत का सकेत उक्त पुस्तक की भूमिका म रचना-काल शीर्षक मे सक्षेप मे यो दिया है

"कृति के रचना-काल का उसम कोई उल्लेख नहीं है। उसकी प्राचीनतम प्राप्त

प्रति सं० 1508 की है[1], इसलिये यह उसकी रचना-तिथि की एक सीमा है। स० 1508 की प्रति का पाठ अवश्य ही कुछ न-कुछ प्रक्षेप-पूर्ण हो सकता है, क्योंकि वही सबसे बड़ा है, और पाठान्तरों की दृष्टि से अनेक स्थलों पर उससे भिन्न प्रतियों के पाठ अधिक प्राचीन ज्ञात होते हैं, इसलिये, रचना का समय सामान्यत उससे काफी पहले का होना चाहिये। यह स्पष्ट है जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्राय. विद्वानों ने रचना की उक्त प्राचीनतम प्राप्त प्रति की तिथि से उसे एक शताब्दी पूर्व माना है। किन्तु मेरी समझ में यहाँ उन्होंने अटकल से ही काम लिया है। पूरी रचना आमोद-प्रमोद और क्रीडापूर्ण नागरिक जीवन का ऐसा चित्र उपस्थित करती है जो मुख्य हिन्दी प्रदेश में 1250 वि० की जयचन्द पर मुहम्मद गौरी की विजय के अनन्तर और गुजरात में 1356 वि० के अलाउद्दीन के सेनापति उलुगखा की विजय के अनन्तर इस्लामी शासन के स्थापित होने पर समाप्त हो गया था। इसलिये रचना अधिक से अधिक विक्रमीय 14वीं शती के मध्य, ईस्वी 13वीं शती–की होनी चाहिये।"[2]

फिर डॉ० गुप्त ने विस्तारपूर्वक 'बसन्त विलास' के उद्धरणों से उस जन-जीवन का विवरण दिया है और तब निष्कर्षत लिखा है कि

"इस व्याख्या से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि तेरहवीं शती ईस्वी की मुसलमानों की उत्तर-भारत विजय से पूर्व का ही नागरिक जीवन रचना में चित्रित है। मुसलमानों के शासन के अन्तर्गत इस प्रकार की स्वच्छन्दता से नगर के युवक-युवतियों की नगर क क्रीडा-वनों मे मिलने की कोई कल्पना नहीं कर सकता है जैसी वह इस काव्य में वर्णित हुई है। कवि किसी पूर्ववर्ती ऐतिहासिक युग का इसमें वर्णन भी नहीं करता है, वह अपने ही समय के बसन्त के उल्लास-विलास का वर्णन करता है, इसलिये मेरा अनुमान है कि 'बसन्त-विलास' का रचना-काल स० 1356 के पूर्व का तो होना ही चाहिये और यदि वह स० 1250 से भी पूर्व की रचना प्रमाणित हो तो मुझे आश्चर्य न होगा। सम्भव है उसकी भाषा का प्राप्त रूप इस परिणाम को स्वीकार करने में बाधक हो। किन्तु भाषा प्रतिलिपि-परम्परा में घिसकर धीरे-धीरे अधिकाधिक आधुनिक होती जाती है। इसलिये भाषा का स्वरूप प्राप्त परिणाम को स्वीकार करने में बाधक नहीं होना चाहिये।"[3]

इस उद्धरण से उस प्रणाली का उद्घाटन होता है जिससे सांस्कृतिक-सामाजिक सामग्री को काल-निर्धारण का आधार बनाया जा सकता है।

इसमें सांस्कृतिक सामाजिक जीवन का, बसन्त के अवसर का आमोद-प्रमोद वर्णित है। डॉ० गुप्त ने इस आधार को लेकर एक ऐतिहासिक घटना के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न किया है। वह घटना है उत्तरी भारत और गुजरात पर इस्लामी विजय और शासन– इनका काल विदित है 1250 तथा 1356। कल्पना यह है कि इस समय के बाद ऐसा जीवन जिया नहीं जा सकता था; न कवि उसका ऐसा सजीव वर्णन ही कर सकता था।

1. (अ) बाह्य साक्ष्य की दृष्टि से काल संकेत युक्त प्रतिलिपि भी महत्त्वपूर्ण होती है, यह इससे सिद्ध होता है।
   (आ) यथा—श्री मंजुलाल मजमुदार—गुजराती साहित्य ना स्वरूपो पद्य विभाग पृ० 225।
2. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०)–बसंत विलास और उसकी भाषा, पृ० 4–5।
3. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०)–बसंत विलास और उसकी भाषा, पृ० 8।

वैसा वर्णन उस काल मे रहने वाला कवि ही कर सकता है। 'बसन्त विलास' से उसकी वर्तमानकालिकता प्रकट है। स्पष्ट है कि एक प्रकरण का मेल इतिहास काल-क्रम वाली एक घटना से स्थिर किया गया, तब काल विषयक निष्कर्ष पर पहुँचा गया।

इस काल निर्धारण मे भाषा का साक्ष्य बाधक प्रतीत होता था क्योकि गुप्त से पूर्व दो विद्वानो न भाषा के साक्ष्य पर ही 1400–1425 क बीच काल निर्धारित किया था, अत इस तर्क को इस सिद्धान्त से काट दिया कि 'प्रतिलिपि परम्परा' मे भाषा अधिकाधिक आधुनिक होती जाती है।

स्पष्ट है कि सास्कृतिक बाह्य साक्ष्य + इतिहास-सिद्ध कालक्रमयुक्त घटना से यहाँ निष्कर्ष निकाला गया है।

जिस प्रकार समाज और सस्कृति को उक्त रूप मे काल निर्धारण के लिये साक्ष्य बनाया जा सकता है, उसी प्रकार धर्म, राजनीति, शिक्षा, आर्थिक तत्त्व, ज्योतिष आदि भी अपनी अपनी तरह से काल सापेक्ष होते हैं, अत काल निर्धारण मे मात्र किसी एक आधार से काम नही चल पाता जितनी भी बातो म काल सूचक बीज होने की सम्भावना हो सकती है, उनकी परीक्षा की जाती है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि का काल निर्णय करने म साहित्यिक तर्क (Literary argument),[1] मस्करी परिव्राजक एक विशेष शब्द[2] बुद्ध धर्म[3], श्राविष्ठा प्रथम नक्षत्र[4], नन्द से सम्बन्ध[5], राजनीतिक सामग्री (data), यवनानी लिपि का उल्लेख, पशु विषयक[6] क्यान्त स्थान नाम, क्षुद्रक मालव[7] पाणिनि और कौटिल्य[8], सिक्को का साक्ष्य, व्यक्ति-नाम (गोत्रनाम एव नक्षत्र-नाम के आधार पर), पाणिनि और जातक, पाणिनि तथा मध्यम पथ आदि की परीक्षा की। स्पष्ट है कि काल निर्धारण मे एक नही अनेक प्रकार के साक्ष्यो की परीक्षा करनी होती है। पहले के तर्कों और प्रमाणो की समीचीनता सिद्ध या असिद्ध करनी होती है। बाह्य साक्ष्य मे से बहुत से अतरग साक्ष्य से गुँथे हुए हैं।

अतरग साक्ष्य

अतरग साक्ष्य को दो पक्षो मे बाँट सकते हैं, एक है स्थूल पक्ष, दूसरा है सूक्ष्म। स्थूल पक्ष का सम्बन्ध उन भौतिक वस्तुओ से होता है जिनसे ग्रथ निर्मित हुआ है। इसे वस्तुगत पक्ष कह सकते हैं, जैसे ग्रन्थ का कागज, ताडपत्र आदि। उसका आकार प्रकार भी कुछ अर्थ रखते ही हैं। स्याही भी इसम सहायक हो सकती है। इसी स्थूल पक्ष का एक और पहलू है लेखन। लेखन व्यक्तिगत पहलू माना जा सकता है। व्यक्ति अर्थात् लेखक

1 वस्तुत यह तर्क गोल्डस्टुकर के इस तर्क को काटने के लिये दिया है कि पाणिनि आरण्यक, उपनिषद, प्रातिशाख्य, वाजसनेयी सहिता शतपथ ब्राह्मण, अथर्ववेद और षड्-दर्शन से परिचित नहीं थे, अत यास्क के बाद पाणिनि हुए थ।

2. यह सिद्ध करने के लिये कि इस व्यक्ति से पाणिनि परिचित थ, अत इसके बाद ही हुए।

3 गोल्डस्टुकर के इस तर्क का खडन करने के लिये कि पाणिनि बुद्ध से पूर्व हुए।

4 ज्योतिष पर आधारित साम्य।

5. ऐतिहासिक आधार।

6 एक विशेष जाति सम्बन्धी।

7 गणों का संघ एवं मैन्य सगठन तथा युद्ध विद्या सम्बन्धी।

8 कुछ विशिष्ट शब्दो से दोनो परिचित थे, इस आधार पर काल निर्धारण में सहायता।

या लिपिकार का लिखने का अपना ढंग होता है। इसमे लिपि का पहला स्थान है : इसमें देखना होता है कि कौनसी लिपि मे लेखक ने लिखा है ? यही नही, वरन् यह भी देखना होता है कि जिस लिपि मे उसने लिखा है, उसके किस रूप मे और अक्षर के किस प्रकार में लिखा है। लिपि का भी इतिहास होता है, और उसकी वर्णमाला के अक्षरो का भी होता है। प्रत्येक लेखक कालगत स्थिति मे अपनी पद्धति मे लिखता है। इसे भी क्या काल-निर्धारण का आधार बनाया जा सकता है, यह देखना होता है। लेखन मे अलकरणो का भी स्थान होता है। लिपि को भी विविध प्रकार से अलकृत किया जाता है, तथा ग्रन्थ मे जहाँ-तहाँ मगल उपकरणो मे तथा अन्य प्रकार से सजाया जाता है। क्या इनसे भी काल-निर्णय मे कोई सहायता मिल सकती है, यह भी देखना होगा। पृष्ठाकन प्रणाली का अन्तर भी इसी वर्ग मे आयेगा। सचित्र ग्रन्थ हो तो चित्र-योजना पर भी काल-निर्धारण की दृष्टि से विचार करना होगा। इनके बाद हमे यह अनुसधान भी करना होगा कि क्या कोई और ऐसा तत्त्व हो सकता है जो व्यक्तिगत पक्ष मे आता हो और उक्त वस्तुओ मे न आ पाया हो। अब हम पहले वस्तुगत पक्ष मे कागज को लेते है।

कागज=लिप्यासन

यहाँ कागज का व्यापक अर्थ लिया गया है, इसीलिए इसे 'लिप्यासन' नाम दिया गया है। यह हम पहले देख चुके है कि लिप्यासन मे पत्थर, ईंट, धातु चमडा, पत्र छाल, कागज आदि सभी आते हैं।

हम यह देख चुके हैं कि लिप्यासनो के प्रकारो से लेखन के विभिन्न युगो से सम्बन्ध है। ईंटो पर लेखन ईसा के 3000 वर्ष पूर्व तक हुआ, यह माना जा सकता है। इसी प्रकार 3000 ई०पू० से पेपीरस के खरडो (Rolls) का युग चलता है। ई०पू० 1000 से 800 के बीच कोडेक्स या चर्म-पुस्तको का युग आरम्भ हुआ माना जा सकता है। तब कागज का प्रारम्भ चीन से होकर यूरोप पहुँचा। सन् 105 ई० से कागज का प्रचार ऐसा हुआ कि अन्य लिप्यासनो का उपयोग समाप्त हो गया। भारत मे कागज सिकन्दर के समय मे भी बनता था किन्तु ईंटो के बाद पत्थर, और उसके बाद ताड-पत्र एव भूर्ज पत्रो का उपयोग विशेष होता रहा। भूर्ज-पत्र से भी अधिक ताड-पत्र का उपयोग भारत मे हुआ है।

कागज का प्रचार सबसे अधिक हुआ है।

ये लिप्यासन काल-निर्धारण मे केवल इसीलिये सहायक माने जा सकते हैं कि इन पर भी काल का प्रभाव पडता है। काल का प्रभाव अलग अलग भौगोलिक परिस्थितियो मे अलग-अलग पडता है। नेपाल मे ताड-पत्रीय सस्कृत ग्रन्थों के अनुसन्धान के विवरण मे यह उल्लेख है कि ताडपत्र-ग्रन्थो के लिये नेपाल का वातावरण, जलवायु अनुकूल है। वहाँ कालगत प्रभाव जलवायु से कुछ परिसीमित हो जाता है। फिर भी, प्रभाव पडता तो है ही। इसी काल-प्रभाव को अभी तक केवल अनुमान से ही बताया जाता रहा है। यह अनुमान पाडुलिपि-विज्ञानवेत्ता या पाडुलिपियो से सम्बन्धित व्यक्ति के अनुभव पर निर्भर करता है। अनुभवी व्यक्ति ग्रन्थ के कागज का रूप देख कर यह बात बता सकता है कि अनुमानतः यह पुस्तक कितनी पुरानी हो सकती है। यह अनुभवाश्रित अनुमान अन्य प्रयोग से पुष्ट भी होना चाहिये। यदि प्रमाण से पुष्ट नही होता तो यह तभी तक दुर्बल

आधार के रूप मे बना रहेगा जब तक कि या तो इसे खडित नही कर दिया जाता या पुष्ट नहीं कर दिया जाता ।

हाँ, एक स्थिति ऐसी हो सकती है जिससे अनुभवाश्रित अनुमान अधिक महत्त्व का हो सकता है । दो हस्तलेखों की तुलना मे एक पुरानी प्रति अपनी जीर्णता शीर्णता आदि के कारण निश्चय ही कुछ वर्ष दूसरे से पहले की मानी जा सकती है । अनुसधान विवरणो और हस्तलेखो के काल-निर्णयिक तर्कों मे प्रति की प्राचीनता भी एक आधार होती है ।

वास्तविक बात यह है कि काल-क्रम की दृष्टि से कागजो के सम्बन्ध मे दो बातो पर अनुसधानपूर्वक निर्णय लिया जाना चाहिये । एक तो कागजो के कई प्रकार मिलते हैं । हाथ के बने कागज भी स्थान भेदो से कितने ही प्रकार के हैं और इसी प्रकार मिल के बने कागजो के भी कितने ही भेद हैं । इनमे परस्पर काल-क्रम निर्धारित किया जाना चाहिये ।

हमारे यहाँ 20 वीं शताब्दी से पूर्व हाथ का बना कागज ही काम मे आता था । प्राय सभी पाडुलिपियाँ उन्हीं कागजो पर लिखी मिलती हैं ।

अब यह आवश्यक है कि कोई वैज्ञानिक विधि रासायनिक या राश्मिक आधार पर ऐसी आविष्कृत की जाय कि ग्रन्थ के कागज की परीक्षा करके उनके काल का वैज्ञानिक अनुमान लगाया जा सके ।

जब तक ऐसा नहीं होता तब तक अनुभवाश्रित अनुमान से जो सहायता ली जा सकती है, ली जानी चाहिये ।

स्याही

स्याही को भी काल निर्णय मे कागज की तरह ही सहायक माना जा सकता है । काल का प्रभाव स्याही पर भी पडता ही है, पर उसको जानने के लिए और उस प्रभाव मे समय को आकने के लिए कोई निर्भ्रांत साधन नहीं है ।

इन दोनो के सम्बन्ध म एक विद्वान[1] का कथन है कि 'जब किसी सग्रह के ग्रन्थों को देखते हैं तो उसके विभिन्न प्रतियाँ विभिन्न दशाओ मे मिलती हैं । कोई कोई ग्रन्थ तो कई शताब्दी पुराना होने पर भी बहुत स्वस्थ और ताजी अवस्था मे मिलता है । उसका कागज भी अच्छी हालत म होता है, और स्याही भी जैसी की तैसी चमकती हुई मिलती है, परन्तु कई ग्रन्थ बाद की शताब्दियों के लिखे होने पर भी उनके पत्र तडकने से और अक्षर रगड से विकृत पाये जाते हैं ।"

इस कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि कागज और स्याही को काल निर्णय का साधन बनाते समय बहुत सावधानी अपेक्षित है, और उन समस्त तथ्यों को ध्यान मे रखना होगा जिनसे कागज और स्याही पर कालगत प्रभाव या तो पडा ही नहीं, या बहुत कम पडा, या कम पडा, या सामान्य पडा, या अधिक पडा ।

पांडुलिपि विदो न काल निर्णय मे जहाँ इन दोनो का उपयोग किया है वहाँ तुलना के आधार पर हा किया है ।

लिपि

लिपि काल निर्धारण मे सहायक हो सकती है, क्योंकि उसका विकास होता आया

1. श्री गोपाल नारायण बहुरा की टिप्पणियाँ ।

है, उस विकास मे अक्षरो के लिपि-रूपो मे परिवर्तन हुए हैं, जिन्हे काल सीमाओ मे बाँधा गया है। अक्षर का एक लिपि-रूप एक विशेष काल-सीमा म चला, फिर उसमे विकास या परिवर्तन हुआ और नया रूप एक विशेष काल-सीमा मे प्रचलित रहा। आगे भी इसी प्रकार होता गया और विविध अक्षर-रूप विविध काल सीमाओ मे प्रचलित मिले। इस कारण एक विशेष अक्षर-रूप वाली लिपि को उस विशेष काल-अवधि का माना जा सकता है, जिसमे लिपि वैज्ञानिको ने उसे प्रचलित सिद्ध किया है।

शिलालेखो एव अभिलेखो मे लिपि के विकास की इन कालावधियो को सुविधा के लिए नाम भी दे दिये गये है।

अशोक-कालीन ब्राह्मी लिपि की कालावधि ई०पू० 500 से 300 ई० तक मानी गई। इस बीच म इसके अक्षर-रूपो मे कुछ परिवर्तन हुए मिलते हैं। इन परिवर्तनो से एक नया रूप चौथी शती ई० म उभर उठना है।

इसे गुप्तलिपि का नाम दिया गया, क्योकि गुप्त सम्राटो के काल मे इसका अशोक कालीन ब्राह्मी से पृथक् रूप उभर आया। गुप्तलिपि का यह रूप छठी शती ई० तक चला। अन्य परिवर्तनो के साथ इसमे एक वैशिष्ट्य यह मिलता है कि सभी अक्षरो मे कोण तथा सिरे या रेखा का समावेश हुआ। इसी को 'सिद्ध मातृका' का नाम दिया गया है।

इस लिपि मे छठी से नवमी शताब्दी के बीच फिर ऐसा वैशिष्ट्य उभरा जो इसे गुप्तलिपि से पृथक् कर देता है। ये वैशिष्ट्य हैं (1) गुप्तलिपि के अक्षरो की खडी रेखाएँ नीचे की ओर बायी दिशा मे मुड़ी मिलती हैं तथा (2) मात्राएँ टेढ़ी और लम्बी हो गई हैं, इसलिये इन्हे 'कुटिलाक्षर' या 'कुटिल लिपि' कहा गया। कही-कही 'विकटाक्षरा' भी नाम है।

'सिद्ध मातृका' से 'नागरी लिपि' का विकास हुआ। इसका आभास तो सातवी शती से ही मिलता है, पर नवमी शताब्दी से अभिलेख और ग्रन्थ इस लिपि मे लिखे जाने लगे। 11 वी शती मे इसका व्यापक प्रयोग होने लगा।

यह स्थूल काल-विधान दिया गया है, यह बताने के लिए कि विशेष युग मे लिपि का विशेष रूप मिलता है, अत किसी विशेष लिपि रूप से उसके काल का भी अनुमान लगाया जा सकता है, और लगाया भी गया है।

ग्रन्थो म उपयोग मे आने पर भी लिपि विकास रुकता नही, मन्द हो सकता है। यही कारण है कि ग्रन्थो की लिपियो मे भी काल-भेद से रूपान्तर मिलता है, अत उसके आधार को काल-निर्णय का आधार किसी सीमा तक बनाया जा सकता है :

इसके लिये 'राउलवेलि' के सम्बन्ध मे यह उद्धरण उदाहरणार्थ दिया जा सकता है। 'राउलवेलि' एक कृति या ग्रन्थ ही है, जो शिलालेख के रूप मे धार से प्राप्त हुआ है। यह प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, बम्बई मे सुरक्षित है।

इस शिलांकित कृति म रचना-काल नही दिया गया। इसकी अतरग सामग्री से किसी ऐतिहासिक व्यक्ति या घटना का भी सधान नही मिलता। इस कारण इतिहास से भी काल-निर्धारण मे सहायता नही मिलती। अत इस कृति के सम्पादक डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा :

"रचना का नाम 'राउल वेल'=राजकुल-विलास है, इसलिये शिलालेख के व्यक्ति राजकुल के प्रतीत होते हैं। किन्तु प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से इन पर कोई प्रकाश नही पडता है। लेख के अन्त मे दोनो छोरो पर दो आकृतियाँ है, जिनमे से एक भग्न हैं, जो शेष है वह कमल-वन की है, और जो भग्न है निश्चय ही वह भी उसी की रही होगी। इस प्रकार की आकृतियाँ लेखो के अन्त मे उनकी समाप्ति सूचित करने के लिये दी जाती हैं। ऐसी परिस्थितियो मे लेख का समय निर्धारण केवल लिपि-विन्यास के आधार पर सम्भव है। इसकी लिपि सम्पूर्ण रूप से भोज देव के 'कूर्मशतक' वाले धार के शिलालेख से मिलती है (दे० इपिग्राफिया इडिका, जिल्द 8, पृ० 241)। दोनो मे किसी भी मात्रा मे अन्तर नही है, और उसके कुछ बाद के लिखे हुए अर्जुनवर्म देव के समय के 'पारिजात मजरी' के धार के शिलालेख की लिपि किंचित् बदली हुई है (दे० इपिग्राफिया इडिका, जिल्द 8, पृ० 96) इसलिये इस लेख का समय 'कूर्मशतक' के उक्त शिलालेख के आस-पास ही अर्थात् 11वी शती ईस्वी होना चाहिये।"[1]

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि लिपि भी काल-निर्धारण मे सहायक हो सकती है। लिपि का विशेष रूप काल से सम्बद्ध है और ज्ञात कालीन रचना की लिपि से तुलना पर साम्य देखकर काल-निर्णय किया जा सकता है। 'कूर्मशतक' भोजदेव की कृति है, उसका काल भोजदेव के काल के आधार पर ज्ञात माना जा सकता है। जिस काल में 'कूर्मशतक' की रचना हुई, उसके कुछ समय बाद की शिलाकित 'पारिजात मजरी' की लिपि भिन्न है, अत. 'राउलवेल' की लिपि उससे पूर्व की और 'कूर्मशतक' के समकालीन ठहरती है तो रचनाकाल 11 वी शती माना जा सकता है।

इसमे 1 लिपि साम्य, और 2 लिपि-भेद के दो साक्ष्य लिये गये हैं। वास्तव मे, लिपि के अक्षरो और मात्राओ के रूप ही नही अलकरणो के रूप को भी काल-निर्धारण मे साक्ष्य मानना होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से तो 'भारतीय लिपि और भारतीय अभिलेख' विषयक रचनाओ मे लिपियो के कालगत भेदो और उनके अक्षरो और मात्राओ के रूपो मे अन्तर का उल्लेख सोदाहरण और सचित्र हुआ है। किन्तु ग्रन्थो की लिपियो का इतना गहन और विस्तृत अध्ययन नही हुआ। लिपि के आधार पर ग्रन्थो के काल-निर्धारण की दृष्टि से शताब्दी क्रम से ग्रन्थो मे मिलने वाले लिपि-अन्तरो और वैशिष्ट्यो का अध्ययन होना चाहिये। इसका कुछ प्रयत्न 'लिपि-समस्या' वाले अध्याय म किया भी गया है।[2] पर, वह अपर्याप्त ही है।

इस सम्बन्ध मे पहला महत्त्वपूर्ण कार्य क०मु० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान-विद्यापीठ के अनुसन्धानाधिकारी विद्वद्वर प० उदयशकर शास्त्री का है। इन्होंने परिश्रमपूर्वक काल-क्रम से मिलने वाले अक्षर, मात्रा और अकों के रूप शिलालेख आदि के साथ ग्रन्थो के आधार पर भी दिये हैं। इस अध्ययन को पाडुलिपि-विज्ञानार्थी को और आगे बढ़ाना चाहिये। इनका यह फलक हमने 'लिपि समस्या' शीर्षक अध्याय मे दिया है। उसमे कुछ और रूप भी हमने जोडे हैं।

1. गुप्त, माताप्रसाद, (डॉ०)—राउल बेल और उसकी भाषा, पृ० 19।
2. द्रष्टव्य-अध्याय-5।

लिपि रचना-काल निर्धारण मे तभी यथार्थ सहायता कर सकती है जब काल-क्रम से प्राप्त प्राय सभी या अधिकाश हस्तलेखो से अक्षर, मात्रा और अक के रूप तुलनापूर्वक कालक्रमानुसार दिये जायें और कालक्रमानुसार उनके वैशिष्ट्य भी प्रस्तुत किये जायें।

लेखन पद्धति, अलकरण आदि

वैसे तो लेखन पद्धति, अलकरण आदि का भी सम्बन्ध कालावधि से होता ही है, क्योकि लिखन की पद्धति, उसे अलकृत करन के चिह्न और उपादान, इनसे सम्बन्धित सकेताक्षरो और चिह्नो का प्रयोग, मागलिक तत्त्वो का अकन, सभी का काल-सापेक्ष प्रयोग होता है। इनसे प्रयोग को काल-क्रम म बाँध कर अध्ययन किया जा सकता है, और तब काल निर्धारण म इनकी सहायता ली जा सकती है। यथा—

सकेताक्षरों की कालावधि

पाँचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व	1 स, समु, सव, सम्व या सवत्—	सवत्सर के लिए
	2 प	पक्ष के लिए
	3. दि या दिव	दिवस के लिए
	4 गि ग्रृ०, ग्र०	ग्रीष्म के लिए
	5 व या वा	वर्ष (प्रा० वासो) के लिए
	6 हे या हेम आदि	हेमन्त के लिए
पाँचवी शती से और आगे	1 दू०	दूतक के लिए
	2 रू०	रूपक के लिए
	3 द्वि०	द्वितीया के लिए
	4 नि०	'निरीक्षित' के लिए, निबद्ध के लिए
	5 महाक्षनि (सयुक्त शब्द)	महाक्षपटलिक-निरीक्षित के लिए
	6 श्रीनि	श्रीहस्त श्रीचरण निरीक्षित के लिए
	7 श्री नि महासाम	श्री हस्तनिरीक्षित एव महा-सधिविग्रहिक निरीक्षित के लिए।

वस्तुत काल निर्णय म सहायक होने की दृष्टि से अभी सकेताक्षरा को काल क्रम और कालावधि मे बाँध कर प्रस्तुत करने के प्रयत्न नही हुए।

लेखन-पद्धति मे ही सम्बोधन और उपाधिबोधक शब्द भी स्थान रखेंगे। हम देख चुके हैं कि शब्दों के लेख मे 'स्वामी' सम्बोधन को देख कर और नाट्यशास्त्र मे राजा के लिये उसे प्रयुक्त बताया देख कर कुछ विद्वान नाट्य कला का आरम्भ भी विदेशी शक-शासकों से मानने लगे थे।

सम्बोधन और उपाधिबोधक शब्दा को काल-क्रम से इस प्रकार रखा जा सकता है—

272–232 ई०पू०	1 राजन् (अशोक जैसे सम्राट के लिए) देवी (राज्ञी–रानी)
द्वितीय शती ई०पू०	2, महाराजा (भारतीय यूनानी शासको के लिए)
प्रथम अर्द्धांश	3 महाराज्ञी (महादेवी) तृतर (सस्कृत त्रातृ रक्षक राजा के लिए)
द्विताय शती ई०पू०	4 अप्रकरण(स अप्रत्यग्र, जप्रतिद्वन्द्वी रहित) 5 राजन् (यह शब्द भी प्रयोग मे था)
प्रथम शती ई०पू०	6 महरजस रजरजस(या रजदिरजस) महतस (स० महाराजस्य राजराजस्य महत या राजाधिराजस्य महत)
चौथी शती ईसवी (गुप्त काल)	7 महाराजाधिराज या भट्टारक महाराज राजाधिराज । महाराजाधिराज परमभट्टारक 8 महाराज (7 के आधीन राजा)
6 ठी शती ईसवी	9 राजाधिराज परमेश्वर
9वी, 10वी शती ई०	10 पच महाशब्द –'प्राप्त पचमहा शब्द' या 'समाधिगत पच महाशब्द '

पचमहाशब्द—1. महाप्रतिहार
या 2 महासधिविग्रहिक
अशेष महाशब्द—3 महाअश्वशालाधिकृत
4 महाभाण्डागारिक
5 महासाधनिक

अथवा

1 महाराज
2 महासामन्त
3. महाकार्ताकृतिक
4 महादण्डनायक
5 महाप्रतिहार

अथवा

पचमहाशब्दपच महावाद्य आदि

ऐसो उपाधियो और नामो की एक लम्बी सूची बनायी जा सकती है और प्रत्येक की कालावधि ऐतिहासिक काल क्रमणिका मे स्थिर की जा सकती है, तब ये काल-निर्धारण मे अधिक सहायक हो सकते हैं।

इसी प्रकार से अन्य वैशिष्ठय भी लेखन पद्धति मे काल भेद से मिलते हैं, जिन्हे काल-तानिका मे यथा-स्थान निबद्ध करना चाहिये और पांडुलिपि विज्ञानार्थी को स्वय ऐसी कालक्रम तालिकाएँ बना लेनी चाहिये ।

इसी प्रकार अलंकरण-विधान भी काल-क्रमानुसार मिलते हैं, अतः इनकी भी सूची प्रस्तुत की जा सकती है और काल-क्रम निर्धारित किया जा सकता है।

अन्तरंग पक्ष . सूक्ष्म साक्ष्य

ऊपर स्थूल-पक्ष पर कुछ विस्तार से चर्चा की गई है। अब सूक्ष्म साक्ष्य पर भी संक्षेप मे दिशा-निर्देश उचित प्रतीत होता है। सूक्ष्म साक्ष्य में वह सबकुछ समाहित किया जाता है जो स्थूल पक्ष मे नही आ पाता। इसमे पहला साक्ष्य भाषा का है।

भाषा

भाषा का विकास और रूप-परिवर्तन भी काल-विकास के साथ होता है, अत. भाषा का गम्भीर अध्येता उसकी रूप-रचना और शब्द-सम्पत्ति तथा व्याकरणगत स्थिति के आधार पर विकास के विविध चरणो को कालावधियो मे बाँट कर, काल निर्धारण मे सहायक के रूप मे उसका उपयोग कर सकता है। इसका एक उदाहरण बसन्त विलास' के काल-निर्धारण का दिया जा सकता है। यह हम देख चुके हैं कि 'बसन्त-विलास' मे काल विषयक पुष्पिका नही है। तब डॉ० माताप्रसाद गुप्त से पूर्व जिन विद्वानों ने 'बसन्त विलास' का सम्पादन किया था उन्होंने भाषा के साक्ष्य को ही महत्त्व दिया था। उनके तर्क को डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने संक्षेप मे यों दिया है

"श्री व्यास (श्री कान्तिलाल बी० व्यास) ने 1942 मे प्रकाशित अपने पूर्वोक्त संस्करण मे कृति की रचना-तिथि पर बड़े विस्तार से विचार किया है (भूमिका पृ० 29–37)। उन्होने बताया है कि सं० 1517 के लगभग लिखते हुए रत्नमन्दिर गणि ने अपनी 'उपदेशतरगिणी' में 'वसन्त-विलास' का एक दोहा उद्धृत किया है, और रचना की सबसे प्राचीन प्रति, जो कि चित्रित भी है, सं० 1508 की है, इससे स्पष्ट है कि रचना विक्रमीय 16वी शती को प्रारम्भ मे ही पर्याप्त ख्याति और लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थी।" (यहाँ तक बाह्य साक्ष्यो का उपयोग किया गया है) "साथ ही उन्होंने लिखा है कि भाषा की दृष्टि से विचार करने पर कृति की तिथि की दूसरी सीमा स० 1350 वि० मानी जा सकती है। भाषा-सम्बन्धी इस साक्ष्य पर विचार करने के लिए उन्होने सं० 1330 मे लिपिबद्ध 'आराधना', स० 1369 मे लिपिबद्ध 'अतिचार' स० 1411 मे लिखित 'सम्यक्त्व कथानक' सं० 1415 में लिखित 'गौतम रास' सं० 1450 मे लिखित 'मुग्धावबोध औक्तिक,' सं० 1466 में लिखित 'श्रावक अतिचार', स० 1478 मे लिखित 'पृथ्वी चन्द्र चरित्र' तथा स० 1500 मे लिखित 'नमस्कार बालावबोध' से उद्धरण देते हुए उनकी भाषाओं से 'बसन्त-विलास' की भाषा की तुलना की है और लिखा है कि 'बसन्त-विलास' की भाषा 'श्रावक अतिचार' (स० 1466) तथा मुग्धावबोधऔक्तिक, (स० 1450) से पूर्व की और 'सम्यक्त्व कथानक' (स० 1411) तथा 'गौतम रास' (स० 1412) के निकट की ज्ञात होती है। इस भाषा सम्बन्धी साक्ष्य से तथा इस तथ्य से कि रत्नमन्दिर गणि के समय (स० 1517) तक कृति ने पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी, यह परिणाम निकाला जा सकता है कि 'बसन्त विलास' की रचना स० 1400 के आस-पास हुई थी। इसलिए मेरी राय मे विक्रमीय 15 वी शती का प्रथम चतुर्थांश ही (स० 1400–1425) 'बसन्त विलास' का सम्भव रचनाकाल होना चाहिये (भूमिका पृ० 37)।"[1]

1. गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०)—वसत-विलास और उसकी भाषा, (भूमिका), पृ० 4।

डॉ० गुप्त के इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि 'बसन्त-विलास' के काल-निर्धारण मे भाषा साक्ष्य के लिए 1330 से लेकर 1500 सवत् तक के काल युक्त प्रामाणिक ग्रन्थों को लेकर उनसे तुलनापूर्वक बसन्त विलास के काल का निर्धारण किया गया है। इसमे मुख्य साक्ष्य भाषा का ही है।

भाषा का साक्ष्य सहायक के रूप मे अन्य साक्ष्यो और प्रमाणो के साथ आ सकता है।

वस्तुविषयक साक्ष्य

वस्तु विषयक साक्ष्य मे वस्तु सम्बन्धी बातें आती है, उदाहरणार्थ, भारत के नाट्य-शास्त्र के काल निर्धारण मे एक तर्क यह दिया जाता है कि नाट्यशास्त्र मे केवल चार अलकारो का उल्लेख है काणे महोदय ने लिखा है

"(h) All ancient writers on alankara, Bhatti (between 500-650 A C), Bhamaha, दण्डी, उद्भट, define more than thirty figures of speech, भरत defines only four, which are the simplest viz उपमा, दीपक, रूपक and यमक भरत gives a long disquisition on metres and on the prakrits and would not have scrupled to define more figures of speech if he had known them Therefore he preceded these writers by some centuries atleast The foregoing discussion has made it clear that the नाट्यशास्त्र can not be assigned to a later date than about 300 A C ".[1]

इसमे काल-निर्धारण का आधार है

1. अलकारो की सख्या
2. अलकारो की सरल प्रकृति
3. ज्ञात प्राचीनतम अलकार-शास्त्रियो द्वारा बताये गये सख्या मे 35 अलकार ।
4. यदि भरत को चार से अधिक अलकार विदित होते या उस काल मे प्रचलित होते तो वह उनका वर्णन अवश्य करते, जैसे छन्द-शास्त्र और प्राकृत भाषाओ का किया है · निष्कर्ष—उन के समय चार अलकार ही शास्त्र मे स्वीकृत थे ।
5. चार की सख्या से 35–36 अलकारो तक पहुँचने मे 200–300 वर्ष तो अपेक्षित ही हैं। यह काणे महोदय का अपना अनुमान है—जिसके पीछे हैं नये अलकारो की उद्भावना मे लगने वाला सम्भावित समय ।

स्पष्ट है कि यहाँ 'वस्तु के अश' को आधार मान कर काल-निर्णय में सहायता ली गई है।

इसी प्रकार 'वस्तु' का उपयोग काल निर्धारण के लिए किया जा सकता है। पाणिनि के काल निर्धारण मे डॉ० अग्रवाल ने वस्तुगत सन्दर्भों से ही काल-निर्धारण किया है, उपनिषद्, श्लोक श्लोककार मस्कक्त नट सूत्र, शिशुक्रन्दीय, यमसभीय, इन्द्रजननीय, अन्तरयन देश, दिष्ट मति, निर्वाण, कुमारी श्रमणा चीवरयते, औत्तरार्घय, श्रविष्ठा यवनानी लिपि तथा अन्य भी पाणिनि के सूत्रो मे आने वाले शब्दो से काल-निर्धारण मे

1 Kane, P V, Sahitya darpan–(Introduction), p XL

सहायता ली गई है। ये सभी वर्ण्य वस्तु के अंश हैं। ये सभी ग्रंथ गत साहित्यिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, ज्योतिष आदि के उल्लेख हैं, अतः उनकी सहायता से इन शब्दों से काल-सन्दर्भ ढूँढा जा सका है।

तात्पर्य यह है कि काल-निर्धारण एक समस्या है, जिसे अंत साक्ष्य के आधार पर अनेक विधियों से सुलझाने का प्रयत्न किया जा सकता है। पांडुलिपि-विज्ञानार्थी को इस दिशा में सहायक सिद्ध हो सकने के लिए विविध विषयगत काल-क्रमानुसार तालिकाएँ प्रस्तुत करनी चाहिये।

वैज्ञानिक प्रविधि

काल-निर्धारण विषयक हमारा क्षेत्र 'पांडुलिपि' का ही है, किन्तु जब पांडुलिपि भूमि-गर्भ में दबी मिले और सन्-सवत् या तिथि आदि के जानने का कोई साधन न हो तो कुछ अन्य वैज्ञानिक साधनों का उपयोग किया जा सकता है, किया जाता है जैसे— मोहनजोदडो से मिलने वाली सामग्री। इसके काल-निर्धारण के लिए एक प्रणाली तो पहले से प्रचलित थी, पृथ्वी पर जमे पर्तों के आधार पर

"As the result of exacavations carried out at the statue of Ramses II, at Memphis in 1850, Horner ascertained that I feet 4 inches of mud accumulated since that monument had been erected, i e at the rate of 3½ inches in the century"

इसी प्रकार भूमि के मिट्टी के पर्तों के अनुसार जिस गहराई पर वस्तु मिली है, उसका आनुमानिक काल निर्धारित किया जा सकता है, प्राय किया भी जाता रहा है। यदि उस भूमि पर वृक्ष उगे हुए हैं तो वृक्षों के तने को काट कर देखने पर उसमे एक के ऊपर एक कितने ही पर्त दिखाई पडते हैं, उनके आधार पर उस वृक्ष का भी समय निर्धारित किया जा सकता है। भूमि और वृक्ष दोनो के परतों से उस वस्तु का काल प्राप्त हो सकता है। ये दोनों ही प्रणालियाँ वैज्ञानिक हैं। ज्योतिष की गणना की पद्धति भी वैज्ञानिक ही है। पर अभी हाल ही में संयुक्त राज्य के प्रो० एम० सी० लिब्बी ने रेडियोऐक्टिव कार्बन से काल-निर्धारण की वैज्ञानिक विधि का उद्घाटन किया। टाटा इस्टीट्यूट ऑव फंडामेण्टल रिसर्च नामक बम्बई स्थित संस्थान ने 1951 से 'रेडियो-कार्बन काल-निर्धारण विभाग' स्थापित कर रखा है, इसकी प्रयोगशाला मे 'कार्बन' रेडियोधर्मिता के आधार पर काल-निर्धारण की विशद पद्धति विकसित करली है। इससे वस्तुओं के काल-निर्धारण का कार्य *सम्पन्न किया जाता है। इसके परिणामों में 100 वर्षों का* ही हेर-फेर रहता है, अन्यथा बहुत ही ठीक काल ज्ञात हो जाता है।

इस अध्याय मे हमने काल-निर्धारण सम्बन्धी समस्याओं, कठिनाइयों और उनके समाधान के प्रयत्नों का संक्षेप में उल्लेख किया है–यह उल्लेख भी संकेतरूप मे ही है, केवल दिशा-निर्देशन के लिए। वस्तुत व्यक्तियों की प्रतिभा अपनी समस्याओं और कठिनाइयों के समाधान के लिए अपना रास्ता स्वयं निकालती है।

कवि निर्धारण समस्या

कवि-निर्धारण की समस्या तो बहुत ही जटिल है। कितनी ही उलझनें उसमे आती हैं, कितने ही सूत्र गुथे रहते हैं, वे सूत्र भी अनिश्चित प्रकृति वाले होते हैं।

इनसे कभी-कभी जटिल समस्याएँ खडी हो जाती हैं। कभी-कभी यह जानना कठिन हो जाता है कि कृति का कवि कौन है।

इस समस्या के कई कारण हो सकते हैं :

1. कवि ने नाम ही न दिया हो जैसे ध्वन्यालोक मे।
2. कवि ने नाम ऐसा दिया हो कि वह सन्देहास्पद लगे।
3. कवि ने कुछ इस प्रकार अपने नाम दिये हो कि प्रतीत हो कि वे अलग-अलग कवि हैं—एक कवि नहीं—सूरदास, सूर, सूरज आदि या ममारिक और मुबारक या नारायणदास और नाभा।
4. कवि का नाम ऐसा हो कि उसके ऐतिहासिक अस्तित्व को सिद्ध न किया जा सके, यथा, चन्दवरदायी।
5. ग्रन्थ सम्मिलित कृतित्व हो, कहीं एक कवि का तो कही दूसरे का नाम दिया गया हो। जैसे—'प्रवीण सागर' का
6. ग्रन्थ अप्रामाणिक हो और कवि का जो नाम दिया गया हो, वह झूठा हो यथा-'मूल गुसाईं चरित', बाबा बेणीमाधवदास कृत।
7. कवि मे पूरक कृतित्व हो इससे यथार्थ के सम्बन्ध मे भ्रान्ति होती हो, जैसे—चतुर्भुज का मधुमालती और पूरक कृतित्व उसमे गोयम का।
8. विद्वानो मे किसी ग्रन्थ के कृतिकार कवि के सम्बन्ध मे परस्पर मतभेद हो।
9. ग्रन्थ के कई पक्ष हो, यथा—मूल ग्रन्थ, उसकी वृत्ति और उसकी टीका। हो सकता है मूल ग्रन्थ और वृत्ति का लेखक एक ही हो या अलग-अलग हो—जिससे भ्रम उत्पन्न होता हो। उदाहरणार्थ ध्वन्यालोक की कारिका एव वृत्ति।
10. लिपिकार को ही कवि समझ लेने का भ्रम, आदि। ऐसे ही और भी कुछ कारण दे सकते हैं।

एक उदाहरण लें—सस्कृत मे 'ध्वन्यालोक' के लेखक के सम्बन्ध मे समस्या खडी हुई। 'ध्वन्यालोक' का अलकार-शास्त्र या साहित्य शास्त्र के इतिहास मे वही महत्त्व है जो पाणिनि की अष्टाध्यायी का भाषा-शास्त्र मे और वेदान्तसूत्र का वेदान्त मे। ध्वन्यालोक से ही साहित्य-शास्त्र का ध्वनि-सम्प्रदाय प्रभावित हुआ। ध्वन्यालोक के तीन भाग हैं. पहले मे हैं 'कारिकाएँ', दूसरे मे हैं वृत्ति, यह गद्य मे कारिकाओ की व्याख्या करती है, तीसरा है उदाहरण।—इन उदाहरणो मे से अधिकांश पूर्वकालीन कवियो के हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि ये तीनो अश एक लेखक के लिखे हुए हैं या दो के। दो इसलिए कि वृत्ति और उदाहरण वाले अश तो नि.सदेह एक ही लेखक के हैं, अत मुख्य प्रश्न यह है कि क्या कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति हैं ? यह प्रश्न इसलिए जटिल हो जाता है कि 'ध्वन्यालोक' के 150 वर्ष बाद अभिनवगुप्त पादाचार्य ने इस पर लोचन नामक टीका लिखी और ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें उन्होने आनन्दवर्धन को वृत्तिकार माना है, कारिकाकार नहीं,।

इस 'ध्वन्यालोक' की पुष्पिका मे इसका नाम 'सहृदयालोक' भी दिया गया है और काव्यालोक भी। 'सहृदयालोक' के आधार पर एक विद्वान[1] ने यह सुझाव दिया कि 'सहृदय' कवि का या लेखक का नाम है इसी ने कारिकाएँ लिखी। सहृदय' को कवि मानने मे प्रो० सोवानी न लोचन के इन शब्दो का सहारा लिया है 'सरस्वत्यास्तत्त्व कविसहृदयाख्य विजयनात्।' यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ सहृदय का अर्थ सहृदय अर्थात् साहित्य का आलोचक या वह जो हृदय के गुणो से युक्त है, हो सकता है। 'कवि सहृदय' का अर्थ 'सहृदय' नाम का कवि नही वरन् कवि एव सहृदय व्यक्ति है। 'सहृदय' के द्वयर्थक होने से किसी निर्णय पर निश्चयपूर्वक नही पहुँचा जा सकता।

किन्तु सहृदय नामक व्यक्ति ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादक था इसका ज्ञान हमे 'अभिधावृत्ति मातृका' नामक ग्रथ से, मुकुल और उसके शिष्य प्रतिहारेन्दुराज के उल्लेखो से विदित होता है। तो क्या कारिका' का लेखक 'सहृदय' था।

राजशेखर के उल्लेखो से यह लगता है कि आनन्दवर्धन ही कारिकाकार है और वृत्तिकार भी—अर्थात् कारिका और वृत्ति के लेखक एक ही व्यक्ति हैं।

उधर प्रतिहारेन्दुराज यह मानते हुए कि कारिकाकार 'सहृदय' है, आगे इगित करते हैं कि वृत्तिकार भी 'सहृदय' ही हैं ?

प्रतिहारेन्दुराज ने आनन्दवर्धन के एक पद्य को 'सहृदय' का बताया है। उधर 'वक्रोक्ति जीवितकार' ने आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार माना है। समस्या जटिल हो गई—क्या सहृदय कोई व्यक्ति है ? लगता है, यह व्यक्ति का नाम है। तब क्या यही कारिकाकार है और वृत्तिकार भी। या वृत्तिकार आनन्दवर्धन हैं, और क्या वे ही कारिकाकार भी हैं ? क्या कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति हैं या दो अलग-अलग व्यक्ति हैं ?

इस विवरण से यह विदित होता है कि समस्या खडी होने का कारण है

1 कवि ने ध्वन्यालोक मे कही अपना नाम नही दिया।

2 एक शब्द 'सहृदय' द्वयर्थक है—व्यक्ति या कवि का नाम भी हो सकता है और सामान्य अर्थ भी इससे मिलता है।

3 किसी न यह माना कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक है और वह सहृदय है, नही वह आनन्दवर्धन है, एक अन्य मत है।

4 किसी ने माना कारिकाकार भिन्न है और वृत्तिकार भिन्न है।

इन सबका उल्लेख करते हुए और खण्डन-मण्डन करते हुए काणे महोदय ने निष्कर्षत: लिखा है कि

"At present I feel inclined to hold (though with hesitation) that the लोचन is right and that प्रतीहारेन्दुराज, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र and others had not the correct tradition before them It seems that सहृदय was eithers the name or title of the कारिकाकार and that आनन्दवर्धन was his pupil and was very closely associated with him. This would serve to explain the confusion of authorship that arose within a short time Faint indications of this relationship may be traced in the ध्वन्यालोक The word "सहृदय-मनः

1. Kane, P. V.—Sahityadarpan (Introduction), p. LX.

प्रीतये' in the first कारिका is explained in the वृत्ति as 'रामायणमहाभारत प्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्ध व्यवहार लक्षयता सहृदयानामानन्दो मनसि लभता प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते'. It will be noticed that the word प्रीति is purposely rendered by the double meaning word आनन्द (pleasure and the author आनन्द) The whole sentence may have two meanings 'may pleasure find room in the heart of the men of taste etc' and 'may आनन्द (the author) secure regard in the heart of the (respected) सहृदय who defined (the nature of ध्वनि) to be found in the रामायण &c' Similary the words सहृदयोदयलाभ हेतो in the last verse of the वृत्ति may be explained as 'for the sake of the benefit viz the appearance of man of correct literary taste' or 'for the sake of securing the rise (of the fame) of सहृदय (the author).[1]

काणे महोदय के उक्त अवतरण से स्पष्ट है कि विविध साक्ष्यों, प्रमाणो से उन्हे यही समीचीन प्रतीत हुआ कि 'सहृदय' और 'आनन्दवर्धन' को अलग-अलग मानें, सहृदय और आनन्द मे गुरु-शिष्य जैसा निकट-सम्बन्ध परिकल्पित करें, और 'सहृदय' एवं 'प्रीति' जैसे शब्दो को श्लेष मानकर एक अर्थ को 'सहृदय' नाम के व्यक्ति तथा दूसरे को 'आनन्द' नाम के व्यक्ति के लिए प्रयुक्त मानें। कवि ने 'सहृदय' को ध्वनिकार का नाम नही माना, 'उपाधि' माना है, क्योंकि 'ध्वनि' मे 'सहृदय' शब्द का बहुल प्रयोग हुआ है, इसलिए उन्हे यह उपाधि दी गई। उपाधि दी गई या 'सहृदय' उपाधि है इसका कोई अन्य बाह्य या अन्तरंग प्रमाण नही मिलता।

जो भी हो, इस उदाहरण से कवि-निर्धारण विषयक समस्या और समाधान की प्रक्रिया का कुछ ज्ञान हमे होता है।

कभी दो कवियो के नाम साम्य के कारण यह प्रश्न उठ खडा होता है कि अमुक कृति किस कवि की है।

'काल-निर्धारण' के सम्बन्ध मे 'बीसलदेव रासो' का उल्लेख हो चुका है। कुछ विद्वानो ने यह स्थापना की कि बीसलदेव रासो का रचयिता 'नरपति' वही 'नरपति' है जो गुजरात का एक कवि है जिसने स० 1548 ई० तथा 1503 ई० मे दो अन्य ग्रन्थो की रचना की। इन विद्वानो ने दोनो को एक मानने के लिए दो आधार लिये—

1—भाषा का आधार, और

2—कुछ पंक्तियो का साम्य

इस स्थापना को अन्य विद्वानो ने स्वीकार नही किया। उनके आधार ये रहे—

1—नाम— गुजराती नरपति ने कही भी 'नाल्ह' शब्द अपने नाम के साथ नही जोडा, जैसा कि बीसलदेव रासो के कवि ने किया है।

2—भाषा– भाषा 'बीसलदेव' रास की 16 वी शती की नही, 14 वीं शती की है।

1. Kane, P. V. – Sahityadarpan (Introduction), p. LXIV.

3—साम्य– (क) कुछ पंक्तियों में ऐसा साम्य है जो उस युग के कितने ही कवियों में मिल सकता है।

(ख) जो सात पंक्तियाँ तुलनार्थ दी गई हैं, उनमें से चार वस्तुतः प्रक्षिप्त अंश की हैं, शेष तीन का साम्य बहुत साधारण है, जिसे यथार्थ में आधार नहीं बनाया जा सकता।

4-विषय भेद-गुजराती नरपति की दोनों रचनाएँ जैन धर्म सम्बन्धी हैं। ये जैन थे, अतः वस्तु की प्रकृति और कवि के विश्वास-क्षेत्र में स्पष्ट अंतर होने से दोनों एक नहीं हो सकते।

यह विवाद यह स्पष्ट करता है कि एक नाम के कई कवि हो सकते हैं और उनसे कौनसी रचना किस कवि की है, यह निर्धारण करना कठिन हो जाता है। नाम साम्य के कारण कई भ्रान्तियाँ खड़ी हो सकती हैं, यथा-एक 'भूषण' विषयक समस्या को उदाहरणार्थ ले सकते हैं 'भूषण' कवि का नाम नहीं उपाधि है। अतः खोजकर्त्ताओं ने 'भूषण' का असली नाम क्या था, इस पर अटकलें भी लगायी। जब एक विद्वान को 'मुरलीधर कवि भूषण' की कृतियाँ मिलीं तो उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई और उन्होंने घोषित किया कि 'भूषण' का मूल नाम 'मुरलीधर' था। इस प्रकार यह भ्रम प्रस्तुत हुआ कि 'भूषण' और 'मुरलीधर कवि भूषण' दोनों एक हैं। तब अन्तरंग और बाह्य साक्ष्य से यह निष्कर्ष निकाला गया कि दोनों कवि भिन्न हैं। क्यों भिन्न हैं, उसके कारण तुलनापूर्वक निम्नलिखित बताये गये हैं

महाकवि भूषण	मुरलीधर कवि भूषण
1. इनके पिता का नाम रत्नाकर है।	1 इनके पिता का नाम रामेश्वर है।
2 इनका स्थान त्रिविक्रमपुर (तिकवापुर) है तथा गुरु का नाम धरनीधर था।	2 इन्होंने स्थान का नाम नहीं दिया।
3 इनके आश्रयदाता हृदयराम सुत रुद्र ने इन्हें 'भूषण' की उपाधि दी। "कुल सुलंक चित्रकूट पति साहस शील समुद्र। कवि भूषण पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र।" (शिवराज भूषण)।	3. इनके आश्रयदाता देवी सिंह देव ने इन्हें 'कवि भूषण' की उपाधि दी।
4 इनके एक आश्रयदाता शिवाजी थे।	4 इनके एक आश्रयदाता हृदयशाह गढ़ाधिपति थे।
5 इन्होंने केवल अलंकार ग्रन्थ लिखा जिसका वर्ण्य इतना अलंकार नहीं जितना शिवराज का यशवर्णन था।	5 इन्होंने रस, अलंकार और पिंगल तीनों पर रचना की। पिंगल को इन्होंने कृष्ण-चरित बना दिया है।
6 इनका रचना काल 1730 के लगभग है।	6 इनका रचना-काल 1700–1723 है।
7 इनकी भनिता है 'भूषण भनत' और अधिकांश इन्होंने इसी रूप में या केवल भूषण नाम से छाप दी है।	7 इन्होंने 'कविभूषण' छाप बहुधा दी है। कभी-कभी केवल 'भूषण' छाप भी है, 'भनत' शब्द का प्रयोग सम्भवतः नहीं किया।
8 इन्होंने अपने ग्रन्थों को 'भूषण' नाम दिया।	8 इन्होंने अपने समस्त ग्रन्थों को 'प्रकाश' नाम दिया।

महाकवि भूषण	मुरलीधर कवि भूषण
9 इनकी प्राप्त सभी रचना वीररस की है।	9 इनकी रचना मे शृ गार और कृष्ण चरित का प्राधान्य है।
10 रचना के अध्याय के अन्त की कथा या ग्रन्थ के अत की पुष्पिका बहुत सामान्य है, अत 'कविभूषण' की पद्धति से बिल्कुल भिन्न है।	10 इनकी पुष्पिकाओ मे आश्रयदाता का विशद वर्णन तथा अपने पूरे नाम मुरलीधर कवि भूषण के साथ पिता के नाम का भी उल्लेख हैं।
11 ये शिवाजी के भक्त थ, शिवाजी को अवतार मानने वाले।	11 ये कृष्ण-भक्त थे।[1]

कोई-कोई कृति किसी कवि विशेष के नाम से रची गई होती हैं पर उस कवि का ऐतिहासिक अस्तित्व कही न मिलन पर यह कह दिया जाता हैं कि यह नाम ही बनावटी हैं। पृथ्वीराज रासो को अप्रामाणिक, 16वी–17वी शती का और प्रक्षिप्त मानने के लिए जब विद्वान चल पडे तो यह भी किसी ने कह दिया कि इतिहास से किसी ऐसे चन्द का पता नही चलता जो पृथ्वीराज जैसे सम्राट का लँगोटिया यार रहा हो और पृथ्वीराज पर ऐसा प्रभाव रखता हो जैसा रासो से विदित होता हैं और जा सिद्ध कवि है। अतः यह नाम मात्र किसी चतुर की कल्पना का ही फल हैं, किन्तु एक जैन ग्रथ म चन्दबरदायी के कुछ छन्द मिल गये तो मुनि जिनविजय जी ने यह मिथ्या धारणा खण्डित कर दी। तो अब चन्द-बरदायी का अस्तित्व वो बाह्य साक्ष्य से सिद्ध हो गया। रासो फिर भी खटाई म पडा हुआ है।

इसी प्रकार की समस्या तब खडी होती है जब एक कवि के कई नाम मिलते हैं—जैसे महाकवि सूरदास के सूरसागर के पदो मे 'सूरदास' 'सूरश्याम', 'सूरज', 'सूरस्वामी' आदि कई छापें मिलती हैं। क्या ये छापें एक ही कवि की हैं या अलग अलग छाप वाले पद अलग अलग कवियो के हैं। यद्यपि आज विद्वान प्राय यही मानते हैं कि ये सभी छापें 'सूरदास' की हैं फिर भी, यह समस्या तो है ही और इन्हे एक कवि की ही छापें मानने के लिये प्रमाण और तर्क तो देने ही पडते हैं।

'नलदमन' नामक एक काव्य को भी सूरदास का लिखा बहुत समय तक माना गया, किन्तु बाद मे जब यह ग्रन्थ प्राप्त हो गया तब विदित हुआ कि इसके लेखक सूरदास सूफी हैं, और महाकवि सूरदास से कुछ शताब्दी बाद मे हुए। अब यह ग्रन्थ क० मु० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा से प्रकाशित भी हो गया है।

अत हमने देखा कि कितन ही प्रकार से 'कवि' कौन है या कौनसा है की समस्या भी पाडुलिपि विज्ञानार्थी के लिये महत्त्वपूर्ण है।

एक और प्रकार से यह समस्या सामन आती है कवि राज्याश्रय मे या किसी अन्य व्यक्ति के आश्रय मे है। ग्रन्थरचना कवि स्वय करता है, पर उस कृति पर नाम-छाप अपने आश्रयदाता की देता है। इसके कारण यह निर्धारण करना आवश्यक हो जाता है कि वस्तुत उसका रचनाकार कौन है?

उदाहरण के लिये 'शृगारमजरी' ग्रन्थ है, कुछ लोग इसे 'चिन्तामणि' कवि की रचना मानते हैं, कुछ उनके आश्रयदाता 'बड़े साहिब' अकबर साहि की। इस सम्बन्ध मे

1. प्रभुदयाल मीतल (डॉ.)—ब्रज साहित्य का इतिहास, पृ० 366।

ब्रज साहित्य के इतिहास से ये पंक्तियाँ उद्धृत करना समीचीन प्रतीत होता है।[1]

'कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि यह श्रृंगारमंजरी बड़े साहिब अकबर साहि की लिखी हुई है, क्योंकि पुस्तक के बीच-बीच में बड़े साहिब का उल्लेख है, परन्तु ध्यान से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह ग्रन्थ चिन्तामणि ने बड़े साहिब अकबर साहि के लिये लिखा। इसके अन्त का उदाहरण है

'इति श्रीमान् महाराजधिराज मुकुटतटघटित मनि प्रभाराजिनी राजित चरणराजीव साहिराज गुरुराज तनुज बड़े साहिब के अकबर साहि विरचिता श्रृंगार मंजरी समाप्ता।"

निश्चय है कि लेखक स्वयं अपने लिए इस प्रकार से विशेषण नहीं लिख सकता था। ये विशेषण बड़े साहिब के लिए 'चिन्तामणि' ने ही प्रयुक्त किये होंगे। 'श्रृंगार मंजरी' के प्रारम्भिक छंदों में 'चिन्तामणि' का नाम भी आया है, यथा -

> सोहत है सन्तत विबुधन सौं मंडित क्है कवि चिन्तामनि सब सिद्धिन को घरु।
> पूरन कै लाख अभिलाष सब लोगनि के जाके पचसाख सदा लागत कनक झरु।।
> सुन्दर सरूप सदा सुमन मनोहर है जाके दरसन जग नैननि को तापहरु।।
> पीर पातसाहि साहिराज रत्नाकर ते प्रकटित भये हैं बड़े साहिब कल्पतरु।

इन्हीं बड़े साहिब को श्रृंगार मंजरी' के रचयिता के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए चिन्तामणि ने लिखा है—

> "गुरुपद कमल भगति माद मगन ह्वै सुवरन जुगल जवाहिर खचत है"
> "निज मत ऐसी"
> "*भाँति थापित करत जाते औरनि के मत लघु लागत लचत है*"।
> "सकल प्रवीन ग्रन्थ लघनि विचारि कहे चिन्तामणि रस के समूहन सचत है"।
> "साहिराज नन्द बड़े साहिब रसिकराज'श्रृंगार मंजरी' ग्रन्थ रूचिर रचत है"।

इससे प्रकट होता है कि यह ग्रन्थ बड़े साहिब के लिये उनके नाम पर चिन्तामणि ने ही लिखा। अपने आश्रयदाता के नाम से ग्रन्थ प्रारम्भ और समाप्त करने की परिपाटी उस समय प्रचलित थी। डॉ० नगेन्द्र की मान्यता है कि "यह ग्रन्थ बड़े साहिब ने मूलत आंध्र की भाषा में रचा, फिर संस्कृत में अनूदित हुआ। उसकी छाया पर चिन्तामणि ने रचा।" यह भी सम्भव है।

ऐसे ही यह प्रश्न उठा है कि 'ममारिख' और 'मुबारक' छाप वाले कवि दो हैं या एक ही हैं'। एक ही पद्य में एक संग्रह में 'मुमारिख' का प्रयोग हुआ है और दूसरे संग्रह में एक छाप है 'मुबारक' तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दोनों नाम एक ही के हैं। 'मुबारक' ही उच्चारण भेद से 'मुमारख', या 'ममारिख' हो गया है, किन्तु उक्त प्रमाण अपने आपमें प्रबल नहीं है। कुछ और भी प्रमाण ढूँढने होंगे कि तर्क अकाट्य हो जाय। पूरक कृतित्व में भी कवि विषयक भ्रान्ति हो सकती है।

चतुर्भुजदास कृत 'मधुमालती' में दो पूरक कृतित्व हुए हैं 1–माधव नाम के कवि द्वारा, 2–गोयम (गौतम) कवि द्वारा।

पूरक कृतित्व में किसी पूर्व के या प्राचीन ग्रन्थ में किसी कवि को कोई कमी दिखाई

1. सत्येन्द्र, (डॉ०) ब्रज साहित्य का इतिहास, पृ० 249

पडती है तो वह उसकी पूर्ति करने के लिये अपनी ओर से कुछ प्रसग बढा देता है, और इसका उल्लेख भी वह कही या पुष्पिका म कर देता है। गोयम कवि ने उस प्रसंग का उल्लेख कर दिया है, जो उसने जोडे है, अत उसके कृतित्व को 'चतुर्भुजदास' के कृतित्व से अलग किया जा सकता है, और यह निर्देश किया जा सकता है कि किस अश का कवि कौन है।

पर 'प्रक्षेपो के सम्बन्ध म यह बताना सम्भव नही। प्रक्षेप वे अश होते हैं जो कोई अन्य कृतिकार किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ मे किसी प्रयोजन से बढा देता है और अपना नाम नही देता। आज पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रक्रिया से प्रक्षेपो को अलग तो किया जा सकता है पर यह बताना असम्भव ही लगता है वह अश किस कवि ने जोडे हैं।

कभी-कभी एक और प्रकार से कवि निर्धारण सम्बन्धी समस्या उठ खडी होती है। वह स्थिति यह है कि रचनाकार का नाम तो मिलता नही-पर लिपिकार ने अपना नाम आदि पुष्पिका मे विस्तार से दिया है। कभी-कभी लिपिकार को ही कृतिकार समझने का भ्रम हो जाता है अत लिपिकार कौन है और कृतिकार कौन है, इस सम्बन्ध मे निर्णय करने के लिए ग्रन्थ की सभी पुष्पिकाओ को बहुत ध्यानपूर्वक देखना होगा तथा अन्य प्रमाणो की भी सहायता लेनी होगी।

कभी मूल पाठ मे आये कवि नाम का अर्थ सदिग्ध रहता है। यद्यपि एक परम्परा उसका ऐसा अर्थ स्वीकार कर लेती है, जो शब्द से सिद्ध नही होता, यथा-सन्देश रासक' मे कवि का नाम 'अद्दहमाण दिया हुआ है, 'सन्देशरासक' की दो सस्कृत टीकाओ मे अद्दहमान का 'अब्दुलरहमान' मूल रूप स्वीकार किया है। उनके पास कवि को 'अब्दुल-रहमान' मानने का क्या आधार था, यह विदित नही। शब्द स्वय इस नाम को सकेतित करने मे भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ असमर्थ है। अब्दुल का 'अद्' और रहमान का 'हमाण' कैसे हुआ होगा। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी को यह टिप्पणी देनी पडी है—'किन्तु यहाँ भी कवि ने शब्द गठन मे कुछ स्वतन्त्रता का परिचय दिया है। अब्दुल रहमान मे रहमान मुख्य पद है। इसमे से आरम्भ के अक्षर का छोडना उचित नही था।' डॉ० द्विवेदी ने यह टिप्पणी यही मान कर की है कि सस्कृत टीकाकारा ने जो नाम सुझाया है 'अब्दुल रहमान' वह ठीक है। कवि अपने नाम के साथ भी श्लेष के मोह से खिलवाड कर सकता है और उसको कोइ विकृत रूप दे सकता है, यह कुछ अधिक जचने वाली बात नही लगती। हो सकता है 'अद्दहमाण' 'अब्दुलरहमान न होकर कुछ और नाम हो। समस्या तो यह है ही। कुछ ने इसे समस्या ही माना है, पर क्योकि कोई और उपयुक्त समाधान सप्रमाण नही है, अत लकीर पीटी जा रही है?

तो पाठ का रूप ही ऐसा हो सकता है कि या तो कवि का नाम ठीक प्रकार से निकाला ही न जा सके, या जो निकाला जाय वह पूर्णत सतोषप्रद न हो तो आगे अनुसधान की अपेक्षा रहती है।

इसी प्रकार किसी काव्य की कवि ने स्पष्ट रूप से कोई पुष्पिका न दी हो, जिसमे कवि-परिचय हो या कवि का नाम ही हो, तो भी कवि का नाम उसकी छाप से जाना जा सकता है, पर ऐसी भी कृतियाँ हो सकती हैं, जिनमे कुछ शब्द इस रूप म प्रयुक्त हुए हो कि वे नाम-छाप से लगें, उदाहरणार्थ 'वसन्त विलास' मे कवि ने आरम्भ किया है कि प्र-

पहले सरस्वती की अचना करता हूँ फिर 'बसन्त विलास' की रचना करता हूँ, पर कही अपना नाम या अपनी नाम छाप नही दी। किन्तु दो शब्द कुछ इस रूप मे प्रयुक्त हुए है कि उन्हे नाम-छाप भी मान लिया जा सकता है। एक है 'त्रिभुवन', दूसरा 'गुणवन्त'। डॉ० गुप्त द्वारा सम्पादित ग्रन्थ म सख्या 3 के छद म—

बसन्त तणा गुण महमह्या सवि सहकार।
त्रिभुवनि जय जयकार पिकारव करइ अपार ।।[1]

छद—17

बनि बिलसई श्रीग्म नन्दनु चन्दन चन्द चु मीत।
रति अनइ प्रीतिसिउ सोहए मोहए त्रिभुवन चीतु ।।[2]

इन दोनो छदों में 'त्रिभुवन' कवि की नाम-छाप जैसा लगता है, क्योकि इसकी यहाँ अन्य सार्थकता विशेष नही। 'त्रिभुवन' शब्द यहाँ भी न हो तो भी अर्थ पूरा मिलता है। पहले मे 'कोकिल जयजयकार कर रहा है' स अर्थ पूरा हो जाता है। त्रिभुवन या तीनो लोकों मे जय जयकार कर रहा है, स कोई विशेष अभिप्राय प्रकट नही होता। इसी प्रकार दूसरे छद मे चित्त को मोहता ह स अथ पूण है। त्रिभुवन' का 'चित्त मोहता' है म त्रिभुवन' कवि छाप स साथकता रखता प्रतीत होता है, 'तीनो लोको का चित्त मोहित करता है' या मोहित होना है म कोई वैशिष्ट्य नही लगता।

इसी प्रकार अन्तिम 84वें छद मे 'गुणवन्त' शब्द आया है :

इणि परि साह ति रीझवी सीभवी आणई ठांइ
घन धन ते गुणवन्त बसन्त विलासु जे गाइ ।।[3]

इसमे अन्तिम पक्ति का यह अर्थ अधिक सार्थक लगता है कि गुणवन्त नामक कवि कहता है कि वे धन्य हैं जो बसन्त विलास गायेंगे। इसका यह अर्थ करना कि 'वे गुणवन्त जो बसन्त विलास गायेंगे धन्य होगें उतना समीचीन नही लगता क्योकि 'गुणवन्त' शब्द के इस अर्थ मे कोई वैशिष्ट्य नही प्रतीत होता है। यदि यह बसन्त विलास का अन्तिम छद माना जाय, जैसा डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने माना है तो काव्यान्त मे गुणवन्त कवि की छाप हो, यह सम्भावना और बढ जाती है। यह प्रस्ताविक उक्ति (Hypothesis) ही है क्योकि—

1 किसी अन्य विद्वान ने इन्हे नाम छाप के लिये स्वीकार नही किया। इसके रचनाकार कवि का नाम सोचन का प्रयास नही किया।
2 'नाम' के अतिरिक्त जो इस शब्द का अर्थ होता है वह अर्थ उतना सार्थक भले ही न हो, पर अर्थ देता है ही।
3 ऊपर जो तर्क दिये गये हैं उनकी पुष्टि मे कुछ और ठोस तर्क तथा प्रमाण होने चाहिये। 'त्रिभुवन' या 'गुणवन्त' नाम के कवियो की विशेष खोज करनी होगी।

1 गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०) बसंत विलास और उसकी भाषा, पृ० 19
2 वही पृ० 21
3 वही पृ० 29

अध्याय **8**

शब्द और अर्थ की समस्या

पाण्डुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से अब तक जो चर्चाएँ हुई है वे महत्वपूर्ण हैं, इसमे सन्देह नही । पर, ये सभी प्रयत्न पाण्डुलिपि की मूल समस्या अथवा उसके मूल-रूप तक पहुँचने के लिए सोपानो की भाँति थे । पाण्डुलिपि का लेखन, लिप्यासन, लिपि, काल या कवि मात्र से सम्बन्ध नही, उसका मूल तो ग्रन्थ के शब्दार्थों मे है, अत 'शब्द और अर्थ' पाण्डुलिपि मे यथार्थत सबसे अधिक महत्त्व रखते है।

शब्द और अर्थ मे शब्द भी एक सोपान ही हैं। यह सोपान ही हमे कृतकार के अर्थ तक पहुँचाता है । शब्द के कई प्रकार के भेद किये गये है ।

शब्द भेद

एक भेद है ' रूढ़, यौगिक तथा योगरूढ । यह भेद शब्द के द्वारा अर्थ-प्रदान की प्रक्रिया को प्रकट करता है । ये प्रक्रियाएँ तीन प्रकार की हो सकती हैं

रूढ़-शब्द का एक मूल रूप मानना होगा, यह मूल शब्द कुछ अर्थ रखता है, और उस शब्द के मूल रूप के साथ यह अर्थ 'रूढ' हो गया है । सामान्यत इस शब्द-रूप से मिलने वाले रूढ अर्थ के सम्बन्ध म कोई प्रश्न नही उठता कि 'घोडा' जो अर्थ देता है, क्यो देता है ? 'घोडा शब्द-रूप का जो अर्थ हमे मिलता है, वह रूढ़ है क्योकि इन दोनो का अभिन्न सम्बन्ध न जाने कब से इसी प्रकार चला रहा है, अत शब्द के साथ उसका अर्थ परम्परा या रूढि से सर्वमान्य हो गया है । इसी प्रकार विद्या' भी रूढ़ शब्द है और 'बल' भी वैसा ही किन्तु विद्याबल', 'विद्यार्थी', 'विद्यालय' आदि शब्दो के अर्थ मे प्रक्रिया कुछ भिन्न है । यहाँ रूढ शब्द तो है ही पर एक से अधिक ऐसे शब्द परस्पर मिल गये है, इनका याग हो गया है, अत ये यौगिक हो गये हैं । इनमे से प्रत्येक शब्द अपने रूढ अर्थ के साथ परस्पर मिला है, और ये परस्पर मिलकर यानी 'यौगिक' होकर अर्थाभिव्यक्ति को वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं । 'विद्या-बल' से उस शक्ति का अर्थ हम मिलता है जा विद्या मे अन्तर्निहित है, और विद्या म से विद्या के द्वारा प्रकट हा रहा है ।

तीसरी प्रक्रिया मे दो या अधिक शब्द परस्पर इस प्रकार का योग करते हैं कि उनके द्वारा जो अर्थ मिलता है, वह निमायक शब्दो के रूढार्थों से भिन्न होता हुआ भी, रूप मे यौगिक उस शब्द को, एक अलग रूढार्थ प्रदान करता है, यथा जलजे शब्द जल+ज (=उत्पन्न) दो शब्दो का यौगिक' है, यौगिक अथ मे जल से उत्पन्न सभी वस्तुएँ, मछली, सीप मूगा, मोती, इससे साकेतिक होगी, किन्तु इसका अर्थ 'कमल' नाम का पुष्प विशेष होता है । उसका यह अर्थ इस शब्द के रूप के साथ रूढ हा गया है । जल+ज का अर्थ जल से उत्पन्न मोती, सीप, घोंघे, सेवार आदि सभी ग्राह्य हो तो शब्द यौगिक रहेगा पर केवल पुष्प विशेष से इसका अर्थ रूढि ने बाँध दिया है, अत इसे 'योगरूढ' कहा जाता है ।

शब्द के ये भेद अर्थ-प्रक्रिया को समझने मे सहायक हो सकते हैं, पर ये भेद

पाडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिए सीधे-सीधे उपयोगी नही हैं, और पाडुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से सीधे-सीधे ये भेद कोई समस्या नही उठाते। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिको के लिए प्रत्येक भेद समस्याओ से युक्त है। 'शब्द' का रूप और उसके साथ अर्थ की रूढता स्वय एक समस्या है।

फिर व्याकरण की दृष्टि से सज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि के भेद भी हमे यहाँ इष्ट नहीं, क्योकि इनका क्षेत्र भाषा और उसका शास्त्र है।

शब्दो के भेद विविध शास्त्रो के अनुसार और आवश्यकता के अनुसार किये जाते हैं। यहाँ संक्षेप में इन विविध भेदो की सकेत रूप मे एक तालिका दे देना उपयोगी होगा। ये इस प्रकार हैं :—

शास्त्र एवं विषय	शब्द-भेद
1. व्याकरण, रचना एव गठन	1 रूढ़, 2 यौगिक, (अत.केन्द्रित) एव 3 योगरूढ (बहि केन्द्रित)
2. व्याकरण : भाषा-विज्ञान बनावट	1. समास शब्द, 2 पुनरुक्त शब्द, 3. अनुकरण मूलक, 4. अनर्गल शब्द, 5. अनुवाद युग्म शब्द, 6. प्रतिध्वन्यात्मक शब्द।
3. व्याकरण + भाषा-विज्ञान : शब्द विकास	1. तत्सम, 2. अर्द्ध-तत्सम, 3. तद्भव, 4. देशज, 5. विदेशी।
4. व्याकरण . कोटिगत	(क) 1. नाम, 2. आख्यात, 3. उपसर्ग, 4. निपात।
कोटिगत (शब्दभेद)	(ख) 1. सज्ञा, 2. सर्वनाम, 3. विशेषण, 4. क्रिया, 5 क्रिया विश्लेषण, 6. समुच्चय बोधक, 7. सम्बन्ध सूचक, 8. विस्मयादि-बोधक।
5. प्रयोग सीमा के आधार पर (विशेषत: पारिभाषिक)	1. काव्य शास्त्रीय, 2. सगीतशास्त्रीय, 3. सौन्दर्यशास्त्रीय, 4. ज्योतिषशास्त्रीय आदि विषय सम्बन्धी।
6. अर्थ-विज्ञान	1. समानार्थी (पर्यायवाची), 2. एकार्थ-वाची, 3. नानार्थवाची (अनेकार्थी,) 4. समान-रूपी भिन्नार्थवाची (श्लेषार्थी) आदि।
7. काव्य-शास्त्र	वाचक, लक्षक और व्यजक

हमारा क्षेत्र है पांडुलिपि मे आये या लिखे गये शब्द, जो लिखे गये वाक्य के अश हैं, और जिनसे मिलकर ही विविध वाक्य बनते हैं, जिनकी एक वृहद् शृखला ही ग्रन्थ बना देती है। ग्रन्थ रचना मे प्रयुक्त शब्दावली निश्चय ही सार्थक होती है। अर्थ-ग्रहण शब्द-रूप पर निर्भर करता है, जैसे-शब्द हो, 'मानुस हो तो' तो इनका अर्थ होगा कि 'यदि मैं मनुष्य

होऊँ' और यदि शब्द-रूप हो, मानु सही तो' तो अर्थ होगा कि' 'यदि मैं मान (रूठने को
1 2 3 4 5

सहन करु तो' इससे स्पष्ट है कि अक्षरावली दोनो मे बिल्कुल एक-सी है 'मा नु स हो तो'। केवल शब्द रूप खडे करने से भिन्नता आई है। पहले पाठ मे 1, 2, 3 अक्षरो को एक शब्द माना गया है और '3' भी स्वतन्त्र शब्द है और 4 भी, दूसरे पाठ में शब्द-रूप बनाने मे 1+2 को एक शब्द, 3+4 को दूसरा, 5 को स्वतन्त्र शब्द पूर्ववत्।

फलत पहले पाठ मे जो शब्द-रूप बनाए गए, उनसे एक अर्थ मिला। उन्ही अक्षरो से दूसरे पाठ मे अन्य शब्द रूप खडे किय गये जिससे उस अक्षरावली का अर्थ बदल गया।

इस उदाहरण से अत्यन्त स्पष्ट है कि अर्थ का आधार शब्द-रूप' है। 'शब्द-रूप' मे मूल आधार 'अक्षरयोग' है, ये अक्षर योग हमे लिपिकार या लेखक द्वारा लिखे गये पृष्ठो से मिलते हैं।

पाण्डुलिपि मे शब्द-भेद हम निम्न प्रकार कर सकते हैं.

1 मिलित शब्द

इसमे शब्द अपना रूप अलग नही रखते। एक-दूसरे से मिलते हुए पूरी पक्ति को एक ही शब्द बना देते हैं, ऐसा प्राय पाडुलिपि-लेखन की प्राचीन प्रणाली के फलस्वरूप होता है, यथा "मानुसहोतोवहीरसखा नवसोमिलिगोकुलगोपगुवारनि"

इसमे से शब्द-रूप खडे करना पाठक का काम रहता है और वह अपनी तरह से शब्द खडे कर सकता है यथा-मानु सहों' तोव' हींर' सखान'..... .आदि शब्द होगें या 'मानुस' हो' तो' वही रसखान ... .आदि शब्द होगें। मिलित शब्दो से पाठक उन्हे अपने ढग से 'भग' करके मुक्त शब्दो का रूप दे सकता है और अपनी तरह से अर्थ निकाल सकता है।

2. विकृत शब्द

(अ) मात्रा विकृत
(ब) अक्षर विकृत
(स) विभक्त अक्षर विकृति युक्त
(द) युक्ताक्षर विकृति युक्त
(त) घसीटाक्षर विकृति युक्त
(थ) अलकरण निर्भर विकृति युक्त

3. नव रूपाक्षरयुक्त शब्द
4. लुप्ताक्षरी शब्द
5. आगमाक्षरी
6 विपर्याक्षरी शब्द
7. सकेताक्षरी शब्द (Abbreviated Words)
8 विशिष्टार्थी शब्द (Technical Expression)[1]

1. Sircar, D. C. Indian Epigraphy P. 327.

9. सख्यावाचक शब्द
10 वर्त्तनीच्युत शब्द
11 भ्रमात् स्थानापन्न शब्द
12 अपरिचित शब्द

पाडुलिपि को दृष्टि म रखकर हमन जो शब्द भेद निर्धारित किये हैं वे ऊपर दिए गए हैं। किसी ग्रन्थ के अर्थ तक पहुँचने के लिए हमने शब्द को इकाई माना है। इनमे से बहुत स शब्द विकृति क परिणाम हो सकते हैं। पाठालोचक इनका विचार अपनी तरह से करता है। उस पर पाठालोचन वाले अध्याय मे लिखा जा चुका है। पर डॉ० चन्द्रभान रावत[1] ने इस विषय पर जो प्रकाश डाला है उसे इन शब्द भेदों के अन्तरग को समझने के लिए, यहाँ दे देना समीचीन प्रतीत होता है।

'मुद्रण-पूर्व युग मे पुस्तकें हस्तलिखित होती थी। मूल प्रति की कालान्तर मे प्रतिलिपियाँ होती थी। प्रतिलिपिकार आदर्श या मूल पाठ की यथावत् प्रतिलिपि नही कर सकता। अनेक कारणो से प्रतिलिपि म कुछ पाठ सम्बन्धी विकृतिया आ जाना स्वाभाविक है। इन अशुद्धिया के स्तरो को चीरते हुए मूल आदर्श पाठ तक पहुँचना ही पाठानुसन्धान का लक्ष्य होता है। विकृतियों की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है उन समस्त पाठो को विकृत-पाठ की सज्ञा दी जायेगी जिनके मूल लेखक द्वारा लिखे हाने की किसी प्रकार की सम्भावना नही की जा सकती और जो लेखक की भाषा, शैली और विचारधारा से पूर्णतया विपरीत पडते हैं।[2] इन अशुद्धियो के कारण ही पाठानुसन्धान की आवश्यकता होती है। इस प्रक्रिया के ये सोपान हो सकते हैं

1. मूल लेखक की भाषा, शैली और विचारधारा से परिचय,
2 इस ज्ञान के प्रकाश मे अशुद्धियो का आकलन,
3. इन सम्भावित अशुद्धियो का परीक्षण,
4 पाठ-निर्माण,
5. पाठ-सुधार तथा
6 आदर्श-पाठ की स्थापना

पाठ विकृतियो के मूल कारणा का वर्गीकरण इस प्रकार दिया जा सकता है[3]·

1 बाह्य विकृतियाँ	(स्रोतगत	मूल पाठ विकृत हो।
	(सामग्रीगत	पन्ने फटे हो, अक्षर अस्पष्ट हो।
	(क्रमगत	पन्नो का क्रमनियोजन दोषपूर्ण हो या छन्दक्रम दूषित हा।
	(एक से अधिक स्रोत हो।	

1 अनुसधान—पृ० 269-271
2 वर्मा, विमलेश कान्ति-पाठ विकृतियाँ और पाठ सम्बन्धी निर्धारण मे उनका महत्व—परिषद पत्रिका (वर्ष 3, अक 4) पृ० 48
3. Encyclopaedia Britanica Postgate Essay

2. अंतरग विकृतियाँ · (प्रतिलिपिकार की असावधानी ।
(प्रतिलिपिकार का भ्रम प्रक्षेप, वर्णभ्रम, अङ्कभ्रम ।
(प्रतिलिपिकार का अपना आदर्श और सही करने की इच्छा ।

कुछ अशुद्धियाँ दृष्टि-प्रसाद के कारण हो सकती है और कुछ मनोवैज्ञानिक। दृष्टि-प्रमाद में पाठ्यह्रास, पाठ्यवृद्धि और पाठ-परिवर्तन आते हैं। मनोवैज्ञानिक मे आदर्श के अनुसार मूल पाठ की अशुद्धियो को समझकर उनको सुधारने की प्रवृत्ति आती है। हाल ने इन पर एक और प्रकार से विचार किया है।[1] इन्होंने पाठ विकृतियो के तीन भेद किये हैं भ्रम तथा निवारण के उपाय, पाठ-ह्रास और पाठ-वृद्धि।

भ्रम 13 प्रकार के माने गये हैं. समान-अक्षर सम्बन्धी भ्रम, सादृश्य के कारण शब्दो का गलत लिखा जाना, सकोचो की अशुद्ध व्याख्या, गलत एकीकरण, अथवा गलत पृथक्करण, शब्द-रूपो का समीकरण और समीपवर्ती रचना को आश्रय देना, अक्षर या वाक्य-व्यत्यय, सस्कृत का प्राकृत मे या प्राकृत का सस्कृत मे गलत ढग से प्रतिलिपित होना, उच्चारण-परिवर्तन के कारण अशुद्धि, अक-भ्रम, व्यक्तिवाचक सज्ञाओ मे भ्रम, अपरिचित शब्दो के स्थान पर परिचित शब्दो का प्रयोग, प्राचीन शब्दो के स्थान पर नवीन शब्दो का प्रयोग तथा प्रक्षेप अथवा अज्ञात भाव से की गई भूलो का सुधार।

पाठ-ह्रास मे शब्दो का लोप आता है। यह लोप साधारण भी हो सकता है और आदि-अन्त के साम्य के कारण भी हो सकता है। पाठवृद्धि मे (1) परवर्ती अथवा पार्श्ववर्ती सन्दर्भ के कारण पुनरावृत्ति, (2) पक्तियो के बीच अथवा हाशिये पर लिखे पाठ का समावेश, (3) मिश्रित पाठान्तर अथवा (4) सदृश लेख के प्रभाव के कारण वृद्धि।

अनुसन्धान के इस क्षेत्र मे डॉ० माताप्रसाद गुप्त का स्थान आधिकारिक है। उन्होंने विकृतियो के आठ प्रकार माने हैं (1) सचेष्ट पाठ विकृति, (2) लिपि जनित, (3) भाषा-जनित, (4) छन्द-जनित, (5) प्रतिलिपि-जनित, (6) लेखन-सामग्री-जनित, (7) प्रक्षेप-जनित और (8) पाठान्तर-जनित।[2] लिपिकार के द्वारा सचेष्ट पाठ-विकृति मे अपने ज्ञान और तर्क से सशोधन करने की प्रवृत्ति ही है। अन्य सभी कथित प्रकार स्वय स्पष्ट है। भाषा जनित भ्रमो मे शब्दो का अनुपयुक्त प्रयोग, तद्भव शब्दों को संस्कार शोध के उद्देश्य से तत्सम रूप देना और आवश्यकतानुसार भाषा को परिनिष्ठित बनाने का उद्योग करना आते हैं।

ऊपर हमने जो शब्द भेद दिये हैं, उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि पाडुलिपि *के सम्पर्क मे आने पर अन्य बातो के साथ लिपि की समस्या* हल हो जाने पर पाडुलिपि-विज्ञानार्थी को पाडुलिपि की भाषा से परिचित होना होता है, और उसके लिए पहली 'इकाई' शब्द है, पाडुलिपि मे शब्द हमे किन रूपो मे मिल सकते हैं, उन्ही को इन भेदो मे प्रस्तुत किया गया है। ये शब्द-भेद पाडुलिपि को समझने के लिए आवश्यक हैं अत आवश्यक है कि इन भेदो को कुछ विस्तार से समझ लिया जाय।

1. Hall, F. W. — Companion to Classical Text श्री मिथिलेश कान्ति वर्मा, परिषद् पत्रिका (वर्ष 3, अङ्क 4), पृ. 50 पर उद्धृत।
2. अनुसन्धान की प्रक्रिया।

मिलित शब्दो के सम्बन्ध मे कुछ विस्तार से आरम्भ मे ही दिया गया है। मिलित शब्दो मे पहली समस्या शब्द के यथार्थ रूप को निर्दिष्ट करना है अर्थात् ऊपर दिये गये उदाहरण मे यह निर्दिष्ट करना होगा कि 'मानु सहो' या 'मानुस हो' मे से कवि को अभिप्रेत शब्दावली कौनसी हो सकती है। इसके लिए पूरे चरण को ही नही, पूरे पद को शब्दो मे स्थापित करना होगा, और तब पूरे सन्दर्भ मे शब्द-रूप का निर्धारण करना होगा।

इस प्रक्रिया मे भग-पद और अभग पद-श्लेष को भी दृष्टि मे रखना होगा।

मिलित शब्दावली मे से ठीक शब्दरूपो को न पकडने के कारण अर्थ मे कठिनाई पडेगी ही। यहाँ इसके कुछ उदाहरण और देना समीचीन होगा। 'नवीन' कवि कृत 'प्रबोध सुधासर' के छन्द 901 के एक चरण में 'शब्द-रूप' यो ग्रहण किये गये हैं : 'तू तौ पूजैं आँख तले वह तौंनखत ले' 'शब्द-रूप देने वाले को पूरे सन्दर्भ का ध्यान न रहा। मिलित शब्दावली से ये शब्द-रूप यो ग्रहण किये जाने चाहिये थे' 'तू तौ पूजै आखत ले' आदि। आख तले से अर्थ नही मिलता। आखत=अक्षत=चावल से अर्थ ठीक बनता है।

साथ ही, किसी शब्द का रूप भौतिक कारणो से क्षत–विक्षत हुआ है तो उसकी पूर्ति करनी होती है। शिला पर होने से कोई चिप्पट उखड जाने से अथवा किसी स्थल के घिस जाने से' कागज फट जाने से, दीमक द्वारा खा लिये जाने से अथवा अन्य किसी कारण से शब्द-रूप क्षत-विक्षत हो सकता है। इस स्थिति में पूरे पाठ की परिकल्पना कर शब्द के क्षतांश की पूर्ति करनी होगी। ऐसे प्रस्तावित या अनुमानित शब्दाश को कोष्ठको मे ( ) रख दिया जाता है : उदाहरण के लिए 'राउलवेल' की पक्तियाँ दी जा सकती हैं :

पहली पक्ति

(1)......... नमः सिव (2).......

रोडे राउस बेस बखाणा

जइ...... (3) इ आयणु ज ...... (4)

जा जेम्व जाणइ सो तेम्व बखाणइ।

हासे तो से राजइ राणइ

......(5)......(6)......(7)

दूसरी पक्ति

भा (8) उ भाव इ

इतने से अंश मे अर्थात् पहली पक्ति और दूसरी पक्ति के आरम्भ मे 8 स्थल ऐसे हैं जो क्षत हैं। अब पाठ-निर्माण की दृष्टि से (1) पर (ऊँ) की कल्पना की जा सकती है। (2) के स्थान पर (य ।।) रखा जा सकता है। सख्या 3 के क्षत स्थान की पूर्ति मे कल्पना सहायक नहीं हो पाती है, अत. इसे बिन्दु........लगाकर ही छोड दिया जायेगा। 4 के खाली स्थान पर ज के साथ (णो) ठीक बैठता है। 5 का अश पूरे उपवाक्य का होगा, इसी प्रकार सख्या 6 का ओ इनकी पूर्ति के लिए। शब्दों तक भी कल्पना से नहीं

पहुँचा जा सकता, अत. इन्हें बिन्दुओ से रिक्त ही दिखाना होगा। 6 सख्या पर छन्द समाप्ति की (1) हो सकती है। 7 वें पर (ल) ठीक रहेगा, किन्तु ऐसे पाठोद्धार मे जो शब्द अक्षत उपलब्ध हैं अर्थ तक पहुँचने के लिए उनमे भी किसी सशोधन का सुझाव देना आवश्यक हो सकता है जिससे कि वाक्य का रूप व्याकरणिक की दृष्टि से ठीक अर्थ देने मे सक्षम हो जाय। ऐसे सुझावो को छोटे कोष्ठको ( ) मे रखा जा सकता है।

दूसरे प्रकार के शब्दो को विकृत शब्द कह सकते हैं। विकारो के कारणो को दृष्टि म रखकर 'विकृत शब्दो' के 6 भेद किये गये हैं :

पहला विकार मात्रा-विषयक हो सकता है, जो विकार मात्रा की दृष्टि से आज हमे सामान्य लेखन मे मिलता है, वह इन पाडुलिपियो मे भी मिल जाता है। हम देखते हैं कि बहुत से व्यक्ति 'रात्रि' को 'रात्री' लिख देते हैं। किसी-किसी क्षेत्र विशेष मे तो यह एक प्रवृत्ति ही हो गई है कि लघु मात्रा के लिए दीर्घ और दीर्घ के लिए लघु लिखी जाती है। अभाद् किसी अन्य मात्रा के लिए अन्य मात्रा लिख दी जा सकती है। इसका एक उदाहरण डॉ॰ माहेश्वरी ने यह दिया है.

139 धीरें > धोरें। ई > ओ

(अ) यहाँ लिपिक ने ' ी ' की मात्रा को कुछ इस रूप मे लिखा कि वह 'ओ' पढी गयी।[1] इसी प्रकार 'ओ' की मात्रा को ऐसे लिखा जा सकता है कि वह 'ई' पढी जाय। 1846 में मनरूप द्वारा लिखित मोहन विजय कृत 'चन्द-चरित्र' के प्रथम पृष्ठ की 13 वी पक्ति मे दायी ओर से सातवें अक्षर से पूर्व का शब्द 'अनुप' मे मात्रा विकृति है, यह यथार्थ मे 'अनूप' है। इसी के पृ॰ 3 पर ऊपर से सातवी पक्ति मे 16 वे अक्षर से पूर्व शब्द लिखा है, 'अगुढ़' जो मात्रा-विकृति का ही उदाहरण है। इसकी पुष्टि दूसरे चरण की तुक के शब्द 'दिगमूढ़' से हो जाती है। 'दिगमूढ़ मे लिपिक ने दीर्घ 'ऊ' की मात्रा ठीक लगाई है। 'मात्रा-विकृति' के रूप कई कारणो से बनते हैं 1—मात्रा लगाना ही भूल गये। यथा डॉ॰ माता प्रसाद गुप्त को 'सन्देश रासक' के 24 मे छन्द मे द्वितीय चरण मे 'णिहई' शब्द मिला है, डॉ गुप्त मानते हैं कि यहाँ 'आ' मात्रा भूल से छूट गई है। शब्द होगा 'णिहाई'। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने बताया है कि 'उ' बाद मे 'उ' तथा 'ओ' दोनो ध्वनियो के लिए प्रयुक्त होने लगा था। यथा—सन्देश रासक छद 72 ओसहे > उसहे। 2–यह विकृति दो मात्राओ मे अभेद स्थापित हो जाने से हुई हैं। ऐसे ही 'दिव' का 'दय'। 3–यह अनवधानता से हुआ है। 4–'स्मृति-भ्रम' से भी विकृति होती है, जैसे—'फरिसउ' लिखा गया 'फरुसउ' के लिए। 5वा कारण वह अनवधानता है जिसमे मात्रा कही की कहीं लग जाती है। यह 'मात्रा-व्यत्यय' इस शब्द मे देखा जा सकता है—'बिसु ठल्य लिखा मिला है 'विस ठुलय' के लिए।[2]

(आ) अक्षर-विकृत शब्द उन्हे कहेंगे जिनमे 'अक्षर' ऐसे लिखे गये हों कि उन्हे कुछ का कुछ पढ लिया जाय। डॉ॰ माहेश्वरी ने ऐसे अक्षरो की एक सूची प्रस्तुत की है,

1. 'सन्देश रासक' मे 100वें छन्द मे दूसरे चरण में 'पाडिल्लो' शब्द मिला है। डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त का मत है कि यह 'पडिल्ली' होगा यहाँ 'ई' का मात्रा-लेखन या पाठ प्रमाद से 'ओ' की मात्रा हो गयी। (भारतीय साहित्य—जनवरी, 1960, पृ॰ 103)। इससे भी डॉ॰ माहेश्वरी के उदाहरण की पुष्टि होती है। ऐसी मात्रा विकृति का कारण 'स्मृति भ्रम' भी हो सकता है।
2. भारतीय साहित्य (जनवरी 1960), पृ॰ 101, 104, 108।

जिसे अक्षरविकृति को समझने के लिए उदाहरणार्थ यहां दिया जाता है। उन्हें वर्गों के अनुसार दिया जा रहा है—

नागरी लिपि जन्य भूल

क वर्ग

क=फ। क,फ,क,फ

प=प।प=प

ग=म। ग,म,ग

ग=भ। " "

घ=घ

घ=ब

कु=उ। कु

ख=स्व

च वर्ग

झ=ल। झारी > लारी

ञ > ञ > ञ > ञ > ल

झ=अ। झल > अल

ञ > ऊ।

ढ़=ब। घ=ब

=घ (घ)

च=व

(च=च,व)

ज=त।ज ज=ज

त त त=त

च=ब।

च्य.च्य.च्य

झ=भु मु। (बंगला लिपि के कारण)

ट वर्ग

ड=म भ। डेरा>मेरा

म,ड,ड=म

उ=क। उड>उक। ड=द

ह ह ह = ड

ह=ढ।

ण्य=ण। ण्य, ण्य=ण्य

ट=ठ। ट ट ट

ड=उ। ड ड, उ

ट=द

ट=द

त वर्ग

थ=छ

घ अ=थ। थाप > छाप, छड़ी > थडी

घ. ब=छ

थ=ब। ब > ब। थोवडो > बोवडो

त=ट। त त त= त ट

घ=घ

न=त। न,न,न= न,त

द=व। द, द, द, द

न=ब (नचाई> बचाई)

न=र (कैथी में)

न=म। म, न

य > थ । थ > य
माय > माथ
ऋ = ऊ । ऊ = ऋ
ऋगी = ऊगी
द्व > ब । (ठ = ढ)
ड = क । ऊ = ड (ऊ ड)
डावड़ा > कावड़ा
ष > ब । (ब = ष)
लाष > लाब
रा > ए । ए > रा । (रा = ए)
क्र > त्रु । (क्र = क्र, 'ा' 'उ'
रव > च
हेरवो > हेरचो
द्य = य । (द्य = द्य)
चद्यो > चयो
सांद्या > साया
स्न > स । (स्न = स्न)
पस्न > पस

भ्रामक अक्षर रूप

ठ	ढ	ब	ऊ	ऊ	ब
ठ	ढ	ब	ड	ऋ	ष

ए	क्र	द्य	स्न=श्न
ए	क्र	द्य	पंक्ति 443 में

यह 'उ' की मात्रा भी हो सकती है । बंगाली लिपि का प्रभाव है ।

(इ) विभक्त अक्षर=विकृत शब्द, यथा—'ऊर्ध्व' को विभक्त करके 'ऊरध' लिखना इसी कोटि में आयेगा । 'ऊरध' 'तद्भव' माना जायेगा और पांडुलिपि की दृष्टि से यहाँ विभक्त-अक्षर है । 'ऊर्ध्व' का 'ऊर्ध' फिर 'ऊरध' । इसमें 'र' को 'ध' से विभक्त करके लिखा गया है । 'आत्म' को 'चन्द-चरित्र' में 'आतम' लिखा गया है । 'परिसह थी आतम गुण पुष्टी युगतिनी प्राप्ति विचारै है'

(पन्ना 82 चन्दचरित्र का हस्तलेख)

ऐसे ही अध्यात्म को 'अध्यातम' लिखा गया है ।

'लुवघो' मिलेगा, लुब्धो के लिए । 'चन्दचरित्र' (पत्रा 79 पूर्व)

(ई) युक्ताक्षर-विकृति-युक्त शब्द—शब्द परस्पर विभक्त न होकर युक्त हो और तब उनमें से किसी में भी यदि कोई विकार आ जाता है तो वे ऐसे ही वर्ग में आयेंगे, यथा—'कीर्तिलता' द्वितीय पल्लव छ० 7 में 'महाजन्हि' का एक पाठ 'महजन्हि' मिलता है । यह विकृति हमारे इसी वर्ग के शब्दों में आयेगी ।

इसी सम्बन्ध में आवट्टवट्ट विवट्टवट्ट' पर 'कीर्तिलता' के सजीवनी भाष्य में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल[1] ने जो टिप्पणी दी है वह इस प्रकार है

'आवट्ट वट्ट विवट्ट—श्री बाबूरामजी के सस्करण में 'अति बहुत भाति विवट्ट वट्टहिं' पाठ है और पाद टिप्पणी में वट्ट पाठान्तर दिया है । वस्तुत यहाँ पाठ-सशोधन की समस्या इस प्रकार है। मूल संस्कृत शब्द आवर्त-विवर्त के प्राकृत मे आवत्त-विवत्त और आवट्ट विवट्ट ये दो रूप होते हैं । (पासद्द 152, 998, 999) । सयोग से विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में तीनो शब्द-रूपो का प्रयोग किया है .

1—आवर्त विवर्त रोलहो, नअर नहि नर समुद्दओ (2 । 112)

2—आवत्त विवत्त पअ परिवत्ते जुग परिवत्तन माना (4 ।114)

इस प्रकार यह लगभग निश्चित ज्ञात होता है कि यहाँ अति बहुत्त वट्ट का मूल पाठ आवट्ट वट्ट ही था । विवट्ट वट्ट तो स्पष्ट ही है ।

' आवट्ट वट्ट विवट्ट वट्ट' में युक्ताक्षरो की विकृति की लीला स्पष्ट है । कीर्तिलता मे ही एक स्थान पर यह चरण है .

'पाइग्ग पअ भरे भउ पल्लानिआ उ तुरग' यहाँ 'पाइग्गा' शब्द 'पायग्गाट्ट का युक्ताक्षर विकृत शब्द है 'गा' का 'ग्गा' कर दिया गया है ।

इसी प्रकार 'ढोला मारू रा दूहा' 16 मे 'ऊलवे सिर हथ्थड़ा' इस दोहे के 'ऊलबी' शब्द का एक पाठ 'उक्कंबी'[2] भी है । इसमें 'ल' को क 'युक्ताक्षर' मानकर लिखा गया है, अत. यह भी इस वर्ग का शब्द रूप है ।

'चन्दचरित्र' की पाडुलिपि मे 83 वें पृष्ठ पर ऊपर से दूसरी पक्ति मे 'सज्जन उद्धरज्यो जी' को इस रूप मे लिखा गया है ।

सज्ऊन उद्धरज्यजी

इसमे युक्ताक्षर 'ज्य' को जिस रूप मे लिखा गया है उस रूप को विकृति माना जा सकता है ।

कवि हरचरणदास की 'कवि-प्रिया भरण' टीका है केशव की कवि प्रिया पर है उसकी एक पाडुलिपि 1902 की प्रतिलिपि है । उसमें 149वें पृष्ठ पर कवि ने अपना जन्म सवत् दिया है । प्रतिलिपिकार ने उसे यो लिखा है :

7 सत्रहसो सटि महीं कवि को जन्म विचारि ।

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण (डॉ०)—कीर्तिलता, पृ० 60-61 ।
2. मनोहर, शम्भूसिंह—ढोला मारू रा दूहा, पृ० 156 ।

युक्त अक्षर-विकृत-रूप' शब्द रेखांकित है। यह है छ्यासठ=66।

इस पृष्ठ से आगे के पन्ने मे कृष्ण से अपना सम्बन्ध बताने के लिये लिखा है कि

"पूरोहित श्रीनन्द के मुनि साडिल्ल महान।
हैं तिनके हम गोत मैं मोहन मो जजमान ॥16॥"

यहाँ 'साडिल्ल' मे 'युक्ताक्षर विकृति' स्पष्ट है, शाडिल्य 'साडिल्ल' हो गये हैं। यहाँ भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इसकी व्याख्या की जा सकती है. यह और बात है। अग्रसमीकरण से ल्य का 'य' 'ल' में समीकृत हो गया है, पर युक्ताक्षर की दृष्टि से विकृति भी विद्यमान है, इसीलिए इसे हम इस वर्ग मे रखते है।

(उ) घसीटाक्षर विकृति युक्त शब्द

कभी-कभी कोई पाडुलिपि 'घसीट' मे लिखी जाती है। त्वरा मे लिखने से लेख घसीट मे लिख जाता है। घसीट म अक्षर विकृत होते ही है। चिट्ठी-पत्रियो मे, सरकारी दस्तावेजो मे, दफ्तरी टीपो मे, ऐसे ही अन्य क्षेत्रो मे घसीट मे लिखना नियम ही समझना चाहिये। अधिकारी व्यक्ति त्वरा मे लिखता है और उसे अभ्यास ही ऐसा हो गया होता है कि उसका लेखन घसीट मे ही हो जाता है। इसी कारण कितने ही विभागो मे घसीट पढने का भी अभ्यास कराया जाता है और इस विषय मे परीक्षाएँ भी ली जाती है। स्पष्ट है कि घसीटाक्षरो को अभ्यास के द्वारा ही पढा जा सकता है। अभ्यास मे यह आवश्यक होता है कि घसीट-लेखक की लेखन-प्रवृत्ति को भली प्रकार समझ लिया जाय। उससे घसीट पढने मे सुविधा होती है।

(ऊ) घसीट की भाँति ही व्यक्ति-वैशिष्ट्य की दृष्टि से अलकरण-निर्भर-विकृति-युक्त शब्द भी कभी-कभी किन्ही पाडुलिपियो मे मिल जाते है। अलकरण युक्त अक्षर को भी पहले समझने पढने मे कठिनाई होती है।

'अलकरण' का अर्थ है किसी भी 'अक्षर' को उसके स्वाभाविक रूप मे सन्तुलित प्रकार से न लिखकर कुछ कलामय या अनोखा रूप देकर लिखना, उदाहरणार्थ : 'प'। यह 'प' का सन्तुलित रूप है. अब इसको लिपिकार कितने ही रूपो में लिख सकता है, अलकरण की प्रवृत्ति से अक्षररूपो के साथ शब्द-रूप भी बदलते हैं। हम अलकरण की प्रवृत्ति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे एक अक्षर के आधार पर देख सकते हैं। इसके लिए 'म' प्रक्षर को ले सकते हैं। देवनागरी मे 'अलकरण' की प्रवृत्ति ई० पू० की पहली शताब्दी से ही दृष्टिगोचर होने लगती है। इसे शताब्दी-क्रम से नीचे के फलक से समझा जा सकता है।

अशोक कालीन	ई० पू० पहिली पभोसा लेख	मथुरा	ई० पहिली मथुरा	दूसरी श० नासिक

दूसरी से चौथी कूड़ा	तीसरी जगायपेट	477–78 ई० पाली	571–72

छठी शताब्दी
ऊष्णीष विजय धारणी पुस्तक की होर्युजी (जापान)
मठ की प्रति के अन्त मे दी गई वर्ण माला से

7 वी शताब्दी मामलपुर

661 ई० कुडेश्वर

689 ई० झालरापाटन	8वी शती मावलीपुर	837 ई० जोधपुर	861 घटिश्राला	861 घटिमाला

11वी शती उज्जैन	1122 ई० तर्पडिधी	1185 ई० श्रसम

12 वीं
हस्ताकोल (पूरी वर्णमाला से)

इसी प्रकार अन्य अक्षरो म भी अक्षारालकरण मिलते हैं। ग्रन्थो मे भी इनका विविध रूप मे प्रयोग मिलता है, अत अलकरण के प्रभाव को समझकर ही 'शब्द-रूप' का निर्णय करना होगा। हस्तलेखो म से पाडुलिपियों मे मिलने वाले अलकरणो का कम सकलन हुआ है, किन्तु भारतीय शिलालेखो के अलकरणो पर चर्चा अवश्य हुई है। डॉ० अहमद हसन दानी ने 'इडियन पेलियोग्राफी' मे इस पर व्यवस्थित ढग से प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध मे उनकी पुस्तक से एक चित्रफलक अलकरण के स्वरूप को भारतीय लिपि मे दिखाने के लिए यहाँ देने का हम अपने लोभ का सवरण नही कर सकते (चित्र पृ 323 पर)

(ए) नवरूपाक्षर युक्त-शब्द

कभी-कभी पाडुलिपि मे हमे एसे शब्द मिल जाते हैं जिनमे कोई-कोई अक्षर अनोखे रूप मे लिखा मिलता है। यह अनोखा रूप एक तो उस युग मे उस अक्षर का प्रचलित रूप ही था, दूसरे लिपिकार की लेखनी से विकृत होने के कारण और अनोखा हो गया। इन दोनो प्रकारो पर 'लिपि समस्या' वाले अध्याय मे चर्चा हो चुकी है।

अलङ्कृत वर्णमाला

BILSAD INS. BHĀ MEHRAULI INS RĀ YASODHARMAN INS PĀ RĀ MAHANĀMAN INS. KĀ BHĀ BANSKHERA PL HĀ MADHUBAN PL HĀ

DHI DHI VI RI VI RI DHI

HĪ KĪ DHĪ DHĪ HI ŚRĪ

PU MU BHU YU KU ŚU GU PU

PŪ TTRŪ BHŪ MŪ BHŪ SŪ PŪ DŪ

ME VE ŚRE YE RE DE SE

YAI ÑCHAI DAI CHCHAI DAI VAI

LO TO YO TO PTO SO CHCHO

KAU RAU LAU NAU NAU SAU SAU

MRI SRI NRI KRI GRI

(ऐ) लुप्ताक्षरी शब्द

पाडुलिपि मे ऐसे शब्द भी मिल जाते हैं, जिनमें कोई अक्षर ही छूट गया है। ऐसे शब्दो का उद्धार 'प्रसग' को देखकर प्रयुक्त शब्द को जानकर लुप्ताक्षर की पूर्ति से होता है। कीर्तिलता मे एक चरण है, 'बादशाह जे बीराहिमसाही'। इसमे इबराहिम शाह का 'बिराहिम साह' हो गया है। सदेश रासक म 'सभ्भसिय' मे 'सज्झसिय' का 'ज' लुप्त है। लक है 'लक्क'।

(ओ) आगमाक्षरी

पाडुलिपियो मे ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनमे एक या दो अक्षरो का आगम होता है।

(औ) विपर्य्यस्ताक्षरी शब्द

मात्रा का विपर्यय तो देख चुके हैं, वर्ण-विपर्यय भी होता है। कभी-कभी भाषा-वैज्ञानिक नियमो से और कभी-कभी लेखक प्रमाद से भी अक्षर-विपर्यय हो जाता है।

(अं) संकेताक्षरी शब्द

सकेताक्षरी शब्दो की चर्चा ऊपर हो चुकी है। पूरे शब्द को जब उसके एक छोटे अश के द्वारा ही अभिहित कराया जाता है तो यह निरर्थक-सा छोटा अक्षर-सकेत पूरे शब्द के रूप म ही ग्राह्य होता है। 'स०' का प्रयोग 'सम्बत्सर' के लिए हुआ मिलता है। ऐसे ही प्रयुक्त सकेतो की सूची एक पूर्व के अध्याय मे दी जा चुकी है। पांडुलिपि-विज्ञानार्थी अपने लिए ऐसी सूचियाँ स्वय प्रस्तुत कर सकता है। नाम-सकेत की दृष्टि से 'अद्दहमाणा' हम देख चुके हैं कि इसमे अब्दुल' का सकेत 'अद्द और 'रहमाण' का सकेत हमान' है। ऐसे शब्द जिनमे सख्या से उस सख्या की वस्तुओ का ज्ञान होता है, सकेताक्षरी ही माने जायेंगे। कीर्तिलता मे आया दान पचम' भी ऐसा ही शब्द है।

(अ) विशिष्टार्थी शब्द

पाडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिए विशिष्टार्थी शब्दो का भेद महत्त्वपूर्ण है। यह रूप-गत नही है। कुछ शब्दो के कुछ विशिष्ट अर्थ होते हैं, और जब तक उन विशिष्ट अर्थो तक पाडुलिपि-विज्ञानार्थी नही पहुँचेगा उस स्थल का ठीक अर्थ नही हो सकेगा। ऐसे शब्दो के विशिष्ट क्षेत्रो का पता न होने के कारण सामान्य अर्थ किये जाते हैं, जिससे अर्थाभास मिलता है; यथार्थ अर्थ नही। ऐसे शब्दो से सामान्य अर्थ तक पहुँचने मे भी शब्दो और वाक्यो के साथ खींचातानी करनी पडती है,

यथा—

"कही कोटि गदा, कही वादि वदा
कही दूर रिक्काविए हिन्दु गन्दा ॥"[1]

अब इसका एक अर्थ हुआ—'करोडो गुण्डे', कही 'बादी बदे' आदि। दूसरा अर्थ हुआ 'बहुत से गदे लोग और बादि बदे' आदि। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने बताया है कि 'गदा' और 'वादि' विशिष्टार्थी शब्द हैं गन्दा फा० गोयन्द अर्थात् गुप्तचर, वादी भी विशिष्टार्थक है : वादी=फरियादी

इसी प्रकार कीर्तिलता 2/190 का चरण है
मषदूम नरावइ दोम जञो हाथ ददस दस णारओ।[2]

इसमे प्राय. सभी शब्द विशिष्टार्थ देने वाले है। उन अर्थों से अपरिचित व्यक्ति इस पक्ति का अर्थ खींचतान कर ऐसे करेंगे·

"मखदूम डोम की तरह दसो दिशाओ से हाथ मे भोजन ले आता है" (?) या

"मखदूम (मालिक) दशो तरफ डोम की तरह हाथ फैलाता है।"

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि "इस एक पक्ति मे सात शब्द पारिभाषिक प्राकृत और फारसी के हैं।" ये शब्द विशिष्ट या पारिभाषिक शब्द हैं यह न जानने से ठीक-ठीक अर्थ तक नही पहुँचा जा सकता। इनके विशिष्ट अर्थ ये बताये गये हैं :

1. अग्रवाल. वासुदेवशरण, (डॉ०)—कीर्तिलता, पृ० 93
2. वही, पृ० 108

1. मखदूम : भूत प्रेत साधक मुसलमानी धर्म-गुरु
2. नरावइ : ओसविया—अर्थात् जो नरक के जीवों या प्रेतात्माओं का अधिपति हो।
3. दोप : यातना देना
4. हाथ . शीघ्र, जल्दी
5 ददस हदस (अरबी)—प्रेतात्माओं को अगूठी के नग में दिखाने की प्रक्रिया।
6. दस दिखाता है।
7. णारओ : नरक के जीव, प्रेतात्माएँ

कीर्तिलता[1] में एक पंक्ति है

"सराफे सराहे भरे वे वि बाजू ।।"

"तोलन्ति हेरा लसूला पेआजू"। अर्थ करने वालों ने इसमें विशिष्टार्थक शब्दों को न पहचान सकने के कारण सराफे में लहसुन व प्याज और हल्दी तुलवा दी है। ठीक है, लसूला का अर्थ लहसुन स्पष्ट है। प्याज का अर्थ भी स्पष्ट है। एक ने 'हेरा' को हलदी मान लिया। किंचित् ध्यान देने से यह विदित हो जाता है कि एक तो इन अर्थों में 'प्रसग' पर ध्यान नहीं रखा गया। वर्णन सराफे का है। सराफे में जौहरी बैठते हैं'। वहाँ हलदी, लहसुन, प्याज जैसे खाने में काम आने वाले पदार्थ कहाँ ? तो 'प्रसग' पर ध्यान नहीं दिया गया। दूसरे, इन शब्दों के विशिष्ट अर्थ पर भी ध्यान नहीं गया। लसूला का अर्थ लहसुनिया नाम का रत्न, 'पेआजू' का अर्थ 'फीरोजा' नाम का रत्न, और हेरा 'हीरा' हो सकता है, इस पर ध्यान नहीं गया, जो जाना चाहिये था। इसी प्रकार 'कीर्तिलता'[2] में ही एक अन्य चरण है

"चतुस्सम पल्वल करो परमार्थ पुच्छहि मिआन"।

इसमें 'चतुस्सम' शब्द है। किसी विद्वान के द्वारा इसमें आये 'चतुस्सम' का सामान्य अर्थ 'चौकोन' या 'चौकोर' कर लिया गया। वस्तुत यह विशिष्टार्थक शब्द है। इसे लेकर हस्तलेखों के पाठों में भी गडबडझाला हुई है। वह गडबडझाला क्या है और इसका यथार्थ रूप और अर्थ क्या है, यह डॉ॰ किशोरीलाल के शब्दों में पढ़िये ·

"डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार जायसी-कृत पद्मावत में प्राप्त 'चतुरसम' पाठ को न समझने के कारण इसका पाठ 'चित्रसम' किया गया। फारसी में चित्रसम और 'चतुरसम' एक-सा पढ़ा जा सकता है, अतः 'चतुरसम' पाठ सम्पादक को क्लिष्ट लगा और 'चित्रसम' सरल। जायसी के मान्य विद्वान आचार्य प॰ रामचन्द्र शुक्ल ने 'चित्रसम' पाठ ही माना। यही नहीं कहीं-कहीं उन्होंने 'चित्रसव' पाठ भी किया है—

करिस्नान चित्र सब सारहुँ—जायसी ग्रन्थावली पृ॰ 121 ।। शुद्ध पाठ 'चतुरसम' ही है। इसे डॉ॰ अग्रवाल ने पूर्ववर्ती रचनाओं से प्रमाणित भी किया है, यथा-जायसी से दो शताब्दी पूर्व के 'वर्ण रत्नकार' में भी चतुःसम का प्रयोग मिला है—'चतुःसम हय लिये

1. वही, पृ॰ 95
2. वही, पृ॰ 145

मण्डु'—(वर्णरत्नाकर पृ० 13) वर्णरत्नाकर से भी दो शती पूर्व हेमचन्द्र के 'ग्रभिधान चिन्तामणि' से भी उन्होने इसे प्रमाणित किया है—

कर्पूरागुरुकक्कोल कस्तूरी चन्दनद्रवै । 3।302
स्याद यक्षकर्दमो मिश्रं र्वतिगात्रानुलेपनी ।
चदनागरु कस्तूरी कुकुमंस्तु चतुःसमन् ।
चन्दनादि चत्वारि समान्यत्र चतु समम्
ग्रभिधान चिन्तामणि 3।303

सबस पुष्ट प्रमाण रामचरित मानस मे मिला है—

बीथी सीची चतुरसम चौकें चारु पुराई
बालकाड 296।10, काशिराज सस्करण

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी 'चित्रसम' पाठ ही ग्रपनी जायसी ग्रन्थावली काशिराज सस्करण मे माना था लेकिन मानस के ऐसे प्रयोग को देख लेने पर उन्होने ग्रपने पूर्व पाठ को त्याग दिया। चतुरसम 'सस्कृत' के 'चतु सम' शब्द का विकृत रूप है, जिसका ग्रर्थ-चदन, ग्रगरु, कस्तूरी ग्रौर केसर का समान ग्रश लेकर निर्मित सुगध है।"[1]

शिलालेखो ग्रौर ग्रभिलेखो मे ग्राने वाले पारिभाषिक ग्रौर विशिष्टार्थक शब्दो पर विस्तार से विचार किया गया है, डी० सी० सरकार कृत 'इडियन एपीग्राफी' मे ग्राठवें ग्रध्याय मे जिसका शीर्षक है 'टेकनीक्ल ऐक्सप्रेशन'।

(क) संख्या-वाचक शब्द

शिलालेखो, ग्रभिलेखो ग्रौर पाडुलिपियो मे ऐसे शब्द मिलते हैं जिनका ग्रपना ग्रभिधार्थ नही लिया जाता। उनसे जो सख्या-बोध होता है, वही ग्रहण किया जाता है मानो वह शब्द नही सख्या ही हो। इस पर ऊपर के ग्रध्याय मे विचार किया जा चुका है। यहाँ तो इस ग्रोर ध्यान ग्राकर्षित करने के लिए इसे शब्द-भेद माना है कि पाडुलिपि मे ग्राये शब्दो का एक वर्ग संख्या का काम भी देता है, ग्रत, ऐसे शब्द-रूपो को सख्या-रूप मे ही मान्यता दी जानी चाहिये।

(ख) वर्तनी च्युत शब्द

ये ऐसे शब्द होंगे जिनमे वर्तनी की भूल हो गई हो, जैसे-'चदचरित्र' मे पहले पन्ने म दूसरी पक्ति मे 'सिंधु शलिल प्रवाह' ग्राया है। यहाँ 'शलिल' वर्तनी च्युति है। 'मात्रा विकृति' कही कही छद की तुक या ग्रन्य कारणो से जान बूझ कर कवि को करनी पडती है, उसे विकृति या वर्तनी-च्युति नहीं माना जायगा, किन्तु ऊपर के उदाहरण मे 'स' के स्थान पर 'श' वर्तनी च्युति ही है। इसी प्रकार उसी पन्ने पर 11वी पक्ति मे है: 'जब वार सार'

इसमे भी 'जबूतरुसार' मे 'तरु' को 'तरू' लिखने मे वर्तनी च्युति है।

(ग) स्थानापन्न शब्द (भ्रमात् ग्रथवा ग्रन्यथा)

किसी चरण मे एक शब्द ऐसा ग्राया है कि ग्रध्येता को समझ मे नही ग्रा रहा,

1 किशोरीलाल-सम्मेलन-पत्रिका (भाग 56 अक 2–3), पृ० 179–180

अत: वह यह मान लेता है कि यह कोई शब्द नहीं है तब, उसके स्थान पर कोई अन्य सार्थक शब्द रखकर अपना अर्थ निकाल लेता है। इस प्रकार रखे गये शब्द ही स्थानापन्न कहे जायेंगे। पांडुलिपि-विज्ञानार्थी को ऐसे शब्दों को पहचानने का अभ्यास अवश्य होना चाहिये।

इसका एक उदाहरण डॉ० अग्रवाल द्वारा सम्पादित 'कीर्तिलता' से ही और लेते हैं। 'कीर्तिलता' 2।190 के चरण पर पारिभाषिक शब्दावली की दृष्टि से विचार किया जा चुका है। उसी में 'णारओ' पर डॉ० अग्रवाल ने जो टिप्पणी दी है उससे 'स्थानापन्नता' पर प्रकाश पड़ता है। उनकी टिप्पणी इस प्रकार है [1]

'णारओ—नरक के जीव, प्रेतात्मा। स० नारक>प्रा० णारय-नरक का जीव (पासद्० 478)। यहाँ श्री बाबूराम सक्सेना जी की प्रति में 'ख' प्रति का पाठ 'नारओ' पाद टिप्पणी में दिया हुआ है, वही वस्तुत. मूल-पाठ था। जब इस पंक्ति का शुद्ध अर्थ ओभल हो गया तब अर्थ को सरल बनाने के लिए द्वारओ यह अप-पाठ प्रचलित हुआ। स्पष्ट है कि मूल 'नारओ' के स्थान पर 'द्वारओ' शब्द किसी लिपिकार ने स्थानापन्न कर दिया। 'णरओ' से वह परिचित नहीं था, अत. उसे अपनी सूझ बूझ से 'द्वारओ' शब्द ठीक लगा।"

फलत पाडुलिपि-विज्ञानार्थी को हस्तलेखों मे स्थानापन्नता की बात-भी ध्यान मे रखनी होगी।

(घ) अपरिचित शब्द

हस्तलेख या पाडुलिपियाँ सहस्रों वर्ष पूर्व तक की मिलती है। वह युग हमारे युग से अनेक रूपो मे भिन्न होता है। लिपि भिन्न होती है, शब्द-कोष भी भिन्न होता है, शब्दों के अर्थ भी भिन्न होते हैं। लिपि की समस्या हल हो जाने पर शब्दों की समस्या सामने आती है। ऊपर जो शब्द-रूप बताये गये है, उनके साथ ही ऐसे शब्द भी हो सकते हैं, जिनसे हम अपरिचित हो। एक लिपिकार ने अपरिचित शब्द के साथ जो व्यवहार किया उसे हम अभी ऊपर देख चुके हैं। उसने अपरिचित शब्द को हटा ही दिया। उसका तर्क रहा होगा कि "वह स्वय जब 'णारओ' शब्द को नही जानता तो ऐसा कोई शब्द हो ही नही सकता"। उसने अपनी सूझबूझ से उससे मिलता-जुलता परिचित शब्द वहाँ रख दिया पर उसका उस तरह सोचना समीचीन नही था, अत अपरिचित शब्द को अपरिचित मान कर उसके अनुसधान मे प्रवृत्त होना चाहिये और उस युग की शब्दावली को देखना चाहिए, जिस युग का वह ग्रन्थ है, जिसमे वह अपरिचित शब्द मिला है।

अपरिचित शब्दरूप मे ऐसे शब्द भी आयेंगे जिनके सामान्य अर्थ से हम भले ही परिचित हो पर उसका विशिष्ट अर्थ भी होता है। वे किसी ऐसे क्षेत्र के शब्द हो सकते हैं, जिनसे हमारा परिचय नही, और विशेषत: उस युग के विशिष्ट क्षेत्र की शब्दावली से जिस युग मे वह पाडुलिपि प्रस्तुत की गयी थी। प्राचीन काव्यों मे ऐसे विशिष्ट शब्द पर्याप्त मात्रा मे मिल सकते हैं।

प्रथमतः परिचित लगने वाले किन्तु मूलत. विशिष्टार्थक ऐसे शब्द-रूपो की चर्चा

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ०)—कीर्तिलता, पृ० 110

ऊपर हो चुकी है । यहाँ 'अपरिचित रूप' की दृष्टि से 'कीर्तिलता' से एक और उदाहरण दे रहे हैं :

कीर्तिलता के 2।33 वें दोहे का पाठ डॉ० अग्रवाल[1] ने यों दिया है ,

"हट्टहि हट्ट भमन्तओ दूअओ राज कुमार ।।214
दिट्ठि कुतूहल कज्ज रस तो इट्ठ दरबार ।।215।।"

इस दोहे मे 'कज्ज रस' दो शब्द हैं । इन शब्दो के रूपो से प्रथमत हम अपरिचित नही प्रतीत होते , किन्तु युगीन शब्दावली की दृष्टि से ये विशिष्टार्थक है अत इन्हे अपरिचित माना जा सकता है । प्रसग दरबार का है अत उस सन्दर्भ मे इसका अर्थ ग्रहण करना होगा । डॉ० अग्रवाल की 'कज्ज' और 'रस' पर टिप्पणी पठनीय है । वे लिखते हैं :

"215 कज्ज = आवेदन, न्यायालय या राजा के सामने फरियाद । स० कार्य > प्रा. कज्ज का यह एक पारिभाषिक अर्थ भी था । कार्य = अदालती फरियाद । (स्वैरालापे स्त्री वयस्यापचारे कार्यारम्भे लोकवादाश्रये च । क श्लेष कण्ठशब्दाक्षराणा पुष्पापीडे कण्टकाना यथैव ।। पद्मप्राभृतकम् श्लोक 18 ।। कार्यारम्भ का अर्थ यहाँ लिखित फरियाद या अदालती अर्जी दावा है । 'पादताडितकम्' मे अर्जी देने वाले वादी या फरियादी लोगो को कार्यक कहा गया है, 'अधिकरणगताऽपि कोशता कार्यकाणाम्' । कालिदास ने भी कार्य शब्द इस अर्थ मे प्रयुक्त किया है । वहिर्निष्क्रम्य ज्ञायता क क कार्यार्थोति (मालविकाग्निमित्र, आप्टे, मोनियर विलियम्स स० कोश) । रस-स० रस√ > प्रा० रस = चिल्लाकर कहना ।

कज्ज रस = अपनी फरियाद कहने के लिए ।

स्पष्ट है कि कज्ज या कार्य और रस दोनो अतिपरिचित शब्द है पर प्रसग विशेष से अर्थ पर पहुँचने के लिए मूलत अपरिचित हैं । ऐसे शब्दो को विशिष्टार्थक कोटि मे रखा जा सकता है, पर क्योकि ये रूपत विशिष्टार्थक नही सामान्य ही लगते हैं, अत इन्हें 'अपरिचित' कोटि में रखा जा सकता है ।

अब एक उदाहरण अपरिचित शब्द की लीला का 'काव्य निर्णय' के दोहे मे देखिये ।

'चन्दमुखिन के कुचन पर जिनको सदा बिहार ।

'अहह करें ताही करन चरबन फेरबदार ।।' 'चरबन फेरबदार' पर टिप्पणी करते हुए डॉ० किशोरीलाल[2] ने जो लिखा है उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है । इससे अपरिचित शब्दो की लीला स्पष्ट हो सकेगी । डॉ० किशोरीलाल ने सम्मेलन पत्रिका मे लिखा है :

"इस (चरबन फेरवदार) का पाठ विभिन्न प्रतियों मे किस प्रकार मिलता है उसे देखें—

(1) भारत जीवन प्रेस काशीवाली प्रति का पाठ-'चखन फेरवदार'
(2) बेलवेडियर प्रेस प्रयाग वाली प्रति का पाठ-'चिरियन फेरवदार'
(3) वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई की प्रति का पाठ-'चखदन फेरवदार'
(4) कल्याण दास ज्ञानवापी वाराणसी का पाठ-'चखन फेरवदार'

1. वही, पृ० 120-121
2. किशोरीलाल, (डॉ०)—सम्मेलन पत्रिका (भाग 56, सख्या 2-3) पृ० 181-182

वास्तव मे फेरवदार[1] का अर्थ शृगालिनी है, उसे न समझने के कारण 'फेखदार' आदि पाठ स्वीकार किया गया और चर्वण के अर्थ से अनभिज्ञ रहने के कारण 'चखन' आदि मन-गढन्त पाठो की कल्पना करनी पडी। इस प्रकार के पाठ गढन्त के नमूने अन्यत्र भी मिलते है। ब्रजभाषा के पुराने टीकाकार सरदार कवि ने "रसिक प्रिया" की टीका मे इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख किया है कि किस तरह लौच (रिश्वत) शब्द से परिचित न रहने के कारण, लोगो ने किसी-किसी प्रति मे लोच कर दिया है। 'लोच' शब्द वाली पक्तियाँ है

'जालगि लाच लुगाइन दै दिन नानन चावत साँझ पहाऊँ"

रसिक प्रिया', केशवदास 5/12 प्र० स० पृ० 75 नवल किशोर प्रेस, लखनऊ।

, पाषाण मुद्रणालय, मथुरा स प्रकाशित ग्वालकवि कृत 'कवि-हृदय-विनोद' मे एक शब्द 'बाघनीपौरि' मिला है। इस शब्द से परिचित न रहने के कारण 'ग्वाल रत्नावली' के सम्पादक न 'बाधनी' और 'पौरि' दो भिन्न शब्दो की कल्पना करली और 'पौरि' की टिप्पणी दी है 'घर मे' जो अर्थ की दृष्टि स नितान्त अशुद्ध है। 'सक्षिप्त शब्द-सागर', मे भी इस शब्द के शुद्ध अर्थ को देखा जा सकता था। वहाँ इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है 'बाघनीपौरि'-पशुओ के बाधने का स्थान (सक्षिप्त शब्द सागर, पृ० 803)। बाघनीपौरि वाली पक्तियाँ है—'फिर बाधनी पौरि सुहावनि है (कविहृदयविनोद, पृ० 89)। इसी प्रकार 'कविहृदयविनोद' के अन्य छन्द के पाठ की दुर्गति ही नही की गई वरन् उसका बडा विचित्र रूप देखने का मिला है

"खासो है तमासा चलि देख सुखमा सो बीर,
कुज मे भवासी है मयूर मजु लाल की।
चाह चादनी की वर विमल बिछावन पै,
चदवा तन्यो है, रविनाती रगलाल की।"

अतिम अश होना तो चाहिये- री बनाती रगलाल की।' किन्तु सम्पादक जी ने उसे 'रविनाती' (सूर्य का नाती) समझा।[2]

इस उद्धरण से और इसमे दिये उदाहरणो से अपरिचित शब्दो की पाडुलिपि-विज्ञान की दृष्टि से लीला सिद्ध हो जाती है।

कुपठित

इन रूपो के अतिरिक्त शब्द की दृष्टि से कुपठित' शब्द की ओर भी ध्यान जाना चाहिये। 'कुपठित' शब्द उन शब्दो को कहते हैं, जो लिपिकार ने तो ठीक लिखे हैं किन्तु पाठक द्वारा ठीक नही पढे जा सके। एक शब्द था त्रसरेणु। 'त्रसरेणु' ही लिखा गया था किन्तु 'त्र' के चिमटे की दानो रेखाएँ परस्पर मिल-सी रही थी, अत 'व' पढी गई। 'व' पढने से अर्थ ठीक नही बैठ रहा था, तब सम्पादक ने आतिशी शीशे (Magnifying glass) की सहायता ली तो समझ मे आया कि यह 'व नही त्र है, और 'कुपठित' शब्द सुपठित हो

1. यह शब्द 'फेरू-दार' होगा। फेरु=शृगाल, अत फेरव=श्रगाल और दार=दारा, स्त्री=शृगालिनी
2. किशोरीलाल,-सम्मेलन-पत्रिका (भाग 56, सख्या 2-3), पृ० 181-82

गया, तथा ग्रर्थ ठीक बैठ गया , ग्रत. ऐसे कुपठित शब्दो के जाल से भी बचने के उपाय पाडुलिपि-विज्ञानार्थी को करने होगे ।

यहाँ तक हमने शब्दरूपो की चर्चा की । लिपि के उपरान्त शब्द ही इकाई के रूप म उभरते हैं—ग्रौर ये शब्द ही मिलकर चरण या वाक्य का निर्माण करते हैं । ये चरण या वाक्य ही किसी भाषा की यथार्थ इकाई होते हैं । शब्द तो इस इकाई को तोडकर विश्लेषित कर ग्रर्थ तक पाठक द्वारा पहुँचने की सोपानें हैं । यथार्थ ग्रर्थ शब्द मे नही सार्थक शब्दावली की सार्थक वाक्य-योजना मे रहता है । वस्तुत किसी भी पाडुलिपि का निर्माण या रचना किसी ग्रर्थ को ग्रभिव्यक्त करने के लिए ही होती हैं । यह विश्लेषित शब्द यदि ग्रपने ठीक रूप मे ग्रहण नही किया गया तो ग्रर्थ भी ठीक नही मिल सकता । भर्तृहरि ने 'वाक्य-पदीय' मे बताया है :

"ग्रात्मरूप यथा ज्ञाने ज्ञेय रूपच दृश्यते
ग्रर्थरूप तथा शब्दे स्वरूपश्च प्रकाशते ।"

ग्रर्थात् ज्ञान जैसे ग्रपने को ग्रौर ग्रपने ज्ञेय को प्रकाशित करता है उसी प्रकार शब्द भी ग्रपने स्वरूप को तथा ग्रपने ग्रर्थ को प्रकाशित करता है ।[1]

शब्द के साथ ग्रर्थ जुडा हुग्रा है । ग्रर्थ से ही शब्द सार्थक बनता है । यह सार्थकता शब्द मे यथार्थत. पदरूप से ग्राती है । वह वाक्य मे जो स्थान रखता है, उसके कारण ही उसे वह ग्रर्थ मिलता है जो कवि या कृतिकार को ग्रभिप्रेत होता है ।

ग्रर्थ समस्या

पाडुलिपि-विज्ञानार्थी के लिए ग्रर्थ की समस्या भी महत्त्व रखती है । ग्रर्थ ही तो ग्रथ की ग्रात्मा होती है । 'शब्द-रूप' की समस्या तो हम देख चुके हैं कि मिलित शब्दावली मे से ठीक शब्द-रूप पर पहुँचने के लिए भी ग्रर्थ समझना ग्रावश्यक है ग्रौर ठीक ग्रर्थ पाने के लिए ठीक शब्द-रूप । यहाँ एक ग्रौर उदाहरण 'कीर्तिलता' से लेते हैं । डॉ० वासुदेवशरण ग्रग्रवाल ने यह भूमिका देते हुए कि "इन पूर्व टीकाग्रो मे कीर्तिलता के ग्रर्थों की जो स्थिति थी उसकी तुलना वर्तमान सजीवनी टीका के ग्रर्थों से करने पर यह समझा जा सकेगा कि कीर्तिलता के ग्रर्थों की समस्या कितनी महत्त्वपूर्ण थी ग्रौर उसे किस प्रकार उलझा हुग्रा छोड दिया गया था ।" ग्रपने इस कथन का पुष्ट करने के लिए उन्होंने बहुत-से स्थलो की चर्चा की है । इसी सन्दर्भ मे पहली चर्चा है इस पक्ति की .

(1) भेग्र करन्ता मम उवइ दुज्जन वैरिण होइ । 1/22

डॉ० ग्रग्रवाल ने इस पर लिखा है कि—

"बाबूरामजी ने 'मेग्रक हन्ता मुज्झुजइ' पाठ रखा है जो 'क' (प्रति) का है । ग्रक्षरो को गलत जोड देने से यहाँ उन्होंने ग्रर्थ किया है—यदि दुर्जन मुझे काट डाले ग्रथवा मार डाले तो भी वैरी नहीं । उन्होंने टिप्पणी मे 'भेग्र कहन्ता' देते हुए ग्रर्थ दिया है—'यदि दुर्जन मेरा भेद कह दे !' शिवप्रसाद सिंह ने इसे ही ग्रपनाया है । वास्तव मे 'ग्र' प्रति से इसके मूल पाठ का उद्धार होता है । मूल का ग्रर्थ है—मर्म का भेद करता हुग्रा दुर्जन पास

1. डा० किशारीलाल के निबन्ध 'प्राचीन हिन्दी काव्य पाठ एवं ग्रर्थ विवेचन' से उद्धृत । सम्मेलन पत्रिका (भाग 56, स० 2–3), पृ० 187 ।

आवे तो भी शत्रु नही होगा । 'उवई'<प्राकृत-अवहट्ठ धातु है, जिसका अर्थ पास आना है ।[1]

इस विवेचन से एक ओर तो यह स्पष्ट होता है कि 'मिलित शब्दावली' मे से शब्द-रूप बनाते समय अक्षरो को गलत जोड देने से गलत शब्द बन जाता है । भेअकहुन्ता । करन्ता, मे से 'भेअक' बनाने मे 'कहुन्ता' या 'करन्ता' के 'क' को भेअ से जोडकर 'भेअक' बना दिया है, यह गलत शब्द बन गया । इससे अर्थ गलत हो गया, उलझ गया और समस्या बना रह गया ।

दूसरी यह बात विदित होती है कि एक अपरिचित शब्द 'उवह' पूर्व टीकाकारो ने ग्रहण नही किया । यह प्राकृत अवहट्ठ का रूपान्तर था ।

अत अर्थ-समस्या के दो कारण ये प्रकट हुए

1 मिलित शब्दावली मे से ठीक शब्द-रूप का न बनना, और

2. किसी अपरिचित शब्द को परिचित शब्दो की कोटि मे लाने की असमर्थता ।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने *'सन्देश-रासक' के समस्यार्थक स्थलो पर प्रकाश डालते* हुए 'आरद्द' शब्द के सम्बन्ध मे बताया है कि 'आरद्द' शब्द का यह अर्थ (अर्थात् जुलाहा) अज्ञातपूर्व अवश्य है । देशीनाममाला कोश मे उन्हे यह शब्द नही मिला, हाँ, 'आरद्ध' मिला और 'आरद्ध' अग्र समीकरण से 'आरद्द' हो सकता है । 'आरद्ध' के अर्थ कोश मे दिये हैं : प्रवद्ध, सतृष्ण और गृह में आया हुआ । तन्तुवाय या जुलाहा अर्थ नही हैं । उधर टीकाकारो ने इसका अर्थ 'जुलाहा' किया है—आगे कवि ने अपने को कोरिय या कोरिया लिखा भी हैं , अत जुलाहा तो वह था । इसलिए डॉ० द्विवेदी ने यह निर्देश भी दिया है कि ' किसी शब्द के अन्य ग्रन्थो मे न मिलने मात्र से उसके अर्थ के विषय मे शका उठाना उचित नहीं हैं । सम्भव है किसी अधिक जानकार को वह शब्द अन्यत्र मिल भी जाय ।"[2]

इस कथन से यह तो सिद्ध हो गया कि 'आरद्द' शब्द पक्की तरह से अपरिचित शब्द है, रूप मे भी और अर्थ मे भी, वरन् उसके अर्थ का स्रोत केवल टीकाएँ हैं । इन टीकाओ ने यह अर्थ आरद्द का किस आधार पर किया, किस प्रमाण से इसे सिद्ध किया, यह भी हमे विदित नही ।

अत: कही-कही अर्थ समस्या उक्त प्रकार से एक नया रूप ले लेती है । शब्द अपरि-*चित अर्थ परिचित किन्तु अप्रामाणिक आधार पर जिसका स्रोत तक ज्ञात नही । अर्थ परि-*चित हैं क्योकि ग्रन्थ की टीका मे मिल जाता है । टीका का स्रोत क्या है यह अविदित है ।

इसी पद्य मे एक और प्रकार से अर्थसमस्या पर विचार किया गया है । वह है 'मी र से ण (न) स्स' पर व्याकरण की दृष्टि से विचार । पद्य मे 'मी र से ण स्स' शब्द है, टीकाकारो ने 'मी र से नाख्य' रूप मे इसकी व्याख्या की है । अर्थ की यह समस्या डॉ० द्विवेदी ने यो प्रस्तुत की हैं ।

'आरद्दो मीरसेणस्स' का अर्थ 'आरद्दो मीरसेनाख्य.' नही हो सकता । 'मीरसेणस्स' षष्ठयन्त पद है, उसकी व्याख्या 'मीर सेनाख्य ' प्रथमात पद के रूप मे नही होनी चाहिये ।'

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण (डॉ०)—कीर्तिलता, पृ० 19-20 ।
2. द्विवेदी, हजारीप्रसाद—संदेश रासक, पृ० 11 ।

स्पष्ट है कि टीकाकारों ने व्याकरण रूप पर (मीरसेन का प्रयोग षष्ठ्यन्त में है इस पर) ध्यान नहीं दिया, अतः अर्थ की समस्या जटिल हो गयी। अर्थ की दृष्टि से व्याकरण के प्रयोग पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है।

इसे भी स्पष्ट करते हुए डॉ० द्विवेदी लिखते हैं कि 'कम से कम आरद्द' को 'गृह आगत' करने मे 'मीरसेणस्स' की सगति बैठ जाती है। 'आरद्द' शब्द का अर्थ तन्तुवाय' न भी होता हो तो यह अर्थ ठीक बैठ जाता है। "मीरसेन के घर आया हुआ, (विशेषण विच्छित्ति वश जुलाहा भी) उसी का पुत्र कुल-कमल प्रसिद्ध अद्दहमाण हुआ।" यह अर्थ ठीक जमता है।[1]

व्याकरण पर ध्यान न देने से भी अर्थ-समस्या जटिल हो जाती है, यह इस उदाहरण स सिद्ध है।

सन्देश रासक के ही एक शब्द के सम्बन्ध म डॉ० द्विवेदी ने यह स्थापना की है कि शब्द के जिस रूपान्तर को अर्थ के लिए ग्रहण किया गया है वह न केवल व्याकरण सम्मत ही होना चाहिये, भाषा-शास्त्र द्वारा अनुमोदित भी होना चाहिये, तभी ठीक अर्थ प्राप्त हो सकता है। यह स्थापना उन्होने 'अद्धुड्डीणउ' शब्द पर विचार करते हुए की है। इस शब्द का अर्थ टिप्पणकार ने बताया है'अर्द्धोद्विग्न' (= आधा उद्विग्न) और अवचूरिकाकार ने 'अध्वोद्विग्न' (= रास्ता चलने से उद्विग्न या थका हुआ-सा)। यह अर्थ इसलिए किया गया कि दोनो ने उड्डीण को उद्विग्न का रूपान्तर मान लिया। द्विवेदी जी ने बताया है कि स० रा० मे उद्विग्न का रूपान्तर 'उव्विन्न' हुआ है, और कई स्थलो पर आया है फिर यहाँ उद्विग्न का रूप उव्विन्न ही होना चाहिये था 'उड्डीण' नही। उड्डीण' भाषा शास्त्र से उद्विग्न का रूपान्तर नहीं ठहर सकता, अतः इसका अर्थ उद्विग्न भी नही किया जा सकता। 'उड्डीण' का अर्थ 'उडता हुआ' और पूरे शब्द का अर्थ होगा आधा उडता हुआ-सा।[2]

अर्थ की समस्या का एक कारण होता है—किसी शब्द-रूप के बाह्य-साम्य से अर्थ कर बैठना। स०रा० मे एक शब्द है 'कोसिल्लि' इसका बाह्यसाम्य कुशल' से मिलता है, अत टिप्पणक और अवचूरिका म (श०22) इसका अर्थ कुशलेन अर्थात् कुशलतापूर्वक' कर दिया गया। पर 'देशीनाममाला' म इस शब्द का अर्थ दिया गया है प्राभृतम्। स्पष्ट है कि टिप्पणक और अवचूरिका म लेखकों ने इस शब्द के यथार्थ अर्थ को ग्रहण करने का प्रयत्न नही किया। प्राभृतम् अर्थ ठीक है, यह डॉ० द्विवेदी का अभिमत है।[3]

शब्द-रूप को अर्थ की दृष्टि से समीचीन मानन मे छन्द की अनुकूलता भी देखनी होती है। डॉ द्विवेदी ने स०रा० मे 'उरहुवइण केणइ विरहज्झल पुणावि अगं परिहिसयहिं' मे बताया है कि छन्द की दृष्टि से इसमे दो मात्राएँ अधिक होती हैं। उनका सुझाव है कि 'सो' तथा 'ज' प्रति के पाठ मे 'विरहहुव' शब्द है, 'विरहज्झल' के स्थान पर यही ठीक है। 'हुव' का अर्थ अग्नि है। इसी अर्थ मे स०रा० मे अन्यत्र भी आया है। इसी प्रकार छन्द-दोष भी दूर हो जाता है, इसीलिए डॉ० द्विवेदी इसे कविसम्मत भी मानते हैं।

1 द्विवेदी, हजारीप्रसाद—सदेश-रासक, पृ० 12।
2 वही, पृ० 21।
3. वही, पृ० 53।

इस प्रकार हमने पाडुलिपि की दृष्टि से अर्थ की समस्या को विविध पहलुओ से देखा है। इसमे हमने पाडुलिपियो के अर्थ-विशेषज्ञो के साक्ष्यो का सीधे उपयोग किया है।

किन्तु इसी के साथ सामान्यतः अर्थ-ग्रहण के उपायो का शास्त्र म (काव्य-शास्त्र मे) जिस रूप मे उल्लेख हुआ है, उसका भी विवरण अत्यन्त सक्षेप मे दे देना उचित होगा।

काव्य शास्त्र द्वारा प्रतिपादित तीन शब्द शक्तियो से सभी परिचित हैं, वे हैं अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना।

एक शब्द के कोष मे कई अर्थ होते हैं। स्पष्ट है कि कितने ही शब्द अनकार्थी होते हैं, किन्तु एक रचना मे एक समय मे एक ही अर्थ ग्रहण किया जा सकता है ऐसी 14 बातें काव्य-शास्त्रियो ने बतायी हैं जिनके कारण अनेकार्थी शब्दो का एक ही अर्थ माना जाता हैं, ये 14 बातें हैं 1 सयोग, 2 वियोग, 3 साहचर्य, 4 विरोध, 5 अर्थ, 6 प्रकरण, 7. लिंग, 8 अन्य सान्निधि, 9 सामर्थ्य, 10 औचित्य, 11 देश, 12 काल, 13. व्यक्ति, एव 14 स्वर।

किसी भी शब्द का एक अर्थ पाने के लिए इन बातो की सहायता ली जाती है। इनका विस्तृत ज्ञान *किसी भी काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ (जैसे—काव्य प्रकाश) से किया जा सकता* है। वस्तुत इतना तो किसी भी अर्थ को प्राप्त करने के लिए प्रारम्भिक ज्ञान ही माना जा सकता है।

इस सम्बन्ध मे आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने जो चेतावनी दी है, वह ध्यान मे रखन योग्य है। वे कहते हैं, "प्राचीन कवियो के प्रयुक्त शब्दो का अर्थ करने मे विशेष सावधानी की आवश्यकता है। एक ही शब्द विभिन्न प्रदेशो मे विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है।" इस वाक्य मे आचार्य महोदय ने देशभेद से शब्दार्थ-भेद की ओर सकेत किया है, अत अर्थ-ग्रहण के लिए ग्रन्थ और लेखक के देश का भी ध्यान रखना होता है। यही बात काल के सम्बन्ध मे भी है। कालभेद से भी शब्दार्थ-भेद हो जाता है।

विशिष्ट ज्ञान, जो पाडुलिपि-विज्ञानार्थी म अपेक्षित है, उसकी ओर कुछ सकेत ऊपर किये गये हैं। विविध विद्वानो के अर्थानुसधान के प्रयत्न भी उनके उद्धरणो और उदाहरणो सहित बताय गये हैं। इनसे अर्थ तक पहुँचने की व्यावहारिक प्रक्रियाओ का ज्ञान होता है। उससे मार्ग का निर्देश मात्र होता है।

□□□

अध्याय 9

रख - रखाव

पाडुलिपियो के रख-रखाव की समस्या

पाडुलिपियो के रख-रखाव की समस्या भी अन्य समस्याओ की भाँति ही बहुत महत्वपूर्ण है। हम यह देख चुके हैं कि पाडुलिपियाँ ताड़पत्र, भूर्जपत्र, कागज, कपडा, लकडी, रेशम, चमडे, पत्थर, मिट्टी, चाँदी, सोने, ताँबे, पीतल, काँसे, लोहे, सगमरमर, हाथीदाँत, सीप, शख आदि पर लिखी गई हैं, अत रख-रखाव की दृष्टि से प्रत्येक की अलग-अलग देख रेख आवश्यक होती है।

डॉ० गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने बताया है कि "दक्षिण की अधिक ऊष्ण हवा मे ताडपत्र की पुस्तकें उतने अधिक समय तक रह नही सकती जितनी कि नेपाल आदि शीत देशो मे रह सकती हैं।"[1]

यही कारण है कि उत्तर मे नेपाल मे ताडपत्र पुस्तको की खोज की गई तो ताड-पत्र की पुस्तकें अच्छी दशा में मिली। इसी कारण से 11वी शताब्दी से पूर्व के ग्रन्थ कम मिलते हैं। 11वी शती से पूर्व के ताडपत्र के ग्रन्थ इस प्रकार मिले हैं—

दूसरी ईस्वी शताब्दी	एक नाटक की पाडुलिपि का अश जो त्रुटित है।	
चौथी ईस्वी शताब्दी	ताडपत्र के कुछ टुकडे।	काशगर से मैकॉर्टिन द्वारा भेजे हुए।
छठी ईस्वी शताब्दी	1. प्रज्ञापारमिता-हृदय-सूत्र। 2 ऊष्णीष विजय-धारणी (बौद्ध ग्रन्थ)।	जापान के होरियूजी मठ मे।
सातवी ईस्वी शताब्दी	स्कन्द-पुराण।	नेपाल ताडपत्र सग्रह।
नवी (859 ई०) शताब्दी	परमेश्वर-तन्त्र।	कैंब्रिज सग्रह मे।
दसवी (906 ई०) शताब्दी	लकावतार।	नेपाल के ताड़पत्र संग्रह में।

और बस।

यही स्थिति भोजपत्र पर लिखी पुस्तको की है। ये भूर्जपत्र या भोजपत्र पर लिखी पुस्तकें अधिकाश काश्मीर से मिली हैं —

1. भारतीय प्राचीन लिपि-माला, पृ० 143।

दूसरी-तीसरी शताब्दी ई०	धम्मपद) भाषा—प्राकृत,) लिपि—खरोष्ठी ।)	खोतान (मध्य एशिया) से प्राप्त ।
चौथी शताब्दी ई०	सयुक्तागम सूत्र (सस्कृत)	खोतान से प्राप्त ।
छठी ,, ,,	मि० बेवर को प्राप्त ग्रन्थ	
आठवी ,, ,,	अकगणित	बख्शाली से प्राप्त ।

इन पर महामहोपाध्याय ओझाजी की टिप्पणी है कि 'ये पुस्तके स्तूपो के भीतर रहने या पत्थरो के बीच गढे रहने से ही उतने दीर्घकाल तक बच पायी हैं, परन्तु खुले वातावरण मे रहने वाले भूर्जपत्र के ग्रन्थ ई०स० की 15वी शताब्दी से पूर्व के नही मिलते, जिसका कारण यही है कि भूर्जपत्र, ताडपत्र या कागज अधिक टिकाऊ नही होता ।"[1]

इन उल्लेखो से विदित होता है कि—

1 ताडपत्र-भूर्जपत्र आदि यदि कही स्तूप आदि मे या पत्थरो के बीच बहुत भीतर दाब कर रखे जाएँ तो कुछ अधिक काल तक सुरक्षित रह सकते हैं ।

2. ऐसे खुले ग्रन्थ 4–5 शताब्दी से पूर्व के नही मिलते अर्थात् 4–5 शताब्दी तो चल सकते हैं, अधिक नहीं ।

इसी प्रकार की कागज के ग्रन्थो की भी स्थिति है ।

पाचवी शताब्दी ई०	4 ग्रन्थ (मि० बेवर को मिले) भारतीय गुप्त-लिपि मे लिखे	कुगिअर (म०ए०) मे यारकद से 60 मील दक्षिण, जमीन मे गढे मिले ।
,,	सस्कृत ग्रन्थ	काशगर (म०ए०) मे

कागज के सम्बन्ध म भी ओझाजी[2] ने यही टिप्पणी दी है कि "भारतवर्ष के जल-वायु मे कागज बहुत अधिक काल तक नही रह सकता ।"

ऊपर उदाहरणार्थ जो तथ्य दिये गये हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि ताडपत्र, भूर्ज-पत्र, या कागज या ऐसे ही अन्य लिप्यासन यदि बहुत नीचे या बहुत भीतर दाब कर रखे जायें तो दीर्घजीवी हो सकते हैं । पर यह बात भी ध्यान देने योग्य हैं कि ऐसे दबे हुए ग्रन्थ भी ई० सन् की पहली-दूसरी शताब्दी से पूर्व के प्राप्त नही होते ।

इसका एक कारण तो भारत पर विदेशी आक्रमणो का चक्र हो सकता है । ऐसे कितने ही आक्रमणकारी भारत मे आये जिन्होंने मन्दिरों, मठो, बिहारों, पुस्तकालयों, नगरों, बाजारो को नष्ट और ध्वस्त कर दिया, जला दिया ।

अपने यहाँ भी कुछ राजा ऐसे हुए जिन्होंने ऐसे ही कृत्य किये । अजयपाल के सम्बन्ध मे टॉड ने लिखा है कि—

1 भारतीय प्राचीन लिपि-माला, पृ० 144 ।

२६. "इसके शासन मे सबसे पहला कार्य यह हुआ कि उसने अपने राज्य के सब मन्दिरों को, वे आस्तिको के हो अथवा नास्तिकों के, जैनो के हो अथवा ब्राह्मणो के, नष्ट करवा दिया ।[1] इसी मे आगे यह भी बताया गया है कि समधर्मानुयायियो के मतभेदो और वैमनस्यो के कारण भी लाखो को क्षति पहुंची है । उदाहरणार्थ-तपागच्छ और खरतरगच्छ नामक मुख्य (जैन धर्म के) भेदो के आपसी कलह के कारण ही पुराने लेखो का नाश अधिक हुआ है और मुसलमानो द्वारा कम ।"[2] टॉड को यह तथ्य स्वयं विद्वान् जैनो के मुख से सुनने को मिला ।

अत ग्रन्थो और लेखो के नाश मे साम्प्रदायिक विद्वेष का भी बहुत हाथ रहा है, सम्भवत बाहरी आक्रमणो से भी अधिक । यद्यपि अलाउद्दीन के आक्रमण का उल्लेख करते हुए टॉड ने लिखा है कि "सब जानते हैं कि खून के प्यासे अल्ला (अभिप्राय अलाउद्दीन से है) ने दीवारो को तोडकर ही दम नही ले लिया था वरन् मन्दिरो का बहुत-सा माल नीवो मे गडवा दिया, महल खड़े किये और अपनी विजय के अन्तिम चिह्नस्वरूप उन स्थलों पर गधो से हल चलवा दिया, जहाँ वे मन्दिर खडे थे ।"[3]

अत इन स्थितियो के कारण ग्रन्थो के रख-रखाव के साथ ग्रन्थागारो या पोथी-भडारो को भी ऐसे रूप मे बनाने की समस्या थी कि किसी आक्रमणकारी को आक्रमण करने का लालच ही न हो पाये । इसीलिये ये भण्डार तहखानो मे रखे गये । टॉड ने बताया है कि "यह भण्डार नये नगर के उस भाग म तहखानो मे स्थित हैं जिसको सही रूप मे अणहिलवाडा का नाम प्राप्त हुआ है । इसकी स्थिति के कारण ही यह अल्ला (उद्दीन) की गिद्ध-दृष्टि से बचकर रह गया अन्यथा उसने तो इस प्राचीन आवास में सभी कुछ नष्ट कर दिया था ।"[4]

टॉड महोदय का यही विचार है कि भू-गर्भ स्थित होने के कारण यह भण्डार बच गया, क्योकि ऊपर ऐसा कोई चिह्न भी नही था जिससे आक्रमणकर्त्ता यह समझ कर आकर्षित होता कि यहाँ भी कोई नष्ट करने योग्य सामग्री है ।

'जैन ग्रन्थ भडार्स इन राजस्थान' मे डॉ० कासलीवाल जी ने भी बताया है कि : अत्यधिक असुरक्षा के कारण ग्रथ भण्डारो को सामान्य पहुँच से बाहर के स्थानो पर स्थापित किया गया । जैसलमेर मे प्रसिद्ध जैन-भण्डार इसीलिए बनाया गया कि उधर रेगिस्तान मे आक्रमण की कम सम्भावना थी । साथ ही मन्दिर मे भूगर्भस्थ कक्ष बनाये जाते थे और आक्रमण के समय ग्रन्थो को इन तहखानो मे पहुँचा दिया जाता था । सागानेर, आमेर, नागौर, मौजमाबाद, अजमेर, जैसलमेर, फतेहपुर, दूनी, मालपुरा तथा कितने ही अन्य (जैन) मन्दिरो मे आज भी भूगर्भित कक्ष हैं, जिनमे ग्रन्थ ही नहीं मूर्तियाँ भी रखी जाती हैं । आमेर मे एक वृहद् भण्डार था, जो भू-गर्भ कक्ष मे ही था और अभी केवल तीस वर्ष पहले ही ऊपर लाया गया । जैसलमेर के प्रसिद्ध भण्डार का सम्पूर्ण अश तहखाने मे ही सुरक्षित था । ऐसे तहखानो मे ही ताडपत्र की पुस्तकें तथा कागज की बहुमूल्य पुस्तकें रखी

1. टॉड, जेम्स—पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ० 202 ।
2. वही, पृ० 298 ।
3. वही, पृ० 237 ।
4. वही, पृ० 246 ।

जाती थी। लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि इससे भी बडा भण्डार जैसलमेर मे अब भी भूगर्भस्थ-कक्ष मे है।"[1]

सामान्य पहुँच से दूर स्थानो पर ग्रन्थ-भण्डारो के रखने के कई उदाहरण मिलते हैं। डॉ० रघुवीर ने मध्य एशिया मे तुन्ह्वांङ स्थान की यात्रा की थी। यह स्थान बहुत दूर रेगिस्तान से घिरा हुआ है। यहाँ पहाड़ी म खोदी हुई 476 से ऊपर गुफाएँ हैं जिनम अजन्ता जैसी चित्रकारी है, और मूर्तियाँ हैं। यहाँ पर एक बन्द कमरे मे, जिसमे द्वार तक नही था, हजारो पाडुलिपियाँ बन्द थी, आकस्मिक रूप से उनका पता चला। एक बार नदी म बाढ आ गई, पानी ऊपर चढ आया और उसने उस कक्ष की दीवार मे सध कर दी जिसमे किताबें बन्द थी। पुजारी न ईटो को खिसका कर पुस्तकों का ढेर देखा। कुछ पुस्तके उसने निकालीं। उनसे विश्व के पुराशास्त्रियो मे हलचल मच गई। सर औरील स्टाइन दौडे गये और 7000 खरडे (Rolls) या कुडली ग्रन्थ वहाँ के पुजारी से खरीद कर उन्हाने ब्रिटिश म्यूजियम को भेज दिये। 'ट्रेजर्स ऑव द ब्रिटिश म्यूजियम' म इसका विवरण यो दिया गया है:

"Perhaps his (Stein's) most exciting discovery, however, was in a walled up chamber adjoining the caves of the thousand Buddhas at Tunhuang on the edge of the Gobi Desert. Here he found a vast library of Chinese Manuscript rolls and block prints, many of them were Buddhist texts translated from the Sanskrit The climate which had driven away the traders by depriving them of essential water supplies had favoured the documents they had left behind. The paper rolls seemed hardly damaged by age Stein's negotiations with the priest incharge of the sanctuary proved fruitful He purchased more than 7,000 paper rolls[2] and sent them back to the British Museum Among them are 380 pieces bearing dates between A D 406 and 995 The most celebrated single item is a well-preserved copy of the Diamond Sutra, printed from wooden blocks, with a date corresponding to 11 May, A D 868 This scroll has been acclaimed as 'the world's oldest printed book', and it is indeed the earliest printed text complete with date known to exist"[3]

सभी ग्रन्थ अच्छी दशा मे मिले। कहाँ सातवी आठवी ईस्वी शताब्दी से पूर्व के ग्रन्थ कहाँ बीसवी शताब्दी ई०। इतने दीर्घकाल तक अच्छी दशा मे अच्छी तरह सुरक्षित (Well Preserved) ग्रन्थो के रहने का कारण एक तो दूर-दराज का रेगिस्तानी पहाडी

1 Kasliwal, K C (Dr)—Jain Grantha Bhandars in Rajasthan p 23-24

2 आचार्य रघुवीर की डायरी के आधार पर उक्त लेख में डॉ० लोकेशचन्द ने बताया है कि यह 17 म० की गुफा थी। इसमे 30,000 पाण्डुलिपियाँ (Paper rolls) थी। उन्होने यह भी बताया है कि स्टाइन के बाद पेरिस के प्राध्यापक पेलियो आये, यहाँ 6 महीने रह और बहुत-सी पाण्डुलिपियाँ ले गये। शष 8000 पेइचिङ् म रखी गईं। —धर्मयुग, 23 सितम्बर, 1973

3. Francis, Frank (Ed)—Treasures of the British Museum, p 251.

1000
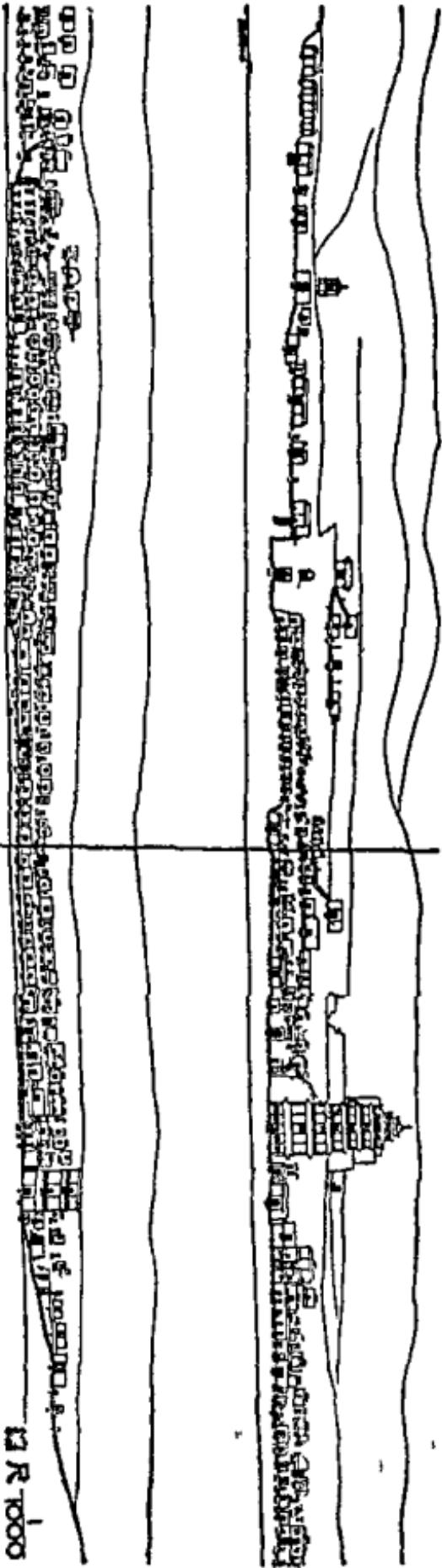
तुन्‌ह्वाङ की 476 गुफाओ का डॉ० लोकेशचन्द्र द्वारा प्रस्तुत किया गया रेखाचित्र—विशाल रेगिस्तानी क्षेत्र मे ये फैली हुई हैं। हान् वंश के समय जहाँ चीनी सैनिको की मशाले देश की रक्षा करती थीं। इन्हीं मशालों के कारण इसका नाम तुन् (धधकती) ह्वाङ् (केतु) पड़ा। रेगिस्तान, पहाड़, नदी के करण यह सुरक्षित स्थान माना गया।

स्थान दूसरे, रखने की व्यवस्था—जिस कक्ष मे उन्हे रखा गया था वह अच्छी तरह बन्द कर दिया गया था, यहाँ तक कि बौद्ध पुजारी को भी उनका पता ही नही था कि वहाँ कोई ग्रन्थ-भण्डार भी है। उसका आकस्मिक रूप से ही पता लगा।[1]

इसी प्रकार हम बचपन मे यह अनुश्रुति सुनते आये थे कि सिद्ध लोग हिमालय की गुफाओ मे चले गये हैं। वहाँ वे आज भी तपस्या कर रहे हैं। डॉ॰ बशीलाल शर्मा ने 'किन्नौरी लोक-साहित्य' पर अनुसधान करते हुए एक स्थान पर लिखा है :

'निडपा-लामा भी कन्दराओ मे प्राचीन ग्रन्थो व लामाओ की खोज करने लगे और उनके शिष्यो ने इन स्थानो मे साधना आरम्भ की। उन लोगों का कथन था कि इन गुप्त स्थानो पर पद्मसम्भव द्वारा रचित ग्रन्थ है तथा इस धर्म मे विश्वास करने वाले कुछ महात्मा भी कन्दराओ मे छिपे बैठे हैं।"[2]

इन्होने मौखिक रूप से मुझे बताया था कि वे एक बौद्ध लामा के साथ एक कन्दरा मे होकर एक विशाल बिहार मे पहुँचे, जहाँ सबकुछ सोने से युक्त जगमगा रहा था। इन्हें वहाँ एक ग्रन्थ देखना और समझना था, अत हिमालय की कन्दराओ और गुफाओ मे ग्रन्थ-भण्डारो की बात केवल कपोल-कल्पना ही नही है।

तात्पर्य यह है कि सुरक्षा और स्वस्थता की दृष्टि से हिमालय की गुफाओ मे भी ग्रन्थ रखे गये। बिहारो मे तो पुस्तको का सग्रह रहता ही था, उसकी पूजा भी की जाती थी। श्री राम-कृष्ण कौशल ने 'कमनीय किन्नौर'[3] मे बताया है कि "15 आषाढ़ की कानम् मे 'कजुरजनो' उत्सव मनाया जाता है। इस अवसर पर सब शिक्षित अथवा अशिक्षित जन श्रद्धाभाव से कानम् बिहार के वृहद् पुस्तकालय के दर्शनो के लिए जाते हैं। कानम् का यह पुस्तकालय ज्ञान-मन्दिर के रूप मे प्रतिष्ठित है।"

इन उल्लेखो से स्पष्ट होता है कि ग्रन्थो की रक्षा की दृष्टि से ही पुस्तकालयो के स्थान चुने जाते थे और उन स्थानो मे सुरक्षित कक्ष भी उनके लिए बनाये जाते थे। साथ ही उनका ऊपर का रूप भी ऐसा बनाया जाने लगा कि आक्रमणकारी का ध्यान उस पर न जाय।

'भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला' के लेखक मुनि श्री पुण्यविजय जी[4] ने 'पुस्तकु अने ज्ञान भण्डारोनु रक्षण' शीर्षक मे बताया है कि पुस्तको और ज्ञान-भण्डारो के रक्षण की आवश्यकता चार कारणो से खडी होती है :

(1) राजकीय उथल-पुथल
(2) वाचक की लापरवाही

1. आचार्य रघुवीर के सुपुत्र डॉ॰ लोकेशचन्द्र ने अपने लेख 'मध्य-एशिया की प्राचीनी गुफाओं में आचार्य रघुवीर' शीर्षक लेख (धर्मयुग : 23 दिसम्बर, 1973) में बताया है कि "यह शिलालेख मोपाओधू गुफा में है जो कुचा की सबसे पहली गुफा है। प्राचीनकालीन शिलालेख के अनुसार सन् 366 में भारतीय भिक्षु लोकुन ने इसका मगलारम्भ किया था।" (पृ॰ 28)। तो स्पष्ट है कि 4थी शताब्दी ईस्वी में इन गुफाओं का आरम्भ हो गया था।
2. शर्मा, बशीलाल (डॉ॰)—किन्नौरी लोक-साहित्य (अप्रकाशित शोध-प्रबंध), पृ॰ 501।
3. कौशल, रामकृष्ण—कमनीय किन्नौर, पृ॰ 22।
4. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ॰ 109।

(3) चूहे, कसारी आदि जीव-जन्तुओं के आक्रमण, और
(4) बाहर का प्राकृतिक वातावरण ।

राजकीय उथल-पुथल की दृष्टि से रक्षा के लिए उन्होंने लिखा है, 'आ तेमज आना जेवा बीजा उथल पाथलना जमानामा ज्ञान भण्डारोनी रक्षा माटे बहारथी सादा दिखाता मकानों मा तेने रासवावा आवता ।" यद्यपि मुनि पुण्यविजय जी यह मानते हैं कि कितने ही बड़े मन्दिरों में जो भूगर्भस्थ गुप्त स्थान हैं वे बड़ी मूर्तियों को सुरक्षित रखने के लिए हैं क्योंकि उनको अनायास ही स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता था । इससे भी यह बात सिद्ध है कि मन्दिरों में गुप्त स्थान थे और हैं और उनमें ग्रन्थ-भण्डारों को भी सुरक्षित किया गया । कुछ ग्रंथ भण्डारों के तहखानों में होने के प्रमाण कर्नल टाड की साक्षी से ही मिल जाते हैं तो ये दोनों उपाय राजकीय उथल पुथल से रक्षा करने के लिए काम में लाये जाते थे ।

वाचकों और पाठकों की लापरवाही से बचाने के लिए जो बातें की जाती थी उनमें से एक तो यह कि वाचकों के ऐसे संस्कार बनाये जाते थे कि जिससे वे पुस्तकों के साथ प्रमाद न कर सकें । दूसरे इसी सांस्कृतिक शिक्षण की व्याप्ति भारत के घर घर में देखी जा सकती है यथा जहाँ लिखने-पढ़ने की कोई वस्तु, पुस्तक हो, दवात हो, लेखनी हो कागज का टुकड़ा ही क्यों न हो, नीचे जमीन पर कहीं गिर जाय अशुद्ध स्थल पर गिर जाय अशुद्ध हाथों से छू जाए तो उसे पश्चात्ताप के भाव से सिर पर लगा कर तब यथा-स्थान रखने की सांस्कृतिक परम्परा आज भी मिलती है । इसमें ग्रन्थों और तद्विषयक सामग्री की रक्षा की भावना सिद्ध होती है ।

पुस्तकों को पढ़ने के लिए या तो चौकी का उपयोग होता था या सम्पुटिका (टिखटी) का उपयोग किया जाता था । इससे पुस्तक का जमीन से स्पर्श नहीं होता था । यह भी नियम था कि स्वच्छ होकर हाथ-पैर धोकर पुस्तक पढ़ी जानी चाहिये । वैसे यह नियम यद्यपि हमारे समय में धीरे धीरे केवल धार्मिक पुस्तकों के लिए लागू होने लगा था । फिर भी, इसकी प्रकृति से भी पता चलता है कि पुस्तकों की सुरक्षा की दृष्टि से उनके प्रति अत्यधिक आदर-भाव पैदा किया जाता था व पुस्तकें किसी भी विषय की क्यों न हों । इसी को मुनिजी ने इन शब्दों में बताया है 'पुस्तकनु अपमान थाइ नहीं ते बगडे नहीं, तेने चानु बने के उडे नहीं पुस्तक ने शर्दी गर्मी वगेरेनी असर न लागे ये माटे पुस्तक ने पाठानि वचमा राखी तेने ऊपर कवुल्टी अने बधन बीटानि तेने साचवा ऊपर राखता । जे पाना वाचनमा चालू होय तेमने एक पाटी ऊपर मूहकी, तेने हाथनो पासेवो ना लाग ये माटे पानू अने अगुठानी वचमा काम्बी के छेवटे कागज ना टुकडो जे बु काई राखी ने वाचता । चौमासानी ऋतुमा शर्दी भरमा वातावरणो समयाना पुस्तक न भेज न लागे अने ते चोटीन जाय ये माटे खास वाचननो उपयोगी पानाने बहारराखी वाकीना पुस्तक न कवली कपडु वगैरे लपेटी ने राखता ।'[1] इन विवरणों से स्पष्ट है कि वाचन पठन के लिए टिक्टी पर पुस्तक रखी जाती थी । सब प्रकार से स्वच्छ होकर पढ़ने बैठते थे । पन्ने न खराब हो इसलिए काम्बी या पटरी जैसी वस्तु पत्तियों के सहारे रखकर पढ़ते थे, इस प्रकार से उँगलियाँ नहीं लग पाती थीं । गर्मी-सर्दी से बचाने के लिए ग्रन्थों को कपड़ों के थैले,

1 भारतीय जैन श्रमण संस्कृति अने लेखन कला, पृ० 113 ।

बस्ते मे बन्द करके रखते थे या उन्हे संदूक या पेटी मे । उनके ऊपर ग्रन्थ-विषयक आवश्यक सूचना भी रहती थी ।

चूहे तथा कसारी एव अन्य जीव-जन्तुओ से रक्षा के लिए मुनिजी ने प्राचीन-जैन-परम्परा मे घोडा वद्ध या स० उग्रगधा पुस्तको की सग्रह पटियो मे डाली जाती थी । कपूर का उपयोग भी इसीलिए किया जाता था । इसी के लिए यह विधान था कि पुस्तकें दोनो ओर से दावडो से दाब कर पुट्ठो को पार्श्वो मे रख कर खूब कस कर बांध दें । फिर इन्हे वस्तो मे बांध कर पेटी म रख दें ।

बाहरी प्राकृतिक वातावरण से रक्षा

इस सम्बन्ध मे मुनिजी ने बताया है कि धूप मे ग्रन्थ नही रखे जान चाहिये । यदि ग्रथो मे चौमासे या बरसात की नमी बैठ गई हो तो धूप से बचा कर ऐसे गर्म स्थान मे रख कर सुखाना चाहिये, जहाँ छाया हो ।

पुस्तको मे नमी के प्रभाव से पन्ने कभी-कभी चिपक जाते हैं । ऐसा स्याही के बनाने मे गोंद मात्रा से अधिक पड जाने से होता है । नमी से बचाने के लिए एक उपाय तो यही बताया गया है कि पुस्तक का बहुत कस कर बांधना चाहिये, इससे कीडे मकोडो से ही रक्षा नही होती, वातावरण के प्रभाव से भी बच जाते हैं ।

दूसरा उपाय यह बताया गया है कि चिपकने वाली स्याही वाले पन्नो पर गुलाल छिडक देना चाहिये, इससे पन्ने चिपकेंगे नही ।

चिपके हुए पन्नो को एक-दूसरे से अलग करने के लिए यह आवश्यक है कि आवश्यक नमी वाली हवा उसे दी जाय और तब धीरे-धीरे सम्भाल कर पन्नो को एक-दूसरे से अलग किया जाय या चौमासे की भारी बरसात की नमी का लाभ उठा कर पन्ने सम्भाल कर धीरे-धीरे अलग किये जायें, और बाद मे उन पर गुलाल छिडक दिया जाय, अर्थात् भुरक दिया जाय ।

ताड-पत्र की पुस्तको के चिपके पन्नो का अलग-अलग करने के लिए भीगे कपडे को पुस्तक के चारों ओर लपेट कर अपेक्षित नमी पहुँचायी जाय, और पन्ने जैसे-जैसे नम होते जायें, उन्हें अलग-अलग किया जाय ।

इस प्रकार जैन-शास्त्रीय परम्परा मे ग्रन्थ-सुरक्षा के उपाय बताये गये हैं ।

और, इसी दृष्टि से हम 1822 ई० में लिखे अह्लिवाडे के ग्रन्थ-भण्डार (पोथी-भण्डार) के टॉड के वर्णन से कुछ उद्धरण पुन देते हैं

क–"अब हम दूसरे उल्लेखनीय विषय पर आते हैं वह है, पोथी-भण्डार अथवा पुस्तकालय जिसकी स्थिति जिस समय मैंने उसका निरीक्षण किया उस समय तक बिल्कुल अज्ञात थी ।"

ख–"तहखानो मे स्थित है ।"

ग–"मेरे गुरु जी .... वहाँ पहुँचते ही सबसे पहले वे भण्डार की पूजा करने के लिए जा पहुँचे । यद्यपि उनकी सम्मानपूर्ण उपस्थिति ही कुलुफ(मोहर) तोडने के लिए पर्याप्त थी परन्तु नगर-सेठ के आज्ञा-पत्र बिना कुछ नहीं हो सकता था । पचायत बुलाई गई और उनके समक्ष मेरे यति ने अपनी पत्रावली अथवा हेमाचार्य की आध्यात्मिक शिष्य-परम्परा में होने का वश-वृक्ष उपस्थित किया, जिसको देखते ही उन लोगो पर जादू का-सा असर हुआ और उन्होंने गुरुजी को तहखाने मे उतर कर 'पुराने पुराने भण्डार' की पूजा करने के

लिए ग्रामन्त्रित किया ।"

घ-तहखाने के तंग, अत्यन्त घुटनपूर्ण वातावरण के कारण उनको इस (ग्रन्थ) अन्वेषण से विरत होना पडा ।

ङ-' सूची की एक बडी पोथी है और इसको देख कर इन कमरो में भरे हुए ग्रथो की सख्या का जो अनुमान मुझे उन्होने बताया उसे प्रकट करने मे मुझे अपनी एव मेरे गुरु की सत्य शीलता को सन्देह मे डालने का भय लगता है ।"

च-'वे ग्रन्थ (I) सावधानी से सन्दूको मे रखे हुए थे जो

(II) मुग्द अथवा कग्गार की लकडी (Caggar wood) के बुरादे से भरे हुए थे । यह मुग्द का बुरादा कीटाणुओ से रक्षा करने का अचूक उपाय है ।

छ-सूची मे और सन्दूको की सामग्री म बहुत अन्तर था ।

ज-' इस सग्रह की रखवाली बडे सन्देहपूर्ण ढग से की जाती है और जिनका इसम प्रवश है वे ही इसके बारे मे कुछ जानते हैं ।"

इन विवरणों से विदित होता है कि भारत मे प्राचीन-काल से ग्रन्थों की रक्षा के प्रति बहुत सचेतन दृष्टि थी, इसके लिए स्थान के चुनाव, उसको आक्रमणकारी की दृष्टि से बचाव के उपाय, उनके रख-रखाव मे अत्यन्त सावधानी तथा अत्यन्त पूज्यभाव से उनके उपयोग की सास्कृतिक आचारिकता पैदा करने के प्रयत्न निरन्तर रहे हैं ।

रख-रखाव की जिस व्यवस्था का कुछ सकेत ऊपर दिया गया है, उसी की पुष्टि ब्यूह्लर[1] के इस कथन से भी होती है :

(93) Wooden covers, cut according to the size of the sheets, were placed on the Bhurja and palm-leaves, which had been drawn on strings, and this is still the custom even with the paper MSS [553] In Southern India the covers are mostly pierced by holes, through which the long strings are passed The latter are wound round the covers and knotted This procedure was usual already in early times[554] and was observed in the case of the old palm leaf MSS from Western and Northern India But in Nepal the covers of particularly valuable MSS (Pustaka) which have been prepared in this manner are usually wrapped-up in dyed or even embroidered cloth. Only in the Jaina libraries the palm-leaf MSS sometimes are kept in small sacks of white cotton cloth, which again are fitted into small boxes of white metal. The collections of MSS, which, frequently are catalogued, and occasionally, in monasteries and in royal courts, are placed under librarians, generally are preserved in boxes of wood or cardboard Only in Kashmir, where in accordance with Muhammadan usage the MSS are bound in leather, they are put on shelves, like our books.

1. Buhler, G. — Indian Palaeography, p. 147–48.
553. Beruni, India I, 171, (Sachau).
554 Cf. Harsacarita, 95, where the sutravestanam of a MS is mentioned.

डॉ ब्यूह्लर के उक्त कथन से उन सभी बातो की पुष्टि हो जाती है, जो हमने ग्रन्थ सातो से दी हैं। कर्नल टॉड ने कृमि कीटा से रक्षा के लिए जिस बुरादे का उल्लेख किया है, उसकी चर्चा ब्यूह्लर महोदय ने नही की । अच्छे बड़े भण्डारा मे सूची-पत्र (कैटेलॉग) भी रहते थे, यह सूचना भी हमे टॉड महोदय से मिल गयी थी । यह अवश्य प्रतीत हुआ कि लम्बे उपयोग के कारण जो ग्रथ इधर-उधर हो गये उनसे सूचीपत्र का ताल-मेल नही बिठाया जाता रहा ; इसीलिए सूचीपत्र और सन्दूको के ग्रन्थो म अन्तर पाया गया । सिले थैली-नुमा वस्तो म ग्रन्थो को रखने की प्रथा भी केवल जैन ग्रथागारो म ही नही अन्य ग्रथागारो मे भी मिलती है । ग्रथागारो मे ग्रथो के वेष्टनो के ऊपर ग्रथनाम ग्रथकर्त्तानाम, लिपिकर्त्तानाम, रचनाकाल, लिपिकाल, ग्रथप्रदाता का नाम, श्लोक सख्या आदि सूचनाएँ दाबों पर, पाटों या पुट्ठो पर लिखी जाती थी । इससे बस्ते या पेटी के ग्रथो का विवरण मिल जाता था ।

बर्नेल महोदय ने जाने कैसे यह आरोप लगा दिया था कि ब्राह्मण पाडुलिपियो को बुरी तरह रखते हैं । इसका ब्यूह्लर ने ठीक ही प्रतिवाद किया है कि यह समस्त भारत के सम्बन्ध मे सही नही है, समस्त दक्षिण भारत के लिए भी ठीक नहीं । ब्यूह्लर ने बताया है कि गुजरात, राजपूताना, मराठा प्रदेश तथा उत्तरी एव मध्य भारत मे कुछ अव्यवस्थित सग्रहो के साथ, ब्राह्मणों तथा जैनो के अधिकार मे विद्यमान अत्यन्त ही सावधानी से सुरक्षित पुस्तकालयो को देखा है ।

इस कथन से भी यह सिद्ध होता है कि भारत मे ग्रथो की सुरक्षा पर सामान्यत. अच्छा ध्यान दिया जाता था ।

प्राचीन काल मे पाश्चात्य देशो मे पेपीरस के खरीतों (Scrolls) को सुरक्षित रखने के लिए पार्चमेण्ट के खोले बनाये जाते थे और उनमे खरीतो को रखा जाता था ।[1] बहुत महत्त्व के कागज-पत्रो को रखने के लिए भारत मे भी लोहे या टीन के ढक्कन वाले खोखो का उपयोग कुछ समय पूर्व तक होता रहा है ।

कागज मे विकृतियाँ कुछ अन्य कारणो से भी होती है, उनमे से एक स्याही भी है । श्री गोपाल नारायण बहुरा ने इस सम्बन्ध मे जो टिप्पणी प्रस्तुत की है उसमे उन बातो का उल्लेख किया है जिनसे पाडुलिपियाँ रुग्ण हो जाती हैं । इन बातो मे ही स्याही के विकार से भी पुस्तकें रुग्ण हो जाती है यह भी बताया है ।[2] साथ ही इन विकारो से सुरक्षित रखने के उपायो का भी उल्लेख किया है ।[3]

यहाँ तक हमने प्राचीनकालीन प्रयत्नो का उल्लेख किया है किन्तु आधुनिक युग तो वैज्ञानिक युग है । इस युग के वैज्ञानिक प्रयत्नो से पाडुलिपियो की सुरक्षा के बहुत उपयोगी साधन उपलब्ध हुए हैं । अभिलेखागारों (आर्काइव्स), पाडुलिपि सग्रहालयों (मैन्युस्क्रिप्ट

1 The Encyclopedia Americana (Vol IV), p 224

2. देखें द्वितीय अध्याय, पृ० 52-61 ।

3 "The ink used in making records is also important in determing the longevity of the record, certain kinds of ink tend to fade, the writing disappearing completely after a length of time Other inks due to their acid qualities eat into the paper and destroy it An ink in an alkaline medium containing a permanent pigment is what is required,"

—Basu, Purendu—Archives and Records : What are They ?

लाइब्रेरी) आदि मे अब इन नये-वैज्ञानिक ज्ञान और उपादानो और साधनों के कारण हस्तलेखागारो की उपयोगिता का क्षेत्र भी बढ गया है।

क्षेत्र को बढ़ाने वाले साधनो मे दो प्रमुख है · एक है, माइक्रोफिल्म तथा दूसरा है, फोटोस्टैट। माइक्रोफिल्म के एक फीते पर कई हजार पृष्ठ उतारे जा सकते हैं, इस पर एक फीते पर कितने ही ग्रन्थ अंकित हो जाते है। ऐसा एक फीता छोटे-से डिब्बे मे बन्द कर रखा जा सकता है। इस प्रकार ग्रन्थ अपने लेखन-वैशिष्ट्य के साथ पृष्ठ या पन्ने के यथार्थ चित्र के साथ माइक्रोफिल्म पर उतार कर सुरक्षित हो जाता है। इसे वे शत्रु नही स्पर्श कर पाते जिनके कारण मूल ग्रन्थ की वस्तु को हानि पहुँचती है। हाँ, माइक्रोफिल्म की सुरक्षा की वैज्ञानिक विधियाँ भी हैं, जिनसे कभी किसी प्रकार की क्षति की आशंका होते ही उसे सुरक्षित किया जा सकना है।

किन्तु माइक्रोफिल्मांकित ग्रन्थ को आसानी से किसी भी व्यक्ति को माइक्रोफिल्म की प्रति करके दिया जा सकता है। इस पर व्यय भी अधिक नही होता। हाँ, माइक्रो-फिल्मांकित ग्रन्थ को पढने के लिए 'रीडर' (पठन-यन्त्र) की आवश्यकता होती है। बड़े सग्रहालयो मे ये बहुत बडे आकार के यन्त्र भी मिलते हैं। साथ ही 'मेजी-यन्त्र'[1] भी होता है। ऐसे पठन-यन्त्र भी हैं, जिनके साथ ही फिल्म-कैमरा भी लगा रहता है। क. मु. हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा मे माइक्रोफिल्म कैमरा के साथ रीडर भी है। इस रीडर से पुस्तक का यथार्थ आकार ही दर्शित होता है।

इसी प्रकार फोटो-स्टैट (Photo-stat) यन्त्र से ग्रन्थ की फोटो-प्रतियाँ निकाली जा सकती हैं। ये ग्रन्थ-प्रतियाँ यथार्थ ग्रन्थ की भाँति ही उपयोगी मानी जा सकती हैं। ऐसी प्रतियाँ कोई भी पाठक प्राप्त कर सकता है, अतः सुरक्षा भी बढती है, साथ ही उपयोगिता का क्षेत्र भी बढ जाता है।

आज पुस्तकालयों एव अभिलेखागारो आदि के रख-रखाव ने स्वय एक विज्ञान का रूप ग्रहण कर लिया है। इस पर अंग्रेजी में कितने ही ग्रंथ मिलते हैं। भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार (National Archives of India) मे अभिलेखागार के रख-रखाव (Archives-keeping) मे एक डिप्लोमा-पाठ्यक्रम का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। पाडुलिपि-विज्ञानार्थी को यह प्रशिक्षण भी प्राप्त करना चाहिए।

हम यहाँ सक्षेप में कुछ सकेतात्मक और काम-चलाऊ बातो का उल्लेख किये देते हैं जिससे इसके स्वरूप का कुछ आभास मिल सके और पांडुलिपि-विज्ञान का एक पक्ष अछूता न रह जाय।

हम यह संकेत ऊपर कर चुके हैं कि जलवायु और वातावरण का प्रभाव सभी पर पड़ता है, तो वह लेखों और तत्सम्बन्धी सामग्री पर भी पडता है। किसका, कैसा, क्या प्रभाव पड़ता है, वह नीचे की तालिका मे बताया गया है :

जलवायु	वस्तु	प्रभाव
1. गर्म और शुष्क जलवायु	कागज	तड़कने लगता (Brittle) है
	चमड़ा तथा पुट्ठा	सूख जाता है

1. मेज पर रख कर उपयोग में लाया जाने वाला यन्त्र।

जलवायु	वस्तु	प्रभाव
2 अधिक नमी (humidity)	कागज	सिकुड जाता है एव सील जाता है ।
3 तापमान में अत्यधिक वैविध्य[जाडो मे 10°से.(50° फा॰) तथा गर्मी मे 45° (113° फा॰) तक]।	कागज, चमडे एव पुट्ठे	लोच पर प्रभाव पडता है ।
4 तापमान 32° सें॰(90° फा॰ एव नमी 70 प्रतिशत		कीड़े-मकोडो, पुस्तक–कीट, सिल्वर–फिश, कौक्रोच, दीमक और फफूँद या चँपा उत्पन्न हो जाता है ।
5 वातावरण मे अम्ल-गैसो का होना — विशेषत: सल्फर हाइड्रोजन से विकृत वातावरण ।	कागज आदि	बुरा प्रभाव । जल्दी नष्ट हो जाते हैं ।
6. धूल कण	कागज, चमडा, पुट्ठा आदि	इनसे अम्ल-गैसो की घनता आती है और फफूँदाणु पनपते हैं ।
7. सीधी धूप	कागज आदि	कागज आदि पर पडने वाली सीधी धूप को पुस्तको का शत्रु बताया गया है । इससे कागज आदि विवर्ण हो जाते हैं, नष्ट होने लगते हैं तथा स्याही का रग भी उडने लगता है ।

उपाय :

भडारण-भवन को 22° और 25° सें॰ (72° – 78° फा॰) के बीच तापमान और नमी (humidity) 45° और 55 प्रतिशत के बीच रखा जाय ।

साधन :

वातानुकूलन-यन्त्र द्वारा वातानुकूलित भवन मे उक्त स्थिति रह सकती है ।

बहुत व्यय-साध्य होने से यदि यह सम्भव न हो तो अत्यधिक नमी को नियन्त्रित करने के लिए जल-निष्कासक रासायनिको का उपयोग कर सकते हैं । ये हैं : ऐल हाइड्रस कैलसियम क्लोराइड और सिलिका गैल (Silica gel) ।

20–25 घन मीटर क्षमता के कक्ष के लिए 2–3 किलोग्राम सिलिका गैल पर्याप्त है । इसे कई तश्तरियो मे भर कर कमरे मे कई स्थानों पर रख देना चाहिये । 3–4 घंटे

के बाद यह सिलिका गेल और नमी नही सोख सकेगा क्योंकि वह स्वय उस नमी से परिपूरित हो चुका होगा, अत सिलिका गेल की दूसरी मात्रा उन तश्तरियो मे रखनी होगी। पहले काम म आये सिलिका गेल को खुले पात्रो म रख कर गरम कर लेना चाहिये इस प्रकार वह पुन काम म आने योग्य हो जाता है।

उक्त साधनो से वातावरण की नमी तो कम की जा सकती है पर यह नमी कभी-कभी कमरो म सीलन (Dampness) होने स भी बढती है। इस कारण यह आवश्यक है कि भडारण के कमरो का पहले ही देख लिया जाय कि उनमे सीलन तो नही है। भवन बनाने के स्थान या बनाने की सामग्री या विधि मे कोई कमी रह गई है, इससे सीलन है, अत मकान बनाते समय ही यह ध्यान रखना होगा कि भडार भवन सीलन-मुक्त विधि से बनाया जाय। यही इसका एकमात्र उपाय है। नमी और सील को कम करने मे खुली स्वच्छ वायु का उपयोग भी लाभप्रद होता है अत भडारण मे खिडकियाँ आदि इस प्रकार बनायी जानी चाहिये कि भडार की वस्तुओ का खुली हवा का स्पर्श लग सके। कभी-कभी बिजली के पखो स भी हवा की जा सकती है।

किन्तु साथ ही इस बात का ध्यान भी रखना होगा कि भडार-कक्ष में वस्तुओ पर कागज पत्रो पर सीधी धूप न पड। इसस होने वाली हानि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यदि ऐसी खिडकियाँ हो जिनम स धूप सीधे ग्रन्थो पर पडती है, तो इन खिडकियो मे शीशे लगवा कर पर्दे डाल देने चाहिये, और इस प्रकार धूप के स्पर्श स रक्षा करनी चाहिये।

पांडुलिपियाँ रखने की अलमारियो का भी सुरक्षा की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। एक तो अलमारियाँ खुली होनी चाहिये जिससे उन्हे खुली हवा लगती रहे और सील न भरे। दूसरे, ये अलमारियाँ लोहे की या किसी धातु की हो और इन्हे दीवाल से सटा कर न रखा जाय, और परस्पर अलमारियो मे भी कुछ फासला रहना चाहिये इससे सील नहीं चढ़ेगी। य अलमारिया ही आदश मानी जाती हैं। दीवालो मे बनायी हुई सीमेन्ट की अलमारियाँ भी ठीक नही बतायी गई है। धातु की अलमारियो म सबसे बडी सुविधा यह है कि इन पर मौसम और कीटो (दीमक आदि) का प्रभाव नही पडता, जो लकडी पर पडता है, फिर इन्हे अपनी आवश्यकता, सुरक्षा और उपयोगिता के अनुसार व्यवस्थित भी किया जा सकता है।

पाडुलिपियो के शत्रु

भुकडी (Mould) और फफूँद नामक दो शत्रु हैं जो पाडुलिपियो मे ही पनपते है। फफूँद तो पुस्तका मे पनपने वाला वनस्पतीय फग्स (Fungus) होता है जबकि माल्ड में शेष सभी अन्य सूक्ष्म अवयवाणु आते हैं जो पाडुलिपियो मे हो जाते हैं। यह पाया गया है कि ये 4 5° सें० (40° फा०) पर धीरे-धीरे बढते है पर 27–35 सें० (80-95° फा०) पर इनकी बहुत बढवार होती है। 38° सें० (100° फा०) से अधिक तापमान मे इनम से बहुत स नष्ट हो जात हैं, अत इन्हे रोकने के लिए भडारण भवन का तापमान 22–24° सें० (72–75° फा०) तक रखा जाना चाहिये। साथ ही नमी (ह्यूमिडिटी) 45–55 प्र० श० के बीच रहनी चाहिये।

यदि भडारण-कक्ष को उक्त मात्रा मे तापमान और नमी का अनुकूलन सम्भव न हो तो एक दूसरा उपाय थाईमल रसायन से वाष्प चिकित्सा (Fumigation) है।

थाईमल चिकित्सा की विधि

एक वायु विरहित (एयरटाइट) बाक्स या बिना खाने की अलमारी लें। इसमे नीचे के तल से 15 सें० मी० की ऊँचाई पर तार के जालो का एक बस्ता लगायें, उस पर ग्रन्थो को बीच से खोल इस प्रकार रखे कि उसकी पीठ ऊपर रहे और वह ˄ रूप मे रहे। थाईमल वाष्प-चिकित्सा के लिए जो ग्रन्थ इस यन्त्र म रखे जाये उनमे उक्त अवयवाणुओ न जहाँ घर बनाये हो पहले उन्ह साफ कर दिया जाय। इस सफाई द्वारा फफूँदादि एक पात्र म इकट्ठी कर जला दी जाय। उसे भडार म न विखरने दिया जाये। इसके बाद ग्रन्थ को यन्त्र म रखें। इसके नीचे तल पर 40–60 वाट का विद्युत लैंप रखें और उस पर एक तश्तरी म थाइमल रख दें जिसस लैंप की गर्मी स गर्म होकर वह थाईमल पाडुलिपियो को वाष्पित कर सके। एक क्यूबिक मीटर के लिय 100–150 ग्राम थाइमल ठीक रहता है। 6–10 दिन तक पाडुलिपियो को वाष्पित करना हागा और प्रतिदिन दा से चार घन्टे विद्युत लैम्प जला कर वाष्पित करना अपेक्षित है।

इससे ये सूक्ष्म अवयवाणु मर जायेंगे, पर जो क्षत और धब्बे इनके कारण उन पर पड चुके हैं, वे दूर नही होगे।

जहाँ नमी को 75 प्रतिशत से नीचे करने के कोई साधन उपलब्ध नही हो वहाँ मिथिलेटड स्पिरिट मे 10 प्रतिशत थाईमल का घोल बनाकर, ग्रन्थागार मे कार्य के समय के बाद सध्या को कमरे मे उसको फुहार कर दिया जाय और खिडकियाँ तथा दरवाजे रात-भर के लिये बन्द कर दिये जायें। इन अणुओ के कमरे मे ठहरे हुए सूक्ष्म ततु, जो पुस्तको पर बैठ कर फफूँद आदि पैदा करते हैं, नष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार ग्रन्थागार की फफूँद आदि से रक्षा हो सकेगी।

कीडे-मकोड़े :

कई प्रकार के कीडे-मकोडे भी पाडुलिपियो और ग्रन्थो को हानि पहुँचाते हैं। ये दो प्रकार के मिलते है : एक प्रकार के कीट तो ग्रन्थ के ऊपरी भाग को, जिल्द आदि को, जिल्दबन्दी के ताने बान को, चमडे को पुट्ठे आदि को, हानि पहुँचाते हैं। इनम एक तो सबके सुपरिचित हैं कोक्राच, दूसरे हैं, रजत कीट (सिल्वर फिश)। यह कीट बहुत छोटा, पतला चाँदी जैसा चमकना होता है।

इनके सम्बन्ध मे पहला प्रयत्न तो यह किया जाना चाहिये कि इनकी सख्या-वृद्धि न हो। इसके लिए एक बात तो यह ध्यान म रखनी होगी कि भडार गृह म खान-पीने की चीजें नही आनी चाहिये। इनसे ये आकर्षित होते हैं, फिर फलते फूलते हैं। दूसरे, दीवालो मे कही दरारें और सँधें हो तो उन्हें सीमेंट से भरवा दिया जाय, इससे कीडा के छिपने और फलने-फूलो के स्थान नही रहगे, और उनकी वृद्धि रुकेगी। साथ ही नेफ्यलीन की गोलियाँ अलमारियो मे हर छ फीट पर रख दी जायें, इससे य कीट भागते हैं। किन्तु इन कीटो से पूरी तरह मुक्ति पाने के लिए तो जहरीली दवाओ का छिडकाव करना होगा, य हैं— डी० डी० टी०, पाट्रोल्यम, सोडियम फ्लोराइड आदि, इन्हें पुस्तका पर नहीं छिडकना चाहिये। अँधेरे कोनो, दरारा, छिद्रा और दीवालो आदि पर छिडकना ठीक रहता है। 'इन जहरीले छिडकावो का ज़हर ग्रन्थो पर छिडका गया तो ग्रन्थ भी दाग-धब्बो से युक्त हो जायेंगे।

ये कीट तो ऊपरी सतह को ही हानि पहुँचाते हैं, पर दो ऐसे कीट हैं जो ग्रन्थ के

भीतर भाग को भी नष्ट करते हैं। इनमे से एक हैं, पुस्तक कीट (Book-worm), तथा दूसरा सोसिड (Psocid) है।

ये दोनो कीट ग्रन्थ के भीतर घुसपैठ कर भीतर के भाग को नष्ट कर देते हैं। बुक-वोर्म या पुस्तक-कीट के लारवे तो ग्रन्थ के पन्नो मे ऊपर से लेकर दूसरे छोर तक छेद कर देता है, और गुफाएँ खोद देता है। लारवा जब उडने लगता है तो दूसरे स्थानो पर पुस्तक-कीटो को जन्म देता है। इस प्रकार यह रोग बढ़ता है। सोसिड को पुस्तको का जूं भी कहा जाता है। ये भीतर ही भीतर हानि पहुँचाते हैं, अत. इनकी हानि का पता पुस्तक खोलने पर ही विदित होता है।

इनको दूर करने का इलाज वाष्प चिकित्सा है, पर यह वाष्प-चिकित्सा घातक गैसो से की जाती है—ये गैसें हैं, एथीलीन ऑक्साइड (Ethylene Oxide) एव कार्बन डाई आक्साइड मिला कर वातशून्य (Vaccum) धाष्पन करना चाहिये। इसके लिए विशेष यन्त्र लगाना पडता है। यह यन्त्र व्यय-साध्य है, अत बडे ग्रन्थागारो की सामर्थ्य मे तो हो सकता है, पर छोटे ग्रन्थागारो के लिए यह असाध्य ही है, अत एक दूसरी विधि भी है पैरा-डाइक्लोरो-बेनजीन (Para-dichloro benzene) या तरल किल्लोप्टेरा (Liquid Kelloptero) जो कार्बन टेट्राक्लोराइड और ऐथेलीन डाइक्लोराइड का सम्मिश्रण होता है, लिया जा सकता है। इससे वाष्प-चिकित्सा के लिये एक स्टील की ऐसी अलमारी लेनी होगी, जिसमे हवा न घुस सके। इसमे खानो के लौह तख्तो म छेद कर दिय जाने चाहिये। इन तख्तों पर सम्पूर्ण लेखो को बिछा दिया जाता है और नतियो तथा ग्रन्थो को, इस रूप मे बीच खोल कर रख दिया जाता है।

यदि पैरा-डाइक्लोरो-बेनजीन से वाष्पित करना है तो शीशे के एक जार (Jar) मे एक घन मीटर के लिए 1·5 किलोग्राम उक्त रासायनिक घोल भर कर उक्त तख्तों के सबसे नीचे के तल मे रख देना चाहिये और अलमारी बन्द कर देनी चाहिये। इसकी गैस हलकी होती है, अत. ऊपर की ओर उठती है। यह रसायन स्वयमेव सामान्य तापमान मे ही वाष्पित हो उठती है। सात-आठ दिन तक रुग्ण ग्रन्थो को वाष्पित होने देना चाहिये।

यदि किल्लोप्टेरा से वाष्पित करना है तो यह रसायन प्रति एक घन-मीटर के लिए 225 ग्राम के हिसाब से लेकर इसका पात्र सबसे ऊपर के तन्त्र मे या खाने मे रखना चाहिये। इसकी गैस या वाष्प भारी होती है, अत यह नीचे की ओर गिरती है। सात-आठ दिन इससे भी रुग्ण सामग्री को वाष्पित करना चाहिये। इससे ये कीट, इनके लारवे आदि सब नष्ट हो जायेंगे।

पर सधियो मे या जिल्द बधने के स्थान पर बनी नालियो मे इनके जो अंडे होगे वे नष्ट नही हो पायेंगे, और ये अडें 20–21 दिनों मे लारवे के रूप मे परिणत होते हैं, अत पूरी तरह छुटकारा पाने के लिए उक्त विधि से 21–22 दिन बाद फिर वाष्पित करने की आवश्यकता होगी।

दीमक :

सभी जानते हैं कि दीमक का आक्रमण अत्यन्त हानिकर होता है। ऊपर जिन शत्रुओ का उल्लेख किया गया है वे दीमक की तुलना मे कहीं नही ठहरते। दीमक का घर भूगर्भ में होता है। वहाँ से चल कर ये मकानों मे, लकडी, कागज आदि पर आक्रमण करती

हैं। ये अपना मार्ग दीवालो पर बनाती हैं जो मिट्टी से ढकी छोटी पतली सुरगो के रूप मे यह मार्ग दिखायी पडता है। पुस्तको को भीतर से, बाहर से सब ओर से, खाती है, पहले भीतर ही भीतर खाती है।

इनको जीवित मारने का कोई लाभ नही होता क्योकि दीमको की रानी औसतन 30 हजार अडे प्रतिदिन देती है। कुछ को मार भी डाला गया तो इनके आक्रमण मे कोई अन्तर नही पड सकता। इससे रक्षा का एक उपाय तो यह है कि नीचे की दीवाल के किनारे किनारे खाई खोदी जाय और उसे कोलतार तथा क्रियासोट (Creosote) तेल से भर दिया जाय। इन रासायनिक पदार्थों के कारण दीमक मकान मे प्रवेश नही कर सकेगी।

यदि दीमक मकान मे दिखायी पड जाय तो पहला काम तो यह किया जाना चाहिये कि वे समस्त स्थान, जहाँ से इनका प्रवेश हो सकता है, जैसे-दरारें, दीवालो के जोड या सभी फर्श मे तडके हुए स्थान और छिद्र तथा दीवालो म उभरे हुए स्थान, इन सभी को तुरन्त सीमेन्ट और ककरीट से भर कर पक्का कर दिया जाय। यदि ऐसा लगे कि फर्श कहीं-कही से पोला हो गया है या फूल आया है या अन्दर जमीन खोखली है, तो ऊपर का फर्श हटा कर इन सभी पोले स्थानो और खोखलो को सफद सखिया (White arsenic), डी० डी० टी० चूर्ण, पानी मे सोडियम आर्सेनिक 1 प्रतिशत का घाल या 5 प्रतिशत डी० डी० टी० का घोल, 1 60 (4–5 लीटर प्रति मीटर) के हिसाब से उनमे भर दें। जब ये स्थान सूख जायें तब इन्ह ककरीट सीमेन्ट से भर कर फर्श पक्का कर दिया जाय। ऐसी दीवालें भी कही से पोली या खोखली दिखायी पडें तो इनकी चिकित्सा भी इसी विधि से करदी जानी चाहिये। यदि लकडी की बनी चीजें, किवाडे आदि दीवालो से जुडी हुई हा ता ऐसे समस्त जोडो पर क्रियोसोट तेल चुपड देना होगा, यदि दीमक का प्रकोप अधिक है तो प्रति छठे महीने जोडों पर यह तेल लगाना होगा।

दीमक वाले मकान मे दीवालो मे बनी अलमारियो का उपयोग निषिद्ध है। यदि लकडी की अलमारियाँ या रैक हैं तो इन्हे दीवालो से कम से कम 15 सें० मी० दूर रखे और इनकी टाँगें कोलतार, क्रियोसोट तेल या डीलड्राइन ऐमलसन से हर छठे महीने पोत देना चाहिये। जमीन मे दीमक हो तो आवश्यक है कि इन अलमारियो की टागो को धातु के पात्रो में रखे और इन पात्रो मे कोलतार या क्रियोसोट तेल भर दें। इससे भी पहले लकडी की जितनी भी चीजें हैं सभी को 20 प्रतिशत जिक क्लोराइड को पानी मे घोल बनाकर उससे पोत दे।

सबसे अच्छा तो यह है कि लकड़ी की वस्तुओ का उपयोग किया ही न जाय और स्टील के रैंको और अलमारियो का उपयोग किया जाय।

इस प्रकार इस भयानक शत्रु से रक्षा हो सकती है।

इन सभी बातो के साथ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भडारण के स्थान पर धूल से, मकडी के जालो से और ऐसी ही अन्य गन्दगियो से स्वच्छ रखना बहुत आवश्यक है।

भडारण के स्थान पर खाने पीने की चीजें नही आनी चाहिये, उसमे रासायनिक पदार्थ भी नही रखे जाने चाहिये। सिगरेट आदि पीना पूर्णत वर्जित होना चाहिये। आग बुझाने का यत्र भी पास ही होना चाहिये।

रख-रखाव मे केवल शत्रुग्रो से रक्षा ही नही करनी होती है, परन्तु पांडुलिपियों को ठीक रूप मे ग्रौर स्वस्थ दशा मे रखना भी इसी का एक ग्रग है। जब पाडुलिपियाँ कही से प्राप्त होती हैं तो ग्रनेक की दशा विकृत होती है।

इसमे नीचे लिखी बातें या विकृतियाँ सम्मिलित हैं :

1 सिकुडने, सिलवट, गुडी-मुडी हुए पत्र।
2 किनारे गुडी-मुडी हुए कागज (पत्र)।
3 कटे-फटे स्थल या किनारे।
4 तडकने वाले या कुरकुरे कागज।
5 पानी से भीगे हुए कागज।
6. चिपके कागज।
7. धुंधले या धुले लेख।
8 जले कागज।
9 कागजो पर मुहरो की विकृतियाँ।

इन विकृतियों को दूर करने के ग्रनेक उपाय हैं, पर सबसे पहले एक कक्ष चिकित्सा के लिए ग्रलग कर देना चाहिये। इसमे निम्नलिखित सामग्री इस कार्य के लिए ग्रपेक्षित है :

1. मेज जिस पर ऊपर शीशा जुडा हो।
2. छोटा हाथ प्रेस (दाब देने के लिए)।
3. पेपर ट्रीमर (Paper Trimmer)
4. कैंची (लम्बी)
5. चाकू
6. Poring Knives
7. प्याले (पीतल के या इनामिल किये हुए)।
8 तश्तरियाँ (पीतल की या इनामिल की हुई)।
9. ब्रुश (ऊंट के बाल के 205–1.25 सें० मी० चौडी)।
10 Paper Cutting Slices (सीग के बने हो तो ग्रच्छा है)।
11. फुटा
12. सुइयाँ (बडी ग्रौर छोटी)।
13. बोदकिन (छेद करने के लिए)।
14. तख्त इनामिल किए हुए।
15. शीशे की प्लेटें।
16. देगची लेई बनाने के लिए।
17. बिजली की इस्तरी।

मरम्मत या चिकित्सा की विधि

क–अपेक्षित सामग्री

डॉ० के० डी० भार्गव ने ये सामग्रियाँ बतायी हैं :

1. हाथ का बना कागज :—यह कागज केवल चियड़ों का बना होना चाहिये। ये

चिथड़े सूती वस्त्रों के या क्षोम (linen) का या दोनों से मिलकर, इसका बना हो, यह सफेद या क्रीम के रंग का हो। इसकी तोल 9–10 कि॰ ग्रा॰ (आकार 51×71 सें॰ मी॰ फ॰ 500 कागज) होनी चाहिये। इसका पी॰ एच॰ 5 5 से कम न हो। अन्य वैशिष्ट्यों के लिए मूल पुस्तक देखें।[1]

2 ऊति (टिशू) पत्र —पाडुलिपियों की चिकित्सा के लिये निम्न विशेषताओं वाला पत्र होना चाहिये

(1) इसमे एलफा सेल्यूलाज 88 प्रतिशत से कम न हो,

(2) तौल और आकार 25–35 कि॰ ग्रा॰ (63 5×127 स॰ मी॰ 500 पत्रों)।

(3) राख 0 5 प्रतिशत से अधिक नहीं।

(4) पी॰ एच॰ 5 5 से कम नहीं।

इसमे तैल या मोम के तत्त्व न हो।

3 शिफन (Chiffon) जालिवसन —जिसमे जालरध्र की सख्या 33×32 प्रति वर्ग सें॰ मी॰ (83×82 प्रति इच) हो। इसकी मोटाई 0 085 मि॰ मी॰ (औसतन) हो। पी॰ एच॰ 6 0–6 5।

4 तैल कागज या मोमी कागज —यह ऐसा हो कि पानी न छने और डैक्सट्राइन या लेई (Starch Paste) की चिपकन को न पकड़े। साथ ही, इसके तैल और मोम के अश कागज पर धब्बे न डाले।

इनकी तौल निम्न प्रकार की हो तो अच्छा है,

तैल कागज 22 7 कि॰ ग्रा॰ (61×46 सें॰ मी॰ 500 पत्र)

मोमी कागज ,, ,,

5 मलमल यह चित्रों और चार्टों पर चढ़ाई जाती है। यह मध्यम आकार की यानी फुलस्कैप व दुगने आकार से भी बड़ी हो। बढ़िया किस्म की औसत से 0 1 मि मी मोटाई की। इसके सूत मे कोई गाठ नहीं होनी चाहिये।

6 लकलाट —(Long cloth)

7. सेल्यूलोज एसीटेट फायल —यह पर्ण पाडुलिपि का परतोपचार (लेमीनेशन) करने के काम आता है यह पर्ण 107 सें मी (42 इच) चौड़े बेलनों के रूप में मिलता है। परतोपचार के लिए यह पर्ण 0223 मि मी मोटाई का अच्छी लोच वाला, अर्द्ध-आर्द्रता कवचित (Semi moisture proof), इसमे नाइट्रेट अश न हो।

चिकित्सा

1 चौरस करना

पाडुलिपि पत्र के किनारे तुड़े मुड़े हो तो उन्हे चौरस कर देना चाहिये। इसके लिए पहले भीगे ब्लॉटिंग कागज को पन्नो के किनारो पर कुछ देर रख कर उन्हे नम किया जाय

1. Bhargava, K D Repair and Preservation of Records

फिर रखे ब्लॉटिंग कागज उस पर रखकर भाइरन को कुछ गरम करके उसको त्वरित कर दिया जाय और हाथ के कागज की कतरन चिपका कर किनारे ठीक कर दिये जायें। यदि लिखावट दोनो ओर हो तो टिश्यू कागज का उपयोग किया जाय। यदि पत्र बीच मे जहाँ-तहाँ कटा-फटा हो तो उन स्थानो पर पत्र की पीठ पर हाथ के कागज की चिप्पियाँ चिपका दें। यदि दोनो ओर लिखावट हो तो टिश्यू-कागज चिपका दें।

चिपकाने मे गाद और पेस्ट का उपयोग नही होना चाहिये क्योकि ये भीगने पर फूलत हैं और गरमी मे सूखते है और सिकुडते हैं। इसके लिए मैदा की लेई जिसमें थोडा नीला थोथा हो तो अच्छा रहता है, किन्तु दो तीन दिन बाद फिर नई लेई बनानी चाहिये। टिश्यू कागज का उपयोग किया जाय तो यह लेई नही डेक्सट्राइन (dextrine) या स्टार्च की पतली लेई काम मे लानी चाहिय।

2. अन्य चिकित्साएँ :

पूरा पृष्ठ पर्णन, टिश्यू चिकित्सा, शिफन् चिकित्सा तथा परतोपचार। तड़कने वाले (Brittle) कागजो का सैल्यूलाइज एसीटेट पर्ण से परतोपचार करना आधुनिक पद्धति है। इसके लिए समीचीन परतोपचारक प्रेस (दाब-यन्त्र) की आवश्यकता होती है, उसके अन्य उपकरण भी होते हैं। सब मिलाकर बहुत व्यय पडता है, एक लाख रुपया तो आसानी से लग सकता है, किन्तु इसके लिये विकल्प भी है, जहाँ इतना कीमती यन्त्रादि नही लिए जा सकते वहाँ विकल्प वाली पद्धति से परतोपचार (Lamination) किया जा सकता है।

(क) पूर्ण पृष्ठ पर्णन

पाडुलिपि का कागज तिरकना हो गया हो, उसका पूर्ण पृष्ठ पर्णन द्वारा चिकित्सा कर दी जाती है। पाडुलिपि एक ओर लिखी हो तो पीठ पर पूरे पृष्ठ पर वर्णन किया जाता है। हाँ, ऐसी पाडुलिपि के पन्ने की पीठ को पहले साफ कर लेना होगा। यदि पीठ पर पहले की चिप्पियाँ चिपकी हो तो उन्हें छुटा देना चाहिये। इसकी प्रयोग-विधि का वर्णन इस प्रकार है।

पाडुलिपि के पन्ने को मोमी कागजो या तैली कागजो के बीच मे रख कर पानी मे आधे से एक घटे तक डुबा कर रखें, फिर निकाल लें। अब चिप्पियाँ आसानी से छुटाई जा सकती हैं। यदि पाडुलिपि की स्याही पानी मे डालने से फैलती हो तो इसे पानी मे न डुबाएँ, अन्य विधि का उपयोग करें चिप्पियो के आकार की ब्लॉटिंग पेपर की चिप्पियाँ काट कर पानी मे भिगो कर चिप्पियो के ऊपर रख दें। जब गोद कुछ ढीला होने लगे तो छुटा लें।

जब पाडुलिपि की पीठ साफ हो जाय तो पाडुलिपि के पन्ने के आकार से कुछ बडा हाथ का बना कागज (पूरा कागज चियडो से बना) लिया जाय। यह कागज पानी मे डुबा कर शीशे से युक्त मेज पर फैला दिया जाय, यदि मेज लकडी की हो और ऊपर शीशा न हो तो मोमी या तैली कागज उस पर फैला कर, इस कागज पर वह भीगा कागज फैलाया जाय और एक मुलायम कोमल कपडे को फेर कर उसकी सिलवटें निकाल कर उसको कुंडलित रूप म घड़ी कर लें, इस प्रकार वह बेलन के आकार का हो जायगा। तब पाडुलिपि के पन्ने को तैली कागज पर औंधा बिछा कर उस पर लेई (Starch Paste) ब्रुश से कर दीजिये। कुडलित हाथ बने कागज को एक छोर पर ठीक बिठा कर इस

कागज को ऊपर फैला दें। साथ ही एक कपड़े से या रूई के swale से उसे पाडुलिपि पर दाब-दाब कर भली प्रकार जमा दें। तब पाडुलिपि को तैल-कागज पर से उठा लें और दाब मे रख कर सूखने दें। इस समय पाडुलिपि की पीठ नीचे होगी। सूख जाने पर 2 3 मि मी पाडुलिपि मूल-पत्र के चारो ओर इस कागज की गोट छोडकर शेष को कैंची से कतर दीजिये। 2–3 मि मी चारो ओर इसलिये कागज छोडा जाता है कि पाडुलिपि के किनारे गुड-मुड न हो।

शिफन-चिकित्सा

शिफन या उच्च कोटि की पारदर्शी सिल्क का गॉज इन पाडुलिपिया पर लगाया जाता है जो बहुत जर्जर, स्याही से खाई हुई या कीडो ने खाली हो।

पाडुलिपि के पत्र को साफ कर लें। उस पर लगी चिप्पियो को हटा दें, और उसे मोमी या तैल कागज पर भली प्रकार बिछा दें। उस पर शिफन का टुकडा, जो पाडुलिपि से चारो ओर से कुछ बडा हो, फैला दें। अब ब्रुश से लेई (स्टार्च पेस्ट) लगा दें—लेई लगाना बीचोबीच केन्द्र से शुरू करें और चारो ओर फैलाते हुए पूरे शिफन पर लगा दें। इस पाडुलिपि को मोमी या तैल कागज सहित दूसरे मोमी या तैल कागज पर सावधानी से उलट दें जिससे सिलवटें न पडें। पहले वाला तैली कागज, जो अब ऊपर आ गया है, उसे धीरे धीरे पाडुलिपि से अलग कर लें, अब पाडुलिपि के इस ओर भी पहले की तरह शिफन का टुकडा बिछा कर बीच से लेई लगाना शुरू करें और पूरे शिफन पर लेई बिछा दें। अब उसे सूखने दे। आधा सूख जाने पर दूसरा तैली या मोमी कागज ऊपर से रख कर दाब-यन्त्र मे या दो तख्तो के बीच रखकर ऊपर से दाब के लिए बोझ रख दें। पूरी तरह सूख जाने पर पाडुलिपि को सम्भाल कर निकाल लें और किनारो से बाहर निकले शिफन को कैंची से कतर दें।

यदि पाडुलिपि की स्याही पानी से घुलती हो या फैलती हो तो इस प्रक्रिया मे कुछ अन्तर करना पडेगा। तैली या मोमी कागज पर पाडुलिपि से कुछ बडा शिफन का टुकडा बिछा दें और लेई (स्टार्च पेस्ट) बीच से आरम्भ कर चारो ओर बिछा दें। उस पर पाडुलिपि जमा दें। उसके ऊपर मोमी या तैली कागज फैला कर दाब दें। तब शिफन का दूसरा टुकडा लेकर तैली या मोमी कागज पर रख कर उपर्युक्त प्रकार से लेई लगा दें और उस पर पाडुलिपि उस पीठ की ओर से बिछा दें जिस पर शिफन नही लगा। उस पर मोमी या तैली कागज रख कर दाब मे यथापूर्व सुखा लें। सूख जाने पर किनारों से बाहर निकले शिफन को कैंची से कतर दें।

टिश्यू-चिकित्सा

जिन पांडुलिपियों की स्याही फीकी नही पडी और जो अधिक जीर्ण नहीं हुए उनकी चिकित्सा टिश्यू-कागज से की जाती है। इसमे सरेसरहित इमिटेशन जापानी टिश्यू-कागज हो, जिसमे तैली या मोमी अश न हों, काम म आता है। तैली या मोमी कागज पर पांडुलिपि साफ करके फैला दें। उस पर पतला लेप डैक्सट्राइन (Dextrine) का कर दें। पांडुलिपि से कुछ बडा उस प्रकार का टिश्यू कागज लेकर अब पांडुलिपि पर फैला दें और भीगे कपडे या रूई के फाहे से इस कागज को पांडुलिपि पर दाब दें। इसी प्रकार पांडुलिपि की दूसरी ओर भी टिश्यू कागज लगा दें।

किया जाय। डब्लू. जे. बैरो (W. J. Barrow) ने इसके लिए बहुत कारगर चिकित्सा निकाली है। इस चिकित्सा में कैलसियम हॉइड्रॉक्साइड और कैलसियम बाईकारबोनेट के घोल से कागज को स्नान कराते हैं। इससे कागज की अम्लता दूर हो जाती है तथा आगे भी अम्ल के प्रभाव से कागज की रक्षा हो जाती है, अतः अन्य बाह्य चिकित्साओं से पहले यह अम्ल-निवारण-चिकित्सा करनी चाहिये। राष्ट्रीय-अभिलेखागार (National Archives) मे अम्ल-निवारण की जो पद्धति अपनायी जाती है, वह कुछ इस प्रकार है :

पहले दो घोल तैयार किये जांय

1 कैलसियम हाइड्रॉक्साइड का घोल (घोल–1)

5–8 लीटर की क्षमता का शीशे का जार (Jar) लेकर उसमे आधा किलो अच्छी किस्म का खूब पिसा हुआ कैलसियम आक्साइड लें और 2–3 लीटर पानी लें और थोडा-थोडा चूर्ण जार मे डालते जाय और तद्नुसार पानी भी डालें और उसे हलके-हलके चलाते जायें। यो हिलाते-हिलाते समस्त चूर्ण और पानी मिल कर दूधिया क्रीम-सी बन जायगी। यह क्रिया बहुत हलके-हलके करनी है। यह घोल बन जाये, 10–15 मिनट बाद इस घोल को 25–30 लीटर की क्षमता के इनामिल्ड (Enamelled) या पोर्सीलिन के जार म भर देना चाहिये। अब फिर हलके-हलके चलाते हुए इसमें पानी डालना चाहिये, इस प्रकार घोल का आयतन 25 लीटर हो जाना चाहिये, अब इसे नियरने के लिए कुछ देर छोड देना चाहिये। इससे चूना नीचे बैठ जायगा। अब पानी को हलके से नियार कर अलग कर दिया जायगा और अब फिर धीरे-धीरे चलाते-चलाते उसमें पानी मिलाइए, यहाँ तक कि आयतन मे फिर 25 लीटर पानी हो जाय। इस घोल को बराबर और खूब चलाते जाना चाहिये। 25 लीटर पानी हो जाने पर पुनः चूने को तल मे बैठने दें। इस प्रकार अपेक्षा से अधिक चूना तल मे बैठ जायगा। अब दूधिया रग का पानी उसके ऊपर रहेगा। इसे निथार कर अलग रख लें। यही अपेक्षित घोल है, जो हमारे काम मे आयेगा। बैठे हुए चूने मे 25 लीटर पानी फिर मिलाइए और खूब अच्छी तरह चलाइए। फिर चूने को तल मे बैठने दीजिये और ऊपर का दूधिया पानी निथार कर काम के लिये रख लीजिये। इस प्रकार वही मात्रा कैलसियम की 15–20 बार कैलसियम हाइड्रॉक्साइड का काम का घोल दे सकेगी।

अब दूसरा घोल तैयार करें :

2 कैलसियम बाईकार्बोनेट घोल (घोल–2)

25–30 लीटर की क्षमता का इनामिल्ड या पोर्सीलिन के जार मे 1/2 किलो बहुत महीन चूर्ण कैलसियम कार्बोनेट का घोल बनाये और उसे खूब चलाते-चलाते उसमे से कार्बन डाइआक्साइड गैस 15–20 मिनट तक प्रवाहित करें। इससे कैलसियम बाइकार्बोनेट का अपेक्षित घोल मिल जाता है।

इसे बनाने की एक वैकल्पिक विधि भी है। पहले स्वच्छ (2) घोल को लेकर उसमें दुगुना पानी मिलाइये, अब इस घोल को हिलाते-हिलाते चलाते-चलाते इसमे से कार्बन डाइऑक्साइड गैस प्रवाहित कीजिये, पहले इसका रंग सफेद हो

जायगा, तब भी चलाते-चलाते और गैस प्रवाहित करें, अब यह स्वच्छ जल जैसा घोल हो जायगा। 30 लीटर के घोल को 30–48 मिनट तक गैसोपचार देना होता है। अपेक्षित घोल कैलसियम बाईकार्बोनेट का पाने के लिए।

जब ये दोनो घोल तैयार हो जाय तो निम्न विधि से पाडुलिपियो का निरम्लीकरण किया जाना चाहिये

विधि

तीन इनामिल्ड तश्तरियाँ इतनी बडी कि उनमे अपने भण्डार से बडी पाडुलिपि समा सके, लें। एक तश्तरी मे कैलशियम हाईड्रॉक्साइड का घोल (0 15 प्रतिशत का) दूसरी मे ताज़ा स्वच्छ जल, तीसरी मे कैलसियम बाइकार्बोनेट का घोल (0 15 प्र०श० का) भर कर रखें। अब मोमी कागज (मोमी कागज की बजाय स्टेनलैस स्टील के तारो की बुनी पेटिका मे रख कर भी डुबाया जा सकता है) पाँडुलिपि के आकार से बडा लेकर उस पर पाडुलिपियो के इतने कागज रखें कि वे तश्तरियो के घोल मे डूब सकें—उन्हे मोमी कागज नीचे रख कर कैलशियम हाइड्रॉक्साइड के घोल मे डुबा दे। 20 मिनट डूबे रहने दें, फिर निकाल कर पहले पाडुलिपियो मे से घोल निचोड दे, तब दो मिनट के लिए इस पाडुलिपि को स्वच्छ जल मे डुबो लें। अन्त मे कैलशियम बाईकार्बोनेट के घोल में 20 मिनट तक रखे। उसमे से निकाल कर घोल निचोड देने के बाद फिर स्वच्छ जल मे 2 मिनट के लगभग रखे। घोलो मे और पानी मे डुबोने पर तश्तरियो के घोलो और पानी को हलके हलके तश्तरियो को एक ओर से कुछ उठा कर फिर दूसरी ओर से कुछ उठा कर हिलाते रहना चाहिये।

यह उपचार हो जाने के बाद पानी निचोड दे और कागजो के ऊपर दोनो ओर सोख्ते रख कर दाब से पानी सुखा दें, फिर उन्हें रैको पर सूखने के लिए रख दें—यह *ध्यान रखना होगा कि जब तक ये पूरी तरह न सूख जाय तब तक इनको उलटा-पलटा* न जाय।

अमोनिया गैस से उपचार

उक्त उपचार उन्ही पाडुलिपियो का हो सकता है, जिनकी स्याही पक्की है, और जो पानी मे न तो फैलती हैं, न घुलती हैं अत. उपचार से पहले स्याही की परीक्षा करनी होगी। यदि स्याही पर पानी का प्रभाव पडता है, तो उसके कागज के निरम्लीकरण करने के लिए एक अन्य विकल्प से काम लेना होगा। यह विकल्प है अमोनिया गैस से उपचार। इसके लिए खानो वाली ऐसी अलमारी की आवश्यकता होती है जिसमे खाना के तख्ते चलनी की भाँति छेदो से युक्त होते हैं। इन पर पाडुलिपियाँ खोल कर फैला दी जाती हैं। अब 1 10 अनुपात म पानी मे अमोनिया का घोल बना कर एक तश्तरी मे सबसे नीचे के खाने के तल म रख दें। इस प्रकार अमोनिया गैस कागजों का निरम्लीकरण कर देगी। चार-पाँच घण्टों के लिए अलमारी बिल्कुल बद करके रखनी होगी। इसके बाद, इन पांडुलिपियो को 10–12 घण्टे स्वच्छ वायु मे रखना होता है।

ताडपत्र एव भोजपत्र का उपचार

कीड़े-मकोडा से रक्षा के लिए तो पड़ी और घोडा बेच कपड़े में बाँध कर बस्तों

मे या अलमारियो मे रखने से कीडे-मकोडे नही आते। आजकल नेफ्थलीन की गोलियाँ या कपूर से भी यह काम लिया जा सकता है।

तिरकने वाले (Brittle) ताड एव भोजपत्रो का उपचार पहले कागज के लिए बताए शिफन-उपचार की विधि से किया जाना चाहिये। शिफन ताडपत्र के आकार से चारो ओर से कुछ बडी होनी चाहिये ताकि पत्रो के किनारे क्षतिग्रस्त न हो सकें। कुछ विशेष सुरक्षा के लिए शिफन उपचारित पाडुलिपियो को पाडुलिपि के योग्य पुट्ठे के खोलो या बक्सो मे रख देना चाहिये।

ताडपत्रो एव भोजपत्रो पर धूल जम जाती है जो उन्हे क्षति पहुँचाती है। इनमे से जिनकी स्याही पानी से प्रभावित न हाती हो उनकी सफाई पानी मे ग्लिसरीन (1:1) का घोल बना कर उससे रूई के फाहे से करनी चाहिये। जिनकी स्याही पानी से प्रभावित होती हो, उनकी सफाई कार्बन टेट्राक्लाराइड या ऐसीटोन से की जानी चाहिये।

ताडपत्र या भोजपत्र, जा काजल की स्याही से लिखे गये है, यदि उनकी स्याही फीकी पड जाय या उड जाय तो उनका उपचार नही हो सकता है, किन्तु यदि ताडपत्र पर शलाका से कौर कर लिखा गया है तो उनकी स्याही उड जाने पर उपचार सम्भव है। तब ग्रेफाइट का चूर्ण रूई के पैंड से उस ताडपत्र पर मला जाता है और बाद मे रूई के फाहे से उसे पोछ दिया जाता है, जिससे ताडपत्र मे अक्षर स्याही से जगमगाने लगते हैं और ताडपत्र स्वच्छ भी हो जाता है।

यदि ताडपत्र या भोजपत्र चिपक जायें तो इन्हे तरल, गर्म पैराफीन मे डुबोया जाता है और तब बहुत अधिक सावधानी से एक-एक पत्र अलग किया जाता है। इस प्रक्रिया के लिए बहुत अभ्यास अपेक्षित है। बिना अभ्यास के पत्रो को अलग करने से ग्रन्थ की हानि हो सकती है, अतः दक्ष और अभ्यस्त हाथो से ही यह काम करना चाहिये।

ऊपर ग्रन्थो के रख-रखाव और सुरक्षा और मरम्मत के लिए जो उपचार दिये गये हैं, उनमे डैक्सट्राइन तथा स्टार्च की लेई का उपयोग बताया गया है। इनके बनाने की विधि निम्न प्रकार है

डैक्सट्राइन की लेई

डैक्सट्राइन	2 5 किलो
पानी	5 0 किलो
लौंग का तेल	40 ग्राम
सफ्फरोल	40 ग्राम
बेरियम कार्बोनेट	80 ग्राम

विधि

एक पीतल की देगची मे पानी उबालने रखें। 90° सें॰ का तापमान हो जाने पर डैक्सट्राइन का चूर्ण पानी मे मिलाइये, धीरे-धीरे पानी को खूब चलाते जाइये ताकि डैक्सट्राइन समान रूप से मिले और गुठले न पडने पायें। 2 5 किलो डैक्सट्राइन इस विधि से मिलाने मे 30-40 मिनट तक लग सकते हैं। अब इस घोल को बराबर चलाते जाइये और इसमे बेरियम कार्बोनेट और मिला दीजिये। तब लौंग का तेल और सफ्फरोल भी

डाल दीजिये, और सबको एकमेल कर दीजिये। सबके भली-भाँति मिल जाने पर 6–8 मिनट तक पकाइये, तब आग से उतार लीजिये। डैक्स्ट्राइन की लेई तैयार है।

मैदे (स्टार्च) की लेई

मैदा	250 ग्राम
पानी	5 00 किलो
लौंग का तेल	40 ग्राम
सफ्फरौल	40 ग्राम
बेरियम कार्बोनेट	80 ग्राम

बनाने की विधि ऊपर जैसी है, केवल डेक्स्ट्राइन का स्थान मैदा ले लेती है।

चमडे की जिल्दो की सुरक्षा

कुछ पाडुलिपियाँ चमडे की जिल्दो मे मिलती हैं। चमडा मजबूत वस्तु है और पाडुलिपि की अच्छी रक्षा करता है। फिर भी वातावरण के प्रभाव से कभी कभी यह भी प्रभावित होता है जिसस चमडा भी तडकने लगता है, अत चमडे की सुरक्षा भी आवश्यक है।

इसके लिए पहले तो चमडे को निरम्ल करना होगा। एक मुलायम कपडे की गदेली से पहले जिल्द के चमडे से धूल के कण बिल्कुल हटा दें। फिर 1–2 प्रतिशत सोडियम बैनजोएट (Sodium Benzoate) के घोल से भीगे फाहे से जिल्द पर वह घोल पोत दें और जिल्द का सूख जाने दें।

इसके बाद नीचे दी गई वस्तुओ से बने मिक्शचर से उसे उपचारित करें

1	लेनोलिन एन्हीड्रस	300 ग्राम
2	शहद के छत्ते का मोम	15 ग्राम
3	सीडर वुड तेल	30 मि०ग्रा०
4	बेनजीन (Benzene)	350 मि०ग्रा०

पहले बेनजीन को कुछ गरम करके उसमे मोम मिला दिया जाता है। तब सीडर-वुड तेल मिलाते हैं और बाद मे लेनोलिन इस मिक्शचर को खूब हिला कर काम मे लेना चाहिये। इसे एक ब्रुश से चमडे पर भली प्रकार चुपड देना चाहिये। उसके सूख जाने पर भण्डार मे यथास्थान रख दिया जाना चाहिये। इससे चमडे की आब पहले जैसी हो जाती है, और यह भली प्रकार पुष्ट भी हो जाता है।

यह मिक्शचर अत्यन्त ज्वलनशील है, अत आग से दूर रखना चाहिय। यह सावधानी बहुत आवश्यक है।

वस्तुत रख-रखाव का पूरा क्षेत्र 'प्रबन्ध-प्रशासन' के अन्तर्गत आता है। प्रबन्ध-प्रशासन एक प्रसग ही अंग है, जिस पर अलग से ही विचार किया जा सकता है। इसके लिए कितने ही प्रकार के प्रशिक्षण भी दिये जाने लगे हैं, यह सीधे हमारे क्षेत्र मे नहीं आता है, पर रख रखाव का पाडुलिपि पर बहुत प्रभाव पडता है, इसलिए कुछ चर्चा इस विषय की यहाँ भारतीय अभिलेखागार (नेशनल आर्काइव्ज) से प्रकाशित दो महत्त्व-पूर्ण पुस्तकों के आधार पर कर दी गई है।

इस विषय के अच्छे ज्ञान के लिए इन्हीं पुस्तकों मे कुछ चुनी हुई उपयोगी सामग्री का विवरण भी दिया गया है, उस विवरण मे से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है :

Back E A — Book-worms
पुस्तक-कीटो के सम्बन्ध म यह लेख 'द इडियन आरकाइव्स' नामक पत्रिका के खड सख्या 2, 1947 मे निकला। यह पत्रिका 'नेशनल आर्काइव्ज ऑव इडिया', नई दिल्ली का प्रकाशन है।

Barrow, W J — Manuscripts and Documents, Their Deterioration and Restoration
यह पांडुलिपियो और अभिलेखों के ह्रास और चिकित्सा पर, 'यूनीवर्सिटी ऑव वर्जीनिया, प्रेस', शारलोटस विले, वरजीनिया का प्रकाशन है।

Barrow, W J — Procedure and Equipment in the Barrow Method of Restoring Manuscripts and Documents
बरो प्रणाली से पाडुलिपियो और अभिलेखो की चिकित्सा की प्रविधि और उसके लिए अपेक्षित यन्त्र-साधनादि पर यह कृति 'यूनीवर्सिटी ऑव वरजीनिया प्रेस' से प्रकाशित है।

Basu Purnendu — Common Enemies of Records.
अभिलेखो के सामान्य शत्रुओ पर यह लेख 'द इडियन आरकाइव्ज' के खड–5, अक 1, 1951 मे प्रकाशित।

Chakravorti, S — Vaccum Fumigation : A New technique for Preservation of Records
वाष्पीकरण से अभिलेखो की सुरक्षा पर यह कृति 'साइन्स एंड कल्चर' · अक II (1943–44) मे प्रकाशित।
A Review of Lamination Process
परतोपचार चिकित्सा पर यह कृति 'द इंडियन आरकाइव्स' मे खड 1, अक 4, 1947 मे प्रकाशित।

Goel, O P. — Repair of Documents with Cellulose Acetate on small scale
यह सेल्यूलोज एसीटेट चिकित्सा पर लेख 'द इडियन आरकाइव्ज' खड 7, अक 2, 1953 मे प्रकाशित।

Gupta, R. C. — How to Fight White Ants
दीमक से रक्षा पर यह कृति 'द इडियन आरकाइव्ज' खड 8, अक 2, 1954 मे प्रकाशित।

Kathpadia, Y. P. — Hand Lamination with Cellulose Acetate
हाथ से सेल्यूलोज ऐसीटेट से परतीकरण चिकित्सा पर कृति 'अमेरिकन आर्किविस्ट', जुलाई, 1959 में प्रकाशित।

Majumdar, P C — Birch-bark and Clay-coated Manuscripts
भोजपत्र तथा मृद्लेपित पाडुलिपियो पर यह कृति 'द इडियन आरकाइव्ज' के खड-11, अक-1-2, 1956 म प्रकाशित।

Ranbir Kishore — The Preservation of Rare Books and Manuscripts
दुर्लभ ग्रन्थो और पाडुलिपियो की सुरक्षा पर यह कृति 'द सनडे स्टेट्समैन' मार्च 1, 1955 मे प्रकाशित।

" " — Preservation and Repair of Palm leaf Manuscripts
ताडपत्र की पाडुलिपियो की सुरक्षा और चिकित्सा पर यह कृति 'द इडियन आरकाइव्ज' खड-14 (जनवरी 1961-दिसम्बर 1962) मे प्रकाशित।

Talwar, V V — Record Materials Their Deterioration and Preservation
अभिलेख सामग्री के रुग्ण होने और सुरक्षा पर यह कृति 'जरनल ऑव द मध्य-प्रदेश इतिहास परिषद', भोपाल, अक-11 (1962) मे प्रकाशित।

उक्त साहित्य से प्रस्तुत विषय पर कुछ और अधिक जानकारी मिल सकती है।

यहाँ हमने ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन और उसके साथ नवीन वैज्ञानिक रक्षा-प्रणालियो पर प्रकाश डाला है। यह कहने की आवश्यकता नही है कि पाडुलिपि विज्ञान के विद्यार्थी के लिए रख-रखाव के विषय म इतना ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है।

उपसहार

अब इस ग्रन्थ का समापन करते हुए इतना ही कहना और शेष है कि 'पाडुलिपि-विज्ञान' की वस्तुत यह प्रथम पुस्तक है। इसम विविध क्षेत्रो से आवश्यक सामग्री लेकर एक सूत्र म गूथ कर एक नये विज्ञान की आधार शिला प्रस्तुत की गई है भरोसा यह है कि इससे प्रेरणा लेकर यह विज्ञान और अधिक पल्लवित, पुष्पित एव फलित होगा।

□□□

परिशिष्ट-एक

(प्रथम अध्याय के पृष्ठ 17 के लिए यह परिशिष्ट है)

कुछ और प्रसिद्ध पुस्तकालय

क्रम संख्या	समय	स्थान/नाम	विवरण
1.	2300 ई० पू० से पूर्व	ऐब्ले [आधुनिक तेल्लमारडिख (Tellmardich) के निकट]	सीरिया में मिट्टी की ईंटों पर लेख मिले हैं। इनकी लिपि क्यूनीफार्म रूप की है। इन ईंटों के लेखों को पढ़ने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। ऐब्ले में प्राचीन संस्कृति का केन्द्र था। वहीं यह पुस्तकालय था।
2	324 ई० पू० से पूर्व	तक्षशिला (सिकन्दर ने इसे बहुत समृद्ध और विशाल नगर पाया)	'मिट्टी के सनम' में श्री कृष्ण चन्दर ने लिखा है — "राजा साहब से लौटकर टेक्सला आए, जहाँ पुराने जमाने की सबसे पुरानी और ऐतिहासिक तक्षशिला यूनीवर्सिटी के खण्डहर खोदे जा रहे थे। तक्षशिला के एस्कीथियेटर, तक्षशिला के होस्टल, तक्षशिला के नहाने के तालाब यूनिवर्सिटी के दूसरे प्रबन्ध देख कर अक्ल दंग रह जाती है कि आज से हजारों वर्ष पूर्व इस पुरानी यूनिवर्सिटी में शिक्षा-दीक्षा की कितनी उत्तम और उच्च व्यवस्था थी।" (धर्मयुग, 27 फरवरी, 1966, पृष्ठ 31)। यहीं पाणिनि जैसे वैयाकरण ने, जीवक जैसे वैद्य ने, और चाणक्य जैसे *राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री ने यहीं* शिक्षा पायी थी। ऐसे विश्वविद्यालय में ऐसा ही महान पुस्तकालय रहा होगा। इसमें क्या संदेह किया जा सकता है? इसके गगू नामक स्तूप से खरोष्ठी लिपि में लिखा सोने का एक पत्तर जनरल कनिंघम को मिला था। इसमें एक

1	2	3	4
			आचार्य के पास 500 छात्र अध्ययन करते थे। इसमे विश्व ख्याति के कई आचार्य थे। "Takshila contained the celebrated University of Northen India (Rajovad-Jataka) up to the first century A D like Balabhi of Western, Nalanda of Eastern, Kanchipura of Southern and Dhanakataka of Central India"
3.	246 ई० पू० से पूर्व	पाटलिपुत्र/पटना	246 ई० पू० मे तृतीय बौद्ध परिषद् हुई थी। इसमे बौद्ध-सिद्धान्त ग्रन्थो पर चर्चा हुई थी। पाटलिपुत्र अजातशत्रु के दो मन्त्रियो ने बसाया था। मौर्यकाल मे यह विशिष्ट विद्या का केन्द्र था।
4.	140 ई० पू०	काश्मीर	पतजलि काश्मीर मे रहे थे।
5		काश्मीर सरस्वती मदिर, काश्मीर	यहाँ से आठ व्याकरण ग्रथ हेमचन्द्राचार्य के लिए मगाये गए थे।
6	80 ई० पू०	लका	बौद्ध ग्रन्थ लिपिबद्ध किये गए थे।
7		लका—हगुरनकेत, विहार (कडि जिले मे)	इसके चैत्य मे हजारो रुपये के बहुमूल्य ग्रन्थ गढवा दिये गए थे। चाँदी के पत्रो पर 'विनय पिटक' के दो प्रकरण, अभिधम्म के सात प्रकरण तथा 'दीर्घ-निकाय' गढवाये गए थे।
8.		तेइचिङ्	चीन का यह पुस्तकालय भी प्राचीन होना चाहिए। तुनहाङ की शेष 8000 वलिताएँ इसी पुस्तकालय मे भेज दी गयी थी। (डॉ० लोकेशचन्द जी ने बताया है कि उनके पिताश्री डॉ० रघुवीर इन 8000 वलिताओ की माइक्रो-फिल्म करा लाये थे। ये उनके सग्रह मे हैं)।
9	126 ई०	उज्जैन	उज्जैन बहुत पुराना नगर है। भारतीय संस्कृति का यहाँ स्रोत था। सम्राट

1	2	3	4
			अशोक यहाँ रहे थे। विक्रमादित्य की राजधानी थी। यह नव-रत्नों की नगरी है। यहाँ ग्रन्थागार थे। भगवान कृष्ण के गुरु सांदीपनि का आश्रम अंकपाद उज्जैन से कुछ ही दूर है। महाभारत युग में यहाँ प्रसिद्ध विद्यापीठ था, भर्तृहरि की गुफा भी उज्जैन में है। भर्तृहरि विद्वान और योगी थे। उनके पास भी अच्छा ग्रन्थागार था।
10.	160 ई०	माडिवीसा (उडीसा)	नागार्जुन ने विहार स्थापित कराये। इनमे पुस्तकालय होंगे ही।
11.	160 ई०	धान्यकूट	नागार्जुन ने यहाँ के मन्दिरों की परिख (railing) बनवायी। नागार्जुन ने बौद्ध विश्वविद्यालय भी स्थापित किया था, पुस्तकालय होगा ही।
12	222 ई०	मध्य भारत	यहाँ से धर्मपाल इस वर्ष चीन गया। चीन मे इसने 'पाति मोक्ष' का अनुवाद 250 ई० मे किया था।
13	241 ई०	वू का राज्य	Sang-hurui श्रमण ने विहार बनवाया। 251 ई० मे अनुवाद कार्य प्रारम्भ किया।
14	252 ई०	लोयाग (चीन)	अनुवाद पीठ। 313 से 317 तक 'तुनह्वाङ' के श्रमण धर्मरक्ष ने अनुवाद कार्य किया।
15	366 ई०	तुनह्वाङ (मध्य एशिया) [गोवी रेगिस्तान के किनारे]	इसमे 30 000 वलिताएँ थी। 1957 वि० मे अनायास ही इनका पता चला था। सहस्र बुद्ध गुफा के चैत्य की कुछ पाण्डुलिपियाँ भारत मे मध्य एशियाई सग्रहालय में हैं। (266 ई० मे 'चु-फाम्हु' अर्थात् 'धर्मरक्ष' श्रमण तुनह्वाङ लोयाग गया था। 366 से 100 वर्ष पूर्व ही 'तुनह्वाङ' मे अच्छा पुस्तकालय स्थापित हो चुका होगा।)

1	2	3	4
16.	381 ई०	कुभा	यहाँ के श्रमण सघभूति ने चीनी भाषा मे अनुवाद किया।
17.	383 ई०	चंग-ग्रन (चीन)	गौतम सघ देव का अनुवाद पीठ था।
18.	383 ई०	लिग्रग-पाउ (चीन)	कुमार जीव श्रमण ने यहाँ बहुत से बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद सन् 402 से 412 के बीच किया।
19	500 ई० से पूर्व	थानेश्वर विश्वविद्यालय	इसका उल्लेख ह्वेनसाग ने भी किया है। हर्ष के गुरु 'गुणप्रभ' का इस विश्वविद्यालय से सम्बन्ध रहा होगा।
20.	568 ई० से पूर्व	दुड्डा बौद्ध विहार (वलभी)	वलभी सौराष्ट्र की राजधानी था। यहाँ 84 जैन मन्दिर थे। यह बौद्ध विद्या-केन्द्र हो गया था। विश्वविद्यालय और पुस्तकालय यहाँ थे। Balabhi....It became the capital of Saurashtra of Gujrat. It contained 84 Jain temples (SRAS XIII, 159) and afterwards became the seat of Buddhist learning in Western India in the seventh century A. D., as Nalanda in Eastern India (Ancient Geographical Dictionary).
21	630 ई० से पूर्व	नालदा	ह्वेनत्साग के भारत आगमन के समय यह प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था। उस समय इसमे धर्मपाल के शिष्य और उत्तराधिकारी शीलभद्र, भावाविवेक, जयसेन, चन्द्रगोमिन, गुणमति, वसुमित्र, ज्ञानचन्द्र एव रत्नसिंह आदि प्रसिद्ध विद्वान् यहाँ प्राध्यापक थे। इनका उल्लेख ह्वेनत्साग ने किया है। ज्ञानचन्द्र एव रत्नसिंह इत्सिग के भी प्राध्यापक थे, ऐसा इत्सिग ने लिखा है। ह्वेनसाग के समय मे 10000 भिक्षु इसमे रहते थे।

1	2	3	4
22	8वीं शती ई०	विक्रम शिला (बिहार)	इसे धर्मपाल ने स्थापित किया था, ऐसा विश्वास है। इनके समय मे इसके प्रमुख थे — श्रविद्ध ज्ञान पाद। इसके छह द्वार, जिन पर एक-एक विद्वान पण्डित नियुक्त था। इस विश्वविद्यालय मे वही व्यक्ति प्रवेश पा सकता था, जो शास्त्रार्थ मे इन द्वार-पण्डितो को हरा देता था। 12वी शती मे इसे बख्त्यार खिलजी ने नष्ट कर दिया था।
23	10वीं शती से पूर्व	सरस्वती महल तंजौर	इसे महाराजा सरफोजी ने सन् 1798–1832 के बीच विशेष समृद्ध किया था।
24.	1010 ई०	धार, भोज भाण्डागार	राजा भोज की नगरी थी। यहाँ भोज द्वारा स्थापित विद्यालय एव पुस्तकालय थे। सिद्धराज जयसिंह इसे श्रन्हिलवाडा ले गए थे।
25.	11वी शती से पूर्व	जैन भण्डार, जैसलमेर	श्री भण्डारकर ने बताया है कि यहाँ एक नही दस पुस्तक सग्रह हैं। (प्रकाशन सदेश, पृष्ठ 7, श्रगस्त-श्रक्टूबर, 65)।
26.	1140 ई०	भोज भण्डारगार	सिद्धराज जयसिंह की मालव विजय पर श्रन्हिलवाडा गया।
		उदयपुर	11 पुस्तकालय)
		बीकानेर	19 पुस्तकालय)
		हनुमानगढ	1 पुस्तकालय) श्री भण्डारकर ने ये
		नागौर	2 पुस्तकालय) पुस्तकालय देखे थे।
		श्रलवर	6 पुस्तकालय)
		किशनगढ	1 पुस्तकालय)
27.	1242–1262 ई०	चालुक्य–भाण्डागार, श्रन्हिलवाडा	चालुक्य वीसलदेव या विश्वमल्ल का।
28.	श्रादिम युग (1520 ई० से कुछ पूर्व इसका उद्घाटन स्पेनवासी लोगों ने किया था)	तक्षकोको (प्राचीन मैक्सिको)	स्पेन के हरनंडो कार्टेज ने दिसम्बर, 1520 मे तक्षकोको नगर पर विजय प्राप्त की। इस श्राक्रमण मे यहाँ का एक विशाल पुस्तकालय जला दिया गया। इसमे श्रनगिनत श्रमूल्य हस्त-लिखित ग्रन्थ थे।

1	2	3	4
29		युकातान (प्राचीन मैक्सिको)	युकातान प्रांत मे मय जाति की हजारों हस्तलिखित पुस्तकों के भण्डार थे। डीगो द लदा नाम के स्पेनी पादरी ने उन सबकी होली जलवा दी। यह सब 16वी शताब्दी मे हुआ। (कादम्बिनी, मार्च, 1975)
30	1540 ई० के लगभग	मुल्ला अब्दुल कादिर (अकबरी दरबार) के पिता, मलूकशाह का पुस्तकालय, बदायूँ	हेमू ने नष्ट किया।
31	1556 ई० के लगभग	आगरा	अकबर का शाही पोथीखाना। 30,000 ग्रन्थ थ।
32.		पद्मसम्भव द्वारा स्थापित तिब्बत का साम्येविहार पुस्तकालय	संस्कृत-तिब्बती भाषा के ग्रन्थो का भण्डार था।
33.	1592 ई० के लगभग	आमेर-जयपुर पोथीखाना	राजा भारमल्ल क समय से आरम्भ। 16000 दुर्लभ ग्रन्थ। 8000 महत्त्व-पूर्ण पुस्तकों का सूची पत्र 1977 मे श्री गोपाल नारायण बोहरा द्वारा सम्पादित, प्रकाशित। आमेर-जयपुर राजघराने न अपने 400 वर्षों के राज्य-काल मे इस संग्रह को समृद्ध बनाया।
34.	19वी शती से पूर्व	अस्त्राखान (रूस)	पाण्डुलिपि भण्डार है। अग्रदास कृत ध्यान मंजरी की प्रतिलिपि अस्त्राखान मे 1808-9 ई० मे की गयी। यहाँ हिन्दी और पंजाबी की भी पुस्तकें मिली हैं। यहाँ बुखारा मे प्रतिलिपि की गयी अनेक हिन्दी पुस्तकें मिली हैं। गुरु विलास तो सचित्र है। (धर्मयुग, 21 अक्टूबर, 1973)
35.	1871 ई० से पूर्व	बुखारा	यहाँ पुस्तकालय होना चाहिए, क्योंकि यहाँ से अनेक ग्रन्थ प्रतिलिपि होने के बाद अस्त्राखान गए। (धर्मयुग, 8 मार्च, 1970, पृ० 23)

1	2	3	4
36		खुतन	वही ।
37		काशगर	वही ।
38		ददा उइलिक	यहाँ ग्रन्थ भण्डार होना चाहिए, क्योंकि यहाँ से ही एक असली ब्राह्मी ग्रन्थ नकली ग्रन्थ तैयार करने वाले इस नाम अखुन के पास मिला था। यहाँ के खडहरो मे दबे अन्य ग्रन्थ भी मिले थे।
39		प्राच्य विद्या मन्दिर, बडोदा	यहाँ अनेक पाण्डुलिपियो से वाल्मीकि रामायण का पाठ सशोधन हो रहा है।
40		लाल भाई दलपत भाई भारतीय सस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद	इसमे अच्छे हस्तलेख उपलब्ध है। एक 676 पृष्ठों की सचित्र तुलसी कृत रामचरितमानस है जिसमे एक पक्ति नागरी मे और एक पक्ति फारसी लिपि मे है, (सम्भव है यह कृति 18वीं शती की होगी)।
41	11 मार्च, 1891 को स्थापित	राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली	1. स्थापना के समय इसका नाम था—'इपीरियल रेकार्ड डिपार्टमेट'। 2 नई दिल्ली के भवन मे आने पर इसे 'राष्ट्रीय अभिलेखागार' का नाम दिया गया। इसमे महत्त्वपूर्ण अभिलेख तो सुरक्षित हैं ही, 1 लाख के लगभग ग्रथ भी हैं। माइक्रोफिल्म के रूप मे भी लाखो पृष्ठो की सामग्री सग्रहित है।
42	1891	पटना खुदाबख्श ओरियटल पुस्तकालय	इसमे 12000 पाण्डुलिपियाँ हैं और 50,000 मुद्रित पुस्तकें। यह पहले खुदाबख्श का निजी पुस्तकालय था। खुदाबख्श को अपने पिता मुहम्मदबख्श (1815-1876) मे उत्तराधिकार मे मिला था। खुदाबख्श ने उसमे बहुत वृद्धि की और 1891 म उसे सार्वजनिक पुस्तकालय का रूप द दिया। इसमे कुरान का एक पन्ना 1300 वर्ष पुराना सुरक्षित है। हाफिज का दीवान अत्यन्त मूल्यवान माना जाता

1	2	3	4
			है। इस पर हुमायूँ, जहाँगीर और शाहजहाँ के हस्ताक्षरो मे कुछ टीपें है। 400 वर्ष पुरानी अरबी की पुस्तको मे कुछ वे पुस्तकें भी हैं जो सुन्दर हस्तलिपि मे स्पेन की पुरानी राजधानी कोसेडोला मे लिखी गयी थी। हिन्दी की भी कुछ ऐसी पुस्तकें जो ज्ञात नही थी, इस पुस्तकालय मे मिली हैं। अब तक इसके तीस सूची पत्र प्रकाशित हो चुके है। इन्हे बैपटिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता ने छापा है। इनमे केवल पुस्तकालय की आधी पुस्तको का ही विवरण है। इन सूची-पत्रो को आदर्श माना जाता है।
43.	1904 ई० के आसपास (ब्यूहलर के अनुसार)	भारती भाण्डारगार, या सरस्वती भाण्डारगार या शास्त्र भाण्डार	
44.		उज्जैन : सिंधिया पुस्तकालय	इसमे 10000 के लगभग पुस्तकें हैं। इनमे ढाई हजार के लगभग दुर्लभ ग्रन्थ हैं। इसमे एक ग्रन्थ गुप्तकालीन लिपि मे लिखा हुआ है। यह चालीस पृष्ठो का है। इस पुस्तकालय ने यह ग्रन्थ काश्मीर के गिलगिट क्षेत्र से बीस वर्ष पूर्व प्राप्त किया था। पाँच सौ वर्ष पूर्व के भोज पत्र पर लिखे ग्रन्थ भी इसमे हैं। इसी प्रकार ताड़ पत्र पर सुन्दर हस्तलिपि मे लिखे 25 ग्रन्थ भी हैं। मुगलकालीन अदालत और काश्मीर के शासक के बीच हुए पत्राचार के मौलिक दस्तावेज यहाँ सुरक्षित है, ये फारसी मे हैं।
45.	1912	भरतपुरा। श्रीगोपालनारायण सिंह ने इसे निजी पुस्तकालय के रूप मे विकसित किया	इसमे लगभग चार हजार पाण्डुलिपियाँ हैं। इसमे सबसे पुरानी लिखी पुस्तकें ताड़पत्र वाली हैं। उसके बाद क्रम मे भोजपत्र की पुस्तकें आती हैं, सब पुराने

1	2	3	4
			कागज की पुस्तकें। इस ग्रन्थागार की ये पुस्तकें बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं 'शाहनामा', यह फिरदौसी की कृति है। यह 500 पृष्ठों का ग्रन्थ है। इसमे 52 चित्र हैं। पृष्ठों के बीच मे जो चित्र हैं वे सोने और नीलम के रगो मे बनाये गए हैं। यह कृति काबुल-कधार के सूबेदार अली मर्दानखाँ ने अकबर को भेंट मे दी थी। सिकन्दरनामा 17वीं शती से पूर्व की कृति है। लेखक हैं—निजामी। इसमे भी चित्र है। सोने और नीलम के रगो का प्रयोग इनमे भी है। मुताउल हिन्द' अकबर के हकीम सलामत अली की कृति है। यह विश्व कोष है। इसमे दर्शन, गणित और भौतिक विज्ञान, रसायन और सगीत पर भी अच्छी सामग्री है।
46		नैपाल दरबार पुस्तकालय	यह ताडपत्र की पाण्डुलिपियो के लिए प्रसिद्ध है। 448 पाण्डुलिपियाँ महामहोपाध्याय ह० प्र० शास्त्री जी ने बतायी थी, सन् 1898-99 ई० मे।
47.		नैपाल : यूनीवर्सिटी पुस्तकालय	इसमे 5000 पाण्डुलिपियाँ शास्त्री जी ने बतायी हैं।
48.		पूना : भडारकर रिसर्च	
49	1320 ई०	इस्टीट्यूट विजयनगर	तुगभद्रा के तट पर। यादव वश के राज्य काल मे विद्या का केन्द्र। प्रसिद्ध वैदिक भाष्यकार सायणाचार्य यहीं के राजा के मन्त्री थे।
50	14वीं शती ई०	मिथिला=तिरहुत	यह हिन्दू विद्या का केन्द्र था। यहाँ के ब्राह्मण राजाओ के समय मे महाकवि मैथिल कोकिल विद्यापति हुए थे। राजा का नाम था शिवसिंह।
51	14वीं-15वीं शती	नदिया / नवद्वीप	यह चैतन्य महाप्रभु का प्रादुर्भाव स्थल है। यह भी हिन्दू-विद्या केन्द्र के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ।

1	2	3	4
52	7वीं शती ई० से पूर्व	दुर्वासा आश्रम विक्रमशिला संघाराम	यहाँ गुफाएँ हैं जो पहाड़ों में खुदी हुई हैं। चंपा की यात्रा में ह्वेनसांग यहाँ आया था। बौद्ध तीर्थ है।
53.	443 ई०पू० 377 ई०पू० से पूर्व	वैशाली	यह वृज्जियों/लिच्छवियों की राजधानी थी। यहाँ बौद्ध धर्म का द्वितीय संघ सम्मेलन हुआ था। इससे यहाँ धार्मिक ग्रन्थागार था, यह अनुमान किया जा सकता है।
54	प्राग्वैदिक/वैदिक	काशी	यहाँ भी 'तक्षशिला जैसा विद्या केन्द्र था। 500 विद्यार्थियों को पढ़ाने की क्षमता वाले आचार्य यहाँ थे। तक्षशिला की भाँति ही यह वैदिक शिक्षा और विद्या के लिए प्रसिद्ध था।
55	वैदिक काल	नैमिषारण्य	भृगु वंशी शौनक ऋषि का ऋषिकुल नैमिषा राज्य में था। इसमें दस सहस्र अन्तेवासी रहते थे।
56	रामायणकाल	प्रयाग भारद्वाज आश्रम	इस काल का यह विशालतम आश्रम था। यह भारद्वाज ऋषि का आश्रम था।
57.	,,	अयोध्या	अयोध्या नगर के पास ब्रह्मचारियों के आश्रम और छात्रावासों का रामायण में उल्लेख है।
58.	7वीं 8वीं शती से पूर्व	ओदन्तपुरी (बिहार शरीफ)	पाल वंश को स्थापित करने वाले गोपाल ने यहाँ एक बौद्ध विहार बनवाया था।
59.	1801 ई० में स्थापित	इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन	इसमें 250000 मुद्रित पुस्तकें : 175000 पूर्वी भाषाओं में शेष यूरोपीय भाषाओं में। पूर्वी में 20000 हिन्दी की, 20,000 संस्कृत-प्राकृत की, 24000 बंगला की, 10,000 गुजराती की, 9000 मराठी की, 5000 पंजाबी की, 15000 तमिल की, 6000 तेलुगु की, 5500 अरबी की, 5500 फारसी की हैं।

1	2	3	4
			"भारतीय विषयो पर यूरोपीय भाषाओ मे लिखे 2000 हस्तलेख हैं। पूर्वी भाषाओ के हस्तलेख 20,000 हैं। यहाँ 8300 सस्कृत के 3200 अरबी के, 4800 फारसी के, 1900 तिब्बती के, 160 हिन्दी के, 30 बगला के, 140 गुजराती के, 250 मराठी के, 50 उड़िया के, 60 पश्तो के, 270 उर्दू के, 250 बर्मी के, 110 इडोनेशिया क, 111 मो सो के, 21 स्यामी के, 70 सिघली के, 23 तुर्की के, हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। और भी बहुत से अभिलेख हैं।(21 दिसम्बर, 1969 के धर्मयुग मे प्रकाशित श्री जितेन्द्र कुमार मित्तल, प्राध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय के लेख, इगलैण्ड मे भारतीय अनुसधान की विरासत के आधार पर।)

भारतीय सग्रहालय जिनमे पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित है

क्रमाक	नाम	स्थापित	विवरण
1.	मद्रास सग्रहालय	1851 ई०	400 ताम्र पत्र ऐतिहासिक महत्व के है।
2	नागपुर सग्रहालय	1863 ई०	नागपुर म भोसले राजवश की पाण्डुलिपियाँ है।
3	लखनऊ सग्रहालय	1863 ई०	सचित्र पोथियाँ, कुण्डली प्रकार की पोथी आदि है।
4	सूरत विचेस्टर सग्रहालय	1890 ई०	जैनधर्म के कल्पसूत्रो की पाण्डुलिपियाँ, ताम्रलेख ताडपत्रीय पोथियाँ, चित्रित जन्मपत्रियाँ आदि हैं।
5	अजमेर सग्रहालय	1908 ई०	इसमे शिला लेखाकित नाटक सुरक्षित हैं।
6.	भारत कला भवन, वाराणसी	1920 ई०	रामचरितमानस की सचित्र प्रति।

1	2	3	4
7.	मध्य एशियाई संग्रहालय	1929 ई०	आरेल स्टीन द्वारा लायी गयी तुनहुआङ की 'सहस्र बुद्ध गुफा' से प्राप्त अगणित पाण्डुलिपियाँ, रेशमी पट सुरक्षित।
8.	आशुतोष संग्रहालय, कलकत्ता	1937 ई०	कागज पर लिखी प्राचीन पाण्डुलिपियाँ नेपाल से प्राप्त, 1105 ई० की यहाँ हैं।
9.	गंगा स्वर्ण जयन्ती संग्रहालय, बीकानेर	1937 ई०	सचित्र तथा अन्य दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ।
10.	अलवर संग्रहालय	1940 ई०	इसके पाण्डुलिपि विभाग में 7000 पोथियाँ सुरक्षित हैं जो संस्कृत, फारसी, हिन्दी आदि की हैं। हाथी दाँत पर लिखित पुस्तक 'हफ्त बद काशी' भी इसमें है। यह अस्थि या दाँत के लिप्यासन वाली पाण्डुलिपियों का उदाहरण है।
11.	कोटा संग्रहालय		अनेक महत्त्वपूर्ण पोथियाँ हैं, कुंडली प्रकार की भी हैं, और एक उच्च परिमाण की मुष्टा भी है।
12.	प्रयाग संग्रहालय		विभिन्न युगों और शैलियों की मूल्यवान सचित्र पाण्डुलिपियाँ हैं।
13.	राष्ट्रीय संग्रहालय		सचित्र पोथियाँ।
14.	शिमला संग्रहालय		मुल्ला दाऊद का 'लोरचन्दा' की पाण्डुलिपि का कुछ अंश यहाँ उपलब्ध है।
15.	सालार जंग संग्रहालय, हैदराबाद		अठारहवें वर्ष में दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ हैं।
16.	कुतुबखाना-ए-सैयदिया, टोंक		

इस परिशिष्ट में कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकालयों या ग्रन्थागारों का उल्लेख किया गया है। इनमें से बहुतों का ऐतिहासिक महत्त्व रहा है। वे ग्रन्थागार, वे विश्वविद्यालय, वे विहार और संघाराम आज अतीत के गर्भ में सो चुके हैं। इनसे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि संसार में किस समय ग्रन्थागारों का कितना महत्त्व था। इस सूची में कितने ही स्थानों पर, ग्रन्थागार होने की सम्भावना अनुमान के आधार पर मानी गयी है। जहाँ विशाल विश्वविद्यालय होंगे, जहाँ संघाराम एवं विहार होंगे, जहाँ अनुवाद करने कराने के केन्द्र होंगे, जहाँ परिषदें हुई होंगी, वहाँ पर यह अनुमान किया जा सकता है कि ग्रंथागार होंगे ही।

उक्त सूची मे इन ग्रन्थागारो के विद्यमान होने का वर्ष भी दिया गया है। ये भी अधिकांशत अनुमानाश्रित ही हैं। पाण्डुलिपि विज्ञान की दृष्टि से इन ग्रन्थागारों के सकेत से, उनमे स्थान और स्थूल विशेषताओ से कुछ आवश्यक सामान्य ज्ञान मिल जाता है।

परिशिष्ट-दो

काल निर्धारण तिथि विषयक समस्या

काल निर्धारण मे तिथि' विषयक एक समस्या तब सामने आती है जब तिथि का उल्लेख उस तिथि के स्वामी के नाम से किया जाता है। उदाहरणार्थ—'वीरसतसई' का यह दोहा है

'बीकम बरसा बतियो गणचौचद गुणीस।
बिसहर तिथ गुरु जेठ वदि समय पलट्टी सीस।"

डॉ० शम्भूसिंह मनोहर ने बताया है कि—

विषहर तिथि का यहाँ सीधा सादा एव स्पष्ट अर्थ है—पचमी' (विषधर की तिथि)।' आगे बताते हैं कि वश भास्कर म सूर्यमल्ल ने तिथि निर्देश मे प्राय. एक विशिष्ट पद्धति का अनुसरण किया है। वह यह कि उन्होने कही कही तिथियो का ज्योतिष शास्त्र मे निर्देशित उनके स्वामियो के आधार पर नामोल्लेख किया है। उदाहरणार्थ—त्रयादशी को कवि ने वशभास्कर मे मनसिज तिथ' कह कर ज्ञापित किया है, क्योंकि त्रयोदशी का स्वामी कामदेव है, यथा—

सक खट बसु सत्रह १७८६ समय,
उज्ज मास अवदात।
कूरम मालव कुच किय,
मनसिज तिथ अवदात॥

इसी भाँति चतुर्दशी को उ होने शिव की तिथि' कह कर सूचित किया है, चतुर्दशी के स्वामी शिव होन के कारण—

'सवत मान अक बसु सत्रह १७८६।
अह सित बाहुल भालचन्द अह॥"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि तिथि का उल्लेख उस तिथि के स्वामी या देवता के नाम से भी किया गया। ज्योतिष तत्त्व सुधार्णव' नामक ज्योतिष ग्रन्थ म तिथियो के स्वामियो / देवताओ के नाम इस श्लोक द्वारा बताये गए हैं

अथ तिथ्यधिदेवानाह—
अग्नि प्रजापति गौरी गणेशोऽहि गुरु रवि।
शिवो दुर्गान्तको विश्वोहरि कामो हर शशी।
पितर, प्रति पदादीना तिथीनामधिपा क्रमात्॥इति॥

—वीरसतसई का एक दोहा एक प्रत्यालोचना ले डॉ शम्भूसिंह मनोहर, 'विश्वम्भरा', वर्ष 7, अक 4, 1972।

परिशिष्ट-तीन

ग्रन्थ सूची

1	अग्रवाल, वासुदेव शरण (डॉ०)	कीर्तिलता साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी (1962)
2	, ,, ,	पद्मावत, सजीवनी भाष्य—वही।
3	, , ,,	हर्षचरित, सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना 1964।
4	अग्रवाल, वासुदेवशरण (डॉ०) तथा सत्येन्द्र (डॉ०)	पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, ब्रज साहित्य मण्डल, मथुरा, 1952।
5	आर्य मंजु श्री कला	त्रिवेन्द्रम सीरीज।
6	उपाध्याय, वासुदेव (डॉ०)	प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन मोतीलाल बनारसीदास, पटना (61)।
7	ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द	भारतीय प्राचीन लिपि माला, मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली (59)।
8	कौशल, रामकृष्ण	कमनीय किशोर।
9	गरुड पुराण	
10.	गुप्त, किशोरीलाल (डॉ०)	सरोज सर्वेक्षण, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद (67)।
11.	गुप्त, जगदीश (डॉ०)	प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली (1967)।
12	गुप्त, माताप्रसाद (डॉ०)	तुलसीदास, हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्व-विद्यालय, 1953।
13.	,, ,, ,,	पृथ्वीराज रासो, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी।
14	, , ,,	बसंत विलास और उसकी भाषा, क मु हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा।
15	,, ,, ,	राउर वेल और उसकी भाषा, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लि०, इलाहाबाद, 1962।
16	गुप्त माताप्रसाद (डॉ०), नाहटा, अगरचन्द	बीसलदेव रास।
17	गैरोला वाचस्पति	अक्षर अमर रहे।
18	जैन समवायोग सूत्र	
19	टॉड, जेम्स	पश्चिमी भारत की यात्रा, मंगल प्रकाशन, जयपुर।

20 तिवारी, भोलानाथ (डॉ०) — भाषा विज्ञान, किताब महल, इलाहाबाद, (1977)।

21 तुलसीदास — दोहावली, गीताप्रेस, गोरखपुर (1960)।

22 " — रामचरितमानस, साहित्य कुटीर, प्रयाग (1949)।

23 दलाल, चिमनलाल द० — लेख पद्धति, वडौदा केन्द्रीय पुस्तकालय, (1925)।

24 दशकुमार चरित

25 दश वैकालिक सूत्र हरिभद्री टीका

26 देवी पुराण

27 द्विवेदी, हजारीप्रसाद (डा०) — सदेश रासक, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्राइवेट) लि० बम्बई, 1965।

28 द्विवेदी हरिहरनाथ — महाभारत (पाडवचरित) विद्या मन्दिर प्रकाशन, ग्वालियर, 1973।

29 नाथ राम (डॉ०) — मध्यकालीन भारतीय कलाएँ और उनका विकास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर (1973)।

30 पत्र कौमुदी

31 पद्म पुराण

32 पन्नवणा सूत्र

33 प्रवीण सागर — (हस्तलिखित—प० कृपाशकर तिवारी का व्यक्तिगत सग्रह, जयपुर)।

34 भारद्वाज रामदत्त (डॉ०) — गोस्वामी तुलसीदास, भारतीय साहित्य मदिर, दिल्ली (1962)।

35 मजूमदार, मजुलाल — गुजराती साहित्य ना स्वरूप।

36 मत्स्यपुराण

37 मनोहर, शम्भुसिंह (डॉ०) — ढोला मारु रा दूहा, स्टूडेण्ट बुक कम्पनी, जयपुर, 1966।

38 माहेश्वरी, हीरालाल (डॉ०) — जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, बी० आर० पब्लिकेशन्स, कलकत्ता, 1970।

39 मिश्र, गिरिजाशकर प्रसाद (अनुवादक) : भारतीय अभिलेख सग्रह, राजस्थान हिन्दी ग्रथ अकादमी, जयपुर।

40 मिश्रबन्धु — मिश्रबन्धु विनोद, गगा पुस्तक माला कार्यालय लखनऊ (1972)।

41 मुनि जिनविजयजी — विज्ञप्ति त्रिवेणी।

42 मुनि पुण्यविजयजी — भारतीय जैन श्रमण सस्कृति अने लेखन कला।

43 राज, जोन — राज तरंगिणी।

44 लेफमन, एस० — ललित विस्तर हाले—(1902)।

45 वर्णक समुच्चय

46. वृहद् कल्प-सूत्र
47. शर्मा, नलिन विलोचन : साहित्य का इतिहास दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (1960)।
48. शर्मा, बशीलाल (डॉ०) : किशोरी लोक साहित्य, ललित प्रकाशन, लंहुडी सटेल, बिलासपुर (1976)।
49. शर्मा हनुमानप्रसाद : जयपुर का इतिहास।
50. शार्ङ्गधर पद्धति
51. शुक्ल, जयदेव (स०) : वासवदत्ता कथा।
52. सत्येन्द्र (डॉ०) : अनुसंधान, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी।
53. " " : ब्रज साहित्य का इतिहास, भारती भण्डार, इलाहाबाद (1967)।
54. सिंह, उदयभानु (डॉ०) : तुलसी काव्य मीमांसा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली (67)।
55. सिन्हा, सावित्री (डॉ०) . अनुसंधान प्रक्रिया, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
56 सेंगर, शिवसिंह शिवसिंह सरोज, शिवसिंह सेंगर, लखनऊ, 1966।
57. Agarwal, V. S. (Dr.) · India as known to Panini, University of Lucknow, Lucknow (1953).
58. Agarwalla, N. D. : On Common Script, Bharat Art Press, Calcutta (68).
59. Basu, Purendu : Archives & Records : What are they?
60. Bhargava, K. D. : Repair and Preservation of Records.
61. Bhattacharyya, Harendra Kumar : The Language of Scripts of Ancient India.
62. Bordin, R. B. and Warner, R. M. : The Modern Manuscript Library, The Scerecrow Press Inc., NewYork-66.
63. Brown, W. Norman (Dr.) : The Mahimnstava.
64. Buhler, G. : Indian Palaeography, Firme K. L. Mukhopadhyaya, Calcutta-62.
65. " " : Inscriptions Report.
66. Burgess, James : The Chronology of Indian History, Cosmo Publications, Delhi-72.
67. Clodd, E. : The Story of the Alphabet.
68. Dani, Ahmad Hasan : Indian Palaeography, Clarendn Press Oxford-63.

69. Diringer, David . The Alphabet
70 , " Writing, Thomas & Hudson, London-62
71 Duff, C Mabel The Chronology of Indian History, Cosmo Publications, Delhi-72
72 Edgerton, Franklin The Panchatantra Reconstructed American Oriental Society, U. S. A 1929
73 Francis Frank Treasures of the British Museum
74 Hall F W Companion to Classical Text
75 Hunter G R The Script of Hadappa & Mohanjodero and its connection with other Scripts
76 Kane, P V Sahityadarpan
77 Kashliwal, K C (Dr) Jain Granth Bhandars in Rajasthan
78 Kielhorn, F Examination of questions connected with the Vikram Era
79 Manuscripts from Indian Collection
80 Martin, H J The Origin of Writing
81 Masper, The Dawn of Civilization
82. Masson, W A The History of the Art of Writing
83 Moorhouse A C Writing the Alphabet
84 Pandey Rajbali (Dr) Indian Palaeography, Motilal Banarsidas Varanasi-57
85 Pargiter F E Ancient Indo-Historical Traditions
86 Princep Indian Antiquities
87 Reed, Herbert The Meaning of Art
88 Sircar, D C Indian Epigraphy, Motilal Banarsidas Delhi-65
89 Sircar, D C Selected Inscriptions
90 Siecar, J Topography of the Mughal Empire
91 Tessetoric L P Vachanika, Bibliotheca Indica Calcutta, 1919
92 Tod James Annals & Antiquities of Rajasthan, K M N. Publishers, New Delhi, (1971).
93 Ulmann, B L The Origin and Development of Alphabet

94. Waddell, L. A. : Indo-Sumerian Seals Deciphered, Irdological Book House, Delhi-72.

95. Wolley, C L. : The Summerian.

कोश तथा विश्व-कोश

1 बसु नागेन्द्रनाथ : हिन्द विश्व-कोष ।

2 अमर कोष ।

3. वाचस्पत्यम् ।

4 English Persian Dictionary.

5. Ep grdeh c Indica

6 The Oxford English Dictionary.

7. A Dictionary of Sanskrit and English.

8. Dictionary of Greek and Roman Biography and Mythology.

9. Chambers's Encyclopedia.

10 Encyclopedia Americana

11 Encyclopedia Britanica

12 Encyclopedia of Religion and Ethics.

13 Newnes Popular, Encyclopedia

14 The American Peoples Encyclopedia

15 The Columb a Encyclopedia.

16 The New Universal Encyclopedia.

17. The World Book Encyclopedia.

खोज रिपोर्ट

1 गांधी, लालचन्द भगवानदास : जैसलमेर भाण्डागारीय ग्रयानां सूची ।

2 भानावत, नरेन्द्र (डॉ०) · आचार्य श्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार ग्रन्थसूची ।

3. मेनारिया, मोतीलाल (डॉ०) : राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, (साहित्य संस्थान, उदयपुर)।

4 सूरि, विजय कुमुद : श्री खम्भात, शान्तिनाथ प्राचीन ताडपत्रीय जैन ज्ञान भण्डार नू सूची पत्र ।

5. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का त्रैवार्षिक विवरण (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)।

6. Sastri, H P. : A Catalogue of Palm leaf and Selected Paper M S S. Belonging to the Durbar Library, Nepal.

पत्रिकाएं

(1) धर्मयुग, (2) परम्परा (3) परिषद् पत्रिका,
(4) भारतीय साहित्य, (5) राजस्थान भारती, (6) विश्व भारती,
(7) वीणा, (8) शोध पत्रिका, (9) स्वाहा,
(10) सम्मेलन पत्रिका, (11) सप्त सिन्धु,
(12) Journal of the Asiatic Society of Bengal.
(13) Journal of the United Provinces Historical Society.
(14) Orientalia Loveniensta Periodica.
(15) Hindustan Times Weekly.

□□□